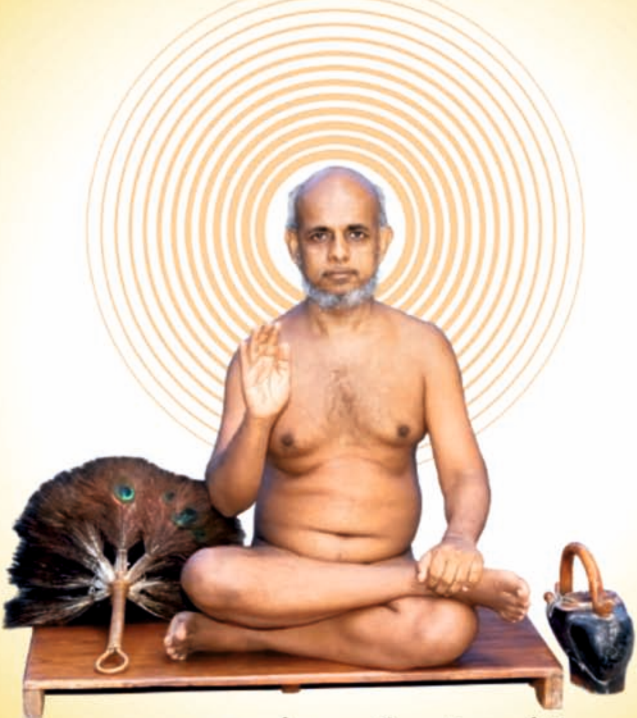

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

# सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

## जिनवाणी-महोत्सव

# सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19–03–1971 * मुनिदीक्षा–11–05–1989 * आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

# जैनदर्शन के नवतत्त्व

लेखिका

जैन साध्वी डॉक्टर धर्मशीला

सम्पादक

डॉक्टर सागरमल जैन



प्रकाशक

प्राच्य विद्यापीठ

शाजापुर (मध्यप्रदेश)

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्राय: होता है। फलत: उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

संस्कृत ग्रंथांतर्गत

# जैन दर्शन के नवतत्त्व


लेखिका
जैन साध्वी डॉ० धर्मशीला

सम्पादक
डॉ० सागरमल जैन



प्रकाशक
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म० प्र०)
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
रिसर्च फाउण्डेशन फार जैनोलाजी, चेन्नई
श्री गुजराती श्वे० स्था० जैन-एसोसिएशन, चेन्नई

प्राच्य विद्यापीठ, ग्रन्थमाला सं० - १
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, ग्रन्थमाला सं० - १३४

# जैन दर्शन के नवतत्त्व

*लेखिका*
**जैन साध्वी डॉ० धर्मशीला** एम० ए०, पी-एच० डी०

*सम्पादक*
**डॉ० सागरमल जैन**

*प्रकाशक*
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म०प्र०)
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
रिसर्च फाउण्डेशन फार जैनोलाजी, चेन्नई
श्री गुजराती श्वे० स्था० जैन-एसोसिएशन, चेन्नई

पुस्तक : **जैन दर्शन के नवतत्त्व**

लेखक : जैन साध्वी डॉ० धर्मशीला

प्रकाशक : प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म०प्र०)
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
रिसर्च फाउण्डेशन फार जैनोलाजी, चेन्नई
श्री गुजराती श्वे० स्था० जैन-एसोसिएशन, चेन्नई

प्रथम संस्करण : सन् २०००

मूल्य : रु० ४००.००

आई.एस.बी.एन. : ८१-८६७१५-६२-०

Title : **Jaina Darśana Ke Navatattva**

Author : Jaina Sadhvi Dr. Dharmsheela

Publisher : Prācya Vidyāpīṭha, Shajapur. M.P.
Pārśwanātha Vidyāpīṭha, Varanasi
Research Foundation for Jainology, Chennai
Śrī Gujarāti Śvetambara Sthānakavāsī Jaina Association, Chennai

First Edition : 2000

Price : Rs. 400.00

I.S.B.N. : 81-86715-62-0

Type Setting : Shri Ajay Shrivastava
Shri Vinay Shrivastava
Shajapur (M.P.)
&

Rajesh Computers
Varanasi.

Printed at : Vardhamana Mudranalaya
Bhelupur, Varanasi-10

# प्रकाशकीय

साध्वीवर्या डॉ० धर्मशीलाजी ने 'जैन संस्कृत ग्रन्थों में नवतत्त्वों का विवेचन' विषय को लेकर एक शोध-प्रबन्ध लिखा था, जिसपर उन्हें पूना विश्वविद्यालय से पी-एच०डी० की उपाधि प्रदान की गई थी। चूंकि शोध-प्रबन्ध मूलत: मराठी भाषा में लिखा गया था अत: इसका प्रथम प्रकाशन भी मराठी भाषा में हुआ। जैन धर्म दर्शन में नवतत्त्वों का जो मूल्य और महत्त्व है, उसे दृष्टिगत रखते हुए गुजराती भाषा-भाषियों के लिए इसका गुजराती अनुवाद प्रकाशित हुआ, किन्तु हिन्दी भाषा-भाषियों के लिए इस ग्रन्थ का अभाव खटकता रहा। अत: उनकी प्रार्थना को ध्यान में रखकर पूज्याश्री साध्वीजी ने इसका हिन्दी रूपान्तरण तैयार किया। इस महान श्रम के लिए हम पूज्या साध्वीजी के विशेष आभारी हैं। डॉ० सागरमलजी जैन ने उस रूपान्तरण को सम्यक् प्रकार से सम्पादित करके उसकी प्रेस कापी तैयार की और कम्प्यूटर पर उसकी टाइप सेटिंग करवाया। इसके संशोधन और प्रूफरीडिंग में उन्हें डॉ० विनोद कुमार शर्मा, प्राध्यापक संस्कृत, बा० कृ० शर्मा, नवीन महाविद्यालय, शाजापुर ने विशेष सहयोग प्रदान किया। मुद्रण हेतु प्रकाशन व्यवस्था का दायित्व जैनालाजिकल रिसर्च फाउण्डेशन, चेन्नई और श्री गुजराती स्थानकवासी जैन संघ, चेन्नई ने ग्रहण किया। जिन विभिन्न दान-दाताओं द्वारा प्राप्त अर्थ सहयोग से प्रस्तुत: ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है उनके प्रति हम आभार प्रकट करते हैं क्योंकि अर्थ के अभाव में इसका इस रूप में प्रकाशन सम्भव नहीं था। मुद्रण सम्बन्धी व्यवस्था में डॉ० सागरमल जैन के अतिरिक्त हमें विशेष सहयोग मिला– डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय, डॉ० विजय कुमार जैन, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी का, हम उनके प्रति भी आभार प्रकट करते हैं। कम्प्यूटर टाइपसेटिंग के लिए हम श्री अजय श्रीवास्तव एवं श्री विनय भट्ट, शाजापुर और राजेश कम्प्यूटर्स, वाराणसी के आभारी हैं। साथ ही सत्वर एवं सुन्दर मुद्रण के लिए महावीर प्रेस, वाराणसी का आभार प्रकट करते हैं।

प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म० प्र०)
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
रिसर्च फाउण्डेशन फार जैनोलाजी, चेन्नई
श्री गुजराती श्वे० स्था० जैन-एसोसिएशन, चेन्नई

## About us

Śrī Gujarātī Śwetāmbara Sthānakawāsī Jaina Association was established in 1975 with an aim of bringing together all Gujarātī Sthānakawāsī Jaina and to invite Gujarātī Sthānakawāsī Jaina Sādhus and Sādhvis to Southern India, so that the community could benefit from the sermons and preachings of Bhagawāna Mahāvīra.

The Association had for its objectives, the propagation of Jainism, keeping alive its Jaina traditions, promoting religious and philosophical publications, conducting periodical lectures, creating facilities for the *Vihāra* of the saints, performing *'Vaiyāvacca'* (providing the Sādhus and Sādhvis with their permissible food, clothing, shelter, medical care etc.)

The Association had already published many books in Jaina Canonical literature in different languages. Now in joint hands with the Research Foundation for Jainology, Chennai, publishing this Hindi version of *'Navatattva of Jainism in Sanskrit Literature'*.

We trust that this great work shall quench the thirst of the needy.

**Rasiklal C. Badani (President)**
Śrī Gujarātī Śwetāmbara
Sthānakawāsī Jaina Association

Chennai-600, 007
December, 7,2000


**Śrī Gujarātī Śwetāmbara Sthānakawāsī Jaina Association**
78/79, Ritherdon Road, Purasawalkam, Chennai-600 007


### Publication Committee

| | |
|---|---|
| Surendrabhai M. Mehta | Founder President |
| Rasiklal C. Badani | President |
| Dhirubhai U. Shah | Vice President |
| Manharlal C. Doshi | Vice President |
| Dineshchandra C. Doshi | Secretary |
| Mansukhlal G. Mehta | Jt.Secretary |
| Gulab Chand T. Uchat | Treasurer |
| Praful R. Shah | |

# Research Foundation for Jainology

The Research Foundation for Jainology was established in the year 1982 aiming to foster awareness of Jaina Philosophy and its tenets in the mind of public viz. development of body, enrichment of benevolence, sublimation of emotions, character building and illumination of the spirit within.

The Foundation is a Scientific and Industrial Research Organization recognized by Department of Scientific and Industrial Research, Ministry of Science and Technology, Government of India, New Delhi.

Subsequently the Foundation established in the year 1988 a full fledged Department of Jainology in Madras University, Madras with Post graduate and research courses upto Ph.D. level.

The Foundation has published several valued publications in Tamil, Hindi and English. These have been well received by students, teachers and scholars alike.

The Foundation, in association with Śrī Gujarātī Śwetāmbara Sthānakawāsī Jaina Association, Chennai is now publishing the Hindi version of *'Navatattva of Jainism in Sanskrit Literature'* being the Ph.D. research thesis of Her Holiness Dr. Dharmsheelaji Mahasatiji written in 'Marathi'. The great work of Hindi Translation has been rendered by Porf. Sagarmal Jain, Director Emeritus, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi, presently residing at Shajapur (M.P.) which is highly praiseworthy.

The original text in Marathi and translation in Gujarati language of this book had already been published.

We sincerely hope that this great treatise will serve its purpose.

Chennai-600 079 **Krishnachand Chordia**
December,9,2000 General Secretary

## RESEARCH FOUNDATION FOR JAINOLOGY

"Sugan House" 18, Ramanuja Iyer Street
Sowcarpet, Chennai-600 079

**Executive Committee**

| | |
|---|---|
| Surendrabhai M. Mehta | President |
| S. Sri Pall, Retd. I.P.S. | Chairman |
| Krishnachand Chordia, | General Secretary |
| Dulichand Jain | Secretary |
| G. L. Surana | Treasurer. |

# प्राक्कथन

जैनागम साहित्य जैन संस्कृति की अक्षय निधि तो है ही, साथ ही वह भारतीय संस्कृति का अविभाज्य अमूल्य कोष भी है, क्योंकि जैन संस्कृति के अभ्यास के बिना भारतीय संस्कृति का सर्वांगीण अभ्यास हो ही नहीं सकता ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध जैनागम में तथा संस्कृत, प्राकृत और अन्य जैन साहित्य में नवतत्त्व विषयक उपलब्ध जैन सामग्री को एकत्रित करने की और नवतत्त्वों के विभिन्न रूपों को दिग्दर्शित करने का ही एक प्रयत्न है । सुख की प्राप्ति, जीवन के उत्कर्ष और विश्वशांति के लिए नवतत्त्वों का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है ।

'संस्कृत ग्रंथांतर्गत जैन दर्शन के नवतत्त्व' यह मेरे अभ्यास का और संशोधन का विषय है । इन नवतत्त्वों की जानकारी और उसका प्राथमिक स्वरूप निम्नलिखित संस्कृत ग्रंथों में मिलता है । उमास्वाति का तत्त्वार्थसूत्र, उसपर लिखा हुआ सिद्धसेनगणि का स्वोपज्ञभाष्य और भट्टाकलंकदेव का तत्त्वार्थराजवार्तिक संग्रह भाग 1-2 3-4 ये ही प्रमाणभूत ग्रंथ हैं । इनके साथ ही 1) कर्मप्रकृति—यशोविजयजी, 2) मलयगिरि टीका, गणधरवाद-जिनभद्रगणि, गोमट, सार—नेमिचंद्राचार्य, नवप्रकरणम्—देवगुणाचार्य, नवतत्त्व साहित्य-3) पंचास्तिकाय टीका—अमृतचंद्र सूरि, 4) पंचास्तिकाय टीका (भाग 1, 2)-बौ0 ब्र0 शीतलप्रसादजी, 5) प्रमाण-मीमांसा-हेमचन्द्राचार्य, 6) प्रशमरतिप्रकरणम् - उमास्वाति, 7) योगशास्त्र-हेमचंद्राचार्य, 2) विशेषावश्यक भाष्य पर अभयदेवसूरि टीका, 11) सर्वदर्शनसंग्रह-माधवाचार्य, 12) सर्वार्थसिद्धि-पूज्यपादाचार्य, 13) स्याद्वादमंजरी-हेमचन्द्राचार्य, 14) भगवतीसूत्र-अभयदेवसूरि टीका । इन ग्रंथों का ही मैंने अधिक आधार ग्रहण किया है । साथ ही कुछ स्थानों पर प्राकृत, मराठी और हिंदी ग्रंथों का भी आधार लिया है ।

कुन्दकुन्दाचार्य के प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, समयसार, नियमसार आदि ग्रन्थों, नेमिचंद्राचार्य कृत बृहत्काव्यसंग्रह, कर्मग्रंथ (भाग 1,2,3,4), सुत्तागमे (भाग 9, 2) आदि जैन आगम ग्रंथों में भी नवतत्त्वों का विवेचन मिलता है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध जैन तत्त्वज्ञान में प्रतिपादित किए हुए नवतत्त्वों के ज्ञान को प्रकाश में लाने का मेरा एक नम्र प्रयत्न है । यहाँ मैं यह भी स्पष्ट करना चाहती हूँ कि हिन्दीभाषी लोगों को इन नवतत्त्वों का ज्ञान हो और उन्हें मुक्ति के मार्ग का आकलन हो, यही मेरा मुख्य उद्देश्य है । इसलिए इस मराठी शोध-प्रबन्ध का हिन्दी में अनुवाद किया । इसका गुजराती अनुवाद भी हुआ है ।

मेरे निराश मन को पुनः आशा के उज्ज्वल किरण देनेवाले राष्ट्रसंत आचार्य सम्राट् 1008 श्री आनंदऋषिजी म0 की मैं अतीव ऋणी हूँ जिनके मंगल आशीर्वाद मुझे हमेशा मिलते रहे, उन पूज्य गुरुदेव आत्मार्थीजी श्री मोहनऋषिजी म0 की भी मैं मनःपूर्वक ऋणि हूँ । पूज्य गुरुदेव प्रवर्तक श्री विनयऋषिजी म0 की प्रेरणा मुझे हमेशा मिलती रही, इसलिए उनके विषय में कृतज्ञता व्यक्त किए बिना मैं रह ही नहीं सकती ।

आचार्य सम्राट पू0 1008 देवेन्द्रमुनीजी म0 ने भी शोधप्रबंध लिखने में संपूर्ण सहयोग दिया इसलिये मै उनकी भी ऋणी हूँ ।

जिनसे मुझे हमेशा स्नेह और सहकार्य प्राप्त होता रहा ऐसे अत्यंत विशाल अंतःकरण वाले

पूज्य श्री बड़े महाराज (श्री विनयकुंवरजी महाराज) की भी मैं हमेशा ऋणी रहूँगी ।

बचपन से ज्ञान-वैराग्य की बातें बताकर मेरे जीवन को संन्यास मार्ग की ओर ले जानेवाली, मुझपर मातृसदृश प्रेम की वर्षा करनेवाली, साथ ही मेरी उन्नति के लिए सदैव प्रयत्न करनेवाली महासतीजी श्री बेन महाराज (श्री चंदनबालाजी म0) इनकी तो मैं आजन्म ऋणी रहूँगी ।

परम आदरणीय, परमपूज्य, ज्ञानदात्री, विश्वसंत, गुरुणीमैया, महासतीजी श्री उज्ज्वलकुमारी जी की प्रेरणा भूमि और विद्वत्ता के सूर्यप्रकाश में मेरे इस शोध-प्रबंध का बीज अंकुरित हुआ । उनके ज्ञान का, सहवास का और मार्गदर्शन का मुझे जो अलभ्य लाभ मिला, उसका वर्णन मेरी वाणी या लेखनी से करना सर्वथा असम्भव है इससे अधिक मैं क्या कहूँ ?

इस शोध-प्रबंध के लिए मुझे अहमदनगर के बड़े व्यासंगी, सौजन्यमूर्ति डॉ0 डी0 जी जोशी, एम0 ए0, पी-एच0 डी0, संस्कृत-प्राकृत विभाग प्रमुख, अहमदनगर कॉलेज, अहमदनगर, मार्गदर्शक के रूप में प्राप्त हुए, यह निसर्ग का एक शुभ संकेत ही समझना पड़ेगा । उनके दिए हुए प्रोत्साहन के कारण, बहुमूल्य मार्गदर्शन के कारण और दिखाई हुई तत्परता के कारण ही मैं यह शोध-प्रबंध ठीक समय पर पूरा कर सकी । इसके लिए मैं उनकी अत्यंत ऋणी हूँ ।

मेरे प्रेरक गुरुवर्य की तो मैं ऋणी हूँ ही । उनके जितने भी आभार मानूँगी, उतने कम ही हैं । उनसे उऋण होना अत्यंत कठिन है । साथ ही मेरी गुरु-भगिनी चरित्रशीलाजी का सहयोग न होता, तो यह ग्रंथ मैं पूरा नहीं कर सकती थी। पी-एच0 डी0 के लिए ग्रंथ लिखते समय आपने मेरी बड़ी सेवा की और मुझे सब प्रकार से सहयोग दिया, इसलिए इस अवसर पर मैं उन्हें भूल नहीं सकती ।

पी-एच0 डी0 के लिए ग्रंथ छापने की प्रेरणा घाटकोपर के काठियावाड़ के भूतपूर्व प्रमुख, कार्यकुशल, व्यवहारदक्ष श्री रमणिकभाई देसाई तथा अहमदनगर के धर्मप्रेमी रोहितभाई संघराजका ने दी । वे निश्चय ही धन्यवाद के पात्र हैं ।

साथ ही थीसिस तैयार करने के लिए अहमदनगर के गुरुभक्त श्री नेमिचन्दजी कटारिया एवं धर्मप्रेमी श्री वसंतलालजी वोरा ने बड़े परिश्रम किए ।

थीसिस छापने के लिए निधि इकट्ठा करने के लिए बंबई के डॉ0 धीरेन्द्र एम0 गोसलिया और उनकी धर्मपत्नी चन्दनबेन गोसलिया ने अथक प्रयत्न किए । उनके प्रयत्नों का मैं शब्दों द्वारा वर्णन कर नहीं सकती ।

पुणे के आदिनाथ संघ के सेक्रेटरी श्री0 सी0 एल0 बाफनाजी ने भी थीसिस निधि एकत्रित करने के लिए अथक प्रयत्न किए ।

बंधु समान श्री मेहुलभाई जी ने छपाई को व्यवस्थित और आकर्षक बनाने के लिए अनेक परिश्रम किए, इसलिए वे धन्यवाद के पात्र हैं । साथ ही आवश्यक चित्र निकालने के लिए श्री बलदेवभाई ने अपनी कला का परिचय दिया । इसलिए वे भी धन्यवाद के पात्र हैं ।

इसके अलावा इस शोधग्रंथ के लिए मुझे प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से सहायता करने वाले सारे साधु, साध्वियाँ और बंधु-बहनों का मैं मनःपूर्वक आभार मानती हूँ ।

—जैन साध्वी धर्मशीला

❋

*

## उज्ज्वल धर्म-साहित्य प्रकाशन संस्था का वर्तमान संचालक मण्डल

डॉ० धीरेन्द्र राम गोसलिया

डॉ० निलेशभाई वृजलाल वोरा

श्री रमणिकलाल छगनलाल देसाई

श्री रोहितभाई मणियार

श्री विनोदभाई हरिलाल दोशी

श्री वीरेशभाई देसाई

श्री जगतभूषणजी जैन

श्री अविनाशजी जैन

श्री सी० एल० बाफना

श्री प्रवीणभाई शाह

# समर्पण

## ज्ञान, वैराग्य एवं विश्व-वात्सल्य की दिव्यमूर्ति

विश्वसंत-विरुद-विभूषिता,
गुरुवर्या महासतीजी श्री उज्ज्वलकुमारी जी म० सा०

उज्ज्वल कुमारी जी

जिनके जीवन का क्षण-क्षण शुद्धात्मभाव को स्वायत्त करने की दिशा में सर्वदा संप्रयुक्त रहा, जन-जनमें विश्वमैत्री, समत्व, अहिंसा एवं अनेकान्त के महान आदर्शों को संप्रसारित करने में जो सर्वथा अविश्रांत रूप में अध्यवसायरत रहीं, उन प्रातः स्मरणीया, परमोपकारिणी महाहिमन्विता गुरुवर्या महासतीजी श्री उज्ज्वल कुमारी जी म० सा० की सेवा में सादर, सभक्ति श्रुताञ्जलि सहित समर्पित ।

**साध्वी डॉ० धर्मशीला**

## आचार्य सम्राट् परमपूज्य श्री आनन्द ऋषिजी म० सा०

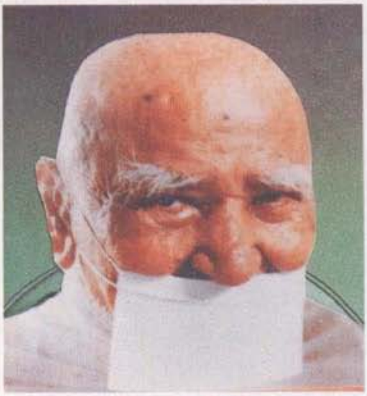

आनंद ऋषिजी

'श्रमण संघ के द्वितीय पट्टधर श्रुतमहोदधि आचार्य सम्राट् परम पूज्य गुरुदेव श्री आनन्द ऋषिजी म० सा०, जिनके मुखारविन्द से पू० श्री धर्मशीलाजी म० सा० ने भागवती दीक्षा प्राप्त की तथा जो महासतीजी के श्रुत चारित्रमय जीवन के उत्तरोत्तर विकास के सदैव प्रेरक एवं उन्नायक रहे।

## आत्मार्थी गुरुदेव पू० मोहन ऋषिजी म० सा०

मोहन ऋषिजी

कारुण्य, वात्सल्य एवं मांगल्य के पावन प्रतीक, महान् तत्त्ववेत्ता, 'अध्यात्मयोगी' पू० मोहन ऋषिजी म० सा० जिनकी सत् प्रेरणा से महासती श्री धर्मशीलाजी म० सा० "नवतत्त्व" पर शोध कार्य में संप्रवृत्त हुईं।

## मातेश्वरी पू० चंदनबालाजी म० सा०

आर्जव, मार्दव, सौहार्द एवं आध्यात्मिक स्नेह की दिव्य स्रोतस्विनी , नवकार महामन्त्र की अनन्य आराधिका, सौम्य हृदया, मातेश्वरी,.( प० पूजनीया गुरुणीवर्या की जन्मदात्री ) महासती श्री चन्दन बालाजी म० सा०, जो साध्वी वृन्द के लिए सदा मंगलमय संबल रहीं।

चन्दन बालाजी

## श्रमण-संघीय महाराष्ट्र मंत्री गुरुदेव पू० विनय ऋषि जी म० सा०

आगम मर्मज्ञ, जैन-जैनेतर शास्त्रों के महान अध्येता, जंगम ग्रंथागार-सदृश, सौम्यचेता महामनीषी पूज्य श्री विनय ऋषि जी म० सा० जो महासती श्री धर्मशीला जी के शोधकार्य में अनवरत सहयोगी रहे।

विनय ऋषिजी

## अर्थ सहयोगी

SH. SURENDRA M. MEHTA

MRS. SUSHILA BEN S. MEHTA

**MEHTA JEWELLERY**
40, THIRUMALAI PILLAI ROAD T. NAGAR, CHENNAI-600017
PRESIDENT - RESEARCH FOUNDATION
OF JAINOLOGY (REG.) CHENNAI
MANAGING DIRECTOR-AHIMSA RESEARCH FOUNDATION-
CHENNAI.

## अर्थ सहयोगी

RASIKLAL C. BADANI B.COM. MRS. CHANDRIKA R. BADANI
RADIANT BEARINGS (MADRAS)
144, TAMBHU CHETTY STREET, CHENNAI- 600001
PRESIDENT : GUJRATI SHWETAMBAR STHANAKWASI JAIN
ASSOCIATION.
TREASURER : P. T. B. GUJARATI SAHAYAKARI HOSPITAL & JAIN
SOCIAL GROUP.

## अर्थ सहयोगी

श्री साराभाई पारेख, मुंबई
संघपति-झालावड़ी स्वयं सेवक मंडल

श्रीमती प्रभाबेन पारेख, मुंबई
(सेवाभावी, मानवता प्रेमी, दानवीर)

| | | |
|---|---|---|
| पुत्र - | रमेश भाई | - शोभना देवी |
| | हँसमुख भाई | - दक्षा देवी |
| | दीपक भाई | - माला देवी |
| पुत्री - | कलाबेन | - महेन्द्रकुमार |

## अर्थ सहयोगी

SHRI SHANTILAL LODHA

SMT. LILAWATI LODHA

**S. M. & SONS.**
50, N. S. C. BOSE ROAD
CHENNAI - 600079

अर्थ सहयोगी

SHRI MANHARLAL BHAI V. DOSHI

MRS. SUSHILA BEN DOSHI

**DOSHI BROS.**
4-1-488, TROOP BAZAR
HYDERABAD - 500001

अर्थ सहयोगी

SRI KANTILAL BHAI BAVISHI

MRS. JAI SHREE BEN BAVISHI

13, KADAMBARI APARTMENTS,
41, RITHERDON ROAD, VEPERY
CHENNAI - 600007

# विद्या, साधना एवं सेवा की दिव्यमूर्ति
# "उज्ज्वल धर्म प्रभावक" महासतीवर्या

## बाल ब्रह्मचारिणी डॉ० धर्मशीलाजी म० सा० :
## संक्षिप्त परिचय

डॉ० धर्मशीला जी म० सा०

# विद्या, साधना एवं सेवा की दिव्यमूर्त्ति उज्ज्वल धर्म प्रभाविका महासतीवर्या डॉ० धर्मशीला जी म० सा०

## संक्षिप्त परिचय

श्रमण भगवान् महावीर द्वारा संप्रवर्तित आध्यात्मिक क्रांति के महान् संदेश वाहक विशाल साधु-साध्वी समुदाय के मध्य दिव्यमूर्ति, परम विदुषी महासती जी श्री डॉ० धर्मशीलाजी म०सा० एम० ए०, पी-एच० डी० का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

महाराष्ट्र की पुण्यभूमि में अहमदनगर जिले के अन्तर्गत कान्हूर पठार नामक ग्राम में परम धर्मानुरागी पिता श्री रामचंदजी शिंगवी के यहाँ श्रीमती कस्तूरी बाई शिंगवी की रत्नगर्भा कुक्षि से विमल बहन का जन्म हुआ, जो आगे चलकर जैन जगत् की दिव्य ज्योति महासतीजी श्री डॉ० धर्मशीलाजी म० सा० के रूप में राष्ट्र विश्रुत बनीं ।

आचार्य सम्राट् पू० श्री आनंदऋषिजी म० सा० के मुखारविंद से भागवती दीक्षा स्वीकार कर विद्या, साधना और तितिक्षा की त्रिवेणी-स्वरूपा विश्वसंत-विरुद-विभूषिता गुरुणीवर्या महासतीजी पूज्य उज्ज्वल कुमारीजी म० सा० की सेवा में सर्वतो भावेन समर्पित हो गईं । उनके सान्निध्य में श्रुताराधना और चारित्राराधना के पावन पथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर होती रहीं । उनके जीवन-पर्यंत प्राणपण से उनकी सेवा में अहर्निश संलग्न रहीं ।

अपनी नैसर्गिक प्रतिभा और प्रखर बुद्धि के परिणाम-स्वरूप महासती जी श्री धर्मशीला जी ने पूना विश्वविद्यालय में प्राकृत और पालि की एम० ए० परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्णकर प्रथम स्थान प्राप्त किया । आपने हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की साहित्य रत्न परीक्षा में भी प्रथम श्रेणी में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया । आपका हिन्दी, मराठी, गुजराती, राजस्थानी, संस्कृत, प्राकृत, पालि तथा अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं पर असाधारण अधिकार है । जैन दर्शन के साथ-साथ आप का अन्य भारतीय दर्शनों का भी गहन अध्ययन है । सन् 1977 में "जैन दर्शन में नवतत्त्व" विषय पर भारत वर्ष के समस्त साधु-साध्वी वृंद में सर्वप्रथम आपने ही पी-एच०डी० की उपाधि प्राप्त की ।

भगवान् महावीर द्वारा निरूपित अंहिसा एवं विश्वशांति के महान् आदर्शों के संप्रसार हेतु आप निरंतर प्रयत्नशील हैं । आपके सदुपयोग और सत् प्रेरणा से अनेक स्थानों में धर्मोपासना केंद्र (स्थानक), शिक्षण-संस्थान तथा चिकित्सालय स्थापित और विकसित हुए । आपकी सत्-शिक्षाओं से प्रभावित होकर सहस्त्रों, सहस्त्रों व्यक्ति शाकाहारी और निर्व्यसनी बने ।

महाराष्ट्र के अनेक अंचलों में जन-जन को आत्मजागरण का संदेश देते हुए आपने

आंध्रप्रदेश तथा कर्नाटक आदि की पद यात्रायें कीं, जो धर्म-प्रभावना की दृष्टि से वास्तव में ऐतिहासिक महत्त्व लिये हुए हैं ।

पिछले तीन वर्षों से तमिलनाडु के अन्तर्गत चेन्नई महानगर के विभिन्न क्षेत्रों में विचरण एवं प्रवास करते हुए आप जन-जन में व्यापक रूप में धर्म-प्रसार का महान कार्य किया है ।

ज्ञानाराधना के साथ आपका जीवन निरन्तर संपृक्त रहा है । पी-एच० डी० के अनंतर आज तक वह क्रम सतत गतिशील है । आपने अपने विद्याराधना के इस महान कार्य को मूर्त रूप देने हेतु अपने चेन्नई प्रवास के अन्तर्गत "णमो सिद्धाणं—पद समीक्षात्मक परिशीलन" विषय पर डी० लिट० के लिये विशाल शोध ग्रंथ तैयार किया है ।

यह प्रसन्नता का विषय है कि इन पंक्तियों के लेखक को इस महान् कार्य में मार्गदर्शन एवं सहयोग देने का सुअवसर प्राप्त हुआ । यह शोध ग्रंथ महासतीजी की बाईस बर्ष की श्रुताराधना का सुपरिणाम है ।

महासतीजी निरामय एवं शतायुर्मय जीवन प्राप्त करें, तथा अपने विद्या एवं साधनानिष्ठ व्यक्तित्व द्वारा आत्मकल्याण एवं जन-जागरण के प्रशस्त पथ पर उत्तरोत्तर गतिशील रहें, यही मंगल-कामना है ।

**प्रोफेसर डॉ० छगनलाल शास्त्री एम०ए० ( त्रय ),**
**पी-एच० डी० काव्यतीर्थ, विद्यामहोदधि**

## डॉ० साध्वी धर्मशीलाजी म० अपनी शिष्याओं की दृष्टि में

भारत देश नर-रत्नों की खान है । इस देश में अनेक तीर्थंकर केवली भगवंत और शासन के अनेक तेजस्वी रत्न हुए । ऐसे शासन-रत्नों से आज भी यह देश चमक रहा है । ऐसे तेजस्वी रत्नों में से एक रत्न हैं—पूज्य डॉ० श्री धर्मशीलाजी महासतीजी । आपश्रीजी ने जैन शासन का झंडा देश-विदेश में फहराया और ज्ञान की तेजस्वी ज्योति प्रज्वलित कर सुषुप्त आत्माओं को जागृत किया और अध्यात्म मार्ग पर बढ़ाया है । आपश्रीजी जीवन जीने की कला संसार को सिखा रही हैं ।

संत पुरुषों को जन्म देनेवाले माता-पिता भी अमर बनते हैं । तारों के समूहरूप हजारों बालकों को जन्म देनेवाली माताएँ अनेक होती हैं, परन्तु सूर्य के समान महान तेजस्वी यशस्वी शासन-रत्न को जन्म देनेवाली माता कोई एक ही होती है और वह आदर्श माता ही जैन शासन में धर्म-धुरंधर बननेवाली आत्मा को जन्म दे सकती है तथा स्वयं की संतान को धैर्य का पाठ पढ़ाकर, सद्गुणों से सुशोभित कर, अपनी लाडली पुत्री की भेंट जैन-शासन को अर्पित कर सकती हैं ।

शासनप्रेमी, दृढ़धर्मी, सेवाभावी, पिताश्री रामचंदजी शिंगवी तथा प्रेममूर्ति, सरल स्वभावी माताश्री कस्तूरबाई शिंगवी जिन्होंने जैन शासन को उज्ज्वल करने वाली, श्रमणसंघ की शान बढ़ानेवाली, प्रतिभाशाली, प्रखर व्याख्याता महान विदुषी बा० ब्र० पूज्य डॉ० धर्मशीलाजी महसतीजी को जन्म दिया ।

डॉ० पू० धर्मशीलाजी म० का जन्म ई० सन् 1939 भादप्रद वद अमावस्या यानी किसान लोगों का बड़ा त्योहार पोला और पर्युषण पर्व के तीसरे दिन 'कान्हूर पठार' (जि० अहमदनगर) गाँव में हुआ । आपश्रीजी का नाम 'विमल' रखा गया ।

आपश्रीजी की भाग्यशाली माताजी कस्तूरबाई के पाँच कन्याएँ और तीन पुत्र हैं । उनकी पीठ पर भाई होने से विमलबाई घर में सबसे ज्यादा लाड़ली थीं । आपश्री के माता-पिता की इच्छा इस बालिका को खूब पढ़ाने की थी, परंतु उस जमाने में लड़की को ज्यादा पढ़ाने की परम्परा नहीं थी । परन्तु 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'' इस उक्ति के अनुसार, बचपन से ही आपश्रीजी की प्रतिभा अद्वितीय होने से आपश्रीजी को खूब पढ़ाने का निर्णय किया गया, परंतु जब आपश्री छठी कक्षा में थीं, तब पाठशाला में विश्वसंत पू० उज्ज्वलकुमारीजी महासती जी का व्याख्यान हुआ । उनके उपदेश से और पूर्व संस्कार के कारण विमलाबाई का वैराग्य दृढ़ हुआ और उन्होंने स्कूल जाना छोड़ दिया ।

वैराग्य-भावना जागृत होने पर घर में माताश्री-पिताजी से आपश्रीजी ने कहा कि मुझे दीक्षा लेने की इच्छा हुई है । परंतु सात पीढ़ियों में किसी ने भी दीक्षा को अंगीकार नहीं किया था । इसलिए दीक्षा का नाम सुनते ही उन्हें भूकंप के समान धक्का लगा और खूब विरोध हुआ, परन्तु आपश्रीजी का स्वयं का निर्णय दृढ़ होनेसे आपने विविध प्रकार की कसौटियों का मुख मोड़ दिया और मेरु पर्वत के समान अडिग रहीं । दस वर्ष की बाल आयु में आप पू० उज्ज्वलकुमारीजी महासतीजी के सान्निध्य में रहने लगीं ।

आप दीक्षा न लें इसलिए तीन दिन आपको एक कमरे में बंद करके रखा गया । भोजन, पानी कुछ भी नहीं दिया गया । क्योंकि ऐसा करने पर आप दीक्षा नहीं लेंगी ऐसा माता-पिता को लगा । परंतु किसी भी परिस्थिति में आपश्रीजी ने अपना विचार नहीं बदला, इसलिए माता-पिता को दीक्षा की आज्ञा देनी ही पड़ी ।

29 दिसम्बर, 1958 ई० मार्गशीर्ष सुदी एकादशी यानी मौन एकादशी के दिन आचार्य सम्राट 1005 गुरुदेव पू० आनंदऋषिजी म० के मुखारविंद से अहमदनगर की पावन भूमि पर पू० श्री उज्ज्वलकुमारीजी महासतीजी के सान्निध्य में जैन भागवती दीक्षा महोत्सव संपन्न हुआ । दीक्षा के बाद आपश्री का नाम धर्मशीलाजी महासतीजी रखा गया ।

आपश्रीजी ने पूज्य श्री आनंदऋषिजी म०, विश्वसंत गुरुणी मैया पू० उज्ज्वलकुमारीजी महासतीजी तथा आत्मार्थी गुरुदेव पू० मोहनऋषिजी म०, अध्यात्म योगी श्रमणसंघीय मंत्री पू० श्री० विनयऋषिजी म० और वात्सल्य-वारिधि गुरुणी मैयाजी की माताजी पू० चन्दनबालाजी महासतीजी के मार्गदर्शन में अपना धार्मिक और अन्य शिक्षण शुरू किया ।

दीक्षा ग्रहण करते समय आपश्री सिर्फ छठी कक्षा तक पढ़ी थीं । परंतु बाद में एस० एस-सी० से लेकर एम० ए० पी–एच० डी० तक का अध्ययन आपश्रीजीने अहमदनगर में किया । पूज्य महासतीजी हिन्दी में 'साहित्य रत्न', संस्कृत में 'कोविद' की परीक्षाएँ उच्चांकों से उत्तीर्ण की हैं । इस प्रकार हिन्दी, मराठी, गुजराती, अंग्रेजी, संस्कृत,पालि, प्राकृत आदि सब भाषाओं पर आपश्रीजी का असाधारण प्रभुत्व है ।

पूज्य महासतीजी जब व्याख्यान देती हैं तब केवल उनकी विद्वत्ता ही दिखाई नहीं देती,

वरन् आत्मा के चैतन्य की विशुद्धि का रणकार उनके अंतर से आता है । आपश्रीजी धर्म के तत्त्व को; शब्दार्थ-भावार्थ और गूढ़ार्थ को दृष्टान्तों द्वारा इस प्रकार समझा देती हैं कि श्रोतावृन्द उनकी वाणी से मंत्रमुग्ध हो जाते हैं । वे अपूर्व शान्ति से धर्मामृत धारा का रसपान करते हैं ।

पू० डॉ० धर्मशीलाजी महासतीजी ने आज के युग की आवश्यकता को ध्यान में रखकर जैन धर्म की सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'प्रतिक्रमण सूत्र' का अंग्रेजी में अनुवाद किया है ।

गुरुणीमैया पू० डॉ० धर्मशीलाजी म० के चरणों में शत-शत वंदन ।

"आभा का कागज करूँ, लेखनी करूँ वनराय,
समुद्र की स्याही करूँ, गुरु गुण लिखा न जाय ।"

आपश्रीजी की शिष्याएँ महासतीजी चारित्रशीला, विवेकशीला, पुण्यशीला, भक्तिशीला ।

❋

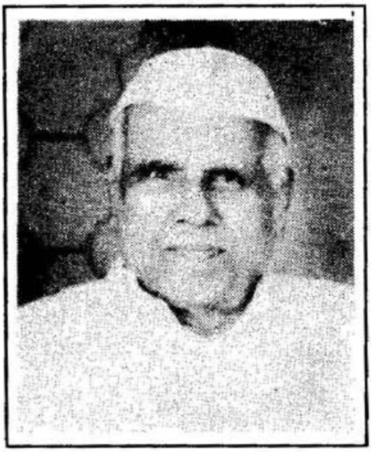

रामचंदजी शिंगवी

कस्तूरबाई शिंगवी

# शोधार्थी डॉ० धर्मशीलाजी म० श्रीजी के माता-पिता का परिचय

डॉ० धर्मशीलाजी म० श्रीजी की माता श्रीमती कस्तूरबाई और पिताश्री रामचंदजी शिंगवी थे । आप का जीवन करुणा, मानवता, अनुकम्पा से भरा पुरा था । अपनी संतानों में संस्कार देने का काम उन्होंने बचपन से ही किया । 'सादा जीवन, उच्च विचार' ऐसा उनका जीवन था । वे स्वयं वैसा जीवन जिए और अपनी संतानों को वैसा जीवन जीना सिखाया ।

आपके पाँच पुत्रियाँ—बसंतीबाई, जयकवरबाई, कमलबाई, विमलबाई और बदामबाई हैं और तीन पुत्र पोपटलाल, सुबालाल और रमणलाल हैं ।

विमल बहन ने दीक्षा ग्रहण की तब उनका नाम धर्मशीलाजी रखा गया । माता-पिता ने अपनी लाड़ली, अद्वितीय कन्या को जिन शासन को समर्पित किया । आपश्री ने अपने वक्तृत्व और कर्तृत्व से श्रमण संघ को उज्ज्वल बनाया है ।

माता-पिता के संस्कारों के कारण ही हम अपने जीवन में धर्म-पथ पर चलने लगे । 'मानव-सेवा यही प्रभुसेवा' 'संतसेवा यही जिन-शासन की सेवा ! इन विचारों को अपने जीवन में उतारने की हमने कोशिश की है । हमारी बड़ी बहन बसंतीबाई ने भी 16 वर्ष पूर्व दीक्षा ग्रहण की । उनका नाम विवेकशीलाजी म० रखा गया । जयकंवरबाई की कन्या मंगला ने भी 16 वर्ष पूर्व दीक्षा ग्रहण की । उनका नाम 'पुण्यशीला' रखा गया । हमारे परिवार में ऐसी तीन दीक्षाएँ हो चुकी हैं । इसका सारा श्रेय हमारे माता-पिता को है । ऐसे दृढ़धर्मी माता-पिता का ऋण हम कभी नहीं चुका सकेंगे । उन्हें हमारे कोटि-कोटि प्रणाम ।

पोपटलाल, सुवालाल, रमणलाल शिंगवी

❋

# आचार्य सम्राट देवेन्द्रमुनिजी म० का शुभ संदेश

भारतीय साहित्य का गहराई से अनुशीलन, परिशीलन करने पर हमें स्पष्ट परिज्ञात होता है कि वहाँ पर 'तत्त्व' शब्द के संबंध में विशद रूप में चिन्तन किया गया है ।

जैन दर्शन में 'तत्त्व' के अर्थ में तत्त्व, तत्त्वार्थ, अर्थ, पदार्थ, द्रव्य, सत्, सत्त्व आदि विभिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है । ये शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची भी रहे हैं । जैन (धर्म) दर्शन में जो तत्त्व है, वह सत् है, और जो सत् है, वह द्रव्य है ।

भगवती, प्रज्ञापना, उत्तराध्ययन आदि आगमों में तत्त्वों की संख्या नव बतलाई गई है । समयाभाव के कारण हम उन सभी पर यहाँ विचार न कर यह बताना चाहेंगे कि 'तत्त्व' जैन दर्शन का मेरुदण्ड है ।

मुझे यह आशा है कि जैन-जगत् की बहुआयामी प्रतिभा की धनी साध्वी रत्न श्री उज्ज्वलकुमारीजी की सुशिष्या साध्वी श्री धर्मशीलाजी ने 'नवतत्त्व' पर जो शोध-प्रबंध लिखा है, वह जन-जन के लिए उपयोगी सिद्ध होगा । इसमें महासतीजी धर्मशीलाजी का कठिन श्रम मुखरित है । मुझे श्रमण संघ की ऐसी परमविदुषी साध्वीरत्न पर सात्विक गर्व है और मेरी यह मंगल मनीषा है कि वे अपनी तेजस्वी प्रतिभा से अन्य दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विषयों पर जम कर लिखें । आशा है उनका यह शोध -प्रबन्ध सबके लिए चिन्तन की सामग्री प्रस्तुत करेगा ।

❋

# विषयानुक्रम


| अध्याय | पृष्ठ |
|---|---|
| **प्रथम अध्याय- प्रस्तावना** | १-१० |
| तत्त्व क्या है?, तत्त्व की मान्यता, तत्त्व कितने हैं?, तत्त्व सात या नौ? | |
| **द्वितीय अध्याय- जीवतत्त्व** | ११-६५ |
| मुख्य तत्त्व दो– जीव और अजीव, जीवतत्त्व को ही अग्रस्थान क्यों?, आत्मवाद की उत्क्रांति का इतिहास, अन्य दर्शनों की मान्यता, जीव का लक्षण, उपयोग के भेद, जीव के अन्य लक्षण, जीव के भेद, चेतना के तीन भेद, जीव के भाव, जीव के तीन भाव, जीवों की संख्या, जीव की शाश्वतता, संसारी जीव के अन्य दो भेद, त्रस जीव के चार भेद, नारकी, मनुष्य, तिर्यंच, देव, स्थावर जीव के भेद, पृथ्वी आदि की सजीवता, जीव-अजीव वस्तु विस्तार, मन के भेद, शरीर के भेद, देह परिमाण जीव, जीव और कर्म, आधुनिक विज्ञान और जीवतत्त्व, जीव का विकास-क्रम, आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि, विभिन्न वैज्ञानिकों के आत्मा विषयक विचार। | |
| **तृतीय अध्याय- अजीव तत्त्व** | ६६-१०६ |
| अजीवतत्त्व, द्रव्य के लक्षण, द्रव्य का स्वरूप, द्रव्य का क्षेत्र-प्रमाण, रूपी-अरूपी द्रव्य, प्रत्येक द्रव्य का अस्तित्व, अस्तिकाय का अर्थ, 'प्रदेश' का अर्थ, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, अवगाहन-सिद्धि, काल द्रव्य, समस्त द्रव्यों पर काल द्रव्य के उपकार, निश्चय काल और व्यवहार काल, पुद्गल पुद्गल की व्याख्या, पुद्गल के दो भेद - अणु और स्कंध, परमाणुओं की सूक्ष्मता, आधुनिक विज्ञान में परमाणु, पुद्गल के बीस गुण, अणुवाद, ग्रीस का अणुवाद, जैन और वैशेषिक का अणुवाद। | |
| **चतुर्थ अध्याय- पुण्य तत्त्व और पाप तत्त्व** | १०७-१५६ |
| 'पुण्य-पाप' की व्याख्याएं, पूर्वकृत पाप-पुण्य, द्रव्य पुण्य-भावपुण्य, पुण्य के और दो भेद, 'पुण्य' के नौ भेद, 'पुण्य' का फल, सुखप्राप्ति 'पुण्य' के कारण ही, पुण्य की महिमा, सच्चा पुण्यवान | |

कौन?, 'उपयोग' क्या है?, शुभोपयोग और अशुभोपयोग, पुण्य-पाप चर्चा, चार वादों का निराकरण, स्वभाववाद का निरास-स्वतंत्रवाद स्वीकार्य, पुण्य-पाप में अंतर, पाप की हेयता, पाप कब होता है?, द्रव्यपाप और भावपाप, पाप के अठारह भेद, पाप का फल, पुण्य-पाप कल्पना विषयक विद्वानों के विचार, पुण्य-पाप का अस्तित्व, पुण्य-पाप की कसौटी, अन्य स्थान पर पाप-पुण्य, विवेक यही पुण्य।

**पंचम अध्याय- आस्रव तत्त्व** १५७-१९१

'आस्रव' तत्त्व और आस्रवद्वार, आस्रव द्वार या बंध हेतु, 'पुण्यास्रव' और 'पापास्रव', 'द्रव्यास्रव' और 'भावास्रव', ईर्यापथ और सांपरायिक आस्रव, 'आस्रव' की संख्या, 'आस्रव' के पाँच भेद, 'प्रमाद' के पाँच भेद, 'कषाय' के भेद, 'योग' के भेद, 'आस्रव' के बीस भेद, 'आस्रव' के बयालीस भेद, प्रश्नव्याकरण और आस्रव द्वार, 'आस्रव और 'संवर' में भेद, 'आस्रव' और 'बंध' में भेद, बौद्ध साहित्य में 'आस्रव', 'आस्रव' और 'कर्म' भिन्न-भिन्न हैं, 'निरास्रवी' कैसे होना है?

**षष्ठ अध्याय- 'संवर' तत्त्व** १९२-२४७

'संवर' की व्याख्याएं, 'संवृत्त' आत्मा और 'आस्रव' आत्मा, संवर के संबंध में कुछ उदाहरण, मोक्ष मार्ग के लिए 'संवर' उत्तम गुणरत्न है, 'संवर' के दो भेद, 'संवर' के पांच भेद, सम्यक्त्व, सम्यक्त्व का लक्षण, सम्यक्त्व का महत्त्व, सम्यक्त्व के भेद, सम्यक्त्व के पांच अतिचार (दोष), 'संवर' के बीस भेद, 'संवर के सत्तावन भेद' तीन गुप्तियाँ, पाँच समितियाँ, समिति-गुप्ति का महत्त्व, दस धर्म, बौद्धों के दस धर्म, ख्रिश्चनों के दस धर्म, हिन्दुओं के दस धर्म, 'क्षमा' के विषय में विद्वानों के विचार, बारह अनुप्रेक्षाएं, द्वाविंश परिषहजय
पांच चारित्र, 'संवर' की महिमा, बौद्ध दर्शन में 'संवर'।

**सप्तम अध्याय- 'निर्जरा' तत्त्व** २४८-२८८

'निर्जरा' की व्याख्या, 'निर्जरा का स्वरूप, 'निर्जरा' के दो भेद, 'निर्जरा के बारह भेद, बाह्य और अभ्यंतर तप का समन्वय, विज्ञानयुग में 'ध्यान' का महत्त्व, 'तप' का माहात्म्य।

**अष्टम अध्याय- 'बंध' तत्त्व** २८९-३३५

'बंध' की व्याख्याएं, 'बंध' का स्वरूप, 'बंध' के कारण, 'द्रव्यबंध'

और 'भावबंध, 'बंध' के चार भेद, प्रकृतिबंध के (कर्म के) आठ भेद, 'घाती कर्म' और अघाती कर्म, आठ कर्मों का क्रम, 'कर्म' शब्द की व्युत्पत्तियाँ, 'कर्म' शब्द के विविध अर्थ, कर्म सिद्धान्त, कर्म संक्रमण, कर्मबंध प्रक्रिया, कर्म और अकर्म, शुभ और अशुभ कर्म, द्रव्य कर्म और भावकर्म, कर्मवाद, कर्म की अवस्थाएं, भाग्यपरिवर्तन की प्रक्रिया-करण, करण ज्ञान की उपयोगिता, कर्म चर्चा, बंध-मोक्ष चर्चा, बंध से मुक्ति।

**नवम अध्याय- मोक्ष तत्त्व** ३३६-४०६

मोक्ष का स्वरूप, मोक्ष प्राप्ति के उपाय, मोक्ष का लक्षण, मोक्ष का विवेचन, विभिन्न दर्शनों में मोक्ष, मोक्ष-एक विश्लेषण, मोक्ष मीमांसा, द्रव्यमोक्ष और भावमोक्ष, कर्मक्षय का क्रम, कर्म की निर्जरा, कर्म का अंत, मोक्षों के नाम, सिद्धस्थान का स्वरूप, मोक्ष मार्ग के सम्बन्ध में मान्यताएं, मोक्ष मार्ग, सम्यक्त्व, सम्यक्त्व के दोष, सम्यक्त्व के आठ अंग, सम्यक् दर्शन का स्वरूप, सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् ज्ञान के भेद, सम्यक् ज्ञान के दोष का स्वरूप, सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान, सम्यक् चारित्र, चारित्र्य के दो भेद, सम्यग्दर्शन और सम्यक्, ज्ञान का पूर्वापर सम्बन्ध, मोक्ष मार्ग का समन्वय, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र का पूर्वापर सम्बन्ध, अन्य दर्शन के त्रिविध साधना मार्ग, त्रिविध साधना मार्ग और मुक्ति, सिद्ध किसे कहें?, सिद्धों के भेद, सिद्ध आत्माओं के नाम, सिद्ध आत्मा का स्वरूप, सिद्धों को सुख, कर्म क्षय के बाद के कार्य, मोक्ष की सिद्धता।

**दशम अध्याय -उपसंहार** ४०७-४४०

जीवतत्त्व, न्याय-वैशेषिक दर्शन का जीवतत्त्व, वेदान्त दर्शन का जीवतत्त्व, सांख्य-योग दर्शन का जीवतत्त्व, मीमांसा दर्शन का जीवतत्त्व, चार्वाक दर्शन का जीवतत्त्व, बौद्ध दर्शन का जीवतत्त्व, जैन दर्शन का जीवतत्त्व और अन्य दर्शनों में जैन दर्शन का वैशिष्ट्य, अजीवतत्त्व, पुण्यतत्त्व-पापतत्त्व, आस्रव तत्त्व और संवर तत्त्व, निर्जरा तत्त्व, बंध तत्त्व, मोक्ष तत्त्व, जैन दर्शन का मोक्ष तत्त्व और अन्य दर्शनों में जैन दर्शन का वैशिष्ट्य।

**चित्रों की जानकारी और चित्र** ४४१-४४४

संस्कृत ग्रंथांतर्गत

# जैन दर्शन के नवतत्त्व

# प्रथम अध्याय

# प्रस्तावना

आज का युग विज्ञानयुग है। इस युग में विज्ञान शीघ्र गति से आगे बढ़ रहा है। विज्ञान के नवनवीन अविष्कार विश्वशांति का आह्वान कर रहे हैं। संहारक अस्त्र-शस्त्र विद्युतगति से निर्मित हो रहे हैं।

आज मानव भौतिक स्पर्धा के मैदान में तीव्र गति से दौड़ रहा है। मानव की महत्त्वाकांक्षा आज दानव के समान बढ़ रही है। परिणामतः वह मानवता को भूलकर निर्जीव यंत्र बनता चला जा रहा है। विज्ञान के तूफान के कारण धर्मरूपी दीपक तथा तत्त्वज्ञानरूपी दीपक करीब-करीब बुझने की अवस्था तक पहुँच गये हैं। ऐसी परिस्थिति में आत्मशांति तथा विश्वशांति के लिए विज्ञान की उपासना के साथ तत्त्वज्ञान की उपासना भी अति आवश्यक हैं।

आज दो खण्ड आमने-सामने के झरोखों के समान करीब आ गए हैं। विज्ञान मनुष्य को एकदूसरे के नजदीक लाया है, परन्तु एक-दूसरे के लिए स्नेह और सद्भाव कम हो गया है। इतना ही नहीं, मानव ही मानव का संहारक बन गया है।

विज्ञान का विकास विविध शक्तियों को पार कर अणु के क्षेत्र में पहुँच चुका है। मानव जल, स्थल तथा नभ पर विजय प्राप्त कर अनन्त अन्तरिक्ष में चन्द्रमा पर पहुँच चुका है। इतना ही नहीं, अब तो मंगल तथा शुक्र ग्रह पर पहुँचने के प्रयास भी जारी हैं।

भौतिकता के वर्चस्व ने मानव-हृदय की सुकोमल वृत्तियों, श्रद्धा, स्नेह, दया, परोपकार, नीतिमत्ता, सदाचार तथा धार्मिकता आदि को कुंठित कर दिया है। मानव के आध्यात्मिक और नैतिक जीवन का अवमूल्यन हो रहा है।

विज्ञान की बढ़ती हुई उद्यम-शक्ति के कारण विश्व विनाश के कगार पर आ पहुँचा है। अणु-आयुधों के कारण किसी भी क्षण विश्व का विनाश हो सकता है। ऐसी विषम परिस्थिति में आशारूपी एक ही ऐसा दीप है जो दुनियां को प्रलय रूपी अंधकार में मार्ग दिखा सकेगा। वह आशारूपी दीप है- तत्त्वज्ञान।

विज्ञान के साथ अगर तत्त्वज्ञान जुड़ जाये तो विज्ञान विनाश के स्थान पर विकास की दिशा में बढ़ेगा। विज्ञान की शक्ति पर तत्त्वज्ञान का अंकुश होगा तभी विश्वभर में सुख-शांति रहेगी। तत्त्वज्ञान अमृततुल्य रसायन है। वही इस विश्व को असन्तोष और अशांति की व्याधि से मुक्त कर सकता है।

विज्ञान के कारण भौतिक साधनों की बड़ी उन्नति हुई है। उनके कारण मानव को बाह्य सुख तो प्राप्त हुआ है, लेकिन आध्यात्मिक दुनिया में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ है।

आज विज्ञान की जितनी उपासना हो रही है, उतनी ही तत्त्वज्ञान की उपेक्षा हो रही है। यही कारण है कि मानव को आत्मशांति प्राप्त नहीं हो रही है। तत्त्वज्ञान के कारण ऐसी शांति प्राप्त होती है जिससे संसार के सारे पाप, ताप, सन्ताप दूर होते हैं तथा शीतलता प्राप्त होती है।

पाश्चात्य देशों में संपत्ति खूब है, भौतिक सुख खूब है फिर भी वहाँ एक्सीडेंट अधिक होते हैं, पागलपन का प्रमाण भी वहाँ अधिक है और अनिद्रा के रोग भी वहाँ बड़े पैमाने पर दिखाई देते हैं। इसका कारण केवल एक ही है और वह है- तत्त्वज्ञान का अभाव। जिसे अध्यात्म का ज्ञान होता है, तत्त्वज्ञान की समझ होती है, वह मानव किसी भी परिस्थिति में मन में समाधान रख सकता है, संतोष धारण कर सकता है। फिर उसे अभाव, तंगी, इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग आदि का दुःख नहीं हो सकता। जीवन में श्वासोच्छ्वास के समान ही तत्त्वज्ञान की आवश्यकता है। इसलिए मैंने अपने शोध-प्रबंध का विषय "जैन-दर्शन के नवतत्त्व" चुना है।

आज विज्ञान जीवन के सब क्षेत्रों में प्रगति कर उसमें खूब क्रांति और उत्क्रांति लाया है। वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण मानव शक्तिशाली बना है, यह निर्विवाद सत्य है। परन्तु इस शक्ति का उपयोग किस प्रकार करना है इसका निश्चय विज्ञान नहीं कर सकता। शक्ति का उपयोग विकास के लिए करना है या विनाश के लिए यह मानव के हाथ में है। यह निर्णय लेने में तत्त्वज्ञान और अध्यात्म मानव के मार्गदर्शक हो सकते हैं। विख्यात शास्त्रज्ञ तथा गणितज्ञ अल्बर्ट आइन्स्टीन ने अणुशक्ति का अविष्कार किया। यह अणुशक्ति जिस मूल द्रव्य से निर्मित होती है, वह दस पौण्ड यूरेनियम संसार को एक महीने तक बिजली उपलब्ध करा सकता है और मानव-जीवन अधिक सुखी कर सकता है। परन्तु वही यूरेनियम ऐटम बम तैयार करने के लिए उपयोग में लाया जाये तो मानव- जीवन नष्ट भी हो सकता है। अमेरीका ने अणुशक्ति का उपयोग करके अणुबम तैयार किये और हिरोशिमा तथा नागासाकी इन दो जापानी शहरों पर उन्हें गिराकर लाखों लोगों का जीवन ध्वस्त किया। इसलिए मानवीय प्रगति अगर सच्चे अर्थ में हो तो विज्ञान और तत्त्वज्ञान का साथ आवश्यक है। विज्ञान और तत्त्वज्ञान प्रगति के रथ

के दो पहिए हैं। रथ चलाने के लिए जिस प्रकार दो पहिए आवश्यक होते हैं, उसी प्रकार प्रगति के कदम सही दिशा में बढ़ाने के लिए विज्ञान और तत्त्वज्ञान का साथ अथ्यावश्यक है। विज्ञानरूपी मोटर के लिए तत्त्वज्ञान रूपी स्टियरिंग-व्हील अनिवार्य है। इसलिए वैज्ञानिक प्रगति के साथ तात्त्विक प्रगति होना भी आवश्यक है।

तत्त्वज्ञान को जीवन में उतारकर ही सच्चे अर्थ में उन्नति हो सकती है। यह सत्य होते हुए भी तत्त्वज्ञान कौन-सा है, यह भी एक बड़ा प्रश्न है। प्राचीन काल से ही इस तत्त्व की खोज के प्रयत्न जारी हैं। वेद, उपनिषद्, प्रचीन तत्त्वचिन्तक, गौतम बुद्ध, भगवान् महावीर जैसी महान् विभूतियों ने इस संबंध में अनेक प्रयत्न किए हैं। उनमें से भगवान् महावीर के नव (नौ) तत्त्वों का परिशीलन प्रस्तुत प्रबंध का विषय होने से उस संबंध में आवश्यक संशोधन करने का यह एक प्रयत्न है।

नव तत्त्वों की कल्पना प्राचीन होते हुए भी उनकी सदा, सब कालों में आवश्यकता है। जिस प्रकार पानी और हवा अनादि होते हुए भी उनके बिना किसी भी काल में मुनष्य का काम नहीं चल सकता, उसी प्रकार नव तत्त्वों की कल्पना अति प्राचीन होने पर भी सब कालों में अत्यंत आवश्यक है। मनुष्य को जन्म, जरा, मरण, आधि-व्याधि-उपाधि आदि दुःखों से मुक्त होने के लिए नव तत्त्वों के ज्ञान की आवश्यकता है। इन नव तत्त्वों के ज्ञान के बिना मानव दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता, ऐसा जैन-दर्शन का दृढ़ विश्वास है। प्राणिमात्र मुक्ति चाहता है। प्राणिमात्र के सारे प्रयत्न दुःखमुक्ति और सुखप्राप्ति के लिए ही हैं। इसलिए नव तत्त्वों का ज्ञान प्रत्येक मानव के लिए आवश्यक है। नव तत्त्वों की कल्पना प्राचीन है इसका उल्लेख आगम ग्रंथों में मिलता है।

इन तत्त्वों के यथार्थ ज्ञान से मानव का पदार्थ-विषयक संशय दूर होता है। संशय दूर होने से तत्त्व पर श्रद्धा होती है। शुद्ध श्रद्धा होने से मानव पुनः पाप नहीं करता। जब पुनः पाप नहीं होता, तब आत्मा संवृत्त होता है। संवृत्त आत्मा (शुद्ध आत्मा) तप के द्वारा संचित कर्मों का क्षय करके क्रमशः तथा समस्त कर्मों का पूर्ण क्षय करके (सब दुःखों का अन्त करके) अन्त करके में मोक्ष को प्राप्त होता है।

## तत्त्व किसे कहते हैं ?

नव (नौ) तत्त्वों का विवेचन करने से पहले 'तत्त्व' किसे कहते हैं यह समझना आवश्यक है। वेद, उपनिषद् और अन्य भारतीय साहित्य में तत्त्व के संबंध

में गहराई से अनुशीलन-परिशीलन किया गया है। "तत्" शब्द से "तत्त्व" शब्द बना है। संस्कृत भाषा में "तत्" शब्द सर्वनाम है। सर्वनाम शब्द सामान्य अर्थ के वाचक होते हैं। "तत्" शब्द से भाव अर्थ में 'त्व' प्रत्यय लगाकर "तत्त्व" शब्द बनता है। इसका अर्थ है- "उसका भाव"। 'तस्य भावः तत्त्वम्' अर्थात् वस्तु के स्वरूप को तत्त्व कहा जाता है।

वेद, उपनिषद् और दर्शन साहित्य में "तत्त्व" की कल्पना गंभीर चिन्तन का विषय है। चिन्तन-मनन की शुरूआत तत्त्व से ही होती है। किं तत्त्वम् ? तत्त्व क्या है ? यही जिज्ञासा तत्त्वदर्शन का मूल है।

लौकिक दृष्टि से "तत्त्व" शब्द के अर्थ निम्नलिखित होते हैं - वास्तविक स्थिति, यथार्थता, सारवस्तु और सारांश। दार्शनिक चिन्तकों ने प्रस्तुत अर्थों को स्वीकार करते हुए भी परमार्थ, द्रव्यस्वभाव, पर-अपर, ध्येय, शुद्ध, परम् इन अर्थों में भी 'तत्त्व' शब्द का उपयोग किया है।[१]

सांख्यमत के अनुसार संसार के मूल कारण के रूप में 'तत्त्व' शब्द का प्रयोग हुआ है। समस्त दर्शनों ने अपनी-अपनी दृष्टि से तत्त्वों का निरूपण किया है। सब का कथन यही है कि जीवन में तत्त्वों का स्थान महत्त्वपूर्ण है। जीवन और तत्त्व परस्पर संबंधित हैं। तत्त्वों से जीवों को अलग नहीं किया जा सकता और तत्त्वों के अभाव में जीवन गतिशील नहीं हो सकता। जीवन से तत्त्वों को अलग करना आत्मा के अस्तित्त्व को नकारना है।

## तत्त्वों की मान्यता

संपूर्ण भारतीय दर्शन तत्त्वों के आधार पर ही अवस्थित हैं। आस्तिक दर्शनों में हर एक दर्शन ने अपनी-अपनी परंपराओं को तत्त्वमीमांसा और तत्त्व विचार का आधार दिया है।

भौतिकवादी चार्वाक-दर्शन ने भी तत्त्वों को स्वीकार किया है। वह पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि इन चार तत्त्वों को मानता है।[२]

वैशेषिक-दर्शन सात पदार्थ मानता है- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव।

न्यायदर्शन ने सोलह पदार्थ माने हैं-

१- प्रमाण, २- प्रमेय, ३- संशय, ४- प्रयोजन, ५- दृष्टान्त, ६- सिद्धान्त, ७- अवयव, ८- तर्क, ९- निर्णय, १०- वाद, ११- जल्प, १२- वितण्डा, १३- हेत्वाभास, १४- छल, १५- जाति, १६- निग्रहस्थान।

सांख्य-दर्शन ने पच्चीस तत्त्व स्वीकार किये हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच तन्मात्रा, पाँच महाभूत, पुरुष, प्रकृति, अहंकार, मन और महत्‌तत्त्व (बुद्धितत्त्व)।

माध्व संप्रदाय में तत्त्वों की संख्या दस है - द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव।

मीमांसा-दर्शन तीन अवयवों को स्वीकार करता है- प्रतिज्ञा हेतु और उदाहरण। योग-दर्शन सांख्यमत-सम्मत तत्त्वों को स्वीकार करता है। वेदान्त-दर्शन एकमात्र 'ब्रह्म' को सत् मानता है और शेष सब कुछ असत् मानता हैं।

अद्वैत-वेदान्त- द्रव्य, गुण, कर्म (क्रिया) और सामान्य (जाति) इन चार पदार्थों को मानकर शब्दब्रह्म को एक मात्र तत्त्व मानता है।

बौद्ध-दर्शन ने चार आर्य सत्य स्वीकार किये हैं- १- दुःख, २- दुःखसमुदाय, ३- दुःखनिरोध ४- दुःखनिरोध-मार्ग।

जैन-दर्शन में मुख्य तत्त्व दो बताये गये है- १- जीव तथा २- अजीव। इन दो तत्त्वों का विस्तार नव (नौ) तत्त्वों में हुआ है। इन नव (नौ) तत्त्वों के ज्ञान से आत्मा परमात्मा बन सकता है, जीव शिव बन सकता है तथा नर नारायण बन सकता है।

जैन दर्शन के नव (नौ) तत्त्व निम्नलिखित हैं :-

१- जीवतत्त्व, २- अजीवतत्त्व, ३- पुण्यतत्त्व, ४- पापतत्त्व, ५- आस्रवतत्त्व, ६- संवरतत्त्व, ७- निर्जरातत्त्व, ८- बन्धतत्त्व, ९- मोक्षतत्त्व।[३]

१- जीव (तत्त्व) - जिसमें चैतन्य (जानने और देखने की शक्ति) है उसे जीव कहते हैं।

२- अजीव (तत्त्व) - जो चैतन्य से रहित है, वह अजीव है।

३- पुण्य - सत्कर्मों द्वारा लाए गए कर्म अर्थात् प्रशस्त कर्मपुद्‌गल पुण्य हैं।

४- पाप - पुण्य के विपरीत अप्रशस्त कर्मपुद्‌गल पाप हैं।

५- आस्रव - कर्मप्रवेश का द्वार और कर्मबंध का कारण मिथ्यात्वादि आस्रव है।

६- संवर - आस्रव के निरोध को संवर कहते है।

७- बंध - जीव और कर्म का मिल जाना बंध है।

८- निर्जरा - बँधे हुए कर्म का अंशतः क्षय निर्जरा है।

९- मोक्ष - सब कर्मों से छूट जाना और सारे कर्म नष्ट होना मोक्ष है।[४]

## तत्त्व कितने हैं ?

तत्त्व कितने हैं इस प्रश्न का उत्तर अलग-अलग ग्रंथों ने अलग-अलग दिया है। संक्षिप्त और विस्तार की दृष्टि से प्रतिपादन की तीन मत प्रणालियाँ हैं। पहली मत-प्रणाली के अनुसार तत्त्व दो हैं- जीव और अजीव। दूसरी मत-प्रणाली के अनुसार तत्त्व सात हैं- जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। दार्शनिक ग्रंथों में पहली और दूसरी मत-प्रणाली मिलती हैं। आगम-साहित्य में तीसरी मत-प्रणाली उपलब्ध है। स्थानांगसूत्र आदि में दो राशियों का भी उल्लेख है- जीवराशि और अजीवराशि।

'द्रव्यसंग्रह' में तत्त्वों के दो भेद बताये गये हैं।[५]

आचार्य श्री उमास्वाति ने तत्त्वार्थाधिगमसूत्र के प्रथम अध्याय के चौथे सूत्र में सात तत्त्वों का उल्लेख किया है- जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।[६]

पुण्य और पाप इन का आस्रव या बंध तत्त्व में समावेश कर तत्त्वों की संख्या सात मानी गई है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि उमास्वाति जैसे महान् आचार्य ने सात तत्त्व माने हैं तो फिर मैं नौ तत्त्व क्यों कहता हूँ ?

इसका कारण यह है कि संपूर्ण आगम-साहित्य और कुछ आगमोत्तर ग्रंथों में नौ तत्त्व माने गये हैं। स्वयं आचार्य उमास्वाति ने भी 'प्रशमरति-प्रकरण' में नौ पदार्थ बताए हैं।[७]

उत्तराध्ययनसूत्र, स्थानांगसूत्र, समवायांगसूत्र, आचार्य कुन्दकुन्द का समयसार, हरिभद्र का षड्दर्शनसमुच्चय तथा पंचास्तिकाय में भी नौ तत्त्वों का ही उल्लेख हैं।[८]

## तत्त्व सात या नौ ?

प्रश्न उपस्थित होता है कि तत्त्व नौ ही क्यों ? सात क्यों नहीं? वस्तुतः इसमें कुछ भी विरोध नहीं है। जीव ही उसका एकमेव कारण है। सात तत्त्वों को मानने वाले पुण्य-पाप का निषेध करके सात तत्त्वों को ही मानेंगे ऐसा नहीं है अपितु आस्रव तत्त्व में पुण्य-पाप का समावेश किया गया है। इस दृष्टि से यह माना जाता है कि "सात तत्त्व हैं भी और नहीं भी"। पुण्य-पाप-तत्त्वानुरूप ऐसा प्रतिपादन किया गया है कि तत्त्व नौ ही हैं, सात नहीं।

भगवान् महावीर ने अनेकान्त-दृष्टि से और स्याद्वाद-दृष्टि से कहा है कि जब इस बात पर सर्वंकष विचार किया जाता है, तब यह निर्णय लिया जाता है कि (प्रत्येक पदार्थ) "वस्तुसापेक्ष है"। एक व्यक्ति अधिक ज्ञान के क्षयोपशम का कारण जीव को समझकर मुक्तिमार्ग का निर्णय करने में समर्थ बनता है। दूसरा व्यक्ति जीव-अजीव तत्त्व को समझने में कामयाब होता है। तीसरा व्यक्ति सात तत्त्वों को समझने में समर्थ होता है। मंदबुद्धि लोगों को नौ तत्त्वों के द्वारा वस्तुस्थिति की जानकारी देनी होती है।

मेरे मत मे संसार में (विश्व में) नाना प्रकार के जीव हैं। उनकी दृष्टि भी अलग-अलग है परंतु ज्ञान का इतना क्षयोपशम नहीं है कि जीव तत्त्व को या जीव-अजीव तत्त्व को या सात तत्त्वों को समझकर वस्तुस्थिति का निर्णय किया जा सके। इसलिए आज के युग में नवतत्त्वों का प्रतिपादन करने पर ही भगवान् महावीर के मौलिक सिद्धान्तों का आकलन हो सकता है। यह गहन दृष्टिकोण ही नौ तत्त्वों का अधिष्ठान है।

सात तत्त्वों और नौ तत्त्वों की मान्यता में तत्त्वतः कुछ भी भेद नहीं है। तत्त्व सात हों या नौ- इनका अंतर्भाव जीव-अजीव [Soul and Matter] में ही हो जाता है। परंतु ज्ञेय, हेय और उपादेय को समझने के लिए तत्त्वों का भिन्न-भिन्न प्रकार से निरूपण आवश्यक है।

आध्यात्मिक दृष्टि से तत्त्व तीन प्रकार के हैं- ज्ञेय, हेय और उपादेय। जो जानने योग्य है वह है ज्ञेय (ज्ञातुं योग्यं ज्ञेयम्), जो छोड़ने योग्य है वह हेय (हातुं योग्यं हेयम्) और जो ग्रहण करने योग्य है वह उपादेय (उपादातुं योग्यं उपादेयम्) है। जीव और अजीव दोनों ज्ञेय हैं। जो साधक अध्यात्मभावों की साधना करता है उस के लिए जीव और अजीव इन दोनों का ज्ञान आवश्यक है। अगर मानव जीव और अजीव को नहीं समझ सका, तब वह संसार के स्वरूप को कैसे समझ सकेगा? साधक के लिए बंधरूप संसार हेय है। नरकादि गति का दुःख भी हेय है। उसके कारण आस्रव तथा बंध ये दो पदार्थ हेय हैं। पाप तत्त्व भी हेय है। पुण्य तत्त्व मोक्ष का साधन प्राप्त करने की दृष्टि से अंशतः उपादेय है।

जो अविनाशी तथा अनंत सुख है वह उपादेय तत्त्व है उस अक्षय, अनंत सुख का कारण मोक्ष है और उस मोक्ष का कारण संवर तथा निर्जरा हैं इसलिए ये तत्त्व उपादेय हैं।

इस प्रकार जीव और अजीव का ज्ञेय में अंतर्भाव होता है; आस्रव, बंध और पाप का हेय में; संवर, निर्जरा और मोक्ष का उपादेय में। उसी प्रकार पुण्य का हेय, ज्ञेय और उपादेय इन तीनों में अंतर्भाव होता है। हेय, ज्ञेय और उपादेय तत्त्वों को समझने के लिए नौ तत्त्वों का निरूपण आवश्यक है।

नौ तत्त्वों में जीवन का सुन्दर विश्लेषण किया गया है। जीव और अजीव ये दो मूल तत्त्व व्यक्ति को देहादि पौद्गलिक प्रपंच से भिन्न अन्तर्चेतना का दर्शन कराते हैं। आस्रव, पुण्य, पाप और बंध ये चार तत्त्व व्यक्ति को हमेशा बंधनयुक्त कर्मों का, तथा उनके कारणों से राग-द्वेषादि का परिचय देते हैं। जिस साधना से जीव रागद्वेष आदि शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त कर सकता है, ऐसी साधना के लिए संवर और निर्जरा तत्त्व मार्गदर्शन करते हैं और यह मुक्ति सारे कर्मों का हमेशा के लिए क्षय है।

नौ तत्त्वों की श्रद्धा से मोक्षमार्ग का ज्ञान होता हैं क्योंकि जीव तत्त्व के ज्ञान से यह समझ में आता है कि 'मैं जीव हूँ।' अजीव तत्त्व से यह समझा जाता है कि शरीरादि अजीव हैं। पुण्य तत्त्व के वर्णन से यह समझा जाता है कि सुखदायक और अनुकूल अवस्था का कारण पुण्य है। पाप तत्त्व से ज्ञान होता है कि दुःखदायक और प्रतिकूल अवस्था का कारण पाप है। पुण्य-पाप के फल से संसारी-जीव अपने को सुखी और दुःखी मानता है। पाप-कर्म और पुण्य-कर्म जब आत्मा के पास बंध के लिए आते हैं तब उनका आस्रव होता है और आत्मा के प्रवेश के साथ जब वे कर्म चिपकते हैं तब उसे बंध कहते हैं।

आस्रव और बंध तत्त्वों से संसारी जीव कैसे अशुद्ध होता है यह दिखाया गया है। बाद में संवर तत्त्व से बंध को रोकने का मार्ग दिखाया गया है। निर्जरा तत्त्व से कर्म से धीरे-धीरे छूटने का मार्ग बताया गया है और मोक्ष तत्त्व से आत्मा कर्ममुक्त होकर कैसे पवित्र बनता है, यह दिखाया गया है।

इस प्रकार नौ तत्त्वों का ज्ञान और उन पर श्रद्धा होना मोक्ष प्राप्ति के लिए अत्यंत आवश्यक है। नवतत्त्वों के ज्ञान के बिना कर्मबंध के कारण से दूर होना अशक्य है, इसलिए नौ तत्त्वों को मोक्षमार्ग भी कहा गया है।

जैन-धर्म को विश्वधर्म भी कहा जा सकता है क्योंकि इस धर्म में सब धर्मों का समावेश किया जा सकता है। किसी से राग-द्वेष नहीं, सभी समान हैं, सब धर्मों की दृष्टि सही है। किसी को किसी से मत्सर नहीं करना चाहिए ऐसा

स्याद्वाद इस धर्म में बताया गया है, इसलिए जैन-धर्म विश्वधर्म हो सकता है। जैन-धर्म कितना विशाल है यह बात निम्नलिखित श्लोक से अधिक स्पष्ट होती है-

यस्य निखिलाश्च दोषा न सन्ति सर्वे गुणाश्च विद्यन्ते।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो वा जिनो वा नमस्तस्मै।।

इससे नौ तत्त्वों के ज्ञान का वैशिष्ट्य और जैन-धर्म की विशालता प्रकाशित होती है। अनन्त, अक्षय, अजर, अमर, अव्याबाध, नित्य और शाश्वत मोक्ष प्राप्त करना ही मानवमात्र का मूल ध्येय है। मोक्ष की प्राप्ति के बाद मानव के लिए कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता क्योंकि मोक्ष ही आत्यन्तिक आनंद की अवस्था है।

## सन्दर्भ

१- देवेन्द्रमुनिशास्त्री - जैनदर्शनः स्वरूप और विश्लेषण - पृष्ठ ६७
तत्तं तह परमट्ठं दव्वसहावं तहेव परमपरं।
धेयं सुद्धं परमं एयट्ठा हुंति अभिहाणा।। - ब्रुहद्नयचक्र ४

२- देवेन्द्रमुनि शास्त्री - जैनदर्शनः स्वरूप और विश्लेषणः पृ० ६८०
पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि। - बृहस्पति

३- हरिभद्रसूरि - षड्दर्शनसमुच्चय - पृ० २११, भा- ४७
जीवाजीवौ तथा पुण्यं पापास्रवसंवरौ।
बन्धो विनिर्जरामोक्षौ नवतत्त्वानि तन्मते।।

४- (क) माधवचार्य - सर्वदर्शनसंग्रह - प्रस्तावना पृ० ३५
(ख) हरिभद्रसूरि - षड्दर्शनसमुच्चय - पृ० २१३
चैतन्यलक्षणो जीवो यश्चैतद्विपरीतवान्।
अजीव : स समाख्यात : पुण्यं सत्कर्मपुद्गलाः।।४६।। पृ० २१३
पापं तद्विपरीतं तु मिथ्यात्त्वधास्तु हेतवः।
ये बन्धस्य स विज्ञेय आस्रवो जिनशासने ।।५०।। पृ० २६६
संवरस्तन्निरोधस्तु बन्धो जीवस्य कर्मणः ।
अन्योऽन्यानुगमात्मा तु यः संबन्धो द्वयोरपि ।।५१।। पृ० २७५
बद्धस्य कर्मणः सादौ यस्तु सा निर्जरा मता।
आत्यन्तिको वियोगस्तु, देहादेर्मोक्ष उच्यते।।५२।। पृ० २७८

५- नेमिचन्द्राचार्य - बृहद्द्रव्यसंग्रह - भा० पृ० ४
जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिदिट्ठं।
देविंदविंदवंदं वन्दे तं सव्वदा सिरसा ।। १।।

६- उमास्वाति-(अनु० पं० सुखलालजी)-तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सू० ४, पृ० ८
जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरा मोक्षास्तत्त्वम् ।। ४।।

७- उमास्वाति - प्रशमरतिप्रकरणम् - सूत्र १८६, अधिकार ११, पृ० ६०
जीवाजीवाःपुण्यं पापास्त्रवसंवराःसनिर्जरणाः।
बन्धो मोक्षश्चैते सम्यक् चिन्त्या नवपदार्थाः ।। १८६।।

८- उत्तराध्ययन - २८ भा० १४

(क) जीवाजीवा व बंधो य पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो सन्तेए तहिया नव।।

(ख) अभयदेवसूरिटीका - स्थानांगसूत्र, ठा० ६, पृ० ४२२
नव सब्भाव पयत्था पन्नता तंजहा जीवा अजीवा पुणण
पावो आसवो संवरो निज्जरा बंधो मोक्खो।।

(ग) अभयदेवसूरिटीका - समवायांग-पृ० ११०
जीवाजीवास्रवबंधश्च संवरनिर्जरापुण्यापुण्यमोक्षस्यान्नवपदार्थान।

(घ) हरिभद्रसूरि - षड्दर्शसमुच्चय का० ४७, पृ० २११
जीवाजीवौ तथा पुण्यं पापमास्रवसंवरौ।
बन्धो विनिर्जरामोक्षौ नव तत्त्वानि तन्मते।।४७।।

(च) कुन्दकुन्दाचार्य - पंचास्तिकाय - भा० १०८, पृ० १७१
जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं।
संवरणिज्जरबंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा ।।१०८।।

(छ) श्रीमन्नेमिचन्द्राचार्यसिद्धांतचक्रवर्ती - गोम्मटसार (जीवकाण्ड)
भा० ६२० पृ० २२६
णव य पदत्था जीवाजीवा ताणं च पुण्णपावदुगं।
आसवसंवरणिज्जरबंधा मोक्खो य होंतीति ।। ६२०।।

# द्वितीय अध्याय

# जीवतत्त्व

## [Conscious soul]

आज के इस वैज्ञानिक युग में बुद्धिजीवी मानव अपने को शक्ति सम्पन्न बनाने का सतत् प्रयास कर रहा है। किन्तु उसका मन आध्यात्मिक मूल्यों की रिक्तता (Vacuum) के कारण अशांति से ग्रसित है। विज्ञान से शक्तिप्राप्त होती है लेकिन मनःशान्ति नष्ट होती है। वैज्ञानिक आविष्कारों से मानव अवश्य ही शक्तिशाली बना है लेकिन वह अपना मानसिक स्वास्थ्य भी खो बैठा है। जिन्होंने धर्म को स्वीकार किया उन्हें शान्ति का लाभ तो हुआ, परन्तु वे अन्यों की तुलना में शक्तिहीन सिद्ध हुए। जो राष्ट्र शक्ति और शान्ति दोनों को प्राप्त करना चाहता है, उसे विज्ञान और तत्त्वविज्ञान दोनों को स्वीकार करना होगा क्योंकि इनमें से एक के अभाव में मानव की आत्मशान्ति और राष्ट्र की शक्ति अपूर्ण रहेगी। शान्तिरहित शक्ति क्रुरता और संहारकर्ता का रूप धारण करती है।

विज्ञान ने मानव को ज्ञान (Knowledge) दिया यह सत्य है, परन्तु मनुष्य धर्म के अभाव में विवेकशून्य हुआ और बाद में विवेकरहित ज्ञान से अणुबम और उद्‌जन बम का निर्माण करके उसी ने मानवीय संस्कृति पर कुठाराघात किए। इसका सारा दोष विज्ञान के माथे पर थोपा गया। ज्ञान के साथ विवेक की अनिवार्यता वह भूल गया इसलिए शक्ति बढ़ गई, परन्तु शान्ति नष्ट हो गई। शांति के लिए विज्ञान और तत्त्वज्ञान के समन्वय की अतीव आवश्यकता है। इसीलिए मैंने अपने शोध-प्रबंध का विषय "जैन-दर्शन के नव तत्त्व" चुना है।

जैन-दर्शन के अनुसार विश्वव्यवस्था को समझने के लिए षट् द्रव्यों का ज्ञान आवश्यक है, परन्तु विशेष आत्मज्ञान के लए तथा सब दुःखों से मुक्त होने के लिए नवतत्त्वों का वास्तविक ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। जैन-दर्शन के अनुसार छः द्रव्यों से ही इस पूरे विश्व की रचना हुई है।

जैन-दर्शन के वे छः द्रव्य निम्नलिखित हैं :-

(१) जीव (२) पुद्‌गल (३) धर्म (४) अधर्म (५) आकाश (६) काल।[1] इनमें से जीव द्रव्य का विवेचन जीवतत्त्व में होगा और बाकी पाँच द्रव्यों का विवेचन अजीवतत्त्व में होगा।[2]

पूर्व में बताए अनुसार मुक्ति के लिए जिनका ज्ञान आवश्यक है, वे नवतत्त्व निम्नलिखित हैं:-
(१) जीव (२) अजीव (३) पुण्य (४) पाप (५) आस्रव (६) संवर (७) निर्जरा (८) बंध तथा (६) मोक्ष।[३]

विश्व व्यवस्था और तत्त्व-प्रतिपादन के हेतु अलग-अलग हैं। विश्व-व्यवस्था का ज्ञान न होने पर भी तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है, परन्तु तत्त्वज्ञान के अभाव में विश्वव्यवस्था का संपूर्ण ज्ञान निरर्थक है। इससे यह सिद्ध होता है कि मानव का अन्तिम ध्येय मोक्ष है और उसके लिए तत्त्वज्ञान अपरिहार्य है।

विज्ञान के साथ तत्त्वज्ञान का विकास नहीं हुआ तो मानव दुःखमुक्त हो ही नहीं सकेगा। इसके लिए, जिस प्रकार वैद्यक शास्त्र में चतुर्व्यूह के रूप में बीमारी के कारण, आरोग्य और उसके उपाय बताए गये हैं, उसी प्रकार मोक्षप्राप्ति के लिए संसार, संसार का कारण, मोक्ष और मोक्ष के उपाय इस मूलभूत चतुर्व्यूह का आकलन होना अत्यंत आवश्यक हैं। रोगी को सर्वप्रथम स्वयं को रोगी समझना आवश्यक है। जब तक रोगी को रोग की जानकारी नहीं होती, तब तक वह वैद्यकीय जाँच के लिए प्रवृत्त नहीं होता। रोग की जानकारी होने पर अपना रोग किन दवाइयों से नष्ट होगा यह बात उसे जान लेनी चाहिए। रोगों की जानकारी उसे वैद्यकीय जाँच के लिए प्रवृत्त करती है। रोग किसी एक विशिष्ट कारण से या अपथ्य सेवन से उत्पन्न हुआ है यह भी उसे मालूम होना चाहिए। इससे वह भविष्य में अपथ्य आहार-विहार को त्याग कर स्वयं को रोग से दूर रख सकता है।

रोग नष्ट करने के उपाय के लिये औषधोपचार का ज्ञान आवश्यक है। यही ज्ञान रोगों का समूल नाश कर स्थिर आरोग्य प्राप्त करा सकता है।

उसी प्रकार (१) जीव कर्मबद्ध है, (२) उसकी कर्मबद्धता के कारण हैं (३) वे कारण टूट सकते हैं, नष्ट हो सकते हैं (४) कारण नष्ट होने के और बंधन टूटने के मार्ग हैं। इन मूलभूत चार बिन्दुओं पर तत्त्वज्ञान की परिसमाप्ति भारतीय दर्शन द्वारा की गई है।[४]

इसी प्रकार दुःख-मुक्ति के लिए मानव मात्र को नवतत्त्वों का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। संसारी जीव अनेक प्रकार की शारीरिक तथा मानसिक पीडाएँ भोगता है और उनसे मुक्त होने की इच्छा करता है। इसके लिए उसे संसाररूपी रोग के बढ़ने का कारण क्या है, इसका ज्ञान होना आवश्यक है। यह

रोगवृद्धि किस प्रकार रुक सकती है पुराना रोग किस प्रकार दूर हो सकता है इसका ज्ञान भी आवश्यक है। नीरोगी-अवस्था का सुख कैसा होता है? संसार के सुख-दुःखों का कारण क्या है? इन सब प्रश्नों के उत्तर नवतत्त्वों में मिलते हैं।

संसार यानी सम्+सृ। जन्म से मृत्यु तक जाना और पुनः जन्म प्राप्त होना। संसार का अर्थ संसरण करना होता है। इस प्रकार जन्म-मृत्यु के फेरे में घूमते रहना ही संसार है।[५]

जो आत्मिक आनन्द के शोधक हैं और शान्ति के उपासक हैं, उन्हें नवतत्त्वों का रहस्य जानकर चिन्तन-मनन करना चाहिए। नवतत्त्वों का ज्ञान आत्मा की उन्नति का विज्ञान है। यह अनेकों जन्मों का स्पष्ट चित्र है।

जैन-दर्शन के नवतत्त्व ऊपर निर्दिष्ट चार बिन्दुओं पर आधारित हैं। नवतत्त्वों में सर्वप्रथम तत्त्व "जीव" है और अन्तिम तत्त्व "मोक्ष" है। जीव को मोक्ष कैसे प्राप्त होगा इसका मार्ग नवतत्त्वों में दिखाई देता है।

जीवतत्त्वों के निरूपण के द्वारा, मोक्ष का अधिकारी जीव है, यह बताया गया है। अजीव तत्त्व के निरूपण के द्वारा यह बताया गया है कि संसार में ऐसा एक तत्त्व है जो जड़ है अतः उसका और मोक्ष का कोई संबंध नहीं है। पुण्य तत्त्व से मोक्ष-मार्ग का साधन प्राप्त होता है। पाप तत्त्व से उसमें अन्तराय (रुकावट) होता है यह भी उसमें बताया गया है। बन्ध तत्त्व से मोक्ष के विरोधी भाव और आस्रव तत्त्व से बंध (दुःख) का कारण बताया गया है। संवर तत्त्व से निरोधमार्ग है और निर्जरा तत्त्व से मोक्ष का क्रम बताया गया है।

इन नवतत्त्वों के ज्ञान से आत्मा परमात्मा बन सकता है। इनके ज्ञान के बिना बाह्य और आन्तरिक विश्व का आकलन नहीं हो सकता। विज्ञान के लिए भी उसे समझने हेतु नवतत्त्वों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार विज्ञान और तत्त्वज्ञान की जोड़ी अविभाज्य है।

## मुख्य तत्त्व दो :- जीव और अजीव

मुख्य तत्त्व दो हैं, इस प्रकार के विचार द्रव्यसंग्रह, पंचास्तिकाय, समयसार, षड्दर्शनसमुच्चय, तत्त्वार्थसूत्र, ठाणांग, भगवतीसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र (पन्नवण्णा), उत्तराध्ययनसूत्र आदि आगम तथा आगमेतर ग्रंथों में पाये जाते हैं।[६]

जीव और अजीव इन दो तत्त्वों के अलावा अन्य तत्त्व इन दोनों के संयोग और वियोग से बने हुए हैं। आस्रव, बन्ध, पुण्य तथा पाप–ये चार तत्त्व जीव अजीव के संयोग से बने हैं। संवर, निर्जरा, मोक्ष ये तत्त्व अजीव के वियोग

से बने हैं। माधवाचार्य ने भी अपने सर्वदर्शन संग्रह में इस संबंध में उल्लेख किया है।[७]

जैन, बोद्ध तथा सांख्य दर्शन के मतानुसार संसार के मूल में चेतन और अचेतन दो तत्त्व हैं। जैनों ने उन्हें जीव और अजीव नाम दिए हैं। सांख्य ने पुरुष और प्रकृति कहा है। बौद्धों ने नाम और रूप कहा है।

## जीव तत्त्व को ही अग्रस्थान क्यों?

सहज ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इन नवतत्त्वों में सर्वप्रथम जीवतत्त्व ही क्यों? इसका कारण यह है कि जीव तत्त्व ही नवतत्त्वों में मुख्य है। आगम और आगमेतर साहित्य में सर्वाधिक वर्णन जीव तत्त्व का ही दिखाई देता है।

"जीव" नवतत्त्वों का चरित्र-नायक है। जिस प्रकार भौगोलिक दृष्टि से सूर्य के चारों ओर पृथ्वी अखण्ड घूमती रहती है उसी प्रकार आठों तत्त्व जीवतत्त्व के चारों ओर अखण्ड घूमते रहते हैं। इसलिए जीवतत्त्व के सब में प्रमुख होने के कारण विद्वज्जनों और आगमों ने उसे अग्रस्थान दिया है। उदाहरणार्थ तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वातिजी ने दस अध्यायों में से चार अध्यायों में जीव तत्त्व का तथा शेष छः अध्यायों में अन्य तत्त्वों का विवेचन किया है।

समस्त भारतीय दर्शनों की निर्मिति और विकास आत्मतत्त्व को केन्द्र विन्दु मानकर हुआ है इसलिए नवतत्त्वों में जीव तत्त्व को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है।

आचारांगसूत्र में कहा गया है कि जिन्होंने आत्मतत्त्व का पूरी तरह आंकलन किया है उन्होंने सम्पूर्ण संसार का आकलन किया है। संसार में ऐसा एक भी स्थान नहीं जहाँ जीव की जन्म-मृत्यु की घटनाएँ न घटी हों। संसार में ऐसा कोई भी वैभव नहीं जो जीव को प्राप्त नहीं हुआ। आत्मा की पूरी पहचान होते ही स्वाभाविकतया पूरे संसार का ज्ञान हो जाता है।[८]

## आत्मवाद की उत्क्रांति का इतिहास

आत्मा के संबंध में सूत्रकृतांग में विविध विचारधाराओं का दिग्दर्शन किया गया है।[९] अनेक दार्शनिक इस संसार के मूल में पाँच महाभूतों की सत्ता मानते थे– पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। इनके मिश्रण से ही आत्मतत्त्व की निष्पति होती है। बोद्ध साहित्य में भी ऐसे दार्शनिकों का उल्लेख है जो चार तत्त्वों से आत्मा की चेतनता की उत्पत्ति मानते थे। ऋग्वेद के ऋषि आत्मा के संबंध में विचार करते-करते विचारों में डूब जाते हैं और घोषणा करते हैं - मैं कौन हूँ?

यह भी मैं नहीं जानता। दार्शनिक चिन्तन की इस समस्या में कभी पुरुष को, कभी प्रकृति को, कभी आत्मा को, कभी प्राणों को और कभी मन को आत्मा के रूप में देखा गया। फिर भी चिन्तक का समाधान नहीं हुआ और वह आत्मचिन्तन के क्षेत्र में निरन्तर आगे बढ़ता रहा :- [१०]

**(१) देहात्मवाद** :- आत्मचिन्तन के क्रमिक विकास का चित्र हमें उपनिषदों में उपलब्ध होता है। प्रथम देहात्मवाद उत्पन्न हुआ। अन्य सब जड़ पदार्थों की तुलना में हमारे शरीर को स्फूर्ति का विशेष रूप से अनुभव होता है। इसलिए देह को ही आत्मा माना गया। यह मत चार्वाक दर्शन का है।

**(२) भूतात्मवाद** :- जैन-आगम और बोद्ध त्रिपिटक में पंच महाभूतों और चतुर्महाभूतों को आत्मा माना गया है। यह सिद्धान्त देहात्मवाद से मिलता है। चार्वाक तो पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु इन भूतचतुष्टय के विशिष्ट रासायनिक मिश्रण से, शरीर की उत्पत्ति के समान, आत्मा की उत्पत्ति मानते थे।

**(३) इन्द्रियात्मवाद** :- अनेक विचारकों को 'देह ही आत्मा है' यह विचार ठीक नहीं लगा। उन्होंने इन्द्रियों को आत्मा माना है। शरीर में होने वाली क्रिया के जो साधन हैं उनमें इन्द्रियों का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसलिए इन विचारकों ने इन्द्रियों को ही आत्मा मान लिया। चार्वाक-दर्शन के कुछ मतानुयायी इन्द्रियों को ही आत्मा मानते थे।

**(४) प्राणात्मवाद** :- चार्वाक-दर्शन के कुछ विचारकों ने प्राण को ही आत्मा मान लिया। उनका कहना था कि निद्रा में सारी इंद्रियों की प्रवृत्ति रुक जाती है, परन्तु साँस चलती रहती है। सिर्फ मृत्यु के बाद साँस नहीं चलती इसलिए जीवन में प्राणों का महत्त्व सर्वाधिक है। इसलिए उन्होंने प्राण को ही आत्मा माना। छान्दोग्य उपनिषद् (३-१५-४) में कहा गया है - "इस जगत् में जो कुछ है वह प्राण है।" [११] बृहदारण्यक उपनिषद् (१-५-२२-२३) में कहा गया है - "प्राण तो देवों का देव है।" [१२]

**(५) मनोमय आत्मा** :- कुछ चार्वाक चिन्तकों ने प्राणमय आत्मा के बाद मनोमय आत्मा की कल्पना की (तैत्तिरीय उपनिषद् २/३। सदानन्द ने वेन्दान्तसार में कहा है कि तैत्तिरीय उपनिषद् के "अन्योऽन्तरात्मा मनोमयः" (२/३) इस वाक्य के आधार पर कुछ चार्वाक मन को आत्मा मानते हैं। मन को परमब्रह्म सम्राट् कहा गया है (४-१-६)। छान्दोग्य उपनिषद् में भी उसे ब्रह्म कहा गया है।

(छा०७-३-१) तेजोबिन्दु उपनिषद् में मन को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। (तेजोबिन्दु ५-६८-१०८)

**(६) प्रज्ञात्मा-प्रज्ञानात्मा-विज्ञानात्मा** :- इन्द्रिय और मन दोनों प्रज्ञा के विना सर्वथा निरर्थक हैं। इसलिए प्रज्ञा का महत्त्व इन्द्रिय और मन से अधिक है। अतः कुछ प्रज्ञा को आत्मा मानते थे। प्रज्ञात्मा, प्रज्ञानात्मा और विज्ञानात्मा शब्द समानार्थक हैं। इसी अर्थ को लेकर आत्मा को प्रज्ञात्मा, प्रज्ञानात्मा और विज्ञानात्मा माना गया है।

उपर्युक्त मान्यताओं में आत्मा को भौतिक तत्त्व माना गया। उसके बाद ऐसा विचार-प्रवाह प्रारम्भ हुआ कि आत्मा एक अभौतिक तत्त्व है। तत्त्वशोधकों का मत "आत्मा मौलिक रूप से चैतन्यतत्त्व है" इसकी ओर धीरे-धीरे झुकने लगा। बौद्ध दर्शन में ऊपर निर्दिष्ट भेदों को माना गया है।

**(७) आनन्दात्मा** :- मनुष्य के अनुभव के दो रूप हैं - (१) ज्ञानानुभव तथा (२) वेदनानुभव। ज्ञान का संबंध जानने से और वेदना का संबंध भोगने से है। वेदना के दो प्रकार हैं- (१) अनुकूल तथा (२) प्रतिकूल।

प्रतिकूल वेदना किसी को अच्छी नहीं लगती परंतु अनुकूल वेदना सब को अच्छी लगती है। अनुकूल वेदना का दूसरा नाम सुख है और सुख की पराकाष्ठा को "आनन्द" की संज्ञा दी गई है। बाह्य पदार्थों के भोग से सर्वथा निरपेक्ष अनुकूल वेदना आत्मा का स्वरूप है। तत्त्ववेत्ताओं ने उसे ही आत्मा कहा है।

**(८) चिदात्मा (ब्रह्मात्मा)** :- आनन्दात्मा के बाद 'आत्मा चैतन्यमय है' यह कल्पना आगे आई। चिदात्मा और ब्रह्मात्मा एक ही तत्त्व के दो नाम हैं। उसी प्रकार ब्रह्म और आत्मा भी अलग-अलग नहीं हैं। एक ही तत्त्व के दो नाम हैं। इस प्रकार चिन्तकों ने अभौतिक तत्त्व के रूप में आत्मा का आविष्कार किया। उक्त प्रकार से भूत से लेकर चेतन तक आत्म-विचारणा की उत्क्रान्ति का इतिहास रचा गया है।

इस चिदात्मा को अजर, अक्षर, अमर, अव्यय, अज, नित्य, ध्रुव, शाश्वत और अनन्त माना गया है। कठोपनिषद् (१-३-१५) में कहा गया है कि अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, नित्य, अगन्ध, अनादि, अनन्त तथा ध्रुव आत्मा का ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य मृत्यु के मुख से मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार भूत से लेकर चेतन तक आत्म-विषयक उत्क्रान्ति का इतिहास यहाँ पूरा हो जाता है।[१३]

## अन्य दर्शनों की मान्यताएँ :-

सांख्य, योग और वेदान्त दर्शन आत्मा को स्थायी, अनादि, अनन्त, अविकारी, नित्य, निष्क्रिय कूटस्थ और नित्य मानते हैं। परन्तु उसे परिवर्तनीय नहीं मानते। षड्दर्शनसमुच्चय में कहा गया है कि सुख, दुःख और ज्ञान आत्मा के धर्म नहीं, प्रकृति के धर्म हैं। सांख्य आत्मा को कर्ता नहीं मानता केवल भोक्ता मानता है। सांख्य-आगम में कहा गया है-

"अस्ति पुरुषोऽकर्ता निर्गुणो भोक्ता चिद्रूपः" (गणधरवाद, पृ० ६)।

नैयायिक और वैशेषिक मानते हैं कि आत्मा नित्य है और सर्वव्यापी है। उनके अनुसार प्रत्येक कार्य के लिए जीव स्वयं जिम्मेदार है। वे ज्ञान आदि को आत्मा का गुण मानते हैं।[१४]

मीमांसा-दर्शन मानता है कि आत्मा एक है परन्तु देहादि की विविधता के कारण वह पानी में पड़े चन्द्रप्रतिबिम्ब के समान अनेक रूपों में दिखाई देती है।[१५]

बौद्ध-दर्शन के अनुसार आत्मा एकान्त क्षणिक है उसमें जीव का स्वभाव नहीं बताया गया है। कारण यह है कि दुःख-मुक्ति उद्देश्य होने से जीव का स्वभाव जानने की आवश्यकता नहीं है। जीव किसी भी वस्तु के एक भाग में नहीं वरन् प्रत्येक भाग में है। उदाहरणार्थ रथ के प्रत्येक भाग में रथ है और रथ की कल्पना भी है। इस प्रकार बौद्ध-धर्म अनात्मवाद को मानता है।

ऋग्वेद और अथर्ववेद में कहा गया है कि मृत्यु के उपरान्त जीव अपने पूर्वजों के पास जाकर पूर्णत्व प्राप्त होने तक रहता है।[१६]

बृहदारण्यक उपनिषद् में अनेकजीववाद का विरोध है। कठोपनिषद् के अनुसार जीव चिरन्तन है और शरीर से स्वतन्त्र है। एक जन्म से दूसरे जन्म तक जाने का कारण अविद्या है। गौडपादाचार्य कहते हैं कि जीव एक है उसका जन्म या मरण नहीं होता। उपनिषद् के ऋषियों के अनुसार आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान करने योग्य है।[१७]

स्मृतिकार आचार्य मनु कहते हैं कि सब ज्ञानों में आत्मज्ञान ही श्रेष्ठ है। सब विद्याओं में वही पराविद्या है। उसी के कारण मानव को अमृत अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।[१८]

बृहद्द्रव्यसंग्रह में नेमिचन्द्राचार्य ने जीव का स्वरूप बताते हुए कहा है कि तीनों कालों में इन्द्रिय, बल, आयु, और आनपान (श्वासोच्छ्वास) एवं प्राण को जो धारण करता है वह व्यवहार-नय से जीव है। और निश्चयनय से जिसमें चेतना है वही जीव है।[१९]

इस प्रकार भारतीय दर्शन में आत्मा के संबंध में जो विचार उपलब्ध हैं उनको संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया गया है। इससे स्पष्ट है कि आत्मा के संबंध में चिन्तन निरन्तर विकसित हुआ है।

## जीव के लक्षण

आचार्य उमास्वाति ने जीव के लक्षण के बारे में कहा है कि 'उपयोग' ही जीव का लक्षण है।[२०]

'उपयोग' का अर्थ है ज्ञान और दर्शन। ज्ञान का अर्थ है जानने की शक्ति और दर्शन का अर्थ है देखने की शक्ति। उपयोग जीव का गुण या लक्षण है।

किसी को शंका हो सकती है कि औपशमिक आदि पाँच भावों को जीव का लक्षण कहने के बाद 'उपयोग' यह अलग लक्षण मानने का क्या कारण है?

इसका उत्तर यह है कि औपशमिक आदि पाँच भाव जीव के हैं यह सत्य है, परन्तु वे सब जीवों में रहते ही हैं ऐसा नहीं है और हमेशा होते ही हैं ऐसा भी नहीं। इसलिए उसे उपलक्षण कहा जा सकता है, लक्षण नहीं कहा जा सकता। जीव तत्त्व सब जीवों में होता है और हमेशा रहता है। जीव तत्त्व अर्थात् उपयोग। यही जीव का मुख्य लक्षण है।

जीव तत्त्व को छोड़कर शेष कर्मसापेक्ष होने से जीव के उपलक्षण हैं। लक्षण नहीं हैं। जीव का जो भाव वस्तु को ग्रहण करने लिए प्रवृत्त होता है, उसे 'उपयोग' कहते हैं।[२१]

जीव का जो बोधरूप व्यापार है, उसे 'उपयोग' कहते हैं। जीव में चेतना शक्ति होने से उसे बोध होता है। जड़ में चेतना शक्ति न होने से उसे बोध नहीं होता। आत्मा में अनन्त गुणपर्याय हैं। परन्तु उनमें 'उपयोग' मुख्य है। वह स्व-पर-प्रकाशक है इसलिए 'उपयोग' को आत्मा का लक्षण बताया गया है।[२२]

## उपयोग के भेद

ज्ञान के आठ तथा दर्शन के चार, इस प्रकार उपयोग के बारह प्रकार होते हैं। वे ये हैं :-

**(अ) ज्ञान के पाँच प्रकार** :- (१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मनः पर्याय ज्ञान (५) केवलज्ञान।

**(ब) अज्ञान के तीन प्रकार** :- (१) मति अज्ञान (२) श्रुत अज्ञान (३) विभंग अज्ञान।

**(स) दर्शन के चार प्रकार** :- (१) चक्षुदर्शन (२) अचक्षुदर्शन (३) अवधिदर्शन (४) केवलदर्शन।[२३]

'उपयोग' के बारह प्रकारों में से 'अ' विभाग अर्थात् पाँच प्रकार का सम्यक् ज्ञान, 'ब' विभाग अर्थात् तीन प्रकार का अज्ञान-साकार उपयोग हैं। 'स' विभाग अर्थात् चार प्रकार का दर्शन अनाकार उपयोग है। उपयोग के उक्त बारह प्रकार जीव के लक्षण हैं।[२४]

लक्षण और उपलक्षण में भेद यह है कि जो गुणधर्म प्रत्येक लक्ष्य में सर्वात्मभाव से तीनों ही कालों में होता है उसे लक्षण कहते हैं।
उदाहरणार्थ - अग्नि में रहने वाली उष्णता। जो गुणधर्म कुछ लक्ष्यों में होता है और कुछ लक्ष्यों में नहीं होता, कभी होता है तो कभी नहीं होता, जो स्वभावसिद्ध नहीं होता उसे उपलक्षण कहते हैं। यथा-अग्नि और धूम।

जीव तत्त्व को छोड़कर अन्य समस्त भाव आत्मा के उपलक्षण हैं। 'उपयोग' जीव का अबाधित लक्षण है। उपयोग जीव के अलावा किसी भी द्रव्य अथवा तत्त्व में नहीं रहता। जीव को भिन्न समझने के लिए उपयोग को जीव का लक्षण बताया गया है।[२५]

आगम-साहित्य में जगह-जगह जीव का लक्षण 'उपयोग' ही बताया गया है। जिसे जीव, आत्मा अथवा चैतन्य कहते हैं वह अनादि, सिद्ध तथा स्वतंत्र द्रव्य है। जीव के अरूपी होने से इंद्रियों द्वारा उसका ज्ञान नहीं होता। परन्तु साधारण जिज्ञासु को आत्मा की पहचान कराने के लिए "उपयोगो लक्षणम्" यह लक्षण किया गया है।

संसार जड़ और चेतन पदार्थों का मिश्रण है। उसमें से जड़ और चेतन का विवेकपूर्वक निश्चय उपयोग से ही हो सकता है क्योंकि उपयोग कम-ज्यादा प्रमाण में हर एक आत्मा में होता ही है। जिसमें उपयोग नहीं होता, वह जड़ है। उपयोग के उपर्युक्त भेदों को इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है-

- उपयोग
  - दर्शनोपयोग
    - १-चक्षुदर्शन
    - २-अचक्षुदर्शन
    - ३-अवधिदर्शन
    - ४-केवलदर्शन
  - ज्ञानोपयोग
    - १-मतिज्ञान
    - २-श्रुतज्ञान
    - ३-अवधिज्ञान
    - ४-मनःपर्यायज्ञान
    - ५-केवलज्ञान

मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्या भी होते हैं। इन तीनों को मिलाकर आठ प्राकर का ज्ञानोपयोग होता है।

## जीव के अन्य लक्षण

जिसमें चैतन्य है उसे जीव कहते हैं। उपयोग-लक्षण और चैतन्य-लक्षण में कोई भेद नहीं है। जो अपने इन गुणों को किसी भी अवस्था में नहीं छोड़ता, जो निद्रावस्था में, जागृतावस्था में और स्वप्नावस्था में हमेशा इन गुणों से युक्त होता है, उसे आत्मा या जीव कहते हैं। जिसमें ज्ञानशक्ति नहीं है वह जड़ अथवा अजीव है। जिसमें ज्ञानशक्ति है, जो भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्म करने वाला, कर्मों के फल भोगने वाला, कर्मों के कारण भिन्न-भिन्न गतियों में जाने वाला और समस्त कर्मों को नष्ट कर निर्वाण, मोक्ष, या परमात्म पद को प्राप्त करने वाला है वह आत्मा जीव है।[२७]

जीव सुख-दुःख में अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि की अनुभूति करता है। जीव के अलावा अन्य पदार्थ स्व-पर का ज्ञान और हिताहित का विवेक नहीं कर सकते। इसलिए जीव का लक्षण चैतन्य बताया गया है। जीव सुख-दुःख को भोगने वाला, आठ कर्मों का कर्ता और भोक्ता शांश्वत और नित्य है। देखना और जानना यह जिसका स्वभाव है, वह जीव है। ज्ञानी और ज्ञानगुण भिन्न नहीं हैं। वस्तुतः दोनों में अभिन्नता है। उसी प्रकार जीव और चैतन्य अभिन्न हैं।

इंद्रियाँ और शरीर जीव नहीं हैं अपितु शरीर में जो चैतन्य है, वह जीव है। जीव सुख की अभिलाषा करता है और दुःख से डरता है। हित-अहितकारी

क्रिया करता है और उसका फल भोगता है। इस प्रकार से अनेक कसौटियों पर जीव परखा जाता है।[२८]

## जीव के प्रकार

नवतत्त्वों के विवेचन में हमें जगह-जगह कर्म का संबंध दिखाई देता है। कर्म ही जीव को बन्धन में डालता है और कर्म के नाश से मोक्ष प्राप्त होता है। कर्म-बंध का कारण आस्रव है। कर्म को रोकना संवर है। कर्म का अंशतः क्षय निर्जरा है। पुण्यपाप शुभाशुभ कर्म के ही प्रकार हैं। इस तरह जीव के प्रकार भी कर्म के अनुसार ही हैं।

जीव के दो प्रकार हैं- संसारी और मुक्त। कर्मयुक्त जीव संसारी है और कर्ममुक्त जीव मुक्त है। दोनों प्रकार के जीव द्रव्य -दृष्टि से एक ही हैं परन्तु पर्याय-दृष्टि से भिन्न-भिन्न हैं।[२९]

जीव अनन्त हैं। चैतन्य रूप से वे समान हैं। परन्तु पर्याय के सद्भाव और असद्भाव की दृष्टि से उनके दो भेद कहे गये हैं। एक संसाररूपी पर्याय से युक्त है और दूसरा संसाररूपी पर्याय से रहित है। प्रथम प्रकार के जीव संसारी हैं और दूसरे प्रकार के जीव मुक्त हैं।

बन्ध, जीव का पर्याय है और मोक्ष आत्मा का पर्याय है। एक अशुद्ध पर्याय और दूसरा शुद्ध पर्याय है। द्रव्य की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को पर्याय कहते हैं। पर्याय द्रव्य-गुण के आश्रित होकर रहता है।

जिस प्रकार पानी कभी हिम बनता है तो कभी वाष्प बनता है, उसी प्रकार एक ही जीव कभी बालक, कभी जवान तो कभी वृद्ध होता है। ये आत्म-द्रव्य के पर्याय हैं।

पुत्र, पत्नी, परिवार, धन, वैभव, मान-सम्मान, यश -कीर्ति, आदि को लोग संसार समझते हैं, परन्तु इन सब का अस्तित्त्व स्वतंत्र है।

एक जन्म से दूसरे जन्म को प्राप्त करने वाले जीव संसारी हैं।[३०]

पण्डित सुखलाल जी ने 'संसार' की व्याख्या इस प्रकार की है-"द्रव्य-बन्ध और भावबन्ध यही संसार है।" कर्मदल का विशिष्ट सम्बन्ध द्रव्यबन्ध है। रोग, द्वेष आदि वासनाओं का सम्बन्ध भावबंध हैं।

एक आचार्यश्री से उनके एक शिष्य ने पूछा-"आप संसार को छोड़ने का उपदेश देते हैं, परन्तु कैसे छोड़ा जाए? धन, वैभव, बाग-बगीचे, पुत्र-परिवार को छोड़ना ही संसार को छोड़ना है क्या? अथवा अन्य कुछ छोड़ना पड़ता है?"

आचार्यश्री ने कहा-"पदार्थ (भौतिक वस्तु) और परिवार ही केवल संसार नहीं है। यह तो संसार का बाह्य स्वरूप है। पदार्थ और परिवार का त्याग करने से संसार छूट गया यह मानना पूर्ण सत्य नहीं है।"

व्यक्ति पदार्थों (भौतिक वस्तुओं) का परित्याग कर हिमालय की गुफाओं में जा पहुँचे तो भी जब तक उसके मन से पदार्थों के विषय में राग, द्वेष, आसक्ति, ममत्व और मोह नहीं छूटते, तब तक वह संसार से मुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि उस व्यक्ति के मन में, विकार और विकल्पों का संसार भरा हुआ है। इसलिए विकार और विकल्पों का परित्याग करना संसार से मुक्त होना है। क्योंकि संसार के जन्म-मरण का, भव-भ्रमण का मूल कारण रागद्वेष ही है। वास्तव में राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ ही संसार है। इनसे परावृत्त होना ही संसार का अन्त करना है।[३१]

संसारी जीवों के दो प्रकार हैं :-

(१) समनस्क तथा (२) अमनस्क।

जो मन-सहित हैं वे समनस्क और जो मन-रहित हैं वे अमनस्क हैं।[३२]

जिस जीव में मन होता है उस जीव को संज्ञी कहते हैं।[३३]

मनुष्य, देव, नारकीय (नरक के जीव) और कुछ पशु-पक्षी संज्ञी अर्थात् समनस्क हैं। पृथ्वीकाय, वनस्पतिकाय, आदि एकेन्द्रिय, द्वि-इंद्रिय, त्रि-इन्द्रिय, तथा चतुरिन्द्रिय जीव असंज्ञी अर्थात् अमनस्क हैं।

## चेतना के तीन प्रकार

(१) कर्मफल-चेतना, (२) कर्म-चेतना, (३) ज्ञान-चेतना।

चेतना के तीन प्रकार हैं - (१) कर्मफल-चेतना :- स्थावरकायिक (हलचल न करने वाले पृथ्वी, वृक्ष आदि) जीव तथा इनके समान अन्य अनेक जीव कर्म के फल का ही अनुभव करते हैं। इस प्रकार के जीवों की चेतना को 'कर्मफल-चेतना' कहते हैं। (२) कर्म-चेतना :- त्रसकायिक (हलचल करने वाले यथा- कीट, चींटी, मनुष्य आदि) जीव कर्म करते हैं इसलिए उनकी चेतना को 'कर्म-चेतना' कहा गया है। (३) ज्ञान-चेतना :- सदेहावस्था के परे पहुँचे हुए सिद्ध जीव केवल शुद्ध ज्ञान-चेतना का अनुभव करते हैं। सदेहावस्था से तात्पर्य है - संसारी जीव।[३४]

## जीव के भाव

तत्त्वार्थसूत्र में औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक-जीव के पाँच भाव बताए गए हैं।[३५]

आत्मा के सारे पर्याय (भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ) एक जैसे नहीं होते। कुछ पर्यायों की इन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को ही भाव कहते हैं अथवा भावबद्ध कर्म की या कर्मबद्ध जीव की विशेषावस्था है। इन पाँच भावों की व्याख्या इस प्रकार की गई है -

**(१) औपशमिक भाव** - पूर्वबद्ध कर्म की उपशान्त अवस्था उपशम भाव है। उपशम एक प्रकार की आत्मशुद्धि है। बद्ध कर्म की उपशान्त अवस्था-विशेष को औपशमिक भाव कहते हैं। जैसे - फिटकरी के संयोग से पानी में विद्यमान मिट्टी और कचरा नीचे बैठ जाता है। गन्दा पानी पात्र में पहले से ही होता है और बाद में फिटकरी के संयोग से कचरा नीचे बैठता है तथा पानी कुछ मात्रा में शुद्ध होता है उसी प्रकार कर्म-मल से दूषित हुआ आत्मा कुछ प्रमाण में शुद्ध होता है।

**(२) क्षायिक भाव** - जिसमें कर्म का संपूर्ण क्षय होता है उसे क्षायिक भाव कहते हैं। इसमें आत्मा की परम विशुद्धि होती है। उदाहरणार्थ-पानी में विद्यमान मिट्टी और कचरा पूर्णतया नष्ट हो जाता है।

**(३) क्षायोपशमिक भाव** - कुछ कर्मों के क्षय से और कुछ कर्मों के उपशम से जिस भाव का निर्माण होता है, उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। क्षयोपशम एक प्रकार की आत्मिक शुद्धि है। जैसे - पानी की स्वच्छता नष्ट करने वाले मिट्टी के भारी कण नीचे बैठते हैं और कुछ हलकी मिट्टी के कण पानी में मिले रहते हैं। इस तरह पानी में कुछ प्रमाण में शुद्धता और कुछ प्रमाण में अशुद्धता रहती है। उसी प्रकार आत्मा के कुछ कर्मों की शुद्धि होने से कर्ममालिन्य कुछ प्रमाण में कम होता है।

**(४) औदयिक भाव** - जो भाव कर्म के उदय से निर्मित होता है, उसे औदयिक भाव कहते हैं। उदय एक प्रकार का आत्मिक मालिन्य है। कर्म फल देता है तत्क्षण ये भाव होते हैं।

**(५) पारिणामिक भाव** - द्रव्य के स्वाभाविक स्वरूप के परिणाम को पारिणामिक भाव कहते हैं। सारे कर्म परिणमन करते हैं। अर्थात् अवस्थान्तरित होते हैं। इसे कर्म की पारिणामिक अवस्था कहते हैं। बुद्ध कर्म की पारिणामिक अवस्था में जीव में उत्पन्न विशेष अवस्था को पारिमाणिक भाव कहते हैं।

ये पाँच भाव आत्मा के स्वरूप के उपलक्षण हैं। अर्थात् संसारी या मुक्त, कोई भी आत्मा हो, उसके सारे पर्याय उक्त पाँच भावों में से ही होते हैं।

अजीव में ये पाँच भावयुक्त पर्याय संभव नहीं होते इसलिए ये पाँच भाव अजीव का स्वरूप नहीं हो सकते।

ये पाँच भाव सब जीवों में एक ही समय होते हैं ऐसा नियम नहीं है। समस्त मुक्त जीवों में केवल दो भाव होते हैं- (१) क्षायिक और (२) पारिणामिक। संसारी जीवों में कोई तीन भावों से युक्त और कोई पाँच भावों से युक्त होता है। परन्तु दो भावों से युक्त कोई भी नहीं होता।

औदयिक भावों के पर्याय विभाविक हैं। शेष चार भावों के पर्याय स्वाभाविक हैं।

औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक इन पाँच भावों की स्थिति में कर्म के क्रम से उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम और परिणमन होता है। कर्म जड़ और पुद्गल सूक्ष्म हैं।[३६]

## जीव के तीन भाव

जीव परिणमनशील है इसलिए शुभ, अशुभ या शुद्ध इनमें से किसी भी भाव के रूप में वह परिणमन करता है। अगर आत्मा स्वभावतः ही अपरिणामी (कूटस्थ नित्य) होता तो यह संसार बिल्कुल नहीं होता! कोई भी द्रव्य परिणामरहित (पर्यायअवस्थारहित) नहीं है और कोई भी परिणाम द्रव्य के बिना नहीं होता। पदार्थ का अस्तित्त्व ही द्रव्य, गुण, परिणाम (पर्याय)मय है।

आत्मा जब शुद्ध भाव रूप में परिणत होता है, तब वह निर्वाण-सुख प्राप्त कर लेता है। जब वह शुभ भाव रूप परिणमन करता है तब स्वर्गसुख प्राप्त करता है और जब अशुभ भाव रूप परिणमन करता है, तब हीन मनुष्य, नारकीय या पशु आदि बनकर चिरकाल तक इस घोर संसार में बड़े कष्टों से भ्रमण करता है।[३७]

**(१) जीव के शुभ भाव** :- जो आत्मा सच्चे देव, गुरु और धर्म की पूजा-भक्ति करना, सत्पात्र को दान देना उत्तम शील रखना, उपवास अहिंसादि व्रतों का पालन करना आदि में व्यस्त रहता है, अर्थात् उन में अनुराग रखता है, वह शुभ परिणामी समझा जाता है। जिस जीव के भाव शुभ होते हैं, जिसके चित्त में कल्मष नहीं होता, जो दयालु होता है, वह जीव पुण्यशाली माना जाता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि शुभ कर्म में जो लीन है वह शुभोपयोगी आत्मा है। शुभोपयोग का उत्तम फल है - देवों में इन्द्र पद की प्राप्ति तथा मनुष्यों में चक्रवर्तीपद की प्राप्ति।

अरिहन्त, सिद्ध, और साधु इनकी भक्ति, धार्मिक वृत्ति तथा गुरु का अनुसरण शुभ भाव हैं। भूखे, प्यासे, दुःखी और कष्ट में पड़े हुए जीव को देख कर स्वयं दुःख का अनुभव करना और दयाबुद्धि से उसकी सहायता करना अनुकम्पा कहलाता है। क्रोध, मान, माया और लोभ चित्त को लुब्ध करते हैं, यही कल्मष है। इसे मन्द करके शुभ भाव रखने वाले जीव को भोग-भूमि में पशु, मनुष्य या स्वर्ग में होने वाले देवादि की अवस्था तथा कुछ काल तक इन्द्रियजन्य सुख प्राप्त होता है।[३८]

**(२) जीव के अशुभ भाव :-** जो मनुष्य विषय -कषाय में डूब जाता है, कुशास्त्र, दुष्ट विचार-विकार और दुष्ट बातों की ही संगति करता है, जो उग्र और उन्मार्गगामी है, उसका चेतना व्यापार अशुभ होता है।[३९]

प्रमादी प्रवृत्ति, कल्मष, विषय -लोलुपता, दूसरों को दुःख देना तथा दूसरों की निन्दा करना ये पाप के द्वार हैं।[४०]

उपर्युक्त समस्त भाव अशुभ हैं। इन अशुभ भावों से वह कुमनुष्य, तिर्यञ्च (पशुयोनि) और नारकी होकर हजारों दुःख भोगता है और संसार में चिरकाल तक परिभ्रमण करता है।[४१]

**(३) जीव के शुद्ध भाव :-** जो जीव अशुभ भाव से रहित है और शुभ भाव में भी उन्नत नहीं है, ऐसा ज्ञानस्वरूप आत्मा शुद्धभावी है। स्वयं के शुद्ध आत्मा का ध्यान करना ही शुद्ध भाव है। ऐसे आत्मा के संबंध परद्रव्य से छूटे रहते हैं इसलिए उसे निर्वाण-सुख प्राप्त होता है। ऐसा आत्मा इन्द्रियों के अधीन नहीं होता। उसे अतुलनीय, अविनाशी और अमर्याद सुख प्राप्त होता है।

पदार्थ और, सिद्धान्त को अच्छी तरह से जानना, संयमी और तपयुक्त होना, वीतराग-दशा प्राप्त करना तथा सुख-दुःख समान मानना शुद्ध भाव हैं। शुद्ध भाव से मोहग्रन्थि नष्ट होती है। ऐसा आत्मा चार कर्मों को नष्ट कर सर्वज्ञ बनता है।[४२]

## जीवों की संख्या

वेदान्त-दर्शन में जीवों की संख्या का विचार करते हुए कहा गया है कि जीव चैतन्य तत्त्व है और वह सर्वत्र एक ही है। परन्तु जैनदर्शन ऐसा नहीं मानता।

जैन-आगम-ग्रंथ भगवतीसूत्र में गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर स्वामी से पूछा-"जीवद्रव्य संख्यात है, असंख्यात है या अनन्त है?"

भगवान् महावीर ने उत्तर दिया-"हे गौतम! जीव संख्यात नहीं, असंख्यात नहीं बल्कि अनन्त है।"[४३]

इसी प्रकार भगवान महावीर से एक बार पूछा गया-"इस विश्व में अनन्त क्या है?" भगवान् ने कहा-"जीव और अजीव।"[४४]

पुनः एक बार गौतम ने भगवान् से पूछा-"हे भगवान्! जीव कम-ज्यादा होते हैं क्या?" भगवान् ने कहा-"हे गौतम! जीव बढ़ते नहीं हैं और कम भी नहीं होते हैं, अवस्थित रहते हैं।"[४५]

एक बार गौतम ने पूछा-"कितने काल तक जीव कम ज्यादा हुए बिना अवस्थित रहते हैं?" प्रभु ने कहा-"हे गौतम! जीव सब कालों में अवस्थित हैं और रहते हैं।"

जीव अनन्त होते हुए भी द्रव्यत्व की दृष्टि से एक है इसीलिए ठाणांगसूत्र में कहा गया है कि "आत्मा एक है।"[४६]

## जीव की शाश्वतता

ठाणांगसूत्र में कहा गया है कि जीव भूतकाल में था, वर्तमान काल में है और भविष्यत् काल में रहेगा। वह ध्रुव, नित्य, शाश्वत, अव्यय और स्थित है। वह तीनों ही कालों में विद्यमान है।[४७]

जीव कभी अजीव नहीं होता, न हुआ है और न ही होगा।[४८]

भगवद्गीता में कहा गया है - "यह (आत्मा) न कभी जन्म लेता है और न मरता है। यह (एक बार) होकर पुनः नहीं होगा, ऐसा भी नहीं है। यह जन्मरहित, नित्य, क्षयरहित और अनादि है। शरीर का नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता। यह जीवात्मा अक्षय है, नित्य है, शाश्वत है और पुरातन है।"

"शरीर का नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता।"[४९]

"मै, तू और ये राजा पूर्व में नहीं थे, ऐसा नहीं है। उसी प्रकार इसके बाद हम सभी नहीं होंगे ऐसा भी नहीं है[५०]।" श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा "आत्मा को शस्त्र छेदते नहीं हैं, अग्नि जलाती नहीं है, पानी भिगोता नहीं है और वायु सुखाती नहीं है। आत्मा का छेदन होना, दाह होना या शुष्क हो जाना भी अशक्य है। आत्मा नित्य, सर्वव्यापी स्थिर, अचल और सनातन है।"[५१]

ठाणांगसूत्र में गौतम पूछते हैं-"के सासया लोए?" लोक में शाश्वत क्या है? इस पर भगवान महावीर ने उत्तर दिया-"जीवच्चेय अजीवच्चेय।" जीव और अजीव शाश्वत हैं।[५२]

भाव[५३]

- औपशमिक (२)
  - १- सम्यक्तव
  - २-चारित्र
- क्षायिक(६)
  - १- केवलज्ञान
  - २- केवल दर्शन
  - ३- क्षायिक दान
  - ४- क्षायिक लाभ
  - ५- क्षायिक भोग
  - ६- क्षायिक उपभोग
  - ७- क्षायिक सम्यक्त्व
  - ८- क्षायिक वीर्य
  - ९- क्षायिक चारित्र
- क्षायोपशमिक (१८)
  - ज्ञान: १-मति, २-श्रुत, ३-अवधि, ४- मनः पर्याय
  - अज्ञान: १-कुमति, २-कुश्रुत, ३-कुअवधि
  - दर्शन: १-चक्षु, २-अचक्षु, ३-अवधि
  - लाब्धि: १-दान, २-लाभ, ३-भोग, ४- उपभोग, ५-वीर्य
  - क्षा-सम्यक्त्त्व
  - क्षा-चरित्र
  - क्षा-संयमासंयम
- औदयिक (२१)
  - गति: १-नरक, २-तिर्यंच, ३-मनुष्य, ४- देव
  - कषाय: १-क्रोध, २-मान, ३-माया, ४- लोभ
  - लिंग: १-स्त्रीवेद, २-पुरुषवेद, ३-नपुंसकवेद
  - मिथ्यादर्शन
  - अज्ञान
  - असंयम
  - आसिद्धत्व
  - लेश्या: १- कृष्ण, २-नील, ३-कापोत, ४-पीत, ५-पद्म, ६-शुक्ल
- पारिणामिक (३)
  - १-जीवत्व
  - २-भव्यत्व
  - ३अभव्यत्व

## संसारी जीव के दो भेद :- (१) भव्य (२) अभव्य

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने पंचास्तिकाय ग्रंथ में १२० (एक सौ बीस) वीं गाथा में कहा है कि इस विश्व में जीव के दो भेद हैं-एक देहधारी और दूसरा देहरहित। देहधारी संसारी है। देहरहित सिद्ध है। संसारी जीव के भी दो भेद हैं-भव्य और अभव्य। जो जीव शुद्ध स्वरूप प्राप्त करता है उसे भव्य कहा जाता है और जिसमें शुद्ध स्वरूप प्राप्त करने की शक्ति नहीं है, उसे अभव्य कहा जाता है।

जिस प्रकार मूँग का कोई दाना ऐसा होता है जो पकाने पर पक जाता है, जबकि कोई दाना अनेक लकड़ियाँ जलाने पर भी नहीं पकता। उसे 'कोरडू' कहते हैं। उसी प्रकार अभव्य जीव कभी भी सिद्ध गति को प्राप्त नहीं कर सकता।[४४]

विशेषावश्यकभाष्य में भव्य-अभव्यों का सुंदर स्पष्टीकरण प्राप्त होता है। तत्त्वार्थ-राजवार्तिक में भी आचार्य श्रीमद्भट्टाकलंक देव ने भव्य-अभव्य की व्याख्या इस प्रकार की है-

जिसमें सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का निर्माण होता है वह भव्य है और जिसमें निर्माण नहीं होता, वह अभव्य है।[४५]

सर्वदर्शनसंग्रह में माधवाचार्य ने जैनदर्शन के अन्तर्गत भव्य और अभव्य के बारे में कहा है कि जीव दो प्रकार के हैं- भव्य और अभव्य। जीव अँधेरे में भटकता रहता है। एक गति से दूसरी गति में भ्रमण करता रहता है। जब तक जीव में आध्यात्मिक विकास के लिए स्वयं प्रयत्न नहीं होते, तब तक उसे सम्यक्दर्शन प्राप्त नहीं होता। जब जीव में सत्य की प्राप्ति की उत्कण्ठा होती है, तब सम्यक्दर्शन होता है। सब जीवों में सत्य की उत्कण्ठा नहीं होती। जिसे ऐसी उत्कण्ठा होती है, उसे सम्यक्दर्शन प्राप्त होता है। जो मोक्ष के इच्छुक होते हैं वे भव्य जीव [fit for liberation] हैं। जिनमें यह लक्षण नहीं होता, वे अभव्य हैं। अभव्य जीव कभी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। माधवाचार्य ने बौद्ध धर्म के अभव्य का वर्णन इस प्रकार किया है-

वर्षत्यपि पर्जन्ये नैवाबीजं प्ररोहति।
समुत्पादेऽपिहि बुद्धानां नाभव्यो भद्रमश्नुते।।

जीव के भव्यत्व और अभव्यत्व भाव चैतन्य के समान ही पारिणामिक हैं।[५६]

राजप्रश्नीयसूत्र में भी भव्य-अभव्य का उल्लेख दिखाई देता है। सूर्याभ देवता ने भगवान् महावीर स्वामी से अनेक प्रश्न पूछे हैं। एक प्रश्न है- "हे भगवन्! मैं भव्य हूँ या अभव्य?"[५७]

भव्य और अभव्य ये - दो भेद क्यों माने गये हैं इसका कोई कारण कहा नहीं जा सकता। इसलिए आचार्य सिद्धसेन ने इस विषय को अगम्यगम्य अर्थात् अहेतु वादान्तर्गत लिया है।[५८]

## संसारी जीव के अन्य दो भेद

संसारी जीव के अन्य दो भेद है- (१) त्रस जीव तथा (२) स्थावर जीव। त्रसनाम कर्म के उदय से जिसे सुख-दुःख का स्पष्ट अनुभव होता है, उसे त्रसजीव कहते हैं। स्थावर नाम कर्म के उदय से जिसे सुख-दुःख का स्पष्ट अनुभव नहीं होता, उसे स्थावर जीव कहते हैं।[५९]

जो जीव सुखप्राप्ति के लिए और दुःख से मुक्ति प्राप्त करने के लिए स्थानान्तर कर सकते हैं, उन्हें त्रस जीव कहते हैं। जो सुख प्राप्त करने के लिए और दुःख से मुक्ति प्राप्त करने के लिए स्थानान्तर नहीं कर सकते, उन्हें स्थावर जीव कहते हैं।[६०]

त्रस का अर्थ सामान्यतः गतिशील [Locomotive] और स्थावर का स्थितिशील [Immovable] किया जाता है। परन्तु सही अर्थ यह है कि त्रस जीव और स्थावर जीव ये दोनों विशेष प्रकार के कर्मों के बोधक हैं। इन कर्मों के कारण ही कुछ जीव जन्म लेकर स्थावर होते हैं और कुछ त्रस होते हैं। शुभ और अशुभ इन दोनों प्रकार के कर्मों को त्रस कहते हैं विशेषतः अशुभ कर्म को स्थावर कहते हैं। त्रस कर्म के उदय से त्रस जीव और स्थावर कर्म के उदय से स्थावर जीव बनते हैं।[६१]

## त्रस जीवों के चार भेद

(१) द्वीन्द्रिय, (२) त्रीन्द्रिय, (३) चतुरिन्द्रिय, (४) पञ्चेन्द्रिय।

(१) द्वीन्द्रिय - जो स्पर्श और रसना इन दो इन्द्रियों से युक्त हैं उन्हें द्वीन्द्रिय कहते हैं।

यथा - शंख, सीप, कीटक आदि।

(२) त्रीन्द्रिय-जो स्पर्श, रसना और घ्राण से युक्त हैं उन्हें त्रीन्द्रिय कहते हैं।

यथा - चींटी, जूँ आदि।

(३) चतुरिन्द्रिय - जो उपर्युक्त तीन इन्द्रियों तथा चक्षु से युक्त हैं, उन्हें चतुरिन्द्रिय कहते हैं। यथा - मच्छर, भ्रमर आदि।

(४) पञ्चेन्द्रिय - जो उपर्युक्त की चार इन्द्रियों और श्रोत्र से युक्त हैं, उन्हें पञ्चेन्द्रिय कहते हैं। यथा - मनुष्य, तिर्यच, पशु, देव, नारकीय जीव आदि।[६२]

जलचर, भूमिचर और आकाशगामी जीव भी पञ्चेन्द्रिय होते हैं। वे वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इन पाँच विषयों के ज्ञाता होते हैं।[६३]

पञ्चेन्द्रिय जीवों के चार भेदों का विवेचन इस प्रकार किया गया है -

## (१) नारकी -

हम सब मध्य लोक में रहते हैं। देव ऊर्ध्व लोक में रहते हैं और नारकी अधोलोक में रहते हैं। अधोलोक में एक के बाद दूसरी इस तरह से सात पृथ्वियाँ हैं। प्रत्येक जड़ पानी से घिरी हुई है। जड़ पानी के घेरे को जड़ हवा के द्वारा घेरा गया है। जड़ हवा हलकी हवा से घिरी हुई है। हलकी हवा का घेरा आकाश पर आधारित है और आकाश स्वयं आधारित है।[६४]

जैसे - जैसे हम नीचे जाते हैं, नरक में होने वाले जीवों की कुरूपता, भयानकता आदि विकृतियाँ बढ़ती जाती हैं। वे जीव अति उष्णता और अति शीत के कारण दुःख भोगते रहते हैं। उनकी सुखप्राप्ति के योग्य कर्म करने की इच्छा होती है, परन्तु उनके द्वारा ऐसे कर्म किये जाते हैं जिनके परिणामस्वरूप उन्हें कष्ट मिलते हैं। जब वे एक दूसरे के समीप आते हैं तब उनका क्रोध बढ़ जाता हैं। वे कुत्ते या लोमड़ियों के समान झगड़ते हैं। हाथों, पैरों, दातों और स्वयं-निर्मित शस्त्रों से प्रहार कर एक दूसरे के टुकड़े-टुकड़े करते हैं। उनका शरीर वैक्रिय होता है इसलिए वह पारे के समान पूर्ववत् हो जाता है। नरक में रहने वालों को दुष्ट परमाधर्मी देवों से भी दुःख प्राप्त होता है। वे उन्हें पिघले हुए लोहे के पत्ते तथा तपे हुए लोहे के खंभे का स्पर्श कराकर और काँटेदार पेड़ पर चढ़ने और उतरने के लिए बाध्य करके कष्ट देते हैं। इस प्रकार के देवों को "अति अधार्मिक" (परमाधामिक या परमाधार्मिक) कहा जाता है। वे पहली तीन भूमि तक जाते हैं। वे एक प्रकार के असुरदेव होते हैं। वे अत्यंत क्रूरस्वभावी और पापमग्न होते हैं। उनका स्वभाव ऐसा होता है कि उन्हें दूसरों को पीड़ा देने में ही आनन्द आता है। उनकी पंद्रह जातियाँ हैं-(१) अम्ब (२) अम्बरीष (३) श्याम (४) शवल (५) रुद्र (६) उपरुद्र (७) काल (८) महाकाल (९) असिपत्र (१०) धनुष (११) कुंभ (१२)

बालुक (१३) वैतरणी (१४) खरस्वर और (१५) महाघोष। नरक में रहने वाले जीवों का जीवनकाल कम नहीं हो सकता। वे अकाल-मृत्यु से नहीं मर सकते।[६५]

**मनुष्य -**

मनुष्य और तिर्यंच (पशुपक्षी और वृक्ष) मध्यलोक में रहते हैं। मनुष्यों के दो प्रकार हैं- आर्य और म्लेच्छ। सद्गुण धारण करने वालों को आर्य कहते हैं। आर्यों के भी दो भेद हैं-(१) अलौकिक शक्ति धारण करने वाले और (२) अलौकिक शक्ति प्राप्त न करने वाले। असाधारण ज्ञान, रूप-परिवर्तन, तप, बल, औषधि, शक्ति, सामान्य भोजन को स्वादिष्ट भोजन बनाने का असाधारण सामर्थ्य और व्यक्तियों की संख्या बढ़ने पर भी सामग्री समाप्त न होने देने की शक्ति, इस प्रकार पहले के सात उपभेद होते हैं। क्षेत्र, जाति, कर्म, चारित्र और श्रद्धा इनके आधार पर दूसरे के भी पाँच उपभेद होते हैं। म्लेच्छ भी दो प्रकार के होते हैं-

(१) अंतर्द्वीप में जन्म लेने वाले और (२) कर्मभूमि में जन्म लेने वाले। अंतर्द्वीप की संख्या छप्पन है और कर्मभूमि की संख्या पंद्रह है। (भरत पाँच, ऐरावत पाँच, विदेह पाँच) देवकुरु, उत्तरकुरु, हेमवत, हरि, रम्यक, हैरण्यवत और अंतर्द्वीप इन्हें भोगभूमि के नाम से पहचाना जाता है। कर्मभूमि में पुरुषार्थ की प्रधानता होती है। भोगभूमि में आवश्यक सब वस्तुएँ कल्पवृक्ष से प्राप्त होती हैं। आर्य लोग कर्मभूमि के सभ्य क्षेत्र में ही जन्म लेते हैं। म्लेच्छ लोग कर्मभूमि के असभ्य क्षेत्र में, उसी प्रकार भोगभूमि के सारे क्षेत्रों में और अंतर्द्वीप में रहते हैं। केवल आर्यक्षेत्र में ही तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं और आर्यलोक ही उनके उपदेशों का लाभ लेते हैं लेकिन मुक्ति कर्मभूमि में ही संभव होती है। भोगभूमि केवल सांसारिक वस्तुओं का उपभोग करने का स्थान है। वह मोक्ष प्राप्त करा देने वाले संन्यास या संयम के अनुकूल नहीं है। भोगभूमि में कोई भी सांसारिक व्यक्ति सांसारिक सुखों का त्याग करके आत्मसंयमी की बातों का विचार नहीं करता। भोग-भूमि के लोग हमेशा सांसारिक सुखों के पीछे पड़े रहते हैं, इसलिए वे मुक्ति प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं। यहाँ तक कि देवों को भी मोक्ष प्राप्त करने के लिए कर्मभूमि में जन्म लेना पड़ता है।[६६]

देव, तिर्यंच, नारकी और मनुष्य इन चार गतियों में मनुष्यगति ही श्रेष्ठ है। क्योंकि केवल मनुष्य ही अपने पुरुषार्थ से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इनमें से तीन गतियों को मनुष्यगति प्राप्त हुए बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

**तिर्यंच -**

तिर्यंच प्राणियों के दो भेद होते हैं- (१) त्रस (चल) (२) स्थावर (अचल)। स्थावर प्राणियों के पाँच प्रकार हैं- (१) पृथ्वीकाय (२) अपकाय (३) तेजस्काय (४) वायुकाय तथा (५) वनस्पतिकाय। इनके भी उपभेद हैं। ये सूक्ष्म या स्थूल होते हैं। पृथ्वीकाय में मिट्टी, बालू, पत्थर, नमक, लोहा, ताँबा, चाँदी, सोना और हीरे समाविष्ट होते हैं। अपकाय में - पानी, कुहरे के बिंदु, कुहरा आदि; तेजस्काय में - अग्नि, बिजली आदि; वायुकाय में - मन्द हवा, जड़ हवा आदि घटक समाविष्ट होते हैं। वनस्पतिकाय में अनेकों का इकट्ठा सामान्य शरीर होता है या सब का अलग-अलग होता है।

त्रस जीवों के चार भेद हैं - (१) द्वीन्द्रिय (२) त्रीन्द्रिय (३) चतुरिन्द्रिय तथा (४) पञ्चेन्द्रिय। कीट, सीप आदि की दो इन्द्रियाँ (स्पर्श और रस) होती हैं। खटमल आदि की तीन इन्द्रियाँ (स्पर्श, रस और घ्राण) होती हैं। मक्खी, मच्छर आदि की चार इन्द्रियाँ (स्पर्श, रस, घ्राण और चक्षु) होती हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की पाँच इन्द्रियाँ (स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु और कान) होती हैं। जीवों के दो भेद हैं - (१) सम्मूर्च्छिम यानी गर्भ के बिना सहज उत्पन्न होने वाले और (२) गर्भजयानी गर्भ में जन्म लेने वाले। इनमें से प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं - पानी में रहने वाले (जलचर), जमीन पर रहने वाले (भूचर) और आकाश में रहने वाले (खेचर)। जलचर प्राणी-मछली, कछुआ, मगरमच्छ आदि हैं। स्थलचर प्राणियों के दो भेद हैं - चतुष्पाद और रेंगनेवाले। चतुष्पादों के चार प्रकार हैं - (१) मजबूत खुर वाले, यथा - घोड़ा (२) दो खुरों वाले जैसे - गाय। (३) अनेक खुरों वाले यथा - हाथी (४) नाखून से युक्त पंजे वाले जैसे - सिंह आदि। रेंगने वाले प्राणियों के दो भेद है - (१) हाथों से रेंगने वाले और (२) छाती से रेंगने वाले। छिपकली आदि पहले प्रकार के हैं और साँप आदि दूसरे भेद में आते हैं। खेचरों के चार भेद हैं - (१) चर्मपक्षी (२) रोमपक्षी (३) समुद्ग पक्षी (४) वीतत पक्षी।[६७]

**देव -**

देव एक विशिष्ट शय्या पर जन्म लेते हैं। वे गर्भ से जन्म नहीं लेते। उनकी अकाल मृत्यु नहीं होती। वे परिवर्तनशील देह धारण करते हैं। पर्वत और सागर के द्वारा घिरे हुए पृथ्वी-तल के अलग-अलग हिस्सों में स्वतंत्रता से संचार करते हैं और आनन्द प्राप्त करते हैं। उनमें अद्‌भुत पराक्रम होता है। देवों के चार भेद हैं - (१) भवनवासी (२) व्यन्तर (३) ज्योतिष्क और (४) वैमानिक। इनके भी

क्रमशः से दस, आठ, पाँच और बारह उपभेद हैं। इन्द्र के समान पद पाने वालों को स्वर्ग के कल्प कहा गया है। कल्प में उत्पन्न हुए देवों को 'कल्पोत्पन्न' कहा जाता है। कल्प से श्रेष्ठ कोई भी पदविभाजन नहीं होता। इसलिए स्वर्ग में उत्पन्न हुए देवों को "कल्पातीत" कहा गया है। ये सारे देवता समान होते हैं। इन्द्र के समान होने पर उन्हें 'अहमिन्द्र' कहा जाता है। किसी कारण से मनुष्य-लोक में जाने का प्रसंग आने पर कल्पोत्पन्न देव ही मनुष्य-लोक में जाते है, कल्पातीत नहीं। भवनवासी और ऐशान कल्प तक के अन्य देव मनुष्यों के समान ही वासनात्मक सुख का उपभोग करते हैं। सनत्कुमार और महेन्द्र कल्प के देव-देवियों के शरीर का केवल स्पर्श करके ही कामसुख प्राप्त करते हैं। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तक और कापिष्ट कल्प के देव केवल देवियों का सौंदर्य देख कर ही अपनी वासनापूर्ति कर लेते हैं। शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्प के देव केवल देवियों का मधुर संगीत सुनकर अपनी वासना तृप्त कर लेते हैं। आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्प के देव देवियों का केवल स्मरण करके ही अपनी कामेच्छा शान्त कर लेते हैं। बाकी बचे देव कामवासना से रहित होते हैं।[६८]

भवनवासी देवों में इन देवों का समावेश होता है - (१) असुरकुमार (२) नागकुमार (३) विद्युत्कुमार (४) स्वर्णकुमार (५) अग्निकुमार (६) वातकुमार (७) स्तनितकुमार (८) उदधिकुमार (९) द्वीपकुमार और (१०) दिक्कुमार।[६९]

ये देव अपने वस्त्र, आभूषण, शस्त्र, वाहन आदि के कारण युवा दिखाई देते हैं इसलिए इन्हें कुमार कहा गया है।

असुर कुमारों का निवास-स्थान प्रथम नरक के कीचड़युक्त हिस्सों में होता है। अन्य कुमारों का निवासस्थान प्रथम पृथ्वी रत्नप्रभा के मुख्य हिस्से के ऊपर या नीचे एक-एक हजार योजन छोड़कर होता है।

किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ये व्यन्तर देव हैं। राक्षस कीचड़मय भाग में रहते हैं। अन्य व्यन्तर देवों का निवास अगणित द्वीपों पर और सागर के प्रमुख हिस्सों में होता है।[७०]

वैमानिक देव दो प्रकार के होते हैं - (१) कल्प में जन्म लेने वाले (कल्पोत्पन्न) और (२) कल्प के अलावा दूसरी जगह जन्म लेने वाले (कल्पातीत)। कल्प में रहने वाले देवों के बारह इन्द्र हैं। कल्प के अलावा इतर स्थानों में जन्म लेने वालों में इन्द्र इत्यादि नहीं होते। उच्च स्थानों में रहने वाले वैमानिक देव नीचे

रहने वाले देवों से आयु, सामर्थ्य, सुख, तेज आदि बातों में अधिक श्रेष्ठ होते हैं।[७१]

कल्पोत्पन्न देवों में निम्नलिखित दस पद होते हैं - (१) इन्द्र - ये सामानिक आदि सब प्रकार के देवों के स्वामी होते हैं। (२) सामानिक - ये समृद्धि में इन्द्र के समान होते हैं परन्तु इनमें इन्द्रत्व नहीं होता। (३) त्रायस्त्रिंश - ये मंत्री का काम करते हैं। (४) परिषद्य - ये मित्रों का काम करते हैं। (५) आत्मरक्ष - ये शस्त्र उठाकर पीछे खड़े रहते हैं। (६) लोकपाल - ये सीमा की रक्षा करते हैं। (७) अनीक - ये सैनिक रूप होते हैं। (८) प्रकीर्णक - ये नागरिक के समान होते हैं। (९) अभियोग्य - ये सेवक के समान होते हैं। (१०) किल्विषिक - ये अन्त्यज के समान होते हैं। भवनवासियों में भी ये दस पद हैं। व्यन्तर देव तथा ज्योतिष्क देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल को छोड़कर शेष आठ पद होते हैं।[७२]

ब्रह्मलोक नामक पाँचवें कल्प में चारों ही दिशाओं में लोकान्तिक देव रहते हैं। विषयरति-रहित होने से उन्हें 'देवर्षि' कहते हैं। उनमें पारस्परिक उच्च-निम्न भावों का अभाव रहता है। वे तीर्थंकरों के अभिनिष्क्रमण या गृहत्याग के समय उनके सामने उपस्थित होकर उन्हें प्रतिबोध देने के आचारधर्म का पालन करते हैं।[७३]

देव, मनुष्य और नरकीय जीव समनस्क होते हैं। जो गर्भधारण करने वाले तिर्यंच हैं, वे भी समनस्क होते हैं। सारे तिर्यंच समनस्क नहीं हैं। संज्ञा की व्याख्या करते हुए श्री माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में कहा है कि शिक्षा (दूसरे को उपदेश), क्रिया तथा वार्तालाप का ग्रहण करना संज्ञा है। जिनकी ऐसी संज्ञा है वे मनसहित हैं और जिनकी ऐसी संज्ञा नहीं होती, वे मनरहित हैं।[७४]

## स्थावर जीवों के भेद

स्थावर जीवों के पाँच भेद हैं - (१) पृथ्वीकाय (२) अपकाय (३) तेजस्काय (४) वायुकाय और (५) वनस्पतिकाय।

(१) पृथ्वीकाय-मिट्टी (२) अपकाय-पानी (३) तेजस्काय-अग्नि (४) वायुकाय-वायु (५) वनस्पतिकाय-वृक्ष।

आचार्य श्री उमास्वाति की 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' की कुछ प्रतियों में स्थावर के तीन भेद और कुछ प्रतियों में पाँच भेद बताए गये हैं।

अग्नि और वायु का श्री उमास्वाति ने त्रसजीवों में समावेश किया है। क्योंकि त्रस का अर्थ है गतिशील होना। अग्नि और वायु गतिशील हैं इसलिए वे त्रस हैं।

स्थावर जीव तीन ही माने गये हैं - पृथ्वी, पानी और वनस्पति। ये स्थावरजीव एकेन्द्रिय हैं। इन जीवों का केवल शरीर ही होता है।

स्थावरकाय जीव की सजीवता आचारांगसूत्र के शस्त्रपरीक्षा अध्ययन में स्पष्टतः सिद्ध की गई है।[७५]

वनस्पतियों पर प्रयोग करके, वनस्पतियों में जीव है, यह बात जगदीशचन्द्र बसु और अन्य वैज्ञानिकों ने सिद्ध की है। उसका विस्तृत वर्णन आगे किया गया है।

## पृथ्वी आदि की सजीवता

द्वीन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों में चेतना प्रकट रूप से दिखाई देती है। वे अपने हित-अहित में प्रवृत्ति-निवृत्ति करते हुए दिखाई देते हैं। भूख, प्यास लगने पर अन्न-पानी की खोज भी करते हैं। वे शत्रु-मित्र भाव की अनुभूति करते हैं। इस प्रकार की प्रक्रिया पृथ्वीकाय आदि एकेन्द्रिय जीवों में भी दिखाई देती है। उनकी चेतना को अव्यक्त होने से, हमारी आँखें देख नहीं सकतीं। परन्तु हमारे समान ही वे जीव भी सुख-दुःख, भूख, प्यास आदि का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार अच्छे-बुरे के प्रतिकार के लिए प्रयत्न भी करते रहते हैं। वनस्पति, वृक्ष, पौधे आदि में तो उनके बुद्धिविकास आदि की प्रक्रिया प्रकट रूप में दिखाई देती है। अन्य पृथ्वी आदि में सजीवता के कुछ लक्षण इस प्रकार हैं-

जिस प्रकार मनुष्य-शरीर जख्मी होने के बाद भर जाता है, उसी प्रकार खोदी हुई पृथ्वी, खान आदि भी पुनः भर जाती हैं। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में वृद्धि होती है उसी प्रकार पर्वत भी बढ़ते हैं। मनुष्य के शरीर का भंग होने पर उसमें वृद्धि नहीं होती, उसी प्रकार खान में से पत्थर आदि निकालने पर उनका विकास नहीं होता।

जिस प्रकार ठण्ड में मनुष्य के मुख से गर्म भाप निकलती है, उसी प्रकार कुआँ आदि से भी भाप निकलती है। मनुष्य-शरीर के समान ही पानी भी सर्दी में गरम और गर्मी में ठण्डा रहता है। ज्यादा ठंड होने पर मनुष्य-शरीर के समान पानी भी सिकुड़ कर बर्फ का रूप धारण करता हैं।

अग्नि सजीव है। जिस प्रकार मृत शरीर में उष्णता नहीं रहती, उसी प्रकार अग्नि बुझ जाने पर ठंडी पड़ जाती हैं। भोजन प्राप्त होने पर मनुष्य-शरीर में वृद्धि होती है और न मिलने पर वह क्षीण होता है। यही बात अग्नि पर भी लागू होती है। ईंधन प्राप्त होने पर वह बढ़ती है और न मिलने पर शान्त होकर निस्तेज हो जाती हैं। मनुष्य के समान अग्नि भी हवा के बिना नहीं रह सकती। वह भी प्राणवायु (ऑक्सीजन) लेती है और विषवायु (कार्बन-डाई-ऑक्साइड) छोड़ती है।

वायु मनुष्य और तिर्यंच (पशु-पक्षी) के समान चलती रहती है। वह अन्य जीवों के समान अपने शरीर का संकोच-विस्तार भी करती है। वनस्पतियों की सजीवता से तो सब परिचित हैं। डॉ० जगदीशचंद्र बसु ने अपने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया है। उन्होंने अपने संशोधन से यह भी सिद्ध किया है कि वृक्षों को भी जीवित रहने के लिए अन्न, पानी, हवा, प्रकाश आदि की आवश्यकता होती है।

एकेन्द्रिय जीवों में सजीवता है। भगवान महावीर ने मानव-शरीर के साथ वनस्पति की तुलना करते हुए स्पष्ट कहा है कि मनुष्यों के समान पेड़ों में भी चेतना शक्ति है। सुख, दुःख, आघात आदि का अनुभव वे भी करते हैं। मनुष्य के शरीर पर घाव आदि होने पर वे पुनः ठीक हो जाते हैं। उसी प्रकार वृक्ष भी छिन्न-भिन्न होने पर पुनः अच्छे हो जाते हैं। वृक्षों को भी मनुष्यों के समान भूख-प्यास का अनुभव होता है। अन्न, पानी आदि प्राप्त होने पर मनुष्य-शरीर के समान वृक्ष भी बढ़ते हैं और प्राप्त न होने पर सूख जाते हैं। आयु समाप्त होने पर वृक्ष भी मनुष्य के समान मर जाते हैं। वनस्पतियों के लिए जो कथन किया गया है, वह अन्य पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवों के बारे में भी समझना चाहिए।

वृक्षों के दृष्टान्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि एकेन्द्रिय जीवों में चेतना है और उनमें चेतनाजन्य प्रवृत्ति अव्यक्त रूप में होती रहती है। जब तक जीव का शरीर के साथ संबंध रहता है तब तक शरीर के संयोग से होने वाली भूख-प्यास, ठंड, उष्णता, सोना, उठना, बैठना, विश्राम करना आदि क्रियाएँ व्यक्त और अव्यक्त रूप में होती रहती हैं और इन क्रियाओं से उनकी चेतना का ज्ञान होता रहता है।

संसार के सब जीवों में (कीट, पतंग, देव, नारकी, पशु-पक्षी, वनस्पति, मनुष्य आदि किसी भी शरीर के रूप में वे क्यों न हों) चेतना है और सुख, दुःख आदि का अनुभव करने की क्षमता है। वे सभी जीव हैं। जीवों की संख्या

अनंतानंत है। उनकी संख्या न कभी कम होगी और न ही बढ़ेगी। अपनी चेतना शक्ति के द्वारा वे इस लोक में सदैव रहेंगे।[७६]

पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु इनमें जीव है यह सिद्ध करने के पश्चात् वनस्पति में भी जीव है ऐसा आगम में और स्याद्वादमंजरी में स्पष्ट रूप से सिद्ध किया गया है। उसमें कहा गया है -

वनस्पति में भी जीव है क्योंकि मानव-शरीर के समान उसका छेदन करने पर वह दुःखी होती है। स्त्रियों के पाद-प्रहार करने पर कुछ वनस्पतियों में विकार उत्पन्न होता है। इससे 'वनस्पतियों में जीव है' यह सिद्ध होता है।

इस प्रकार हेमचन्द्राचार्य और आगमों ने 'पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति ये सब अजीव हैं, यह सिद्ध किया है।[७७]

## जीव-अजीव : वस्तु-विचार

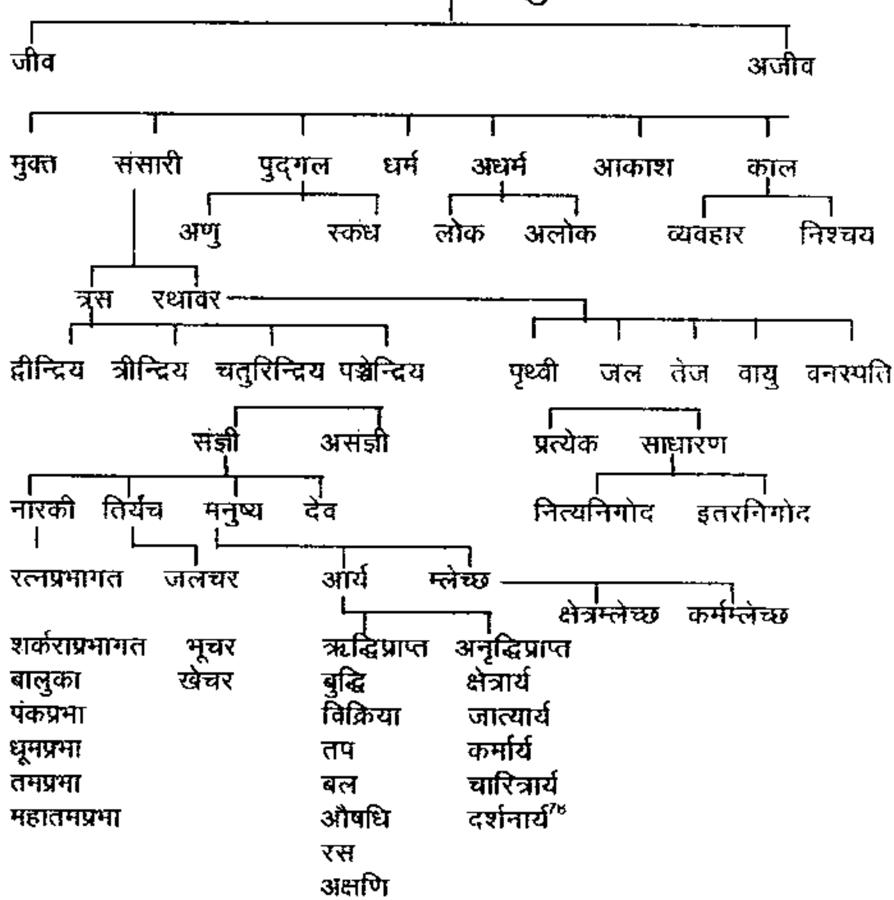

## मन के भेद

मन के दो भेद हैं- (१) द्रव्यमन (२) भावमन इनकी व्याख्या इस प्रकार की गई है-

पुद्‌गलविपाकी नामकर्म के उद्‌गम से द्रव्यमन होता है और वीर्यान्तराय अथवा इंद्रियावरण के क्षयोपशम से होने वाली आत्मविशुद्धि भावमन है। मन के साथ होने वाला जीव समनस्क और मनरहित होने वाला जीव अमनस्क है। इस प्रकार दो प्रकार के जीवों के दो भेद हैं।[७९]

सभाष्यतत्त्वार्थाधिगम सूत्र में द्रव्यमन की और भावमन की व्याख्या इस प्रकार की गई है - 'मनोवर्गणा के द्वारा अष्टदल कमल के आकार के बने हुए अंतःकरण को द्रव्यमन कहते हैं और जीव के उपयोगरूप परिणाम को भावमन कहते हैं।[८०]

**मन का अर्थ-** जिसके द्वारा विचार किया जाता है ऐसी आत्मिक शक्ति मन है। यह भावमन है और इसकी सहायता करने वाला जो एक प्रकार का सूक्ष्म परमाणु-मन है, वह द्रव्यमन है। मनन करना मन है अथवा जिसके द्वारा मनन किया जाता है, वह मन है- 'मनः मननं मन्यते अनेन वा मनः।'

## शरीर के भेद

संसारी जीव देहधारी होते हैं। देहधारी जीव अनन्त हैं। उनके शरीर अलग-अलग होने से वे व्यक्तिशः अनन्त हैं। परन्तु कार्यकारण-दृष्टि से उनके पाँच भेद बताए गए हैं - (१) औदारिक (२) वैक्रिय (३) आहारक (४) तेजस् (५) कार्मण।

जीव की क्रिया के साधन को शरीर कहते हैं।

**(१) औदारिक** - जो शरीर जलाया जा सकता है, जिसका विच्छेदन हो सकता है, उस शरीर को औदारिक शरीर कहते हैं। यह शरीर मनुष्य और तिर्यंच (पशु-पक्षी) का होता है।

**(२) वैक्रिय** - जो शरीर कभी छोटा तो कभी बड़ा हो जाता है, कभी मोटा तो कभी कृश हो जाता है, जो कभी एक होता है और कभी अनेक। इस प्रकार अनेक रूपों को जो धारण करता है, वह वैक्रिय शरीर है।

**(३) आहारक** - जो शरीर केवल चतुर्दशपूर्वधारी मुनि का ही होता है, वह आहारक शरीर है।

**(४) तेजस्** - जो शरीर तेजोमय होने से खाए हुए आहार आदि का पाचन करता है, वह तेजस् शरीर कहलाता है।

**(५) कार्मण** - कर्मसमूह का कार्मण शरीर है।

उल्लिखित पाँचों शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते जाने वाले शरीर हैं।[१]

## देहपरिमाण जीव

जीव के परिमाण [Magnitude] के संबंध में बौद्ध धर्म मानता है कि आत्मा विज्ञान का प्रवाह है। इसका कोई परिमाण नहीं हो सकता। रामानुज माध्व और वल्लभ संप्रदाय के अनुयायी मानते हैं कि जीव का परिमाण अणु [Atom] के समान है। नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, पातंजल और अद्वैत वेदान्ती जीवात्मा को "विभु" [All Pervasive] सर्वव्यापक, मानते हैं। चार्वाक, शून्यवादी और जैन आत्मा को अणु और विभु के मध्य की अवस्था मानते हैं अर्थात् जीवात्मा मध्यम परिमाण का है।

रामानुज, माध्व और वल्लभ संप्रदाय के मत में जीव का परिमाण अणु [Atom] सदृश है। वे जीव को यवसदृश, अंगुलमात्र मानते हैं। परन्तु जैनदर्शन ऐसा नहीं मानता। जैनदर्शन में जीव शरीर के समान माना गया है।

संसारी आत्मा शरीर के बिना नहीं रह सकता। इसलिए उसे शरीर-प्रमाण मानना ही उचित है।

पद्मरागमणि अगर दूध में डाली जाये तो दूध के परिमाण के समान ही उसका प्रकाश फैलता है। उसी प्रकार जीवात्मा शरीर-प्रमाण में ही रहता है।

जीव जिस शरीर को धारण करता है, उस शरीर से अभिन्न दिखाई देता है फिर भी वास्तविक देह और जीव भिन्न-भिन्न हैं।

जीव का देह के समान संकोच और विस्तार होता है।

जो जीव हाथी में होता है, वही चींटी के शरीर में भी होता है। संकोच और विस्तार इन दोनों अवस्थाओं में प्रदेश और अवयवसंख्या समान रहती है।[२]

तत्त्वार्थसूत्र में आत्म-प्रदेश को उपमा दीपक से दी गई है। जीव का स्वरूप दीपक के समान संकुचित और विस्तृत होता है। खुली जगह में रखे दीपक का प्रकाश विशिष्ट मर्यादा तक होता है। जब दीपक को किसी कमरे में रखा जाता है, तब उसका प्रकाश कमरे के परिमाण में फैलता है। परन्तु उसी दीपक को जब किसी हाँडी में रखा जाता है, तब उस हाँडी के परिमाण में ही उसका प्रकाश दिखाई देता है। लोटे के नीचे जब दीपक रखा जाता है, तब उसका प्रकाश लोटे जितना ही होता है।

इसी प्रकार जीव भी दीपक के समान संकोचशील और विस्तारशील है। इसलिए जीव जब छोटे-मोटे शरीर को धारण करता है तब देह के परिमाण के अनुसार संकुचित और विस्तृत होता है।

बृहद्द्रव्यसंग्रह में देह के समान जीव का निरूपण करते हुए कहा गया है कि व्यवहारनय से समुद्घात अवस्था के बिना यह जीव संकोच और विस्तार से छोटे-बड़े शरीर के अनुसार रहता है और निश्चयनय से जीव असंख्यात प्रदेश का धारक बनता है।[८३]

व्याख्याप्रज्ञप्ति के सातवें शतक के आठवें उद्देशक में भगवान् महावीर ने कहा है कि हाथी और कुंथु (अतिसूक्ष्म कीट) का जीव एक जैसा है।[८४]

आचार्य नेमिचन्द्र ने द्रव्यसंग्रह में देह-प्रमाण का निम्न प्रकार से उल्लेख किया है -

जीव उपयोगरूप है, अमूर्त है, कर्ता है, देहप्रमाण है, भोक्ता है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है।[८५]

जीव में रूप, रस, गंध और स्पर्श ये चार पुद्गल के धर्म नहीं हैं, इसलिए जीव स्वभाव से अमूर्त है। प्रदेश में जीव संकोचशील और विस्तारशील होता है इसलिए जीव छोटे-बड़े शरीरों के अनुसार देहप्रमाण होता है।

आत्मा के आकार के संबंध में भारतीय दर्शन में मुख्यतः तीन मत दिखाई देते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में आत्मा के - (१) सर्वगत या व्यापक (२) अंगुष्टमात्र और (३) अणुरूप होने का उल्लेख है।[८६]

जो जीव संज्ञी होते हैं वे समनस्क हैं। संज्ञा के विविध अर्थ हैं - नाम, इच्छा, सम्यग्ज्ञान आदि। जैन दर्शन के अनुसार आहार, भय, मैथुन और परिग्रह को संज्ञा कहा गया है। परन्तु यहाँ संप्रधारण संज्ञा की दृष्टि से जो जीव संज्ञा को धारण करने वाले हैं, उन्हें समनस्क कहते हैं।

जैनदर्शन मानता है कि जीवात्मा देह के आकार के समान बड़ा परन्तु देह से भिन्न है। आत्मा देह के बड़े होने के साथ बढ़ने वाला और क्षय होने के साथ क्षीण होने वाला है। जीवात्मा की वृद्धि होती है इसलिए वह परिणामी-नित्य है, कूटस्थ-नित्य नहीं।

श्री जोग का यह प्रतिपादन उचित नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा की वृद्धि या क्षय कभी नहीं होता। जिस प्रकार किसी दीपक को छोटे कमरे में रखने पर उसका प्रकाश उस कमरे जितना ही फैलता है, परन्तु उसी दीपक को

किसी बड़े दीवानखाने में रखने पर उसका प्रकाश दीवानखाने जितना फैलता है। अर्थात् दीपक की वृद्धि या क्षय नहीं होता, दीपक जितना था उतना ही रहता है, उसी प्रकार शरीर का प्रमाण छोटा हो या बड़ा आत्मा शरीर के आकार के अनुसार ही व्यापक रहता है, उसकी वृद्धि या क्षय नहीं होता।[८७]

जीवाजीवाभिगम या जीवाभिगम जैन आगम का तीसरा उपांग है। इसमें महावीर और गौतम गणधर के प्रश्नोत्तर के रूप में जीव और अजीव इनके भेद-प्रभेद का विस्तृत वर्णन है। जिज्ञासु उसका अनुशीलन कर सकते हैं।[८८]

## जीव और कर्म

जीव और कर्म का अनादि संबंध एक गृहीत तत्त्व है। इसी संबंध से संसार की समस्त बातों का कारणकार्यभाव स्पष्ट हो जाता है। जैन-धर्म के अनुसार कर्म अत्यंत सूक्ष्म पुद्गल-पर्याय है और संपूर्ण लोक उससे व्याप्त है। प्रत्येक जीव की मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाओं से आत्मा में एक प्रकार का स्पन्दन होता है। यह स्पन्दन शुभ होने पर पुण्य-कर्म का बंध होता है और अशुभ होने पर पाप-कर्म का बन्ध होता है। स्पन्दन-होने पर बंध होता ही नहीं है। क्रोध, मान, माया और लोभ इन कषायों से कर्मबंध का स्वरूप निश्चित होता है। जीव और कर्म का परस्पर संबंध जैन-शास्त्र का मुख्य विषय है। जीव के अनेक भेद हैं। उनमें 'निगोद' नामक एक अत्यंत सूक्ष्म प्रकार है। अत्यंत सूक्ष्म और सामूहिक जीवतत्त्व से मुक्त जीव तक जीव के अनेक भेद होते हैं। उसी प्रकार शुद्धि के मार्ग पर चलने वाले जीवों में अलग-अलग स्तर भी होते हैं। इन्हें 'गुणस्थान' कहते हैं। अलग-अलग गुणस्थानों में जीव का स्वरूप, धर्माचरण करने की शक्ति और आत्मनिष्ठ विचारों का बल निरन्तर बढ़ता जाता है, और अन्तिम गुणस्थान में जीव कर्म से और कर्म-कारणों से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। जैसे जीव के भेद हैं वैसे ही कर्म के भी अलग-अलग भेद हैं। जैसे कर्म के ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय-ये आठ भेद है, वैसे ही प्रत्येक की कालमर्यादा (स्थिति), फल देने की शक्ति (अनुभाग) और विस्तार या प्रमाण (प्रदेश) भी अलग-अलग हैं। जैसे दुष्प्रवृत्ति से कर्म का बंध होता है, वैसे ही सत्प्रवृत्ति और संयम से कर्म का आगमन कम होकर उसका बंध शिथिल भी हो जाता है। तपश्चर्या के द्वारा अवशिष्ट कर्मों का नाश किया जा सकता है। इस संसार के सुख-दुःख और परलोक के जन्म का स्वरूप और वहाँ के सुख-दुःख पूर्णतः कर्म के ही फल हैं।[८९]

## आधुनिक विज्ञान और जीवतत्त्व :-

वर्तमान युग विज्ञान का युग है। इस युग में प्रत्येक सिद्धान्त विज्ञान की कसौटी पर कसकर देखा जाता है। जो सिद्धान्त विज्ञान की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, उसे अंधविश्वास कहा जाता है। उस सिद्धान्त पर कोई भी विश्वास नहीं करता। जैन दर्शन के सिद्धान्त विज्ञान की कसौटी पर पूर्णतया खरे उतरे हैं।

विज्ञान का विकास होने से पहले जैन दर्शन के जिन सिद्धान्तों को अन्य दार्शनिक कपोलकल्पित मानते थे, वे ही सिद्धान्त आज विज्ञान-युग में सत्य सिद्ध हुए हैं।

जिस युग में प्रयोगशालाएँ और यान्त्रिक साधन नहीं थे, उस युग में ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना निश्चित ही उन महापुरुषों के अलौकिक ज्ञान का प्रमाण है।

वैज्ञानिक युग में जड़ और चेतन के बारे में कहा जाता है कि दोनों का मूल एक ही है। फिर भी वैज्ञानिकों का कहना यह है कि प्रत्येक जड़ वस्तु में जीवाणु नहीं हैं और स्वेच्छानुसार उन्हें उत्पन्न भी नहीं किया जा सकता। जैसे- मिट्टी की ईंट में चेतना नहीं आ सकती। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि चेतनसृष्टि जीवाणु से ही निर्मित होती है।

आधुनिक प्राणिशास्त्र मानता है कि चेतना या जीव का प्रारम्भ शैवाल (काई) या बुरसी से हुआ है। जैन-परिभाषा में इसे 'निगोद' कहा जाता है।

जैन-धर्म प्रथमतः जीव का विभाजन व्यवहार राशि और अव्यवहार राशि के रूप में करता है। जो जीव निगोद से निकलकर अन्य योनियों में घूमते हैं, वे व्यवहार राशि में आते हैं। जो अभी तक निगोद से बाहर आए नहीं, वे व्यवहार राशि में आते हैं। इस प्रकार से भी विभाजन किया जाता है-
(१) प्रत्येक वनस्पति और (२) साधारण वनस्पति। जिस वनस्पति में प्रत्येक जीव का अलग-अलग शरीर है, उस वनस्पति को "प्रत्येक वनस्पति" कहते हैं। जिस वनस्पति में एक ही शरीर में अनन्त जीव रहते हैं, उस वनस्पति को "साधारण वनस्पति" कहते हैं।

निगोद को साधारण वनस्पति कहा जाता है। साधारण वनस्पति के विषय में माना गया है कि प्रत्येक शरीर में अनन्तानन्त जीव रहते हैं। वे व्यवहार राशि में आते रहते हैं। विज्ञान ने शैवाल तथा बुरसी को जीवाणुओं का प्रथम

उत्पत्तिस्थान माना है और जैन-धर्म भी उसे अनन्तानन्त जीवों का भण्डार मानता है।

एक ही शरीर में अनन्त जीवों का अस्तित्त्व मानने से ऐसा दिखाई देता है कि उसमें स्वतंत्र कर्तृत्व या पुरुषार्थ नहीं है। केवल विकास की योग्यता है। उसे आम कहिए या गुठली, कुछ विशेष फर्क नहीं पड़ता।

जैन दर्शन में कहा गया है कि मलमूत्र, श्लेष्म आदि वस्तुओं में भी जीव निरन्तर उत्पन्न होकर मरते रहते हैं। इस प्रकार के जीवों को 'सम्मूर्च्छिम जीव' कहते हैं। इन जीवों की हमेशा वृद्धि होती रहती है। प्राणियों के बारे में विज्ञान भी यही मानता है कि प्रत्येक आर्द्र वस्तु में कीटाणु रहते हैं।

पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति की सजीवता को अन्य दार्शनिक कपोलकल्पित मानते थे। परन्तु आज विज्ञान ने ये बातें सत्य सिद्ध कर दी हैं।

श्री एच-टी- बर्सटापेन का कहना है - "जिस प्रकार बालक बढ़ता है, उसी प्रकार पर्वत भी धीरे-धीरे बढ़ता है।" दुनिया के पर्वतों के बढ़ने के संबंध में वे कहते हैं- 'न्यूगिनी के पर्वतों ने अब अपनी शैशवावस्था को पार किया है। सेलिवीस के दक्षिण की तरफ के पूर्व भाग, भोलूकास के कुछ भू-भाग और इंडोनेशिया की भूमि की ऊँचाई बढ़ रही है।' श्री सुगाते का मत है कि 'न्यूजीलैंड के पश्चिम की ओर के नेल्सन के पहाड़ "प्लाइस्टोसीन"- युग के अन्त में विकसित हुए हैं।'

श्री वेल्मेन के कथन के अनुसार आल्पूस पर्वत-माला का पश्चिमी भाग आज भी बढ़ रहा है। द्वीप की भूमि का ऊँचा उठना और पर्वतों की वृद्धि पृथ्वी की सजीवता के स्पष्ट प्रमाण हैं।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री कैप्टेन स्कवेसिवी ने एक यन्त्र के द्वारा बताया है कि एक छोटे से जलकण में छत्तीस हजार चार सौ पचास जीव होते हैं। इससे अपकाय जीव की सिद्धि होती है। जिस प्रकार मनुष्य, पशु आदि सजीव प्राणी साँस द्वारा शुद्ध वायुरूप ऑक्सीजन (Oxygen) ग्रहण कर जीवित रहते हैं और ऑक्सीजन या शुद्ध हवा के अभाव में मरते हैं, उसी प्रकार अग्नि भी हवा से ऑक्सीजन लेकर जीवित रहती है। अर्थात् जलती है। वह किसी बर्तन से ढकने पर या अन्य किसी प्रकार से हवा न मिलने पर तुरन्त बुझ जाती है। इससे तेजस्काय (अग्निकाय) जीव की सिद्धि होती है। वैज्ञानिकों का कहना है कि सुई के

अग्र भाग के बराबर हवा में लाखों जीव होते हैं। उन जीवों को 'थेक्स' कहा जाता है।

वनस्पति भी सजीव है। विज्ञान-युग में सर्वप्रथम यह बात सर जगदीश चन्द्र बसु ने सिद्ध करके दिखाई। उन्होंने यंत्रों की सहायता से प्रत्यक्षतः दिखा दिया कि वृक्ष-पौधे आदि वनस्पतियाँ मनुष्य के समान अनुकूल परिस्थिति में सुखी और प्रतिकूल परिस्थिति में दुःखी होती हैं और हर्ष, शोक, रुदन आदि क्रियाएँ भी करती हैं। जैनागम मानता है कि आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चारों क्रियाएँ वनस्पतियों में होती हैं। वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि वनस्पतियाँ मिट्टी, पानी, वायु और प्रकाश से आहार ग्रहण कर अपने शरीर का पोषण करती हैं। आहार के अभाव में वनस्पतियाँ जीवित नहीं रह सकतीं। वनस्पतियाँ पशु के समान मांसाहारी और शाकाहारी दोनों प्रकार की होती हैं। आम, नीबू, जामुन आदि वनस्पतियाँ निरामिष हैं। सामिष वनस्पतियाँ विशेषतः विदेशों में दिखाई देती हैं।

ऑस्ट्रेलिया में एक वनस्पति है। उसकी टहनियों में शेर के पंजे के समान बड़े-बड़े काँटे हैं। जब कोई घुड़सवार उस वृक्ष के नीचे से गुजरता है तो, जिस प्रकार चीता हिरन पर झपट पड़ता है, उसी प्रकार उस घुड़सवार को वह वनस्पति उठा लेती है और वह सवार उस वनस्पति का भक्ष्य बन जाता है।

अमेरिका के उत्तर केरोलिना राज्य में 'वीनस फ्लाईट्रेप' नामक वृक्ष है। जैसे ही कोई कीट-पतंगा उसके पत्ते पर बैठता है, वह पत्ता स्वतः बंद हो जाता है। वृक्ष जब उस कीट के रक्त, मांस का शोषण कर लेता है, तब वह पत्ता खुलता है और उसमें से कीट का सूखा शरीर नीचे गिर जाता है। इसी प्रकार पीचर प्लांट, रेन हैड्रयू टट्रम्पट, वटरवॉर्ट, सनड्रयू उपस, टच-मी-नॉट आदि अनेक मांसाहारी वृक्ष हैं। वे जीवित कीटों को पकड़कर खाने की कला में प्रवीण हैं।

भयभीत होने वाली वनस्पतियों में छुईमुई प्रसिद्ध है। पत्तों को उँगली दिखाने पर यह वनस्पति भयभीत होकर शरीर को संकुचित कर लेती है। वनस्पतियों में मैथुन आदि क्रियाएँ किस प्रकार घटती हैं इसका विवेचन श्री पी० लक्ष्मीकांत ने नवनीत (अगस्त १९५५, पृ० २९ से ३२) में विस्तार से किया है।

समस्त वनस्पतियाँ अपने अपत्यों के लिए अन्न का संग्रह करती हैं। वनस्पतिशास्त्रज्ञों का कहना है कि एक भी फूलने वाला वृक्ष ऐसा नहीं है जो अपने

अपत्यों के लिए बीज रूप में आवश्यक अन्नसंग्रह नहीं करता। ऐसे वृक्ष वसन्त और ग्रीष्म ऋतु में बड़े परिश्रम से अन्न-सामग्री जमा करते हैं।

वनस्पतियों की निद्रा का वर्णन (नवनीत, अप्रेल १९५२, पृ० २६) करते हुए श्री हिरण्यमय बोस लिखते हैं - "जिस प्रकार जीवित प्राणी (चलने वाले व घूमने वाले) परिश्रम के बाद रात्रि में सोकर थकावट दूर करते हैं, उसी प्रकार वनस्पतियाँ भी रात्रि में सोती हैं।

सूडान और वेस्टइंडीज में एक ऐसा वृक्ष है जिसमें से दिन में विविध प्रकार की राग-रागिनियाँ निकलती हैं और रात में ऐसा रोना शुरू हो जाता है जैसे किसी की मृत्यु हो गई हो। डॉ० जगदीशचंद्र बसु ने वनस्पतियों की क्रोध, घृणा, प्रेम, आलिंगन आदि अन्य अनेक प्रवृत्तियों पर काफी प्रकाश डाला हैं। जैन-ग्रंथों में वनस्पतियों की अधिकतम आयु दस हजार वर्ष बताई गई है। प्रसिद्ध शास्त्रज्ञ एडमण्ड शुमांशा के अनुसार आज भी अमेरीका में केलिफोर्निया के नेशनल पार्क में चार हजार छह सौ वर्ष की उम्र के वृक्ष विद्यमान हैं। चेतना के इस विकास-क्रम को प्राणिशास्त्रज्ञों ने भी मान्यता प्रदान की है। वे भी 'वृक्षों में जीव है' यह मानने लगे हैं। वे अमीबा से मनुष्य तक के क्रमिक विकास को मानते हैं।[६०]

लीना देसाई ने 'वनस्पतियों का रहस्यमय जीवन' लेख में अनेक उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि वनस्पतियाँ सजीव हैं।[६१]

## जीव का विकासक्रम

जैन दर्शन में जीवों का क्रम इस प्रकार बताया गया है - असंज्ञी जीवों की सत्ता भगवान् महावीर ने हजारों वर्ष पहले प्रतिपादित की थी। आज विज्ञान भी इसे मानता है। जर्मनी के जीवशास्त्रज्ञ अर्नेस्ट हेकेल ने "रिडल ऑफ लाइफ" में अग्निकाय जीवों की सत्ता मानी है। उन्होने अव्यक्त जीवसत्ता को भी माना है। जीव तथा निर्जीव के मध्य में 'मोनेटा' के अस्तित्त्व को उन्होंने स्वीकार किया है जो दोनों से भिन्न है। निर्जीव में जीवन है ही नहीं, सजीव में वह व्यक्त होता है। अव्यक्त जीवन की भी स्थिति है। वेदान्त के मत से अव्यक्त और व्यक्त इन दोनों रूपों में जीवन है।

वैज्ञानिकों ने परमाणु में इच्छा और चेतना [Consciousness & Volition] की शक्ति मान्य की है। उनका अनिश्चितता सिद्धान्त इसी का द्योतक है। परमाणु के आन्तरिक घटक, नियमों को छोड़कर भी क्रिया करते हैं। उनके संबंध में प्रस्थापित नियमों के आधार पर निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। यही

इस सिद्धान्त का आशय है। नियम निश्चित होते हैं लेकिन इच्छा अनिश्चित होती है। नियम बद्ध होते हैं पर इच्छा मुक्त।

जैन-दर्शन मानता है कि अनादि काल से 'जीव' पुद्गल के साथ मिला हुआ है। धीरे-धीरे वह स्वयं ही स्वयं को द्रव्य के आवरण से प्रकाशित करता है। इस आन्तरिक प्रकाश का क्रम यही विकास है। अनावरण होने की यह प्रक्रिया ही विकास है। थोड़ा सा आवरण हटते ही कि एकेन्द्रिय जीव बनते हैं।

विज्ञान भी जीव के विकास का क्रम एकपेशीय जीव अमीबा [Amoeba] से शुरू करता है। यह अमीबा विकास करते-करते बहुपेशीय जीव प्रोटोजोआ [Protozoa] बनता है। इसके बाद वह जेली मछली, जलचर प्राणी, उभयचर जीव, पशु और पक्षी के स्तर पार करता जाता है।

यह विकास कैसे होता जाता है? वस्तुतः "विकास" इसके लिए उचित नहीं है। विकास का अर्थ है बढ़ना, फैलना या ज्यादा होना। ज्यादा होना यानी बाहर से कुछ ग्रहण करते जाना। सचमुच देखा जाए तो ऐसा नहीं है। बाहर से ग्रहण करना नहीं, अपितु बाहर जो है उसे हटाना ही विकास है। बाहर आवरण है उसे हटाना ही पड़ेगा। उसे ग्रहण करने से तो विकास की प्रक्रिया उल्टी हो जाएगी। आन्तरिक प्रकाश ही विकास है। स्वभावतः ही जो "पूर्ण" है, वह ग्रहण क्या करेगा और क्यों करेगा? उसे तो खुद का विकास करना है, अनावृत्त होना है। अधिकाधिक प्रकाशित होना है। सांख्यदर्शन इसीलिए कहता है कि "प्रकृतिः पूर्यात्" अर्थात् प्रकृति परिपूर्ण है। वह अपने को प्रकट कर रही है। वैज्ञानिक परिभाषा में इन्वोल्यूशन [Involution] के बिना इवोल्यूशन [Evolution] नहीं होता है। अरविन्द घोष और स्वामी विवेकानन्द की विकास के संदर्भ में वही धारणा थी जो वेदान्त, सांख्य और जैन-दर्शन की है।

वर्गसां का "सृजनात्मक विकास" सिद्धान्त इस शताब्दी में तत्त्वज्ञान को एक महान देन है। क्राइस्ट, बुद्ध, महावीर और कपिल ने जो प्रतिपादित किया, वर्गसां का सिद्धान्त वैज्ञानिक स्तर पर उसी का पुष्टि करता है। एक अमीबा भविष्यत्काल का बुद्ध है और एक बुद्ध भूतकाल का अमीबा है। उससे पहले वह अव्यक्त था, अस्तित्त्वहीन नहीं था। अनुअस्तित्त्व से अस्तित्त्व नहीं आता। शून्य से सृजन हो ही नहीं सकता। जो "है" उसका व्यक्त, अव्यक्त रूप में परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन भी ऊपर-ऊपर का है। सागर की लहरें उत्पन्न होती हैं और गिर जाती हैं। अन्तर्भाग में तो शान्त, अपार तथा निराकार पानी ही रहता है। विकास

की यह समग्र प्रक्रिया अनावरण की है। इस अनावरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाकर हम पूर्णता तक पहुँचा सकते हैं। निसर्ग इस दिशा में धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा है। क्योंकि प्रकृति को सब को लेकर चलना है। तीन अरब वर्ष पहले पृथ्वी की निर्मिति हुई। एक करोड़ वर्ष पूर्व जीव की निर्मिति हुई। दस लाख वर्ष पूर्व आदि मानव के पूर्वज अवतरित हुए। बन्दर मानव का पूर्वज है। यह मानव के विकास की दिशा का सूचक है। संस्कृत में "वानर" (बन्दर) शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है - किंवा नरः वानरः - "क्या यह मानव है?" हाँ, थोड़ा बहुत उसी के समान है। आठ हजार वर्ष पहले "होमीसेपियन" जाति के मानव आए, जो आज हैं। उसके बाद चार-पाँच हजार वर्ष निकल जाने पर कुछ अतिमानव आए। चार हजार वर्ष पहले कृष्ण, दो हजार वर्ष पहले महावीर, बुद्ध और उनके बाद क्राइस्ट आदि मिलकर मुट्ठीभर ऐसे जीव उत्पन्न हुए जिन्होंने भविष्य के विकास के लिए संकेत दिए। वर्षा की सर्वप्रथम पाँच-दस बूँदे गिरती हैं। उनके मध्य काल का अंतर ज्यादा होता है। उसके बाद जोरदार वर्षा होती है। हजार वर्षों के विकास में क्या होने वाला है? हम रूपान्तर की किस स्थिति में जाने वाले हैं? इसे महापुरुष सुझाते हैं। अन्त में वे काल के आगे जाकर कालातीत होते हैं। क्योंकि आवरण-क्षय की प्रक्रिया पूरी हो जाती है। चैतन्य पुद्गल के आवरण को हटाकर शुद्ध-बुद्ध और मुक्त होता है। अखण्ड ज्योतिस्वरूप बनता है। विकास का ध्येय यही है। निसर्ग हम सब को लेकर उसी दिशा में आगे बढ़ रहा है। परन्तु इस विकास-प्रक्रिया को हम इतना तीव्र नहीं बना सकते कि हजारों वर्षों की इच्छा कुछ वर्षों में या महीनों में पूरी हो जाये। हमारे अन्दर अनन्त प्रकार की क्षमताएँ हैं। हम क्या नहीं कर सकते यह प्रश्न ही नहीं है। अनन्त काल के क्रम को महीने या दिन में नहीं, कुछ क्षणों में ही पूर्ण कर सकते हैं। महावीर, बुद्ध, क्राइस्ट, राम और कृष्ण इन्होंने यही तो किया। हजारों वर्षों से ज्ञानी पुरुष कहते आए हैं कि आत्मा अनन्त वीर्य, अनन्त आनन्द तथा अनन्त शक्ति से पूर्ण है। वह स्वभावतः ही मुक्त है। बाहर से कुछ प्राप्त नहीं करना है। अंतःप्रकाशन को अधिकतम तीव्र करना है। जो हम कर सकते हैं वह मानवेतर प्राणी नहीं कर सकते। हमारे अन्दर इच्छा या संकल्प है। विवेक [Reason] है। सबसे बड़ी बात है स्वयं को स्वयं में देखने की क्षमता। यही अंतर्दर्शन [Introspection] है। यह ऐसी प्रक्रिया है जो आवरण को जला देती है। अंतःबोध से वह आवरण जो युगों से क्षीण होता आया है और क्षीण होना है, क्षणमात्र में दग्ध हो जाता है।

गीताकार के ओजस्वी शब्दों में-"ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसाद् कुरुतेऽर्जुन"- हे अर्जुन! यह ज्ञान की अग्नि सब कर्मों को भस्म कर डालती है, आखिर वह ज्ञान कौन-सा है? वह है तत्त्वज्ञान।[62]

## आत्मा के अस्तित्त्व की सिद्धि

आत्मा का स्वरूप समझने से पहले आत्मा का अस्तित्त्व समझना चाहिए। क्योंकि आत्मा के अभाव में आत्मस्वरूप संभव नहीं हो सकता -

"मूलं नास्ति कुतः शाखाः"। अगर मूल ही न हो तो टहनियाँ तथा पत्ते कहाँ से होंगे?

आत्मा का अस्तित्त्व समझने के लिए कुछ बातों को समझना अत्यंत आवश्यक है - (१) जीव है (२) वह नित्य है (३) वह कर्म का कर्ता है (४) वह कर्मफलभोक्ता है (५) मोक्ष है और (६) मोक्ष-प्राप्ति के उपाय भी हैं।[63]

जो यह मानते हैं कि जीव है अर्थात् जीव का अस्तित्त्व है उन्हीं को सम्यक्त्व प्राप्त होता है, दूसरों को नहीं। अगर जीव या आत्मा का अस्तित्त्व नहीं माना जाये तो पाप-पुण्य के विचार निरर्थक होंगे। स्वर्ग और नरक की बातें निरर्थक होंगी। पुनर्जन्म और परलोक की बातें अर्थहीन होंगी। इसलिए आत्मा का अस्तित्त्व स्वीकार करना आत्मवाद या मोक्षवाद की बुनियाद की पहली ईंट है। अब आत्मा के अस्तित्त्व पर विचार करें।

आत्मा के अस्तित्त्व को समस्त भारतीय दर्शन मानते हैं। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास को देखें तो अधिकांशतः वहाँ भी हमें आत्मा के अमर अस्तित्त्व का समर्थन मिलता है। प्लेटो ने कहा है - "संसार के सारे पदार्थ द्वंद्वात्मक हैं। इसलिए जीवन के पश्चात् मृत्यु और मृत्यु के पश्चात् जीवन अपरिहार्य है।" इसी प्रकार सॉक्रेटीज, ॲरिस्टॉटल आदि दार्शनिक आत्मा के अस्तित्त्व को मानते हैं।

कुछ विद्वान् कहते हैं कि आत्मा का अस्तित्त्व ही नहीं है। उनका कहना है कि आत्मा दिखाई नहीं देता, फिर उसका अस्तित्त्व कैसे? वे कहते हैं - 'प्रत्यक्ष दिखाइए, तभी मानेंगे, परन्तु आत्मा कोई लकड़ी या लोहे की वस्तु नहीं है जिसे हाथ पर लेकर दिखाया जा सके? जो वस्तु अरूपी है, आँखों से दिखाई नहीं देती, उस वस्तु को दिखाने के लिए परिश्रम करना पड़ता है, बुद्धि का उचित उपयोग करना पड़ता है। आत्मा को जानने वाले से सत्संग करना पड़ता है। अगर इस बात के लिए व्यक्ति तैयार हो तो आत्मा को दिखाना व आत्मा की प्रतीति कराना किंचित् ही कठिन है।

इस जगत् में जो वस्तुएँ आँखों से दिखाई देती हैं, उन्हीं को हम मानते हों, ऐसा नहीं है। जो वस्तु आँखों से दिखाई नहीं देती, परन्तु कार्य करते हुए दिखाई देती है, उसे भी माना जाता है।

पाँच हजार वर्ष पहले मोहन-जो-दड़ो शहर था। उसके रास्ते विशाल थे, घर सुन्दर थे। बाग-बगीचे थे। यह हम क्यों मानते हैं? इसका क्या आधार है? केवल वहाँ मिले अवशेषों के आधार पर हम यह सब समझ सकते हैं। यह सब हमने अपनी आँखों से तो देखी नहीं हैं।

हवा को आँखों से कौन देख सकता है? परन्तु वृक्षों की टहनियाँ हिलती हैं, मंदिर पर लगा हुआ ध्वज फहरता है, तब हम कहते हैं कि हवा ज्यादा है। कहने का आशय यही है कि हवा आँखों से दिखाई नहीं देती। परन्तु उसके कार्यों से हम जान सकते हैं कि हवा है।

इलेक्ट्रिसिटी द्वारा अनेक कार्य होते हैं। बटन दबाते ही पंखा घूमने लगता है, प्रकाश फैलता है। परन्तु पंखा चलाने वाली या प्रकाश देने वाली विद्युत् शक्ति को क्या आपने आँखों से देखा है? कितनी भी तीक्ष्ण दृष्टि होने पर भी हम विद्युत्शक्ति को आँखों से नहीं देख सकते। कितना भी मूल्यवान यत्र आँखों पर लगाने पर भी विद्युत्शक्ति दिखाई नहीं दे सकती। उसके कार्य से ही हम जानते हैं कि यह कार्य विद्युत्शक्ति से होता है।

आज घर-घर में रेडियो की आवाज सुनाई देती है और कहा जाता है कि यह गीत अमेरिका से प्रसारित हुआ, यह गीत कोलंबो से प्रसारित हुआ, यह गीत कलकत्ता से प्रसारित हुआ। परन्तु यह गीत अमेरिका, कोलंबो और कलकत्ता से कैसे आया? कैसे प्रसारित हुआ? क्या उसे प्रसारित होते हुए किसी ने देखा? ऐसा कहा जाता है कि ईथर की लहरियों के कारण वह यहाँ आया, लेकिन उस ईथर को या उसकी लहरियों को गतिमान होते समय किसने देखा? केवल उसके कार्य से उसकी प्रतीति होती है। "वस्तु आँखों से दिखाई नहीं देती इसलिए उसका अस्तित्त्व ही नहीं है" ऐसा कहने वालों से अगर पूछा जाये कि तुम्हारे परदादा थे या नहीं? तुम्हारे परदादा के पिताजी थे या नहीं? तो वे क्या उत्तर देंगे? वे यही कहेंगे कि जरूर थे। बाद में उनसे यदि पूछा जाय कि तुम्हारी हजारवीं पीढ़ी थी या नहीं? या तुम्हारी दस हजारवीं पीढ़ी थी या नहीं? वे यही उत्तर देंगे - "थी", "जरूर थी।"

"जरूर थी"- ऐसा कहने का क्या कारण है? जहाँ पाँचवीं पीढ़ी भी देखना दुष्कर है वहाँ सौवीं, हजारवीं, दस हजारवीं पीढ़ी कौन देख सकता है?

बहियों में, ऐतिहासिक ग्रंथों में, प्राचीन लेखों में उसके निर्देश नहीं मिलते। फिर भी कहते हैं, हाँ, हमारी पीढ़ी थी, इसका कारण यही है कि पीढ़ियाँ आँखों से दिखाई नहीं देतीं, परन्तु उनका कार्य आँखों से दिखाई देता है। तुम स्वयं उनका कार्य हो। तुम ही उनका जीवित स्वरूप हो। अगर तुम्हारी सौवीं, हजारवीं, दस हजारवीं पीढ़ी नहीं होती, तो तुम्हारा भी अस्तित्त्व कहाँ होता?

इन सब बातों से सिद्ध होता है कि यदि वस्तु आँखों से दिखाई नहीं देती, उसका कार्य दिखाई देता है तो उसका अस्तित्त्व है।

अब हम, आत्मा का कार्य दिखाई देता है या नहीं, इसका विचार करें। मनुष्य मर जाता है, उसका शरीर जैसा था वैसा ही रहता है। वही आकृति, नाक, आँखें, कान, हाथ, पैर जैसे के वैसे हैं। परन्तु मृत्यु के उपरान्त वह कुछ भी नहीं कर सकता। इसका क्या कारण है? मृत्यु से पहले भूख लगने पर वह खाने के लिए माँगता था, प्यास लगने पर पानी माँगता था। अब वह कुछ भी नहीं माँगता। माँगे बिना ही यदि उसके मुख में अन्न का एक कौर रखा जाय तो क्या वह उसे खाएगा? और पानी डालने पर क्या वह उसे पीयेगा? जब वह जीवित था तब कहता था - 'यह मेरी पत्नी है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरी कन्या है ये मेरे रिश्तेदार है, मगर अब क्यों नहीं बोलता। कुछ मिनट पहले वह पूछता था कि मेरे परिवार का क्या होगा? संपत्ति का क्या होगा, जिस प्राणी से मैंने इतना प्रेम किया उसका क्या होगा? इस प्रकार कह कर वह निःश्वास छोड़ रहा था दुःखी हो रहा था, आँखों से आँसु गिरा रहा था, परन्तु यह सब एकाएक कैसे बन्द हो गया? क्या परिवार वालों से उसका प्रेम कम हुआ? धन-संपत्ति विषयक आकर्षण कम हुआ? प्राणियों से उसका प्रेम छीण हुआ? नहीं, अगर ऐसा होता तो वह भवसागर तर जाता। परन्तु ऐसा नहीं हुआ और सब काम बंद हो गया, यह सत्य है, तथ्य है।

मरे हुए मनुष्य को यदि कोई गालियाँ दे तो क्या वह बोल सकता है? कोई उसकी पिटाई करे तो क्या वह बदला ले सकता है? जरा सी अग्नि के स्पर्श से वह डरता था, परन्तु अब वह चिता पर सोया है मगर एक शब्द भी नहीं बोलता, इसका क्या कारण है? इसका कारण यही है कि जो जानने वाला था, देखने वाला था, सुनने वाला था, स्वाद लेने वाला था, बोलने वाला था, विचार करने वाला था तथा इच्छानुसार क्रिया करने वाला था, वह जा चुका है।

अगर जानना और देखना शरीर का कार्य होता, तो मृत्यु के उपरान्त भी शरीर का अस्तित्त्व होता और वह कार्य करता। परन्तु ऐसा नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि वह कार्य शरीर का नहीं, आत्मा का था। सारांशतः चैतन्यपूर्ण जीवन-व्यवहार आत्मा के अस्तित्त्व का सब से श्रेष्ठ प्रमाण है, इसे कोई भी नकार नहीं सकता।

चींटी आदि में चैतन्यमय जीवन-व्यवहार है अर्थात् उनमें आत्मा है। कागज, पेन्सिल, छुरी, चाकू आदि में चैतन्यमय व्यवहार नहीं है, अर्थात् उनमें आत्मा का अस्तित्त्व नहीं है। गाय, भैंस, हाथी, घोड़ा, मछली, सर्प आदि में चैतन्यमय जीवन-व्यवहार है, अर्थात् उनमें आत्मा है।

जिस प्रकार धुएँ से अग्नि का अस्तित्त्व सिद्ध होता है, उसी प्रकार चैतन्य से आत्मा का अस्तित्त्व सिद्ध होता है। इसीलिए शास्त्रकारों ने जीव का लक्षण चैतन्य बताया है। इसका अर्थ यह है कि जहाँ चैतन्य है वहाँ जीव और आत्मा का अस्तित्त्व है। राजप्रश्नीयसूत्र में परदेशी राजा की आत्मा के अस्तित्त्व के संबंध में अनेक प्रश्नोत्तर दिए गये हैं।

केशीकुमार श्रमण राजा परदेशी को दादा, दादी, चोर, आँवला आदि के अनेक उदाहरण देकर आत्मा का अस्तित्त्व सिद्ध करके दिखाते हैं। राजा परदेशी की शंकाएँ इन उदाहरणों से दूर होती हैं और आत्मा के अस्तित्त्व में उसकी दृढ़ श्रद्धा होती है।

भारतीय तत्त्वज्ञान की अमर घोषणा है कि आत्मा का अस्तित्त्व है और आत्मा का अस्तित्त्व मानने में ही सब का कल्याण है।[६४]

## आत्मा के विषय में विभिन्न वैज्ञानिकों के विचार :-

आत्मा के अस्तित्त्व को वैज्ञानिकों ने भी स्वीकार किया है। आत्मा के विषय में उनके विचार इस प्रकार हैं -

प्राध्यापक अल्बर्ट आइन्स्टाइन ने कहा है - "मैं यह मानता हूँ कि सम्पूर्ण विश्व में चेतना काम कर रही है।"[६५] सर ए०एस०एडिंग्टन का कथन है - कोई अज्ञात शक्ति काम कर रही है। वह क्या है यह हम जान नहीं सकते। मैं चेतना को मुख्य मानता हूँ और भौतिक पदार्थों को गौण मानता हूँ। प्राचीन नास्तिकवाद नष्ट हुआ। धर्म आत्मा और मन का विषय है और उसे डिगाया नहीं जा सकता'[६६] हर्बर्ट स्पेन्सर का मत है कि गुरु, धर्मगुरु, अनेक दार्शनिक चाहे वे

प्राचीन हों या अर्वाचीन, पश्चिम के हों या पूर्व के, सब का अनुभव यही है कि अज्ञात या अज्ञेय तत्त्व स्वयं की आत्मा ही है।[९७]

जे०बी०हेल्डन का मत है कि विश्व का मौलिक तत्त्व 'सत्य' जड़ [Matter] बल [Force] या भौतिक पदार्थ [Physical thing] न होकर मन या चेतना ही है। आर्थर एच- कॉम्प्टन ने लिखा है - "एक ही निर्णय यह बताता है कि मृत्यु के बाद आत्मा की संभवनीयता है। ज्योति लकड़ी से भिन्न है। लकड़ी तो थोड़े समय तक ज्योति को प्रकट करने के लिए ईंधन का काम करती है।"[९८]

"दि ग्रेट डिवाइन" नामक पुस्तक में विश्व के प्रमुख वैज्ञानिकों ने अपने मत प्रकट किए हैं। उन मतों का सारांश यह है - "यह विश्व कोई आत्मारहित यन्त्र नहीं है या यह केवल अचानक ही बना है ऐसा भी नहीं है। इसके पीछे कोई बुद्धि, चेतनाशक्ति निश्चित रूप से है, भले ही उसे आप कोई भी नाम दें।"[९९]

रेने डेकार्ट ने एक सामान्य उदाहरण देते हुए कहा है - "मैं चिन्तन करता हूँ।" इसका अर्थ यह है कि 'मैं हूँ' और इसमें "मैं" या आत्मा की ध्वनि है।

स्पिनोजा मानते थे कि प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण हैं। हमारा ज्ञान दो गुणों तक ही मर्यादित है। चेतना और विस्तार। चेतना के असंख्य रूप हैं और प्रत्येक रूप आत्मा है। विस्तार के भी असंख्य रूप हैं और प्रत्येक रूप को प्राकृत पदार्थ कहते हैं।

जॉन लॉक का कथन है कि आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है। मैं चिन्तन करता हूँ, मैं तर्क करता हूँ, मैं सुख-दुःख का अनुभव करता हूँ - इससे अपनी सत्ता का अनुभव होता है और ज्ञान होता है। इसीलिए कहा जाता है कि आत्मा ज्ञान का विषय है।

जॉर्ज बर्कले ने विश्व की सत्ता का तीन प्रकार से वर्गीकरण किया है - (१) आत्मा और उसका बोध (२) परमात्मा एवं (३) बाह्य पदार्थ। इनके अनुसार आत्मा किसी भी समय चिन्तन या चेतना के अभाव में नहीं रहती।

वह समय अवश्य आयेगा जब विज्ञान के द्वारा अज्ञात विषयों का अन्वेषण होगा। जैसी हम कल्पना करते थे, उससे भी अधिक विश्व का आध्यात्मिक अस्तित्त्व है। वस्तुतः हम जिस आध्यात्मिक जगत् में हैं, वह भौतिक जगत् के ऊपर है,[१००] ऐसा 'ऑलिवर लॉज' का मत है।

जड़वाद के जितने भी मत गत बीस वर्षों में प्रतिपादित किये गए हैं, वे सारे आत्मवाद के विचार पर आधारित हैं। यही नया विज्ञान है :-[१०१]

(१) जीव का अस्तित्त्व 'जीव' शब्द से सिद्ध होता है। कोई भी सार्थक संज्ञा असत् की नहीं होती। (२) 'जीव' है या नहीं - केवल यह विचार करना भी जीव की सत्ता को सिद्ध करता है। देवदत्त विचार कर सकता है कि यह खंभा है या पुरुष है, दूसरा अजीव पदार्थ नहीं है। (३) केवल घड़ा देखने से ही घड़े के कर्ता कुम्हार का बोध होता है। उसी प्रकार निश्चित आकार के अवलोकन से कर्मयुक्त साकार आत्मा का बोध होता है। (४) शरीर में रहने वाला विचार करता है कि मैं नहीं, जीव है। जीव के अतिरिक्त संशयकर्ता अन्य कोई भी नहीं है।

दूसरे शब्दों में, आत्मासंबंधी विचारधारा में दर्शन और विज्ञान एक होते जा रहे हैं।[१०२]

डेकार्ट, लॉक और बर्कले ने आत्मा की सत्ता को स्वयंसिद्ध माना है। उसके लिए किसी भी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। ह्यूम ने आत्मा को प्रकृति के समान केवल एक कल्पना माना है। फ्रेखटे ने "मैं हूँ" - इसके द्वारा प्रकट किया कि 'मैं' ज्ञेय से अलग है। मैं और ज्ञेय एक-दूसरे में ओतप्रोत हैं।

वैज्ञानिकों ने आत्मा के संबंध में संशोधन किया है, परन्तु आज तक वे किसी भी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँचे हैं।[१०३]

वैदिक वाङ्मय में, बालक नचिकेता और यमराज की चर्चा में, आत्मा अमर कैसे है के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न नचिकेता यमराज से पूछता है और अन्त में आत्मा की अमरता का ज्ञान प्राप्त करता है।

मैत्रेयी ने भी याज्ञवल्क्य से आत्मविद्या का ज्ञान प्राप्त किया।

वैदिक परम्परा में आत्मविद्या का क्या स्थान है इसे समझने के लिए नारद और सनत्कुमारों का आख्यान अत्यन्त श्रेष्ठ है। आत्मा के विषय में बौद्ध दर्शन की अलग ही दृष्टि है।

जैन-आगम में आत्मा संबंधी विचार जितने स्पष्ट दिखाई देते हैं, उतने अन्यत्र कहीं भी दिखाई नहीं देते। भगवान् महावीर ने आत्मा का अत्यन्त विश्लेषणात्मक और सुस्पष्ट विवेचन किया है।[१०४]

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर निःसंशय कहा जा सकता है कि हमारे क्रमिक विकास में विज्ञान आत्मवादी होता जा रहा है। दर्शन और विज्ञान की यह अभिसंधि विश्व के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ेगी।

भारतीय दार्शनिकों ने कहा है कि जीवन का परम लक्ष्य सच्चिदानंद और शुद्ध बुद्ध अवस्था को प्राप्त करना है।

भारतीय ऋषि-मुनियों ने जिसका सम्यक् शोधन किया, जिसे प्राप्त किया, जिसे कहा, उसके पीछे सत्य और प्रामाणिकता के शाश्वत आधार थे। आज भी निश्चित रूप से जड़ पर चेतन की, विज्ञान पर दर्शन की, पश्चिम पर पूर्व की सर्वमान्य विजय है।

## सन्दर्भ

१. कुन्दकुन्दाचार्य - पंचास्तिकाय गा० ४ पृ० ११
जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा तहेव आयासं
अत्थित्तम्हि य णियदा अणण्णमश्या अणुमंहता ।। ४ ।।

२. नेमिचन्द्राचार्य - बृहद्द्रव्यसंग्रह - गा० १५ पृ० ४४
(क) अज्जीवो पुण णेओ पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं।
कालो पुग्गल मुत्तो रुवादिगुणी अमुति सेसा हु ।। १५ ।।
(ख) हरिभद्रसूरी - षड्दर्शनसमुच्चय - पृ० २११ गा० ४७

३. (क) सं० पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (ठाणे) - अ० ६ पृ० २६५ (भाग १)
नव सब्भावपयत्था पन्नता ते जहाँ जीवा अजीवा पुण्णं पावो
आसवो संवरो णिज्जरा बंधो मोक्खो ।। ८६७ ।।
(ख) नेमिचन्द्राचार्यसिद्धान्तचक्रवर्ती - गोम्मटसार (जीवकाण्ड),
गा० ६२० णव य पदत्था जीवाजीवा ताणं च पुण्णपावदुगं।
आसवसंवरणिज्जरबंधा मोक्खो य होंति त्ति ।। ६२०।।
ग) कुन्दकुन्दाचार्य - पंचास्तिकाय, गा० १०८ पृ० १७१
जीवाजीवा भाव पुण्णं पावं च आसवं तेसिं।
संवरणिज्जरबधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा ।। १०८।।

४- (क) महेन्द्र कुमार - जैनदर्शन - पृ० २१४-२१५
(ख) पातंजल योगदर्शनम् - महर्षिव्यासदेवप्रणीत भाष्य, द्वितीय, साधनपाद, सूत्र १५ पृ० १७२ यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम् - रोगो रोगहेतुरारोग्यं

भेषज्यमिति एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव। तथा - संसार : संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति।

५- कृ० पा० कुलकर्णी - मराठी व्युत्पत्तिकोश, द्वितीयावृत्ति, पृ० ७६८

६. अभयदेवसूरिटीका - स्थानांगसूत्र, ठा० २, उ० ४, पृ० ६५

(क) दौरासी जीवरासी पं तं चेव, अजीवरासी चेव।

(ख) सं० पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (ठाणे) - भाग १, पृ० २००

दोरासी पंतं जीवरासी चेव, अजीवरासी चेव।

(ग) सं० पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (पन्नवण्णा), भाग २, पृ० २६५

पन्नवणा दुविहा पन्नता। तं जहा-जीवपन्नवणा य अजीवपन्नवणा य ।।

(घ) हरिभद्रसूरि - षड्दर्शनसमुच्चय, पृ० २११

(च) अनु० चंदनाकुमारी - उत्तराध्ययनसूत्र, अ० ३६, गा० २, पृ० ३८०

जीवा चेव अजीवा य एस लोए वियाहिए।

(छ) सं० पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (समवायांग), प्रथम भाग, पृ० ३१७

दुवे रासी पन्नता, तं जहा-जीवरासी चेव, अजीवरासी चेव।

७- माधवाचार्य - सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १४३

८. अनु० मुनि श्रीसौभाग्यमलजी महाराज-श्री आचारांगसूत्र, अ० ३, उ० ४, पृ० २६७

(क) जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ।

(ख) बृहादारण्यकोपनिषद् (सानुवाद शांकरभाष्यसहित)-गीताप्रेस, गोरखपुर

अ० २, ब्रा० ४, सू० ५, पृ० ५५२

आत्मैव तु सर्वम्, तस्मात्सर्वमात्मनि विदिते विदितं स्यात्।

९. सं० पुप्फभिक्खू-सुत्तागमे (सूयगडं),भाग १, गा० ७,अ०१, उ०१, पृ० १०१

सन्ति पंच महब्भूया इहमेगेसिमाहिया।

पुढवी आउ तेऊ वा वाउ आगासपंचमा।।

१०- सं० पद्मभूषण पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर-ऋग्वेदसंहिता, म० १, सू० १६४, मं० २६, पृ० १२७

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि।

११- छान्दोग्योपनिषद्- अ०३, स०१५, सू०४, पृ० ३२० (गीता प्रेस, गोरखपुर)

१२. प्राणो यत् इदं सर्व भूतं यदिदं किंच।

बृहदारण्यकोपनिषद् - अ०१, ब्रा०५, सू० २२-२३, पृ० ३८६

१३. देवेन्द्रमुनि शास्त्री- जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण, पृ० ७७ से ८७.

१४. हरिभद्रसूरि - षड्दर्शनसमुच्चय - पृ० १५२

अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।
अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने ।।४१।।

१५. अनु० दलसुखभाई मालवणिया, गणधरवाद, पृ० २१

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते प्रतिष्ठितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।।

- ब्रह्मबिन्दु उपनिषद् ११

१६. (क) सं० पद्मभूषण पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर-ऋग्वेदसंहिता, म० १०, सू० १४, मं० ७, पृ० ६३६

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्वेभिर्यत्र नः पूर्वे पितरः परेयुः।

(ख) सं० पद्मभूषण पं- श्रीपाद दामोदर सातवळेकर-अथर्ववेदसंहिता १८, सू० २, मं० २७, पृ० ३४६

अधेमं जीवा अरूधन्गहेभ्यस्तं निर्वहत परि ग्रामादितः।
मृत्युर्यस्यासद्वितः प्रचेता असून्यतुभ्यो गमया चकार ।।२७।।

१७. बृहदारण्यकोपनिषद् (सानुवाद शांकरभाष्यसहित) - गीता प्रेस, गोरखपुर अ०२, ब्रा० ४, सू० ५, पृ० ५४६

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो।

१८. अनु मुकुंद गणेश मिरजकर-मनुस्मृति, अ० १२, श्लो० ८५, पृ० ४३०

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ।।८५।।

१९. नेमिचन्द्राचार्य - बृहद्द्रव्यसंग्रह, गा० ३, पृ० १०

तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउआणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स ।।३।।

२०. (क) उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र, अ०२, सू० ८

उपयोगो लक्षणम्।

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र - अ०२८, गा० १०

जीवो उवओगलक्खणो।

२१. नेमिचन्द्राचार्य - गोम्मटसार, गा० ६७१, पृ० २४८

वत्थुणिमित्तं भावो जावो जीवस्स जो दु उवजोगो।

२२. (क) सं० पुप्फभिक्खू- सुत्तागमे (ठाणे), भाग१, अ० ५, उ० ३, पृ० २६६ गुणओ उवओगगुणे।

(ख) सं० पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (भगवती) श० १३, उ० ४, पृ० ६८४ उवओगलक्खणे णं जीवे।।

२३. (क) उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सू० ६, ३२

(ख) नेमिचन्द्राचार्य - बृहद्द्रव्यसंग्रह, गा० ४,५ पृ० ११-१२

उवाओगो दुवियप्पो दसंणणाणं च दंसणं चतुधा।

चक्खु अचक्खू ओही मदिसुदिओही अणाणणाणाण्झिं

मणपज्जवकेवलमवि पच्येक्खपरोक्खभेयं च ।।५।।

२४. नेमिचन्द्राचार्य - गोम्मटसार, गा० ६७२, ६७३, ६७४, पृ० २४८, २४६

णाणं पंचविहंपि य अण्णाणतियं च सागरूवजोगो।

चदुदंसणमणगारो सव्वे तल्लक्खणा जीवा ।।६७२।।

साकार - मदिसुदओहिमणेहिंय सगसगविसये विसेसविण्णणं।

अंतोमुहुतकालो उवजोगो सो दु सायारो ।।६७३।।

अनाकार - इंदियमणेहिणा वा अत्थे अविसेसिदूण जं गहणं।

अंतोमुहुतकालो उवजोगो सो अणायारो ।।६७४।।

२५. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र, अ० २, सू० ८

२६. श्रीमत्गृद्धपिच्छाचार्यविरचित तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) - मराठी अनु० श्री ब्र० जीवराज गौतमचंद दोशी, पृ० २६८

२७. हरिभद्रसूरि - षड्दर्शनसमुच्चय, पृ० २११

चेतनालक्षणो जीवः।

२८. गोपालदास जीवाभाई पटेल - कुंदकुंदाचार्यांचे रत्नत्रय, पृ० १६

२६. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ० २, सू० १०

संसारिणो मुक्ताश्च।

३०. माधवाचार्य - सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १५०

संसार - भवाद्भवान्तरप्राप्तिमन्तः संसारिणः।

३१. विजयमुनि शास्त्री - अध्यात्मसाधना, पृ० ५१

३२. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र, अ०२, सू० ११

समनस्काऽमनस्काः।

३३. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र, अ०२, सू० २५
संज्ञिनः समनस्काः।

३४. (क) कुन्दकुन्दाचार्य - प्रवचनसार (ज्ञेयाधिकार), गा- ३१, पृ० १५७
परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा ।।३१।।
(ख) कुन्दकुन्दाचार्य - प्रवचनसार (ज्ञेयाधिकार), गा० ३२, पृ० १५७
णाणं अट्ठवियप्पो कम्मं जीवेण जं समारद्धं।
तमणेगविधं भणिदं फलं ति सोक्खं व दुक्खं वा ।।३२।।
(ग) गोपालदास जीवाभाई पटेल - कुंदकुंदाचार्यांचे रत्नत्रय, पृ० १७

३५. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र, अ० २, सू० १
औपशमिकक्षायिकोभावो मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिको च।१।

३६. (क) भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक (१) अ०२, सू०१, पृ० १००
(ख) अमृतचन्द्रसूरि - तत्त्वार्थसार, गा०३, पृ० २६
स्यादौपशमिको भावः क्षायोपशमिकस्तथा।
क्षायिकश्चाप्यौदयिकस्तथान्यः पारिणामिकः ।।३।।

३७. (क) गोपालदास जीवाभाई पटेल-कुंदकुंदाचार्यांचे रत्नत्रय, पृ० २६-२७
(ख) कुंदकुंदाचार्य-प्रवचनसार, गा०८, १२ पृ० ८, १३

३८. (क) गोपालदास जीवाभाई पटेल-कुंदकुंदाचार्यांचे रत्नत्रय, पृ० २७-२८
(ख) कुंदकुंदाचार्य-पंचास्तिकाय, गा० १३१, पृ० १६४
मोहो रागो दोसो वित्त पसादो य जस्स भावम्मि।
विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो ।। १३१ ।।

३९. कुन्दकुन्दाचार्य - प्रवचनसार, अ०२, गा०६६, पृ० २००

४०. कुन्दकुन्दाचार्य - पंचास्तिकाय, गा० १३९, १४०, पृ० २०३

४१. कुन्दकुन्दाचार्य - प्रवचनसार, अ०१, गा०१२, पृ० १३

४२. कुन्दकुन्दाचार्य दृ प्रवचनसार, अ०१, गा०१३, पृ० १३
अइसयमादसमुत्यं विसयातीदं अणौवममणंतं।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पससिद्धाणं ।। १३ ।।

४३. अभयदेवसूरि टीका - भगवतीसूत्र, श० २५, उ०२, पृ० ८८५
जीवदव्वा णं भंते। किं संख्येज्जा असंख्येज्जा अणंता ?
गोयमा, नो संख्येज्जा नो असंख्येज्जा अणंता।।

४४. सं० पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (ठाणे), अ०२, उ०४, पृ० २०१, भाग १
के अणंतालोए? जीवच्चेव अजीवच्चेव।

४५. सं० पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (भगवई), भाग १, श०५, उ०८, पृ० ४८७
भन्तेत्ति भगवं गोयमे जाव एवं वयासी-जीवा णं मंते।
किं वड्ढंति हायंति अवट्ठिया? गोयमा! जीवा णो वड्ढंति नो हायंति अवट्ठिया।
जीवा णं भंते! केवइयं कालं अवट्ठिया (वि) ?, सव्वद्धं।

४६. सं० पुप्फभिक्खू-सुत्तागमे, (ठाणे), भाग १, ठा०१, उ०१, पृ० १८३ एगे आया।

४७. (क) अनु० अमोलकऋषि जैनाचार्य, ठाणांगसूत्र, ठा०५, उ०३, पृ० ५८६
(ख) भगवतीसूत्र-श० २, उ०१०

४८. अनु० जैनाचार्य अमोलक ऋषि - ठाणांगसूत्र, ठा० १०, उ०१, पृ० ८२३
णय एयं भूयंबा भव्वंवा भविस्सइया जं जीवा अजीवा भविस्संति, अजीवा जीवा भविस्संति।

४९. सं०शं०वा० (सोनोपंत) दांडेकर - भगवद्गीता - अ०२, श्लो० २०
न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वाऽभविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

५०. भगवद्गीता - अ०२, श्लो० १२
न त्वेवाहं जातु नाऽऽसं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतःपरम् ॥ १२ ॥

५१. भगवद्गीता - अ०२, श्लो० २३, २४
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

५२. सं० पुप्फभिक्खू-सुत्तागमे (ठाणांग), भाग १, अ०२, उ०४, पृ० २०१

५३. गृध्रपिच्छाचार्य - तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र), अ०२, सू०१-७, पृ० २९७
मराठी अनु० श्री ब्र० जीवराज गौतमचंद दोशी

५४. (क) कुंदकुंदाचार्य - पंचास्तिकाय, गा० १२०, पृ० १८३
एदे जीवणिकाया देहप्पविचारमस्सिदा भणिदा।

देहविहूणा सिद्धा भव्वा संसारिणो अभव्वा य ।। १२० ।।

(ख) अमृतचन्द्राचार्य-पंचास्तिकाय (तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति),गा०१२०, पृ० १८३

एते जीवनिकाया देहप्रवीचारमाश्रिताः भणिता।

देहविहीनाः सिद्धाः भव्या संसारिणोऽभव्याश्च

५५. (क) मलधारिय श्रीहेमचन्द्रसूरि-बृहद्वृत्ति-विशेषावश्यकभाष्यम्, गा०८०४,पृ० ३८६

भव्वा-भव्वाइविसेसणत्थमहवा तयं पि सवियारं।

भव्वावि अभव्वव्विय जं चक्कहरावओ भणिया ।। ८०४ ।।

(ख) भट्टाकलंकदेव- तत्त्वार्थराजवार्तिक, अ०२, सू०७, पृ० १११ (भाग १)

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामेन भविष्यतीति भव्यः । ७ ।

तद्विपरीतोऽभव्यः । ८ । टीका

५६. माधवाचार्य - सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १४८

५७. जैनाचार्य घासीलालजी टीका - श्रीराजप्रश्नीयसूत्र (प्रथम भाग), पृ० २३३

५८. सिद्धसेनगणिकृत टीका-तत्त्वार्थाधिगमसूत्र-स्वोपज्ञभाष्य, भाग १, अ०२, सू०७, पृ० १४७

५९. (क) उमास्वाति-तत्त्वार्थसूत्र, अ०२, सू०१२, संसारिणस्त्रसाः स्थावराः ।१२।

(ख) अनु०पं०खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री-सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र, पृ० ८५

भाष्यम् - संसारिणो जीवा द्विविधा भवन्ति-त्रसाः स्थावराश्च।

(ग) कुंदकुंदाचार्य-पंचास्तिकाय, गा० १११, पृ० १७५

तित्थावरतणुजोगा अणिलणलकाइया य तेसु तसा।

मणपरिणामविरहिदा जीवा एइंदिया णेया ।। १११ ।।

६०. सिद्धसेनगणिटीका - तत्त्वार्थाधिगमसूत्र- स्वोपज्ञभाष्य, भाग१, अ०२, सूत्र १२, पृ० १५८

परिस्पष्टसुखदुःखेच्छाद्वेषादिलिंगास्त्रसनामकर्मोदयात्

त्रसाः, अपरिस्फुटसुखदिलिगा स्थावरनामकर्मोदयात् स्थावराः। - टीका।

६१. माधवाचार्य - सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १५०

६२. कुंदकुंदाचार्य - पंचास्तिकाय, गा० ११४-११६, पृ० १७७ से १७९

६३. कुंदकुंदाचार्य - पंचास्तिकाय, गा० ११७, पृ० १७९

सुरणरणारयतिरिया वण्णरसप्फासगंधसरण्हू।

जलचरथलचरखचरा बलिया पंचेंदिया जीवा ।। ११७ ।।

६४. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र, अ० ३, सू० १,
रत्नशर्कराबालुकापंकधूमतमोमहातमः प्रभाभूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः पृथुतराः । १ ।

६५. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र, अ० ३, सू० ३,४,५
नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः । ३ ।
परस्परोदीरितदुःखाः । ४ ।
संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः । ५ ।

६६. डॉ० मोहनलाल मेहता - जैन धर्म-दर्शन, पृ० २४०-२४१

६७. (क) उत्तराध्ययन - अ० ३६, गा० ६६-१८७
(ख) उत्तराध्ययन - अ० ३६, गा० १८८
चम्मे उ लोमपक्खी य तइया समुग्गपक्खिया।
वियपदखी य बोद्धव्वा पक्खिणी य चउव्विहा।।

६८. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र, अ० २, सू० ३५, ४७,५२;
अ०४, सू० १-१०, १७-१८

६९. पूज्यपादाचार्य - सर्वार्थसिद्धि, अ०४, सू० १०, पृ० १३८।
भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुवर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ।।१० ।।

७०. पूज्यपादाचार्य - सर्वार्थसिद्धि, अ०१, सू०११, पृ० १३६
व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ।। ११ ।।

७१. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र, अ०४, सू० १७,१८,२१
वैमानिकाः ।। १७ ।। कल्पोत्पन्नाः कल्पातीताश्च ।। १८ ।।
स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ।। २१ ।।

७२. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र, अ०४, सू० ४,५,
इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपरिषद्यात्मरक्षलोकपानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषि-काश्चैकशः ।। ४ ।।
त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ।। ५ ।।

७३. पूज्यपादाचार्य - सर्वार्थसिद्धि, अ०४, सू० २४,२५, पृ० १४५,१४६

७४. माधवाचार्य - सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १५०
तत्र संज्ञिनः समनस्काः। शिक्षाक्रियालापग्रहणरूपा संज्ञा।
तद्विधुरास्त्वमनस्काः। ते चामनस्का द्विविधाः, त्रसस्थावरभेदात्। तत्र

द्वीन्द्रियादयः शङ्खण्डगोलकप्रभृतयः चतुर्विधास्त्रसाः।
पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः।

७५. (क) उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र, अ० २, सू० १३,१४
पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः ।। १३ ।।
तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः ।। १४ ।।
(ख) भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक, अ०२, सू०१३, पृ० १२७
(ग) अनु०-सौभाग्यमलजी महाराज, आचारांगसूत्र, अ०१, पृ० ४६-८४
पृथ्वीकाय - से वेमि-अप्पेगे अन्धमब्भे --- अप्पेगेउद्वए। (१६)
अपकाय-से वेमि, संति पाणा उदयनिस्सिआ जीवा अणेगे (२५), पृ० ५६
अग्निकाय-से वेमि णेव संय लोगं- सेलोगं अब्भाइक्खति (२६), पृ० ६०
वायुकाय-एत्थ सत्थं समारभमाणस्स ---परिण्णाया भवंति (६१), पृ० ८३
वनस्पतिकाय-से वेमि इमंति जाइधम्मयं--विपरिणामधम्मयं (४५), पृ० ७१
एत्थ वि जाणे उवदीयमाणा जेआयारे र रंमति, आरंभमाणा विणयं वथंति छंदोवणीया, अज्झोववण्णा, आरंभसत्ता पकरेंति संगं (६३), पृ० ८४
से वसुमं सव्वसमण्णागयपण्णाणेणं, अप्पाणेणं, अकरणिज्जं पावं कम्मं णो अण्णेसि। (६४), पृ० ८४

७६. आचार्य श्रीआनंदऋषि - जैन धर्म : नवतत्त्व, पृ० १०-१२

७७. हेमचन्द्राचार्य-स्याद्वादमञ्जरी-हिंदी अनुवाद-डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, पृ० २५८

७८. (क) गृद्धपिच्छाचार्य - तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र), पृ० २६६
मराठी-अनुवाद - जीवराज गौतमचंद दोशी
(ख) उमास्वाति - मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र सचित्र और सटीक), पृ० ६८
टीकाकार - पं० पन्नालालजी जैन साहित्याचार्य

७९. भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक, (भाग १), अ०२, सू०११, पृ० १२५
मनो द्विविधम् - द्रव्यमनो भावमनश्चेति। तत्र पुद्गलविपाकिकर्मो द्रव्यापेक्षं द्रव्यमनः। वीर्यान्तरायनोइंद्रियावरणक्षयोपशमापेक्षा आत्मनोविशुद्धिर्भावमनः। तेन मनसा सह वर्तन्त इति समनस्काः। न विद्यते मनो येषां ते अमनस्का इति द्विविधाः संसारिणो भवन्ति।

८०. उमास्वाति - सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र - अनु० खूबचंद्र सिद्धान्तशास्त्री, अ०२, सू० १, ११, पृ० ८४

८१. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ०२, सू०३७,

औदारिकवैक्रियाऽऽहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ।। ३७ ।।

८२. उमास्वाति-तत्त्वार्थसूत्र,अ०५, सू०१६ प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत्। १६।

८३. (क) जैनाचार्य श्रीनेमिचन्द्र-बृहद्द्रव्यसंग्रह, गा०१०, पृ० २० अणुगुरूदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा। असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसो वा ।। १० ।।

(ख) भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक (भाग-२), अ०५,सू०१६, पृ० ४५८-५६

८४. पं० बेचरदास दोशी-जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग-१), पृ० १६८

८५. जैनाचार्य श्रीनेमिचन्द्र - बृहद्द्रव्यसंग्रह, गा०२, पृ० ७
जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धे सो विस्ससोड्ढगई ।। २ ।।

८६. (क) श्वेताश्वतरोपनिषद् - अ० १, पृ० १३४ (गीताप्रेस, गोरखपुर) सर्वव्यापिनमात्मानं।

(ख) श्वेताश्वतरोपनिषद् - अ०३, पृ० १७६ अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा।

८७. पं० श्री द०वा० जोग - भारतीय दर्शन संग्रह, पृ० १७०

८८. डॉ० जगदीशचन्द्र जैन व डॉ० मोहनलाल मेहता, जैन-साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग २), पृ० ६७

८६. सं० प्रो० देवीदास दत्तात्रेय वाडेकर - मराठी तत्त्वज्ञानमहाकोश, खण्ड तृतीय, पृ० १६७-६८
संदर्भग्रंथ : उमास्वाति, तत्त्वार्थाधिगमसूत्र; जैन, हीरालालः भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान (भोपाल १६६२); शास्त्री, कैलाशचन्द्र : जैनधर्म (मथुरा, १६५५); मेहता, मो० : जैनदर्शन (आगरा, १६५६)।

६०. सं० शोभाचन्द्र भारिल्ल - मुनि श्री हजारीमल स्मृतिग्रंथ - श्री कन्हैयालाल लोढ़ा - जैनदर्शन और विज्ञान - पृ० ३२६-३३१

६१. सं० सुशीला अग्रवाल, निर्मला देशपांडे, कुसुम देशपांडे, मीरा भट्ट, कालिन्दी - मासिक पत्रिका "मैत्री" दिसंबर १६७५

६२. बुधमल शामसुखा - पाक्षिक पत्रिका "अणुव्रत", १६ अप्रेल १६७३
ले० भानीराम वर्मा "अग्निमुख : विज्ञान और दर्शन", पृ० २३-२५

६३. जैनाचार्य श्रीविजयलक्ष्मणसूरश्वरीजी महाराज - आत्मतत्त्वविचार, पृ० २
अत्थि जिओ तह निच्चा, कत्ता भोत्ताय पुन्नपावाणं।

अत्थि ध्रुव निव्वाणं, तदुवाओ अत्थि छट्ठाणे।।

९४. जैनाचार्य श्री विजयलक्ष्मणसूरीश्वरजी महाराज-आत्मतत्त्वविचार, पृ० १-२०

९५. देवेन्द्रमुनिशास्त्री - जैन-दर्शन स्वरूप और विश्लेषण, पृ० ११८-११९
I believe that intelligence is manifested throughout all nature. The modern review of calcutta, July 1936.

९६. Something unknown is doing we do not know what .. I regard consciousness as fundamental. I regard matter as derivation from consciousness ... the old atheism is gone. Religion belongs to the realm of the spirit and mind, and cannot be shaken.- The Modern Review of Calcutta, July 1936.

९७. The teachers and founders of the religion have all taught, and many philosophers ancient and modern, Western and Eastern have perceived that this unknown and unknowable is our very self. First principles, 1900.

९८. देवेन्द्रमुनिशास्त्री - जैन-दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण, पृ० ११९
The truth is that, not matter, not forces, not any physical thing, but mind, personality is the central fact of the Universe. - The Modern Review of Calcutta, July 1936.

९९. A conclusion which suggests... The possibility of consciousness after death... the flame is distinct from the log of wood which serves it temporally as fuel.

- Arthur H. Compton.

१००- मुनिश्री नगराजजी - जैन-दर्शन और आधुनिक विज्ञान, पृ० १०१
The time will assuredly come when these avenues into unknown region will be explored by science. The Universe is a more spiritual entity than we thought. The real fact is that we are in the midst of a spiritual world which dominates the material. - Sir Oliver Lodge.

१०१- मुनिश्री नगराजजी - जैन-दर्शन और आधुनिक विज्ञान, पृ० १०२
And all the theories of matter advance during the last twenty years are based on a conception–a postulate of non-matrial. That is the latest belief of science.

१०२- मुनिश्रीनगराजजी - जैन-दर्शन और आधुनिक विज्ञान, पृ० ८८-८९
सिद्धं जीवस्स अत्थितं, सदादेवाणुमीयए।
नासओ भुवि भावस्स सदो हवइ केवलो।।

जीवस्स एस धम्मो जा इही अत्थि नत्थि वा जीवो।
खाणु मणुस्साण गया जह इही देवदत्तस्स।।
अत्थि सरीर विहाया पइनिययागार याइ भावाओ।
कुम्भस्स जह कुलालो सो भुत्तो कम्भजो गाओ।।
जो चिंतेइ सरीरे नत्थि अहं स एवा होइ जीवोत्ति।
बहु जीवम्मि असन्ते संसय उप्पायव्वो अन्नो।।

विशेषावश्यकभाष्य-

१०३- देवेन्द्रमुनिशास्त्री - जैन-दर्शन स्वरूप और विश्लेषण, पृ० १२०

१०४. मुनि श्री नगराजजी - जैन-दर्शन और आधुनिक विज्ञान, पृ० ७३-७५

## तृतीय अध्याय

# अजीवतत्त्व
## [Inconscient Matter]

जैन-दर्शन के नव तत्त्वों में से प्रथम जीवतत्त्व का विवेचन द्वितीय अध्याय में हुआ। द्वितीय 'अजीव तत्त्व' का विवचेन इस अध्याय में किया जायेगा।

जिस प्रकार जीव अर्थात् आत्मतत्त्व का ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार जिसके संबंध से आत्मा विकृत होता है, उस अजीव तत्त्व का ज्ञान भी आवश्यक है।

जैनागम का विषय-निरूपण सर्वांगपूर्ण है। जड़, चेतन, आत्मा, परमात्मा का इसमें सूक्ष्म विवेचन है। इसमें दार्शनिक दृष्टि से छह द्रव्यों की और आध्यात्मिक दृष्टि से नव तत्त्वों की मीमांसा की गई है।

'अजीव' शब्द अकरणात्मक है। जो जीव नहीं है, वह अजीव है। जो पदार्थ चेतनारहित, सुख-दुःख को न जानने वाले और कर्मरहित हैं, उन्हें अजीव कहते हैं।

जिसमें जीव के विरुद्ध लक्षण हैं और जो पूरे जगत् में व्याप्त है, वह अजीव, अचेतन और जड़ है। अजीव जीव का प्रतिपक्षी है।[१]

जो सब वस्तुओं को जानता है, देखता है, सुख की इच्छा करता है, दुःख से डरता है, जो हिताहित करता है और कर्म का फल भोगता है, वह जीवपदार्थ है।[२]

जिनमें चेतनतत्त्व नहीं है ऐसे आकाशादि पाँच द्रव्य अजीव हैं। जिस पदार्थ में सुख-दुःख का ज्ञान नहीं है, जिसे सुखेच्छा और दुःखभय नहीं है, वह अजीव पदार्थ है।[३]

आकाशादि पाँच द्रव्य अचेतन हैं क्योंकि उनका गुणधर्म जड़ता है। जीवद्रव्य सचेतन है।

जिस द्रव्य को सुख-दुःख का ज्ञान नहीं है, जिसमें इष्ट-अनिष्ट कार्य करने की शक्ति नहीं है, उसके संबंध में ऐसा अनुमान किया गया है कि वह चैतन्यगुण-रहित है। आकाशादि पाँच द्रव्य ऐसे ही हैं।[४]

इस दृष्टि से विश्व की समस्त वस्तुओं का वर्गीकरण निम्नलिखित दो भागों में किया गया है - (१) जीव तथा (२) अजीव। जैन-दर्शन षड्द्रव्यों में से जीव को छोड़कर शेष पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पाँच द्रव्यों को अजीव मानता है।[५]

इन छह द्रव्यों में से पाँच अस्तिकाय द्रव्य हैं। वे हैं - धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय। इस सब को मिलाकर पंचास्तिकाय कहते हैं।[६]

धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये चार द्रव्य अजीव तथा अस्तिकाय हैं।[७]

## द्रव्य के लक्षण

अजीव तत्त्व में छह द्रव्यों का समावेश है। परन्तु उसके पूर्व द्रव्य के संबंध में जानना आवश्यक है । इसलिए प्रथमतः उसका विचार करेंगे।

आचार्य भट्टाकलंकदेव ने तत्त्वार्थ-राजवार्तिक में द्रव्य का लक्षण इस प्रकार किया है - 'जो सत् है, वह द्रव्य है।'[८] सत् अर्थात् जो इन्द्रियग्राह्य अथवा अतीन्द्रिय पदार्थ, बाह्य और अभ्यन्तर निमित्त की अपेक्षा से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को प्राप्त होता है। तत्त्वार्थसूत्र में भी 'सत्' का यही लक्षण किया गया है ।

जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों हैं, वह 'सत्' है। द्रव्य गुण-पर्याय के आश्रित होता है ऐसा सर्वज्ञों ने कहा है।[९] दुनिया के चेतन या जड़ कोई भी पदार्थ इस त्रयात्मक परिवर्तन-चक्र से बाहर नहीं हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये द्रव्य अनादिसिद्ध और मौलिक हैं।

'सत्' की व्याख्या विभिन्न दर्शनों में इस प्रकार की गई है :-

(अ) वेदान्त-दर्शन - सम्पूर्ण सत् पदार्थ (ब्रह्म) को ध्रुव (नित्य) मानता है।

(आ) बौद्ध-दर्शन - सत् पदार्थ को निरन्वयक्षणिक (केवल उत्पाद-विनाशशील) मानता है।

(इ) सांख्य-दर्शन - चेतन तत्त्वरूप सत् को केवल ध्रुव - कूटस्थनित्य और प्रकृति तत्त्वरूप सत् को परिणामी नित्य (नित्यानित्य) मानता है।

(ई) न्याय -वैशेषिक दर्शन - अनेक सत् पदार्थों में से परमाणु, काल, आत्मा आदि कुछ सत् तत्त्वों को कूटस्थ नित्य मानता है और घट, पट आदि कुछ तत्त्वों को केवल उत्पादव्ययशील (अनित्य) मानता है। परन्तु जैन-दर्शन में 'सत्' की व्याख्या अलग प्रकार से की गई है जो उमास्वातीजी के तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय के तीसवें सूत्र में है।

जैन-दर्शन मानता है कि जो वस्तु सत् है, वह केवल कूटस्थनित्य या केवल निरन्वय-विनाशी नहीं हो सकती। उसका कोई अंश कूटस्थनित्य और कुछ पारिणामिकनित्य भी नहीं हो सकता। न ही उसका कोई भाग नित्य और कोई केवल अनित्य हो सकता है। जैन-दर्शन के अनुसार चेतन तथा जड़, मूर्त तथा अमूर्त, सूक्ष्म तथा स्थूल, सभी सत् वस्तुएँ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से त्रिरूप हैं।

प्रत्येक वस्तु में दो अंश हैं - एक अंश ऐसा है जो तीनों कालों में शाश्वत है। दूसरा अंश सदैव अशाश्वत है। शाश्वत अंश के कारण प्रत्येक वस्तु ध्रौव्यात्मक (स्थिर) होती है और अशाश्वत होने के कारण उत्पादव्ययात्मक

(अस्थिर) होती है। इन दोनों अंशों में से किसी भी एक पर दृष्टि डालने और दूसरे अंश पर दृष्टि न डालने से वस्तु केवल स्थिर या केवल अस्थिर लगती है। परन्तु दोनों अंशों पर दृष्टि डालने पर वस्तु का पूर्ण पदार्थ-स्वरूप दिखाई देता है। इसलिए दोनों दृष्टियों के अनुसार इस सूत्र में सत् वस्तु का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है।[१०]

नवीन पर्याय की उत्पत्ति को 'उत्पाद' कहते हैं जैसे - मिट्टी के गोले से घट-पर्याय का उत्पन्न होना।[११]

पूर्व पर्याय का नष्ट होना 'व्यय' कहलाता है। जैस - घट की उत्पत्ति के बाद मिट्टी के गोले का नष्ट होना।[१२]

जो सत् अर्थात् द्रव्य के सारे पर्यायों में रहता है, जिसका कभी नाश नहीं होता उसे 'ध्रौव्य' कहते हैं। उदाहरणार्थ मिट्टी-पर्याय की उत्पत्ति और विनाश होने पर भी द्रव्य के स्वभाव का कभी उत्पाद या विनाश नहीं होता। यही 'ध्रौव्य' है।[१३]

यह विश्व-व्यवस्था द्रव्य पर आधारित है। वैशेषिक-दर्शन ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छह तत्त्वों में विश्व का वर्गीकरण किया है।

अरस्तू ने विश्व का वर्गीकरण निम्नलिखित दस पदार्थों में किया है - (१) द्रव्य, (२) गुण, (३) परिमाण, (४) सम्बन्ध, (५) दिशा, (६) काल, (७) आसन, (८) स्थिति, (६) कर्म तथा (१०) परिमाण।

जैन-दृष्टि के अनुसार विश्व छह द्रव्यों में वर्गीकृत है। ये द्रव्य हैं - (१) जीव, (२) पुद्गल, (३) धर्म, (४) अधर्म, (५) आकाश और (६) काल ।

आगम-ग्रन्थों में षड् द्रव्यों का निरूपण है। उत्तराध्ययनसूत्र में इन्हीं छह द्रव्यों का वर्णन है।

धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य अजीव तथा निष्क्रिय हैं। धर्म, अधर्म एवं आकाश में तीनों द्रव्य संख्या में तीनों द्रव्य संख्या में एक-एक हैं। काल, पुद्गल और जीव ये तीनों अनन्तानन्त हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द भी छह द्रव्य मानते हैं उन्होंने पंचास्तिकाय में कहा है - पंचास्तिकाय अर्थात जीवास्तिकाय धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय और काल? इन छहों को द्रव्य कहते है। पुद्गल के द्रव्यों के परिवर्तन से काल द्रव्य की सिद्धि होती है इसलिए द्रव्य पाँच न होकर छह है।

पुद्गल परमाणु जब एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाता है तब उसे काल द्रव्य का सूक्ष्म पर्याय कहते हैं इस सूक्ष्मरूप पर्याय से काल द्रव्य की सिद्धि होती है। इस प्रकार पुद्गलादि द्रव्य के परिणमन (परिवर्तन) से काल द्रव्य का अस्तित्त्व दिखाई देता है।[१४]

## द्रव्य का स्वरूप

श्रीउमास्वती जी ने द्रव्य का स्वरूप तत्त्वार्थ सूत्र में इस प्रकार बताया है- 'द्रव्य गुण - पर्याययुक्त है।'

जिसमें गुण और पर्याय होते है उसे द्रव्य कहते हैं। जैन-दर्शन के अनुसार लोकव्यवस्था करने वाले छह द्रव्य हैं। वे सारे गुण - पर्याय (अवस्थान्तर) रूप से उत्पाद-व्यय करते हैं। द्रव्य सत् है। उसकी संख्या में कभी परिवर्तन नहीं होता और असत् का उत्पाद भी संभव नहीं है। सत् द्रव्य के पर्याय का परिवर्तन होता है।

प्रत्येक द्रव्य परिणामी स्वभाव के कारण भिन्न-भिन्न रूपों में परिणत (परिवर्तित) होता रहता है। द्रव्य में परिणाम करने की जो शक्ति है वही द्रव्य के गुण हैं और गुणजन्य परिणाम (परिवर्तन) को पर्याय कहते हैं। गुण कारण है और पर्याय कार्य है। द्रव्य गुण - पर्यायात्मक है।[९५]

## द्रव्य का क्षेत्र-प्रमाण

द्रव्य के लक्षण और स्वरूप के विवेचन के उपरान्त द्रव्य का क्षेत्र - प्रमाण विचारणीय है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोक (विश्व)-प्रमाण है और आकाशास्तिकाय लोक-अलोक प्रमाण है। अर्थात आकाशास्तिकाय लोक में भी है और अलोक में भी है क्योंकि आकाश सर्वव्यापी है। कालद्रव्य मनुष्य - लोक में ही है, उसके बाहर । एक बार गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा- "भन्ते ! धर्मास्तिकाय कितना बड़ा है?"

भगवान् महावीर ने उत्तर दिया - "हे गौतम! धर्मास्तिकाय लोक है, लोकमात्र है, लोकप्रमाण है, लोक-स्पृष्ट है। अर्थात् लोक का स्पर्श कर रहा है। गौतम! अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय एवं पुद्‌गलास्तिकाय के बारे में भी यही समझना है।"

धर्म और अधर्म लोक-प्रमाण है । आकाश लोक और अलोक में व्याप्त है। काल केवल समय-क्षेत्र (मनुष्य-क्षेत्र) में ही है । धर्म, अधर्म तथा आकाश ये तीनों द्रव्य अनादि, अपर्यवसित, अनन्त और सर्वकाल नित्य हैं। प्रवाह की अपेक्षा से समय भी अनादि व अनन्त है। अर्थात् प्रतिनियत व्यक्तिरूप एक-एक क्षण की अपेक्षा से सादि व सान्त है।

स्कन्ध आदि प्रवाह की अपेक्षा से अनादि तथा अनन्त हैं और स्थिति (प्रतिनियत- निश्चित - एक क्षेत्र में स्थिर रहना) की अपेक्षा से सादि तथा सान्त हैं। रूपी - अजीव - पुद्‌गल द्रव्य की स्थिति जघन्य (कम से कम) एक समय (अति सूक्ष्म काल) और उत्कृष्ट (ज्यादा से ज्यादा काल) उन संख्यात काल की बतायी गयी है। रूपी अजीव का अन्तर (अपने पूर्वावगाहित स्थानको छोड़कर पुनः वापस आने तक का काल) जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अनन्त काल है।[९७]

## रूपी-अरूपी द्रव्य

द्रव्य दो प्रकार के हैं - (१) रूपी द्रव्य तथा (२) अरूपी द्रव्य।[१८] धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव ये पाँच द्रव्य अरूपी नित्य और स्थिर हैं। पुद्‌गल रूपी द्रव्य है। रूपी का अर्थ मूर्त और अरूपी का अमूर्त है।

डॉ- राधाकृष्णन ने 'भारतीय दर्शन' में कहा है - ''अजीव की भी मुख्यतः दो विभिन्न श्रेणियाँ हैं। एक अरूप जो आकृति रहित है, जैसे - धर्म, अधर्म, देश तथा काल। और एक आकृतियुक्त है, जैसे - पुद्‌गल या भौतिक पदार्थ।''[१६]

ये द्रव्य अपने सामान्य और विशेष स्वरूप को नहीं छोड़ते हैं। इसलिए ये नित्य हैं। ये पाँच द्रव्य स्थिर हैं क्योंकि इनकी संख्या में कभी क्षय या वृद्धि नहीं होती।

जो इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है, वह मूर्त है। जो ग्रहण नहीं किया जाता वह अमूर्त है। जिनमें रूप, रस, गन्ध और वर्ण नहीं हैं । वे अमूर्त हैं, अरूपी हैं और जिनमें हैं, वे मूर्त और रूपी हैं।

प्रत्येक द्रव्य में सामान्य और विशेष गुण होते हैं। इन गुणों का कभी नाश नहीं होता। जिस द्रव्य का जो स्वभाव है, वह हमेशा रहता है। इसलिए द्रव्यों को नित्य कहा गया है। द्रव्यों की संख्या छह है। यह कम या ज्यादा नहीं होती। इसमें न्यूनाधिकता नहीं होती है इसलिए ये द्रव्य अवस्थित हैं।[२०]

रूप शब्द के स्वभाव, अभ्यास, श्रुति, महाभूत, गुणविशेष और मूर्त आदि अनेक अर्थ हैं। धर्म, अधर्म और आकाश ये द्रव्य निष्क्रिय अर्थात् हिलना-चलना आदि व्यापारों से रहित हैं। ये द्रव्य संपूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हैं, परन्तु ये किसी भी समय स्थानान्तर नहीं करते।

## प्रत्येक द्रव्य का स्वतन्त्र अस्तित्त्व

छह द्रव्य एक ही जगह रहते हैं। जहाँ धर्म है, वहीं अधर्म, आकाश, काल, पुद्‌गल और जीव हैं। अर्थात् समस्त द्रव्य एक क्षेत्रावगाही (एक ही स्थान पर रहने वाले) हैं और परस्पर ओतप्रोत रहते हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को अवकाश (स्थान) देता है। कोई भी द्रव्य दूसरे द्रव्य के मार्ग में रुकावट नहीं बनता।[२१]

समस्त द्रव्य एक साथ रहते हैं परन्तु वे छहों अपने स्वतंत्र अस्तित्त्व को नहीं छोड़ते। एक साथ रहने पर भी द्रव्यों का स्वरूप नष्ट नहीं होता। प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्वभाव में अविनाशी रहता है।

पंचास्तिकाय में कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है - ''समस्त द्रव्य एक ही क्षेत्र में रहते हैं तथापि कोई भी द्रव्य अपने गुणधर्म नहीं छोड़ता। सब द्रव्य मिलकर

एक नहीं होते हैं। सभी अपने-अपने स्वभाव में पृथक्-पृथक् अनिवाशी रहते हैं। अगुरुलघुत्व होने से वे मिश्रित नहीं होते।[२२]

बाह्य दृष्टि से बंध की अपेक्षा से जीव और पुद्गल एक हैं। फिर भी (आन्तरिक दृष्टि से) द्रव्य अपना-अपना स्वरूप नहीं छोड़ते।

इसी तरह जीव कभी अजीव नहीं बनता और अजीव कभी जीव नहीं बनता। ठाणांगसूत्र में कहा गया है - "जीव का अजीव होना या अजीव का जीव होना न कभी घटित हुआ है, न होता है और न ही होगा।"[२३]

अभिप्राय यह है कि जीव द्रव्य कभी धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल रूप नहीं होता और धर्म इत्यादि कभी जीवरूप नहीं होते। इसी प्रकार पाँच अजीव द्रव्य परस्पर एक-दूसरे में परिवर्तित नहीं होते।

धर्म, अधर्म और आकाश तीनों द्रव्य शाश्वत हैं। तीनों के गुण-पर्याय भिन्न-भिन्न हैं और वे त्रिकाल में अपरिवर्तनशील हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है कि धर्म, अधर्म और आकाश तीनों द्रव्य सार्वकालिक, अनादि और अनन्त हैं।[२४]

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| (१) | | (२) | | (३) | |
| द्रव्य | | द्रव्य | | द्रव्य | |
| १- जीव | २- अजीव | अस्तिकाय | अनास्तिकाय | रूपी | अरूपी |
| २- पुद्गल | ३- धर्म | १- जीव | ६- अध्यासमय | १-पुद्गल | २ - जीव |
| | ४- अधर्म | २- पुद्गल | (काल) | | ३- धर्म |
| | ५-आकाश | ३-धर्म | | | ४- अधर्म |
| | ६-काल | ४-अधर्म | | | ५-आकाश |
| | | ५-आकाश | | | ६-काल[२५] |

## 'अस्तिकाय' का अर्थ

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल इन पाँच द्रव्यों को समझने से पहले 'अस्तिकाय' और 'प्रदेश' को समझना आवश्यक है।

'अस्तिकाय' सामासिक शब्द है। इसमें दो पद हैं - अस्ति+काय।
(१) अस्ति अर्थात् प्रदेश और (२) काय अर्थात् समूह। जो प्रदेशों का समूहरूप है, वह अस्तिकाय हैं।[२६]

अस्तिकाय का दूसरा अर्थ अस्ति अर्थात् जिसका अस्तित्त्व है और काय अर्थात् काया के समान जिसके अनेक प्रदेश हैं, वह अस्तिकाय है। इसप्रकार अस्तिकाय प्रदेश प्रचयरूप (समूहरूप) है।

जीव, पुद्गल, धर्म और आकाश इन पाँच द्रव्यों का अस्तित्त्व है इसलिए जिनेश्वर देव इन्हें 'अस्ति' कहते हैं और ये काय (शरीर) के समान अनेक प्रदेशों को धारण करते हैं इसलिए इन्हें 'काय' कहते हैं। अस्ति और काय इन दोनों को मिलाने पर 'अस्तिकाय' बनता है।[२७]

जीव को असंख्यात प्रदेशी द्रव्य कहा गया है। धर्म, अधर्म, द्रव्यों के भी इतने ही प्रदेश हैं। आकाश के अनन्त प्रदेश हैं। पुद्‌गल संख्यात, असंख्यात (Countless) और अनन्त (Infinite in number) प्रदेशी है। अणु और परमाणु का प्रदेश नहीं हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दोनों पंथों के आचार्य प्रदेशों की संख्या यही मानते हैं।[२८]

## प्रदेश (Absolute units of space) का अर्थ

पुद्‌गल के सबसे छोटे अविभागी अंश को परमाणु (Atom) कहते हैं। परमाणु नित्य, सूक्ष्म और रस, गंध, वर्ण, स्पर्श से रहित है। परमाणु आकाश के जितने अंश को व्याप्त करता है उसे जैन-शास्त्रों में 'प्रदेश' कहा गया है। दूसरे शब्दों में, जितना आकाश अविभाज्य पुद्‌गल परमाणु से व्याप्त किया जाता है, उतनी जगह को प्रदेश कहा जाता है। वे प्रदेश समस्त परमाणु और सूक्ष्म स्कन्ध (अणु-समूह) अवकाश (स्थान) देने के लिए समर्थ हैं।

प्रदेश के दूसरे अंश की कल्पना नहीं की जा सकती। जैन-सिद्धान्त में धर्म, अधर्म और जीव द्रव्य में असंख्यात ; काल में अनन्त ; पुद्‌गल में संख्यात, असंख्यात और अनन्त ; उसी तरह काल में एक प्रदेश माना गया है। पुद्‌गल-द्रव्य के प्रदेश पुद्‌गल स्कन्ध से अलग हो सकते हैं इसिलिए पुद्‌गल के सूक्ष्म अंश को भी अवयव कहा जाता है। पुद्‌गल द्रव्य के अलावा अन्य द्रव्यों के सूक्ष्म अंश अपने स्कन्ध से अलग नहीं हो सकते। इसलिए अन्य द्रव्यों के सूक्ष्म अंश को प्रदेश कहा जाता है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल और मुक्त जीव हमेशा एक ही अवस्था में रहते हैं। इसलिए इस प्रदेश में अस्थिरता नहीं होती। पुद्‌गल द्रव्य के परमाणु और स्कन्ध अस्थिर, उसी तरह अन्तिम महास्कंध स्थिर और अस्थिर दोनों होते हैं।

जीवद्रव्य अखण्ड होने पर भी असंख्यात - प्रदेशी है। जैन दर्शन की मान्यता है कि जिस प्रकार गुड़ पर खूब धूल आकर इकट्ठी होती है, उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा के प्रदेश के साथ अनंतानंत ज्ञानावरण आदि कर्मों के प्रदेशों का संबंध होता है।[२९]

## धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय

| धर्मास्तिकाय | अधर्मास्तिकाय |
|---|---|
| Positive energy, medium of motion of souls, matter and energies. | Negative energy, medium of rest of souls, matter and energies. |

अजीव पदार्थों के पाँच भेद हैं - (१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) काल तथा (५) पुद्‌गलास्तिकाय। इनमें से धर्म और अधर्म प्रथमतः विचारणीय हैं।

धर्म द्रव्य जीव और पुद्‌गल की गति में तटस्थ भाव से सहायक होता है। धर्म द्रव्य समस्त लोकों में व्याप्त है। वह नित्य है। वह अरूपी तथा असंख्यात प्रदेश से युक्त अस्तिकाय द्रव्य है।[३०]

धर्मद्रव्य के समान अधर्मद्रव्य भी लोकव्यापी, अमूर्त, नित्य और अवस्थित है। परन्तु धर्मद्रव्य गति का कारणभूत होता है और अधर्म द्रव्य स्थिति (रोकने) का कारणभूत होता है। जीव और पुद्‌गल अधर्म द्रव्य की सहायता के बिना रुक नहीं सकते। अधर्म द्रव्य रुकने की प्रेरणा नहीं देता, परंतु जो रुक जाते हैं, उनकी सहायता करता है।

जिस प्रकार गतिमान जीव और पुद्‌गल को धर्म का आश्रय है, उसी प्रकार स्थितिमान जीव और पुद्‌गल को अधर्म की सहायता की आवश्यकता है। इस द्रव्य की सहायता के बिना जीव और पुद्‌गल की स्थिति हो ही नहीं सकती।[३१]

अधर्म द्रव्य जीव और पुद्‌गल की स्थिति के तटस्थ हेतु हैं। जिस प्रकार वृक्ष की छाया राहगीर को पकड़ कर रोकती नहीं अपितु रुके हुए राहगीर को आश्रय देती है, उसी प्रकार गति-क्रिया करते समय जीव और पुद्‌गल को अधर्म द्रव्य रोकता नहीं, अपितु स्थिर हुए जीव और पुद्‌गल का वह आश्रय (आधार) बनता है। यही बात बृहद्द्रव्यसंग्रह में बताई गई है।[३२]

"जिस प्रकार पृथ्वी चलने वाले पशु को रोकती नहीं और रुकने की प्रेरणा भी नहीं देती, परंतु रुके हुए पशु को आधार अवश्य देती है। उसी प्रकार अधर्म द्रव्य स्वयं द्रव्य को पकड़ कर स्थिर नहीं करता और स्थिर होने की प्रेरणा भी नहीं देता, लेकिन स्वयं स्थिर हुए द्रव्य को पृथ्वी के समान आश्रय देता है।"[३३]

इस लोक में जिस प्रकार पानी मछलियों के गमन के लिए निमित्त मात्र सहायक है, उसी प्रकार 'धर्म' द्रव्य जीव और पुद्‌गल के गमन के लिए सहायक है। मत्स्य का दृष्टान्त पंचास्तिकाय में दिया गया है।

जिस प्रकार मछलियों के यहाँ-वहाँ जाते समय पानी उनके साथ नहीं जाता और मछलियों को चलाता भी नहीं है, केवल उनके गमन में निमित्तमात्र सहायक है। उसी प्रकार जीव और पुद्‌गल धर्मद्रव्य के अभाव में गमन करने में असमर्थ हैं। जीव और पुद्‌गल के गतिक्रिया करते समय धर्मद्रव्य स्वयं उन्हें चलाता नहीं है और उन्हें प्रेरणा भी नहीं देता, केवल जीव और पुद्‌गल के गमन में निमित्तमात्र सहायक होता है।[३४]

जिस प्रकार संपूर्ण तिल में तेल व्याप्त है, उसी प्रकार संपूर्ण लोकाकाश में धर्मास्तिकाय व्याप्त है। धर्मद्रव्य और धर्मद्रव्य का अस्तित्त्व जैन-दर्शन के अलावा अन्य किसी भी दर्शन ने गति तत्त्व के रूप में (Medium of motion) स्वीकार नहीं किया है।

प्रसिद्ध गणितज्ञ अल्बर्ट आइन्स्टाइन ने भी गति तत्त्व की स्थापना करते हुए कहा है - "लोक परिमित है। लोक के परे अलोक अपरिमित है। लोक के परिमित होने का कारण यह है कि द्रव्य या शक्ति लोक के बाहर नहीं जा सकती। लोक के बाहर उस शक्ति का अर्थात् द्रव्य का अभाव है। जो धर्मद्रव्य गति में सहायक है, वह यहाँ नहीं है।"

समस्त वैज्ञानिकों द्वारा सम्मत ईथर (Ether) गतितत्त्व का ही दूसरा नाम है।

जब विज्ञान के प्राध्यापक विद्यार्थियों को ईथर के बार में समझाते हैं तब ऐसा लगता है कि जैन गुरु शिष्यों को धर्मद्रव्य की व्याख्या समझा रहे हैं ।[३५]

जिस प्रकार वायु अपने चंचल स्वभाव से ध्वज को हिलाने की क्रिया करती हुई दिखाई देती है, उसी प्रकार धर्मद्रव्य गतिरूप नहीं दिखाई देता। वह हलन-चलन रूप क्रिया से रहित है। किसी भी कार्य में वह गमन क्रिया नहीं करता। जिस प्रकार गाड़ी के लिए पटरियों की सहायता अपेक्षित है, पटरियाँ गाड़ी को चलने के लिए प्रेरित नहीं करतीं, उसी प्रकार गतिशील जीव और पुद्गल को धर्मद्रव्य की आवश्यकता है। जैसे पटरियाँ गाड़ी के चलने में आधार प्रदान करती हैं, उसी प्रकार जीव और पुद्गल की गति में धर्मद्रव्य सहायक है।[३६]

धर्म और अधर्म शब्द सर्वत्र पुण्य और पाप के अर्थ में प्रसिद्ध हैं। जैन-दर्शन भी उनको उसी अर्थ में स्वीकार करता है। फिर भी द्रव्य के प्रकरण में इन शब्दों का यह अर्थ नहीं होता। जैन-दर्शन के द्रव्य-प्रकरण में धर्मद्रव्य का अर्थ गति-सहायक तत्त्व और अधर्म का अर्थ स्थिति-सहायक तत्त्व होता है। गति अर्थात् गमन-क्रिया और स्थिति अर्थात् रुकने की क्रिया - ये दोनों तत्त्व जीव और पुद्गल की गति और स्थिति में सहायक हैं। लोक और अलोक भेद इन्हीं दोनों के कारण होते हैं। ये द्रव्य आकाश के समान व्यापक नहीं हैं। अपितु लोकाकाश के समान मध्यम परिमाण के हैं। यद्यपि दोनों एक-दूसरे में ओतप्रोत होकर स्थित हैं, फिर भी अपने-अपने स्वरूप में भिन्न हैं। इन दोनों तत्त्वों के कारण ही अखण्ड आकाश में लोक और अलोक नामक विभाग हुए हैं।[३७]

जिस प्रकार गतिमान जीव और पुद्गल के लिए धर्म का आश्रय आवश्यक है उसी प्रकार स्थितिमान जीव और पुद्गल को अधर्म की सहायता की आवश्यकता है। इन द्रव्यों की सहायता के बिना जीव और पुद्गल की गति-स्थिति नहीं हो सकती।

इस प्रकार अधर्मद्रव्य अपनी तटस्थ सहज अवस्था से अपने असंख्यात प्रदेश के साथ लोकाकाश में अविनाशी है तथा अनादि काल से विद्यमान है। उसका स्वभाव भी जीव-पुद्गल की स्थिरता का निमित्तमात्र कारण है। वह अन्य द्रव्य को बलात् नहीं रोकता। जब जीव तथा पुद्गल स्थिर अवस्था से परिणमन करते हैं तो वे अपनी स्वाभाविक उदासीन अवस्था से निमित्तमात्र सहायता पाते है। जिस प्रकार धर्मद्रव्य निमित्तमात्र गति में सहायक है, उसी प्रकार अधर्म द्रव्य स्थिरता में सहायक है।

उक्त विवेचन का सार यह है कि धर्मद्रव्य और अधर्म द्रव्य कोई भी क्रिया नहीं करते। वे केवल निमित्तमात्र हैं।

ठाणांगसूत्र में बताया गया है कि अधर्म द्रव्य सर्वव्यापी है। अखण्डता, अमूर्तता, अंसख्यप्रदेशयुक्तता और स्थितिशीलता उसके गुण हैं। धर्म, अधर्म शब्द जैन दर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं। अन्य किसी भी दर्शन में धर्म-अधर्म का द्रव्य रूप में विचार नहीं किया गया है।

जो जीव और पुद्गल चलते हैं और स्थिर होते हैं, वे निश्चय से चलते हैं और स्थिर होते हैं। अगर धर्म और अधर्म द्रव्यों ने मुख्य कारण बनकर बलपूर्वक जीव और पुद्गल को चलाया होता और स्थिर किया होता, तो हमेशा के लिए जीव और पुद्गल जो चल रहे हैं, वे चलते ही रहे होते और जो स्थिर हैं, वे स्थिर ही रहे होते। इसलिए धर्म एवं अधर्म द्रव्य मुख्य कारण नहीं हो सकते। वे जीव और पुद्गल के उपादान कारण हैं इसलिए यह बात सिद्ध होती है कि धर्म व अधर्म द्रव्य मुख्य नहीं हैं। व्यवहारनय की अपेक्षा से वे निमित्तकारण हैं, तथा निश्चयनय की अपेक्षा से वे जीव और पुद्गल की गति-स्थिति के उपादान कारण हैं।[३८]

यदि धर्म एवं अधर्म द्रव्य और उनकी गति-स्थिति के गुण नहीं होते, तो लोक-अलोक का भेद नहीं रहा होता। जीव और पुद्गल ये दोनों द्रव्य गति-स्थिति अवस्था को धारण करते हैं। उनकी गति और स्थिति के बाह्य कारण धर्म, अधर्म द्रव्य ही हैं। यदि ये भेद लोक में नहीं होते, तो अलोक का भेद नहीं होता और सब ओर लोक ही होता। इसलिए धर्म-अधर्म द्रव्य निश्चित रूप से हैं। जीव और पुद्गल की जहाँ गति-स्थिति है वहाँ लोक है। उसके परे अलोक है। इस युक्तिवाद से धर्म-अधर्म की स्थिति और लोक-अलोक का भेद सिद्ध होता है।

धर्म और अधर्म द्रव्य को मानने के दो मुख्य कारण हैं -
(१) गतिस्थिति-निमित्तक द्रव्य और (२) लोक-अलोक की विभाजक शक्ति।

प्रत्येक कार्य के लिए उपादान और निमित्त कारणों की आवश्यकता होती है। विश्व में जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य ही गतिशील हैं। गति की उत्पत्ति का मुख्य कारण जीव और पुद्गल स्वयं ही हैं। परंतु प्रश्न उठता है कि निमित्त

कारण क्या है ? इसके लिए धर्म-अधर्मद्रव्य को मानने की आवश्यकता होती है। धर्म-अधर्म का आगम में विशेष वर्णन किया गया है।[३९]

भगवतीसूत्र १३/४ में गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा - 'भगवन्! गति-सहायक तत्त्व धर्मास्तिकाय से जीव को क्या लाभ होता है ?

भगवान् ने कहा - गौतम! गति का आधार नहीं होता तो कौन आता और कौन जाता? शब्द की लहर कैसे फैलती। आँखें कैसे खुली होतीं? मनन कौन करता? कौन बोलता? कौन हिलता? यह विश्व अचल रहता जो चल है उसका आलम्बन (गति-सहायक) तत्त्व यही है।

भगवान् ने कहा - "गौतम! स्थिति का आधार न होता, तो खड़ा कौन रहा होता? बैठता कौन? यह सब कैसे होता?"

"सोता कौन? मन को एकाग्र कौन करता? मौन किसने धारण किया होता? निस्पन्द कौन बैठा होता? यह संपूर्ण विश्व चल ही हो गया होता। जो स्थिर हैं, उन सब का आलम्बन स्थिति-सहायक तत्त्व ही है"।[४०]

इस प्रकार के उदाहरणों से धर्म तथा अधर्म दोनों द्रव्य सिद्ध होते हैं। प्राचीन-नवीन इत्यादि विभाग काल के बिना नहीं होते। इसलिए काल भी द्रव्य सिद्ध होता है।

इसी प्रकार जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये छह सद्भाव द्रव्य हैं, यह सिद्ध होता है। ये छह द्रव्य कभी नहीं थे ऐसा नहीं है। वे कभी नहीं हैं, ऐसा भी नहीं। वे थे, हैं और रहेंगे। वे ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य हैं। इस प्रकार ये द्रव्य शाश्वत हैं।[४१]

जीवद्रव्य और पुद्गल द्रव्य निमित्तभूत दूसरे द्रव्यों की सहायता से क्रियान्वित होते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य क्रियान्वित नहीं होते। जीवद्रव्य पुद्गल के निमित्त से क्रियान्वित होता है और पुद्गलस्कंध कालद्रव्य के निमित्त से क्रियान्वित होता है।

भाव यह है कि एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में गमन करना क्रिया कहलाता है। षड्द्रव्यों में से जीव और पुद्गल एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में गमन करते हैं और कम्परूप अवस्था को भी धारण करते हैं। इसलिए वे सक्रिय अर्थात् क्रियान्वित हैं। शेष चार द्रव्य निष्क्रिय और निष्कम्प हैं।[४२]

जीव और पुद्गल की गति केवल लोक में होती है, अलोक में नहीं। इसके चार कारण हैं : (१) गति का अभाव, (२) सहायक का अभाव, (३) रूक्षता और (४) लोकस्वभाव।[४३]

## आकाशास्तिकाय

(Space, medium of location of soul, matter & Energies etc.)

जैन-दर्शन के समान विज्ञान भी आकाश और काल को द्रव्यरूप मानता है। जो जीव और द्रव्य को अवकाश देता है उसे जिनेन्द्र भगवान् ने आकाशद्रव्य कहा है। उसके लोकाकाश और अलोकाकाश दो भेद हैं।[४४]

आकाश द्रव्य का स्वभाव जीव, पुद्गल, धर्म तथा अधर्म को स्थान (अवकाश) देना हैं।[४५]

जैन-दर्शन में आकाश के दो भेद माने गए हैं :- (१) लोकाकाश तथा (२) अलोकाकाश। धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव ये पाँच द्रव्य जिसमें हैं, वह लोकाकाश है। जिसमें ये पाँच द्रव्य नहीं हैं, केवल आकाश ही है, वह अलोकाकाश है। लोकाकाश के आगे अलोकाकाश है। लोक और अलोकव्यापी सम्पूर्ण आकाश अनन्त प्रदेशी है क्योंकि अलोक का अन्त नहीं है। परंतु लोकाकाश का अन्त है। इसलिए वह असंख्यात-प्रदेशी है।[४६]

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य आकाश में व्याप्त हैं। लोकाकाश (Space) में एक भी प्रदेश ऐसा नहीं, जहाँ धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय नहीं हैं।

धर्मास्तिकाय आदि पाँच द्रव्य नित्य हैं, स्थिर हैं और अरूपी हैं। पुद्गल मूर्त है। धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक हैं और निष्क्रिय हैं। ये पाँच द्रव्य नित्य हैं। इसका अर्थ यह है कि ये पाँच द्रव्य अपने सामान्य और विशेष स्वरूप से कभी च्युत नहीं होते।

ये पाँच द्रव्य स्थिर हैं क्योंकि इनकी संख्या में कभी क्षय या वृद्धि नहीं होती।[४७]

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय ये चार द्रव्य अरूपी, अमूर्त, पुद्गलरूपी और मूर्त हैं।

सारांश यह है कि नित्यत्व और अवस्थितत्त्व ये दोनों इन पाँचों द्रव्यों के समान गुणधर्म हैं। परन्तु अरूपित्व, पुद्गल को छोड़कर अन्य चार द्रव्यों का समान गुणधर्म है।

नित्यत्व और अवस्थितत्त्व में अन्तर है - नित्यत्व का अर्थ है अपने-अपने सामान्य और विशेष स्वरूप से न ढलना (च्युत न होना) और अवास्थितत्त्व का आशय है आपने स्वरूप में स्थिर रहना अर्थात् परस्वरूप को प्राप्त न करना।

जीवतत्त्व अपने द्रव्यात्मक सामान्य रूप को और चेतनात्मक विशेष रूप को कभी नहीं छोड़ता, यह उसका नित्यत्व है। साथ ही उक्त स्वरूप को न छोड़कर अजीव तत्त्व के स्वरूप को ग्रहण नहीं करता, यह उसका अवस्थितत्त्व है। तात्पर्य यह है कि स्वरूप को न त्यागना और परस्वरूप को ग्रहण न करना ये दोनों अंश सब द्रव्यों में एक जैसे हैं। इनमें से पहला अंश नित्यत्व है और दूसरा अंश अवस्थितत्त्व है।[४८]

आकाश में निमित्त होना आकाशद्रव्य का कार्य है। गौतम ने पूछा - "भगवन्! आकाश तत्त्व से जीव और अजीव को क्या लाभ होता है?"

भगवान् महावीर ने कहा - "गौतम! यदि आकाश द्रव्य नहीं होता तब ये जीव कहाँ रहे होते? धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहाँ व्याप्त हुए होते? पुद्गल कहाँ रहे होते? यह विश्व निराधार ही रहा होता।"[४६]

आकाश द्रव्य अचेतन है, अमूर्त है तथा विभु है। समस्त द्रव्यों को अवकाश देना ही उसका लक्षण है। वह दो भागों में विभक्त है - लोकाकाश और अलोकाकाश।

धर्म और अधर्म का अस्तित्त्व जैन-दर्शन के अलावा किसी भी दर्शन ने स्वीकार नहीं किया है, परन्तु आकाश के संबंध में अनेक मत प्रचलित हैं।

आकाश कोई ठोस द्रव्य नहीं है। वह खाली स्थान है। वह सर्वव्यापी, अमूर्त और अनन्त-प्रदेशयुक्त है। जिस प्रकार पानी का आश्रयस्थान जलाशय है, उसी प्रकार सब द्रव्यों का आश्रयस्थान लोकाकाश है। शंका हो सकती है कि आकाश अखण्ड द्रव्य है, तो उसके दो विभाग कैसे? इसका उत्तर यह है कि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य के आधार पर यह विभाजन हुआ है, आकाशद्रव्य के आधार पर नहीं। आकाश एक अखण्ड द्रव्य है, परन्तु जिस खण्ड में धर्म, अधर्म, जीव, पुद्गल और काल रहते हैं, वह लोकाकाश है और जिस खण्ड में उनका अभाव है, वह अलोकाकाश है।

आकाश अन्य द्रव्यों से ज्यादा विस्तृत है इसलिए वह आधार है और अन्य द्रव्य उसमें रहते हैं इसलिए वे आधेय हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार पृथ्वी का आधार जल है, जल का आधार वायु है और वायु का आधार आकाश है। परन्तु आकाश का आधार कोई नहीं है। वह स्वप्रतिष्ठित है। उसके लिए किसी द्रव्य की आवश्यकता नहीं है।

बौद्ध, वैशेषिक, सांख्य और वेदान्त दर्शनों ने भी आकाश द्रव्य को माना है। परन्तु जैनदर्शन में आकाश द्रव्य का जैसा विस्तृत विवेचन है, वैसा कहीं नहीं है। बौद्ध - दर्शन में आकाश का स्वरूप आवरणाभाव माना गया है और उसका उत्पाद, विनाश नहीं होता ऐसा कहा गया है। परन्तु जैन-दर्शन ने आकाश को अभावात्मक नहीं माना है अपितु उसमें उत्पाद, विनाश और स्थिरतारूप सामान्य लक्षण स्वीकार किया है।

वैशेषिक-दर्शन में आकाश को एक स्वतंत्र पुद्गल माना गया है। परंतु वहाँ शब्दगुण के जनक को आकाश कहा गया है।

जैन-दर्शन में दिशा को आकाश से अलग नहीं माना गया है क्योंकि आकाश के प्रदेश में ही दिशा की कल्पना की जाती है। इसके अतिरिक्त आकाश शब्दगुण का जनक नहीं हो सकता क्योंकि शब्द मूर्त और पुद्गल विशेष है। आकाश अमूर्त द्रव्य है। अमूर्त द्रव्य मूर्त द्रव्य का जनक कैसे हो सकता है? उसी प्रकार आकाश प्रकृति (अचेतन) का विकार या ब्रह्म की विवर्तता भी नहीं हो सकता क्योंकि आकाश एक स्वतंत्र द्रव्य है। आकाश को वेदान्त-दर्शन में ब्रहम का

विवर्त और सांख्य-दर्शन में प्रकृति का विकार माना गया है क्योंकि आकाश एक स्वतंत्र द्रव्य है।

जैनदर्शन के अनुसार आकाश, द्रव्य की अपेक्षा से अनन्त प्रदेशात्मक द्रव्य है। क्षेत्र की अपेक्षा से अनन्त, विस्तृत, लोक-अलोकमय है। काल की अपेक्षा से आकाश अनादि तथा अनन्त है और भाव की अपेक्षा से अमूर्त है।

आधुनिक वैज्ञानिक प्रयोगों ने आकाश में शब्दगुण की कल्पना को असत्य सिद्ध किया है। शब्द पुद्गल है । जो शब्द पौद्गलिक इंद्रियों द्वारा ग्रहण किया जाता है, वह पौद्गलिक ही हो सकता है। इसलिए शब्दगुण के आधार के रूप में आकाश का अस्तित्त्व नहीं माना जा सकता। केवल पुद्गल द्रव्य का परिणमन आकाश नहीं हो सकता क्योंकि एक ही द्रव्य के मूर्त, अमूर्त, व्यापक और अव्यापक आदि परस्पर विरोधी परिणमन नहीं हो सकते।

आकाशतत्त्व के संबंध में पाश्चात्य दार्शनिकों के दो मत दिखाई देते हैं - (१) वास्तविक और (२) अवास्तविक। डेकार्ट्स, लाइबनीज, पाण्डित्यवादी दार्शनिक कान्ट आदि आकाश को स्वतंत्र वस्तुसापेक्ष वास्तविक नहीं मानते। परन्तु प्लेटो, अरस्तू, ग्रेसेण्डी आदि आकाश को स्वतंत्र वस्तुसापेक्ष वास्तविक मानते हैं। जैनदर्शन आकाश को अस्तिकाय मानता है, जो वास्तविक है। वास्तविकता की दृष्टि से जैनदर्शन का मत दूसरे पक्ष से मेल खाता है।

आकाश के संबंध में दो भेद और भी हैं - (१) शून्य और (२) अशून्य। पाण्डित्यवादी दार्शनिक काण्ट, ग्रेसेण्डी आदि तत्त्वज्ञ शून्य आकाश का अस्तित्त्व भी वास्तविक मानते हैं जबकि डेकार्ट्स, लाइबनीज, प्लेटो आदि का मत है कि पदार्थ के अभाव में आकाश का कुछ भी अस्तित्त्व नहीं है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से जैनदर्शन का सादृश्य प्रथम पक्ष के साथ दिखाई देता है। अलोकाकाश पूर्णतया रिक्त है, फिर भी वास्तविक है। लोकाकाश में भी निश्चित रूप से शून्यता की विद्यमानता को स्वीकार किया गया है परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से संपूर्ण लोकाकाश पदार्थों से व्याप्त है।

जैन-दर्शन की आकाश-संबंधी मान्यता में और काण्ट की विचारधारा में हमें साम्य दिखाई देता है। दोनों ने ही शून्य आकाश के अस्तित्त्व को स्वीकार किया है।

न्यूटन आदि ने भी जैनदर्शन के समान ही आकाश को वास्तविक स्वरूप में स्वतंत्र 'वस्तुसापेक्ष' स्वीकार किया है तथा उसे अगतिशील एवं अखण्ड शून्यता से युक्त माना है । परन्तु दोनों विचारों में बहुत बड़ा अन्तर है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि न्यूटन का 'निरपेक्ष आकाश' तथा जैनों का आकाशास्तिकाय का सिद्धान्त तार्किक दृष्टि से वजनदार और अभेद्य हैं।[४१]

## अवगाहन-सिद्धि

समस्त द्रव्यों को अवगाह (स्थान) देना आकाश का विशेष गुण है। अलोकाकाश में अवकाश देने का स्वभाव नहीं होता। इस से यह समझ में आता

हैं कि यह आकाश का स्वभाव नहीं है। क्योंकि कोई भी द्रव्य अपने स्वभाव का त्याग नहीं करता। शक्ति की दृष्टि से उसमें भी आकाश का व्यवहार होता है। क्रिया का निमित्त होते हुए भी रूढ़ि के विशेष सामर्थ्य के कारण अलोकाकाश को 'आकाश' संज्ञा प्राप्त होती है। जिस प्रकार बैठी हुई गाय में चलन क्रिया का अभाव होते हुए भी चलन-शक्ति के कारण 'गो' शब्द की प्रवृति दिखाई हेती है। लोक असंख्यात प्रदेश का है इसलिए वह अनन्त और अनंतानन्त प्रदेश के स्कंध का आधार है, यह बात मान लेने में विरोध है। परन्तु यह दोष नहीं है। क्योंकि सूक्ष्म परिणमन के कारण और अवगाहन शक्ति के कारण आकाश अनन्त या अनंतानंत प्रदेश के पुद्‌गल-स्कंध का आधार बनता है, सूक्ष्म रूप से परिणत हुए परमाणु आकाश के प्रदेश में वास करते हैं। उनकी अवगाहन-शक्ति बाधारहित होती है। इसलिए आकाश के एक प्रदेश में अनंतानंत पुद्‌गलों के वास्तव्य का विरोध नहीं हैं फिर भी छोटे आधार में बड़ा आधार नहीं रह सकता, ऐसा कोई एकपक्षीय नियम नहीं है। पुद्‌गलों में अनेक प्रकार के सघन संघात होने से छोटी जगह में अनेक पुद्‌गलों का वास्तव्य हो सकता है। जैसे - किसी छोटी सी चम्पा की कली में अनेक गंधावयव सूक्ष्म रूप से वास करते हैं। परंतु वे जब फैलने लगते हैं, तब समस्त दिशाओं में फैल जाते हैं।[५२]

आकाश का एक प्रदेश भी शेष पाँच द्रव्यों के प्रदेश को और अतिसूक्ष्मता से परिणमन को प्राप्त अनेक परमाणुओं के स्कंधों को अवकाश देने में समर्थ होता है।[५३]

जितना आकाश अविभागी पुद्‌गल अणुओं से व्याप्त होता है, उसे सब परमाणुओं को स्थान देने में समर्थ 'प्रदेश' जान लेना चाहिए ।[५४]

**काल (TIME)**

काल अरूपी और अजीव द्रव्य है। काल अनन्त है। दिन, रात, मास, ऋतु, वर्ष आदि उसके भेद हैं। ये समस्त भेद काल के कारण ही होते हैं। काल न होता तो ये भेद भी नहीं होते। जीव और पुद्‌गल में समय-समय पर जीर्णता उत्पन्न होती है, वह काल द्रव्य की सहायता के बिना नहीं हो सकती। उत्पाद, व्यय ध्रौव्यरूप स्वभाव से युक्त जीव और पुद्‌गल का जो परिणमन दिखाई देता है, उससे काल द्रव्य सिद्ध होता है।[५५]

काल द्रव्य पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्शो से रहित है। हानि-वृद्धिरूप है, अगुरुलघु गुणों से युक्त है, अमूर्त है और वर्तना-लक्षणसहित है।[५६]

जीवादि द्रव्य के परिवर्तन का कारण काल है। धर्मादि चार द्रव्यों में गुण और पर्याय स्वभावतः ही होते हैं अर्थात् जीवादि द्रव्यों में समय-समय पर जो वर्तनारूप परिणमन होता है, उसका निमित्त कारण कालद्रव्य है। धर्म, अधर्म,

आकाश और काल इन चार द्रव्यों के जो गुण और पर्याय हैं, वे हमेशा स्वभावरूप होते है। उनमें विभावरूपता नहीं होती।[४७]

काल विश्व की सर्वव्यापक आकृति है। काल के कारण संसार के सब कार्य सूत्रबद्ध हैं। काल का अस्तित्त्व है लेकिन उसमें विस्तार नहीं है। नित्यकाल में और सापेक्षकाल में भेद किया जाता है। नित्यकाल को हम 'काल' कहते हैं और सापेक्षकाल को 'समय' कहते हैं। काल समय का महत्त्वपूर्ण कारण है। काल को चक्र या घूमने वाला पहिया कहा जाता है। काल की गति से सारे पदार्थों की आकृति का विलय संभव होता है इसलिए काल को संहारकर्ता भी कहा गया है।[४८]

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं - "लोगों का संहार करने वाला और उसके लिए वृद्धि को प्राप्त काल मैं हूं। यहाँ मैं लोगों का संहार करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ। तुम्हें छोड़कर दोनों सेना-समुदायों में जो योद्धा हैं, वे सभी नष्ट होंगे।"[४९]

'काल' शब्द अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक विद्वान् अधमर्षण ऋग्वेद में (१०-१९०) 'काल' शब्द का अर्थ संवत्सर करते हैं। अथर्ववेद में काल को नित्य पदार्थ माना गया है और उससे प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति को स्वीकार किया गया है (१९-५३,५४)। बृहदारण्यक (४-४-१६), मैत्रायण (६-१५) आदि उपनिषदों में भी काल शब्द विविध अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। महाभारत में काल का विस्तृत वर्णन दिखाई देता है। इसमें 'काल' शब्द को दिष्ट, देव, हठ, भव्य, भवितव्य, विहित, भागधेय आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया गया है।

वेद और उपनिषदों में अनेक स्थानों पर 'काल' शब्द का प्रयोग हुआ है। वैदिक दर्शन काल में दो भेद दिखाई देते हैं - (१) नैश्चयिक काल और (२) व्यवहारिक काल। नैयायिक और वैशेषिक काल को सर्व-व्यापी स्वतंत्र और अखण्ड द्रव्य मानते हैं।

योग, सांख्य आदि दर्शन काल को स्वतंत्र द्रव्य नहीं मानते। बौद्ध-दर्शन में 'काल' व्यवहार के लिए कल्पित संज्ञा है। वह स्वभावसिद्ध पदार्थ नहीं है। भूत, भविष्य और वर्तमानकाल ये तीन भेद काल के बिना हो ही नहीं सकते। संपूर्णकालिक व्यवहार मुख्य कालद्रव्य के बिना नहीं हो सकता।

शांकर वेदान्त के मतानुसार केवल ब्रह्म ही सत्य है। काल तो एक काल्पनिक वस्तु है। शंकर के समान ही रामानुज, निम्बार्क, माध्व और वल्लभ संप्रदाय ने भी काल को वास्तविक पदार्थ नहीं माना है। शान्तरक्षित आदि बौद्ध

आचार्य भी कालद्रव्य का पृथक् अस्तित्त्व नहीं मानते। पाश्चात्य विद्वान् काल के संबंध में दोनों सिद्धान्तों को मानते हैं।

जैन-ग्रंथों में काल के संबंध में दोनों प्रकार की मान्यताएँ दिखाई देती हैं। (१) एक पक्ष का कहना है कि काल कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है। जीव और अजीव द्रव्य के पर्याय के परिणमन को ही उपचार से काल कहा जाता है। इसलिए जीव और अजीव द्रव्यों में ही काल द्रव्य गर्भित होता है। (२) दूसरे पक्ष का कहना है कि जीव और अजीव में गतिस्थिति का स्वभाव है। फिर भी धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को पृथक् द्रव्य माना जाता है, उसी प्रकार काल को भी स्वतंत्र द्रव्य मानना चाहिए। यह मान्यता श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ग्रंथों में मिलती है।

दूसरे पक्ष की चार मान्यताओं का उल्लेख पं० सुखलाल ने पुरातत्त्व के एक अंक में इस प्रकार किया है - (१) काल एक और अणुमात्र है, (२) काल एक है परंतु वह अणुमात्र न होकर मनुष्यक्षेत्र लोकवर्ती है, (३) काल एक और लोकव्यापी है, (४) काल असंख्य है और सब परमाणुमात्र है।[६०]

## समस्त द्रव्यों पर काल द्रव्य के उपकार

काल द्रव्य के सब द्रव्यों पर पाँच उपकार हैं - वर्तना, परिमाण, क्रिया, परत्व और अपरत्व।[६१]

**वर्तना** - समय-समय पर छहों द्रव्यों में जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप परिणमन होता है, वह काल द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्यों पर किया गया 'वर्तना' उपकार है। सभी द्रव्य अपने द्रव्यत्व गुण के कारण स्वयं परिणमन करते रहते हैं और उस परिणमन के लिए जो बाह्य सहायक (निमित्त) होता है, वह 'काल' द्रव्य है और यही निश्चय काल का लक्षण है। वर्तना का अर्थ है परिणमन में निमित्त होना। वर्तना का शाब्दिक अर्थ है वर्ताने वाला अर्थात् परिणमन कराने वाला।

संक्षेप में कहें तो काल का गुण वर्तनाहेतुत्व है। वर्तना का अर्थ है द्रव्य का भिन्न-भिन्न रूपों में और अवस्थाओं में रहना। उदाहरणार्थ - चावल भात के रूप में, दूध दही के रूप में, बीज अंकुर के रूप में, फूल फल के रूप में, नई वस्तु पुरानी वस्तु के रूप में होना, ये समस्त प्रक्रियाएँ काल के कारण ही होती हैं।[६२]

**परिणाम** - अपने स्वभाव को न छोड़ते हुए द्रव्य का पर्याय बदलता है, उसे 'परिणाम' कहते हैं। ऐसे परिणाम जीवों में ज्ञानादि और क्रोधादि, पुद्गलों

में पीत-नील-वर्णादि और धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों में अगुरुलघु गुणों की हानि-वृद्धि रूप हैं।

**क्रिया** - एक जगह से दूसरी जगह पहुँचने के लिए कारणभूत परिणाम को क्रिया कहते हैं। अर्थात् क्रियाशील परिणति को क्रिया कहते हैं। यह क्रिया केवल जीव और पुद्गल द्रव्यों में होती है।

**परत्वापरत्व** - परत्व का अर्थ ज्येष्ठत्व और अपरत्व का अर्थ कनिष्ठत्व है। यह पुराना है, यह नया है, यह बड़ा है, यह छोटा है, ऐसा जो व्यवहार होता है उसे परत्वापरत्व कहते हैं। उदाहरणार्थ - यह सात वर्ष बड़ा है और वह पाँच वर्ष छोटा है।

यद्यपि वर्तना आदि कार्य धर्मास्तिकाय आदि का ही है, फिर भी काल के सब का निमित्त कारण होने से, यहाँ उसका काल के उपकारी रूप में वर्णन किया गया है।

सारांशतः सब कुछ काल द्रव्य की सहायता से है। जिस प्रकार जपमाला का एक मोती उँगली से आगे निकलता है और उसके स्थान पर दूसरा आता है, दूसरा निकलकर तीसरा आता है, उसी प्रकार वर्तमान क्षण जैसे ही व्यतीत होता है, वैसे ही नया क्षण उपस्थित होता है। दूसरी उपमा रहँट की दी जा सकती है। एक के बाद दूसरा काल द्रव्य उपस्थित होता रहता है।

यह काल-प्रवाह भूतकाल में या वर्तमानकाल में है और भविष्यकाल में भी चलता रहेगा। यह प्रवाह अनादि और अनन्त है। इसी प्रकार काल द्रव्य हमेशा उत्पन्न होता रहता है। वर्तमानकाल भी एक समयरूप है।

कालद्रव्य के अल्पांश को जैन पदार्थविज्ञान में 'समय' कहा जाता है। समय काल का सूक्ष्म अंश है। वह इतना सूक्ष्म है कि उसके विभाग नहीं होते।

समय की सूक्ष्मता की कल्पना निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट होती है। जिस प्रकार यदि कमल-पत्रों एक पर एक रखकर उन्हें भाले की नोंक से छेदा जाये तो एक पत्र से दूसरे पत्र में जाते समय भाले की नोंक को जितना समय लगेगा, वह असंख्यात समय है।

काल के तीन भाग हैं - (१) अतीत, (२) वर्तमान और (३) अनागत।

वर्तमान काल में हमेशा एक समय रहता है। भूतकाल में अनन्त समय हो चुके हैं भविष्यत् काल में अनन्त समय होंगे। प्रत्येक वस्तु में, परिवर्तन की योग्यता होते हुए भी, कालद्रव्य की सहायता से ही परिवर्तन होता है। वस्तु अपने स्वरूप का त्याग नहीं करती। परन्तु प्रत्येक क्षण परिवर्तित होती रहती है। यह परिवर्तन वस्तु का अपना स्वभाव है। इस स्वभाव का कार्यरूप में रूपान्तर करने में काल द्रव्य सहकारी कारण होता है। कालद्रव्य असंख्यात-प्रदेशयुक्त है।[६३]

कुम्हार के चक्र के नीचे की कील चक्र की गति की सहायक है, परन्तु वह गति उत्पन्न नहीं करती। उसी प्रकार काल द्रव्य अन्य द्रव्य के परिणमन के लिए केवल निमित्त है, प्रेरक नहीं।[६४]

## निश्चय-काल और व्यवहार-काल

जैन-शास्त्र में काल के दो भेद माने गए हैं - (१) निश्चयकाल (द्रव्यरूप) और (२) व्यवहारकाल (पर्यायरूप)। जिस कारण से द्रव्य में वर्तना होती है, अर्थात् जो वर्तना- लक्षण का धारक है, उसे निश्चयकाल कहते हैं। जिस प्रकार धर्म और अधर्म पदार्थ की गति एवं स्थिति में सहकारी कारण हैं, उसी प्रकार काल स्वयं द्रव्य की वर्तना में सहकारी कारण है।[६५]

जिस कारण से जीव और पुद्गल में परिवर्तनरूप नए और जीर्ण पर्याय होते हैं, परिणाम, क्रिया, छोटे-बड़े आदि व्यवहार दिखाई देते हैं, उसे व्यवहारकाल कहते हैं। समय, अवलि, घड़ी आदि समस्त व्यवहार काल के रूप हैं।

व्यवहारकाल निश्चयकाल का पर्याय है तथा जीव और पुद्गल के परिणाम से ही उत्पन्न होता है। इसलिए व्यवहारकाल को जीव और पुद्गल पर आश्रित माना गया है।

व्यवहारकाल मनुष्य-क्षेत्र में ही होता है। निश्चयकाल द्रव्यरूप होने से नित्य है और व्यवहारकाल प्रत्येक क्षण नष्ट होने के कारण और पर्यायरूप होने से अनित्य है। कालद्रव्य अणुरूप है। पुद्गल द्रव्य के समान काल द्रव्य के स्कंध नहीं होते। लोकाकाश में जितने प्रदेश होते हैं उतने ही कालाणु होते हैं। ये कालाणु गति रहित होते हैं। ये लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों की राशि के समान अवस्थित होते हैं। कालद्रव्य के अणु होने से काल में एक ही प्रदेश रहता है। इसलिए कालद्रव्य में तिर्यक प्रचय न होने से पाँच अस्तिकायों में काल की गणना नहीं की गई है। प्रॉ-ए-चक्रवर्ती ने कालद्रव्य की इस मान्यता से आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्त की तुलना की है।

डॉ० सिद्धेश्वर शास्त्री का 'कालचक्र' (पृ-३६-४८) एवं प्रॉ० बरुआ के Pre-Buddhist philosophy (खण्ड ३, अ-१३) में काल संबंधी वैदिक मान्यता का विस्तृत वर्णन है। माध्यमिक कारिका और सन्मती टीका आदि में भी कालवादियों के खण्डन का विस्तृत विवेचन हैं।

पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध और आठ स्पर्श से रहित षड्गुण, हानिवृद्धि[६६] रूप, अगुरुलघु गुणों से युक्त, द्रव्य के परिणमन के लिए जिसका बाह्य लक्षण निमित्त है, ऐसा कालानुरूप निश्चयकाल द्रव्य है।[६७]

पदार्थ अपने-अपने उपादानरूप कारणों से स्वयं ही परिणमन को प्राप्त होता है। कालद्रव्य अन्य द्रव्य की परिणति में सहायक है। जिस प्रकार कुम्हार का चक्र स्वयं ही घूमता है, तथा उसके परिभ्रमण के लिए नीचे की कील केवल सहायक होती है, उसी प्रकार कालद्रव्य समस्त द्रव्यों की परिणति का निमित्तभूत है। जो पदार्थ परिणति में सहकारी है उसे वर्तना कहते हैं। और वर्तना जिसका लक्षण है वह निश्चयकाल है।[६८]

जो आदि-अन्त रहित है, अमूर्त है, नित्य है और समय आदि उपादान कारणभूत है, कालानुद्रव्यरूप है, वह निश्चयकाल है। इसके विपरीत जो आदि और अन्त सहित है, समय, घटिका, दिन, रात, प्रहर, ऋतु, मास, अयन, वर्ष आदि व्यवहार-विकल्प से युक्त है, वह द्रव्यकाल का ही पर्यायभूत व्यवहारकाल है।[६९]

निश्चयकाल द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है। उसी का पर्याय व्यवहारकाल है वह उत्पन्न होता है और नष्ट होता है जो प्रत्येक क्षण को बदलता है, वह व्यवहारकाल है। व्यवहारकाल को अतीत तथा अनागत काल की अपेक्षा से देखा जाये तो यह दीर्घकाल तक टिकने वाला है।

निश्चयकाल में 'काल' संज्ञा मुख्य है। भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान संज्ञाएँ गौण हैं किन्तु व्यवहारकाल में भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान संज्ञाएँ हैं और 'काल' संज्ञा गौण है।[७०]

समय, निमिष, काष्ठा, कला, नाड़ी, दिन, रात, महीना, ऋतु, अयन और वर्ष ये सभी व्यवहारकाल हैं क्योंकि ये व्यवहारकाल सूर्योदय और सूर्यास्त इत्यादि के द्वारा पदार्थों के निमित्त से अनुभव में आते हैं। इसलिए पराधीन हैं।[७१]

**समय**- आकाश के एक स्थान में मन्द गति से चलने वाला परमाणु लोकाकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक जितने काल में पहुँचता है, उसे 'समय' कहा जाता है। यह समय अत्यन्त सूक्ष्म है और प्रतिक्षण उत्पन्न तथा नष्ट होने से इसे पर्याय कहते हैं। प्रत्येक कालाणु में अनन्त समय होते हैं। ये कालाणु के अनन्त समय व्यवहारनय की अपेक्षा से समझने चाहिए। सचमुच कालद्रव्य (निश्चयकाल) लोकाकाश के साथ असंख्य प्रदेश को धारण करने वाला है। उसे आकाश आदि के समान एक और पुद्गल के समान अनन्त नहीं मान सकते। यह मत दिगम्बर-ग्रंथों में और हेमचन्द्र के योगशास्त्र में मिलता है। श्वेताम्बरों में कालाणु के असंख्य प्रदेश नहीं माने गए हैं।[७२]

**निमिष** - पलक झपकने तक का काल निमिष कहलाता है। असंख्यात समय जब व्यतीत होता है, तब एक निमिष होता है।

**काष्ठा** - पंद्रह निमिष मिलकर एक काष्ठा होती है।

**कला** - बीस काष्ठा मिलकर एक कला होती है।

**नाड़ी** - बीस कला होकर कुछ अधिक समय होता है तब एक नाड़ी या एक घड़ी होती है।

**मुहूर्त** - दो घड़ी मिलकर एक मुहूर्त होता है।

**दिन-रात** - तीस मुहूर्त व्यतीत होते हैं, तब एक दिन-रात होता है और वह सूर्य की गति से जाना जाता है।

**मास** - तीस दिनों का एक मास (महीना) होता है।

**ऋतु** - दो महीनों की एक ऋतु होती है।

**अयन** - तीन ऋतुओं का एक अयन होता है।

**वर्ष** - दो अयन मिलकर एक वर्ष होता है।

जब तक वर्ष गिना जाता है, तब तक का काल संख्यात काल है। इसके अलावा पल्य, सागर, असंख्यात और अनन्त काल हैं। ये व्यवहारकाल हैं। मूल पर्याय निश्चयकाल है।

पुद्गल द्रव्य के बिना काल की मर्यादा नहीं हो सकती इसलिए व्यवहारकाल पुद्गल द्रव्य के निमित्त से उत्पन्न होता है। अर्थात् पुद्गल द्रव्य की आदि-अन्त क्रिया से व्यवहारकाल समझा जाता है। परंतु पर्याय निश्चयकालातीत है। पुद्गल की परिणति की सिद्धि निश्चयकाल के बिना नहीं हो सकती और पुद्गल की नवीनता तथा जीर्णत्व के परिणाम की मर्यादा के बिना व्यवहार-शुद्धि नहीं हो सकती। [७३]

## पुद्गल (MATTER)

न्याय-वैशैषिक दर्शनों ने जिसे 'भौतिक तत्त्व कहा है एवं विज्ञान ने जिसे मैटर कहा है, उसे जैन-दर्शन में पुद्गल कहा गया है। बौद्ध-दर्शन में 'पुद्गल' शब्द 'आलय-विज्ञान' 'चेतना-संतति' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैन-आगम-साहित्य में गौतम ने भगवान् महावीरसे पुद्गल के विषय में पूछा तब महावीर ने अभेदोपचार से पुद्गलयुक्त आत्मा को पुद्गल कहा है। परन्तु मुख्यतः पुद्गल का अर्थ 'मूर्तद्रव्य' है।[७४]

जीव, धर्म तथा अधर्म के असंख्य और आकाश के अनन्त खण्ड होते हैं। परन्तु पुद्गल अखण्ड द्रव्य नहीं है। उसका सब से छोटा रूप एक परमाणु और बड़ा रूप सम्पूर्ण विश्व है। इसलिए पुद्गल को पूरण-गलन-धर्मी कहा गया है।

## पुद्गल की व्याख्या

'पुद्गल' शब्द में दो पद हैं। 'पुद्' और 'गल'। पुद् का अर्थ है - मिल जाना (Combination) और गल का अर्थ है- नष्ट होना, गल जाना (Disintegration)। जो द्रव्य प्रतिक्षण पूर्ण होता है और नष्ट होता है, बनता है और बिगड़ता है, जुड़ता है और टूटता है, वह पुद्गल है। [७५]

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (स्वोपज्ञभाष्य), धवला, हरिवंशपुराण, सर्वदर्शनसंग्रह, तत्त्वार्थराजवार्तिक आदि अनेक ग्रंथों में मिलना और नष्ट होना जिसका स्वभाव है, ऐसे पदार्थ को 'पुद्गल' कहा गया है। पुद्गल एक ऐसा द्रव्य है जिसे स्पर्श किया

किया जाता है, जिसका स्वाद लिया जाता है, जो सूँघा जाता है, जो दृश्य है अर्थात उसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण ये चार अंग अनिवार्य रूप से होते हैं।[७६]

परमाणु से लेकर महास्कन्ध पृथ्वी तक के जिस पुद्गल द्रव्य में पाँच रूप, पाँच रस, दो गंध और आठ स्पर्श, ये चार प्रकार के गुण विद्यमान हैं, जो शब्दरूप है, वह भाषा, ध्वनि आदि के भेदों से अनेक प्रकार का पुद्गल पर्याय है।[७७]

आज के वैज्ञानिक हाइड्रोजन और नाइट्रोजन को वर्ण, गंध और रस से हीन मानते हैं। परन्तु उनका यह मत गौण है। दूसरी दृष्टि से देखने पर इन गुणों को सिद्ध किया जा सकता है। अमोनिया में एक अंश हाइड्रोजन और तीन अंश नाइट्रोजन होता है। अमोनिया में गंध और रस ये दो गुण हैं। हाइड्रोजन और नाइट्रोजन से मिलकर ही अमोनिया बनता है। इसलिए अमोनिया के जो रस और गंध गुण हैं उनका हाइड्रोजन के प्रत्येक अंश में होना आवश्यक है। जो गुप्त गुण थे वे ही उसमें प्रकट हो गए। पुद्गल द्रव्य में चारों गुण (स्पर्श, रस, गंध, वर्ण) होते हैं। चाहे वे प्रकट हों या अप्रकट। पुद्गल तीनों कालों में रहता हैं इसलिए वह सत् है।

अमोनिया में गंध और रस दोनों गुण हैं। इन दोनों गुणों की नवीन उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि यह सत्य है कि असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती और सत् का कभी नाश नहीं होता है। इसलिए जो गुण अणु में होता है, वही गुण स्कन्ध (Molecule) में आता है इसलिए पुद्गल सत् है।

जो उत्पाद , व्यय एवं ध्रौव्य से युक्त है, अपने सत् स्वभाव का त्याग नहीं करता और गुण-पर्याय सहित है, वह द्रव्य है। व्यय के बिना उत्पाद नहीं होता और उत्पाद के बिना व्यय नहीं होता। उत्पाद और व्यय के बिना ध्रौव्य नहीं होता। द्रव्य का एक पर्याय उत्पन्न होता है और दूसरा पर्याय नष्ट होता है। परन्तु द्रव्य न तो कभी उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। वह सदैव ध्रुव रहता है।

आज का विज्ञान भी यही मानता है कि किसी भी भौतिक पदार्थ के परिवर्तन में जड़ पदार्थ कभी नष्ट नहीं होता और नवीन पदार्थ उत्पन्न नहीं होता। केवल उसके स्वरूप में परिवर्तन होता है। मोमबत्ती के उदाहरण से यह बात स्पष्टतः समझी जा सकती हैं। इसे पदार्थ के अविनाशित्व का तत्त्व' कहते है।

समस्त पुद्गल परमाणुओं से निर्मित हैं। परमाणु सूक्ष्म और अविभाज्य हैं। तत्त्वार्थराजवार्तिक में परमाणु का लक्षण और उसके विशिष्ट गुण निम्नलिखित

प्रकार से बताये गये हैं और पुद्‌गल द्रव्य के अणु और स्कन्ध दो भेद किये गये है।[७८]

(१) समस्त पुद्‌गल स्कंध परमाणु से निर्मित हैं और परमाणु पुद्‌गल का सूक्ष्मतम अंश है।

(२) परमाणु नित्य, अविनाशी और सूक्ष्म है।

(३) परमाणु में रस, गंध, वर्ण और दो स्पर्श (स्निग्ध अथवा रूक्ष, शीत अथवा उष्ण) हैं।

(४) परमाणु का अनुमान उससे निर्मित स्कंध से किया जा सकता है।

जैन मत के अनुसार कुछ पुद्‌गल-स्कंध संख्यात प्रदेश के, कुछ असंख्यात प्रदेश के और कुछ अनंत प्रदेश के होते हैं। सब से बड़ा स्कन्ध अनन्त प्रदेशी होता है और सब से छोटा स्कन्ध द्विप्रदेशी होता है। अनन्त प्रदेशी स्कन्ध एक प्रदेश में भी समावेश कर सकता है।

परमाणु इकट्ठे होने पर स्कन्ध बनता है। स्कन्ध पृथक् होने पर परमाणु बनते हैं। यह द्रव्य की अपेक्षा से है। क्षेत्र की अपेक्षा से स्कन्ध अदि लोक (त्रिलोक) के एक देश से संपूर्ण लोक तक असंख्य विकल्पात्मक हैं। इसके बाद स्कन्ध और परमाणु के काल की अपेक्षा से चार भेद बताए गए है।[७९]

पुद्‌गल-स्कंध की स्थिति जघन्य (कम से कम) एक समय (absolute unit of time) और उत्कृष्ट (ज्यादा से ज्यादा) असंख्यात (countless) काल तक है।[८०]

## पुद्‌गल के दो भेद : अणु और स्कन्ध

'पुद्‌गल' अणु (Atomic) और स्कन्ध (Compound) रूप से दो प्रकार के हैं। अतीव छोटा होने से अणु का उपयोग नहीं किया जाता। जो पुद्‌गल द्रव्य कारणरूप है, कार्यरूप नहीं है, वह अन्त्य द्रव्य है, वही परमाणु है। उसका दूसरा विभाग नहीं हो सकता है। उसका प्रारम्भ, मध्य और अंत वही होता है। ऐसे अविभागी पुद्‌गल के परमाणु को अणु कहते हैं।

दो अणु मिलकर स्कन्ध बनता है। पुद्‌गल द्रव्य का दूसरा प्रकार स्कन्ध है। दो-तीन, संख्यात-असंख्यात और अनन्त परमाणुओं के पिण्ड (समूह) को स्कन्ध कहते हैं। द्वयणुक आदि स्कन्ध का विश्लेषण (analysis) करने पर अणु अदि उत्पन्न होते हैं। अणु आदि के समूह से द्वयणुक आदि होते हैं। कभी-कभी स्कन्ध की उत्पत्ति, विश्लेषण और संघात भी दोनों के संयोग से होते हैं।[८१]

अणु और स्कंध ये दोनों पुद्गल की विशिष्ट अवस्थाओं के नाम है। द्वयणुक आदि स्कन्ध का विश्लेषण करने पर अंत में पुद्गल अणु-अवस्था में पहुँचता है। अणु के साथ मिलने पर पुद्गल स्कन्ध अवस्था में पहुँचते हैं तथा गुण आदि का बन्ध होता है।[८२]

जैन-दार्शनिकों ने प्रकृति और ऊर्जा को पुद्गल का पर्याय माना है। विज्ञान भी यही मानता है। शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, छाया, तम (अंधकार) उद्योत और आतप सहित जो हैं, वे सभी पुद्गल के पर्याय हैं।[८३]

अंधकार और प्रकाश के लक्षण को अभावात्मक न मानते हुए दृष्टिप्रतिबंधकारक और विरोधी तत्त्व माना गया है।[८४]

अंधकार पुद्गल का एक पर्याय है। प्रकाश पुद्गल से उसका अलग अस्तित्त्व है। इस विशाल विश्व में जितने भी पुद्गल हैं वे सभी स्निग्ध और रूक्ष गुणों से युक्त ऐसे परमाणुओं के बंधन से निर्मित होते हैं। सब पुद्गलों का रचनातत्त्व एक ही प्रकार का होता है। अर्थात् रचना-तत्त्व की दृष्टि से समस्त पुद्गल एक ही प्रकार के हैं।

छाया भी पुद्गल का पर्याय है। प्रकाश के निमित्त से छाया तैयार होती है। प्रकाश को आतप और उद्योत के रूप में विभक्त किया गया है। सूर्य का चमचम करने वाला प्रकाश आतप है और चन्द्र, काजवा (जिसकी पूँछ में से प्रकाश निकलता है) आदि का शीतल प्रकाश उद्योत है। शब्द भी पौद्गलिक हैं।

जिसमें पूरण तथा गलन दोनों हैं, वह पुद्गल हैं। इसलिए एक स्कन्ध का दूसरे स्निग्ध और रूक्ष गुणयुक्त स्कन्ध में मिल जाना पूरण है। एक स्कन्ध से कुछ स्निग्ध और रूक्ष गुणयुक्त परमाणुओं का विभक्त हो जाना गलन है।[८५]

परमाणुओं के विभाग नहीं होते। परन्तु उनमें सूक्ष्म परिणमन और अवगाहन की शक्ति के कारण असंभव बातें संभव हो जाती हैं।

पुद्गल परमाणु बहुत ही सूक्ष्म हैं। उसकी अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी है। वह तलवार की नोंक पर आ सकता है। परंतु तलवार की तीखी धार उसे छेद नहीं सकती। और अगर छिद जाय तो वह परमाणु ही नहीं हैं।[८६]

परमाणु का विभाजन नहीं होता। परमाणु परस्पर-संयुक्त हो सकते हैं और अलग हो सकते हैं। परंतु उनका अंतिम अंश अखण्ड है।[८७]

परमाणु शाश्वत, परिणामी, नित्य, सावकाश, स्कन्ध का कर्ता तथा भेत्ता (भेद करने वाला) है।[८८]

परमाणु कारणरूप है, कार्यरूप नहीं। वह अंतिम, सूक्ष्म तथा नित्य द्रव्य है।[८९]

परमाणु पुद्‌गल का एक विभाग है। पुद्‌गल के दो प्रकार हैं -

(१) परमाणु - पुद्‌गल और नोपरमाणु - पुद्‌गल।

(२) द्वयणुक आदि स्कन्ध।

**जैन** - साहित्य में परमाणु का स्वरूप अत्यंत सूक्ष्म कहा गया है। परमाणु अछेद्य है, अभेद्य है और अग्राह्य है। यह बात निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट होती है-

कागज के ढेर में आग लगने पर सारे कागज नष्ट हो जाते हैं और उनकी राख बन जाती है। परन्तु कागज की उत्पत्ति और विनाश में अथवा कागज के पर्यायों के नाश और राख के पर्यायों की उत्पत्ति में परमाणु अपने रूप में विद्यमान रहते हैं। पर्याय, नाम, रूप और गन्ध बदल जाये तो भी परमाणु में कुछ भी फर्क नहीं आता। इसलिए पुद्‌गल द्रव्य परमाणु के शुद्ध रूप में सदैव बना रहता है। परमाणु शब्दरहित है। शब्द की उत्पत्ति दो पुद्‌गल - स्कन्धों के संघर्ष से होती है। परमाणु स्कन्ध रहित है इसलिए वह शब्दरहित भी है।

परमाणु एक होने पर भी मूर्त है। कारण उसमें वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श हैं। ये चारों गुण उसके प्रदेश में होते हैं, इसलिए परमाणु मूर्त है, साकार है। पुद्‌गल स्कन्ध की निर्मित परमाणुओं के समूह से होती है। अगर परमाणु मूर्त न हो तो उससे तैयार हुए पुद्‌गल - स्कंध भी मूर्त नहीं हो सकते। क्योंकि अमूर्त द्रव्य मूर्त नहीं बन सकता, और मूर्त द्रव्य अमूर्त के रूप में परिणत नहीं हो सकता। कारण यह कि एक द्रव्य अपने स्वभाव को छोड़ कर परभावरूप दूसरे द्रव्य में परिणत नहीं हो सकता।

द्रव्यसंग्रह में आचार्य नेमिचन्द्र लिखते हैं - 'पुद्‌गल एक अविभाज्य, परिच्छेद्य परमाणु है। और वह आकाश के एक प्रदेश को व्याप्त कर लेता है। उस प्रदेश में अनन्तानन्त पुद्‌गल - परमाणु भी स्थित हो सकते हैं।

जितने पदार्थ आँखों से दिखाई देते हैं, जितने पदार्थों का स्पर्श किया जा सकता है, जितने पदार्थों का स्वाद लिया जाता है और जितने पदार्थों का शब्द सुनाई देता है, वे समस्त पदार्थ पुद्‌गल हैं। पुद्‌गल-स्कन्ध में भी अनेक स्कन्ध

अत्यंत सूक्ष्म होते हैं। वे चक्षु आदि इंद्रियों के द्वारा भी पहचाने नहीं जा सकते। शुद्ध पुद्गल परमाणु भी अत्यंत सूक्ष्म होने से इंद्रियगोचर नहीं होते। कुछ स्कन्ध स्थूल होते हैं जो आँखों द्वारा देखे जा सकते हैं इन्द्रियगोचर स्कन्ध के भी दो भेद हैं - (१) कुछ स्कन्ध (जैसे - अन्न, फल आदि) ऐसे हैं जो जीभ, आँख, नाक, कान और त्वचा इन पाँच इंद्रियों द्वारा स्वाद लेकर, देखकर, गंध सूँघकर, सुनकर और छूकर जाने जाते हैं। (२) कुछ स्कंध (जैसे - वायु आदि) ऐसे हैं जो देखे नहीं जा सकते, परंतु उनका स्पर्श किया जा सकता हैं। शब्दरूप पुद्गल-स्कंध ऐसे है जिन्हें सुना जा सकता है, जिन्हें महसूस किया जा सकता है, जिनका इन्द्रियों पर आघात होता रहता है, परन्तु वे आँखों से हमें दिखाई नहीं देते। प्रकाश और अंधकार रूपी पुद्गल-स्कंध आँखों से दिखाई देते है, परंतु नाक, कान, जिह्वा आदि इन्द्रियों द्वारा नहीं जाने जा सकते। धूप और चंद्रप्रकाश से परिणत होने वाले पुद्गल - स्कन्ध गरम और शीतल स्पर्श से जाने जाते हैं। वे दिखाई भी देते हैं परंतु उन्हें पकड़ कर उनका स्थानान्तरण नहीं किया जा सकता अन्य इंद्रियों से उन्हें नहीं जाना जा सकता। [६०]

पुद्गल - परमाणु जब एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाता है तब उसे काल - द्रव्य का सूक्ष्म पर्याय कहते है। इस समयरूप पर्याय से काल द्रव्य की सिद्धि होती है। इस प्रकार पुद्गलादि द्रव्य के परिणमन से अर्थात् परिवर्तन से काल द्रव्य का अस्तित्त्व दिखाई देता है।

इस प्रकार एक जीव और पाँच अजीव (कुल छह प्रकार के) द्रव्यों का विवेचन किया है। बृहद्द्रव्यसंग्रह में आचार्य नेमिचन्द्र ने भी छह द्रव्यों का उल्लेख किया है।[६१]

उत्तराध्ययनसूत्र में भी कहा गया है कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय ये छह द्रव्य हैं। ये छह द्रव्य जिसमें हैं, वह 'लोक' है। अर्थात् यह द्रव्य समूह ही 'लोक' है ऐसा जिनेन्द्र देव का कथन है।[६२]

जब कोई विज्ञान का विद्यार्थी जैनदर्शन के परमाणु-सिद्धान्त को पढ़ता है, तब उसे विज्ञान और जैनदर्शन में आश्चर्यजनक समानता ज्ञात होती है। माधवाचार्य जी का कथन है कि आधुनिक विज्ञान के सर्वप्रथम जन्मदाता भगवान् महावीर थे।

परमाणु-पुद्गल वर्ण, गंध, रस, स्पर्श सहित होने से रूपी हैं। परन्तु दृष्टिगोचर नहीं होते इस प्रकार अनेक पुद्गलों के इकट्ठा होने से स्कन्ध बनता है। ये स्कन्ध भी कभी-कभी दृष्टिगोचर नहीं होते। जिस प्रकार भाषा के शब्द,

गन्ध के पुद्‌गल तथा हवा के पुद्‌गल दृष्टिगोचर नहीं होते। परन्तु आज के विज्ञान-युग में विज्ञान ने सिद्ध किया है कि वे पुद्‌गल दृष्टिगोचर न होते हुए भी टेलीविजन, रेडियो, ग्रामोफोन, टेलिप्रिंटर, वायरलेस, टेलीफोन तथा टेपरिकॉर्डर के रिकार्ड में संगृहीत किए जाते हैं और हमें सुनाए जाते हैं। वे रूपी हैं इसलिए मशीन की सहायता से पकड़े जाते हैं। यह बात जैनदर्शन ने अनेक वर्ष पूर्व ही सिद्ध करके बता दी थी।

जैनदर्शन के तत्त्व, विज्ञान के तत्त्वों के साथ सिद्ध किए जाते हैं। जैन-तत्त्व-विज्ञान सिद्ध तत्त्व है।

जैन-दार्शनिकों ने जो पुद्‌गल का सूक्ष्म विवेचन और विश्लेषण किया है, वह अपूर्व है।

अनेक पाश्चात्य विचारकों का मत है कि भारत में परमाणुवाद यूनान से आया है। परन्तु यह कथन सत्य है। यूनान में परमाणुवाद का जन्मदाता डेमोक्रिटस (ईसवी पूर्व ४६०-४७०) था परन्तु उसके परमाणुवाद से जैन-दर्शन का परमाणुवाद बहुत ही अलग (पृथक्) है। मौलिकता की दृष्टि से वह सर्वथा भिन्न है। जैन दृष्टि से परमाणु चेतना का उलटा है। मतानुसार आत्मा सूक्ष्म परमाणु का विकार है।

अनेक भारतीय विद्वान कणाद ऋषि को परमाणु का जनक मानते हैं परंतु तटस्थ दृष्टि से चिन्तन करने पर सहजता से ज्ञात हो जाता है कि वैशेषिक-दर्शन का परमाणुवाद जैन - परमाणुवाद के पहले का नहीं है। जैन-दर्शननिकों ने परमाणु के अलग-अलग हिस्सों पर जिस प्रकार वैज्ञानिक दृष्टि से प्रकाश डाला है वैसा प्रकाश वैज्ञानिकों ने नहीं डाला। दर्शनशास्त्र के इतिहास में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि परमाणुवाद के सिध्दान्तों को जन्म देने का श्रेय जैन-दर्शन को ही मिलना चाहिए। उपनिषद् साहित्य में अणु शब्द का प्रयोग हुआ है। परंतु परमाणुवाद का कहीं नाम नहीं है। वैशेषिकों का परमाणुवाद लगता है उतना प्राचीन नहीं है ऐसा कुछ लोगों का मत है। परमाणुवाद का जनक कोई भी क्यों न हो जैन दार्शनिकों ने वैज्ञानिक दृष्टि से परमाणुवाद का अधिक सूक्ष्म संशोधन किया है, इस संबंध में दोमते नहीं हैं ।[६३]

## परमाणु की सूक्ष्मता

विज्ञान का परमाणु कितना सूक्ष्म है- इसका अनुमान इस बात से लगया जा सकता है कि पचास शंख परमाणुओं का वजन सिर्फ ढाई तोले के आसपास होता है और उनका व्यास एक इंच के दस कारोड़वें हिस्से के बराबर होता है। एक लाख परमाणु एक-दूसरे के ऊपर लगाकर रखे जायें तो सिगरेट के पैकेट में निकलने वाले पतले कागज अथाव पतंग के कागज जितनी मोटाई तैयार होगी। धूल के एक छोटे से कण में दस पद्‌म से भी ज्यादा धूलिकण होते हैं।

सोडा वाटर को किसी काँच के प्याले में खाली करने पर जो छोटी - छोटी बूँदें तैयार होती हैं उनमें से एक बूँद के परमाणु गिनने के लिए विश्व के

तीन अरब लोग यदि अन्न-पानी ग्रहण किये बिना तथा विश्राम किये बिना प्रति मिनट तीन सौ बिन्दु गिनने की गति रखें तो भी छोटी सी बूँद के परमाणुओं की संपूर्ण संख्या गिनने में पूरे चार महीने लगेंगे।

बाल निकालते समय उसके मूल में खून की जो सूक्ष्म बूँद होती है उसे अणुवीक्षण शक्ति से इतना स्पष्ट दिखाया जाय कि उसका व्यास सात फुट दिखाई दे तो भी परमाणु का व्यास १/ १००० इंच ही हो सकेगा।[६४]

## आधुनिक विज्ञान में परमाणु

विज्ञान के क्षेत्र में परमाणुवाद सूनान की देन है, यह निर्विवाद है। डेमोक्रिटस दुनिया का पहला मनुष्य है जिसने यह प्रतिपादित किया कि समस्त संगठन शून्य आकाश और अदृश्य अनन्त तथा अविभाज्य परमाणुओं का एक घट है। दृश्य और अदृश्य समस्त संगठन परमाणुओं के संयोग और वियोग का परिणाम है। डेमोक्रिटस यूनान का एक सुप्रसिद्ध दार्शनिक था। उसका जन्म ३८० ई० पूर्व में हुआ और वह ४६० ई० पूर्व तक जीवित था। परमाणुओं के संबंध में उसके विचार इस प्रकार हैं - (१) विश्व में पदार्थ एकाकार व्यापक न होकर विभक्त है। (२) समस्त पदार्थकण ठोस परमाणुओं से बने हुए हैं। वे परमाणु विस्तृत आकाशान्तर पर अलग-अलग हैं। प्रत्येक परमाणु एक घटक हैं। परमाणु अछेद्य अभेद्य और अविनाशी है। (३) परमाणु पूर्ण है। वे ठीक वैसे ही नये और ताजे हैं जैसे पृथ्वी के प्रारंभ में थे। (४) परमाणु - परमाणु में आकार, लंबाई, चौड़ाई और वजन आदि बातों में विविधता दिखाई देती है। (५) परमाणुओं के प्रकार संख्यात हैं। परंतु प्रत्येक प्रकार के परमाणु अनंत हैं। (६) पदार्थों के गुण परमाणुओं के स्वभाव तथा संविधान (यानी कौन सा परमाणु किस प्रकार संयुक्त अथवा एकत्रित हुआ) पर निर्भर करते हैं। (७) परमाणु निरंतर गतिशील होते हैं।

डेमोक्रिटस से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक परमाणु के संबंध में विविध अविष्कार होते रहे और नए-नए सिद्धांत आते रहे। परंतु आज तक परमाणु शास्त्रज्ञों की दृष्टि में अछेद्य अभेद्य और सूक्ष्मतम ही है।[६६]

जैन-साहित्य में परमाणु के स्वरूप और कार्य का जो सूक्ष्मतम विवेचन किया गया है वह आज के शोधकर्ता विद्यार्थियों के लिए अत्यंत उपयोगी है ।

परमाणुओं का पूर्व में जो लक्षण बताया गया है कि वे अछेद्य, अभेद्य और अग्राह्य है, उसके सम्बन्ध में आज के विज्ञान के विद्यार्थियों को सन्देह है, क्योंकि विज्ञान के सूक्ष्मदर्शक यंत्रों में परमाणु की अविभाज्यता दिखाई नहीं देती ।

परमाणु अगर अविभाज्य न हो तो उसे हम परमाणु नहीं कह सकते । जैन-आगम अनुयोगद्वार में परमाणु के दो भेद बताए गए हैं - (१) सूक्ष्म परमाणु और (२) व्यावहारिक परमाणु । सूक्ष्म परमाणु का स्वरूप पूर्व में बताया गया है । परंतु व्यावहारिक परमाणु अनंत सूक्ष्म परमाणुओं के समुच्चय से तैयार होता है ।[६८]

वस्तुतः व्यावहारिक परमाणु स्वतः परमाणु-पिण्ड है, फिर भी वह साधारण दृष्टि से ग्राह्य नहीं होता और साधारण अस्त्र-शस्त्र से तोड़ा नही जा सकता । उसकी परिणति सूक्ष्म होती है, इसलिए उसे व्यवहार रूप से परमाणु कहा गया है। विज्ञान के परमाणु की तुलना इस व्यावहारिक परमाणु के साथ होती है। इसी कारण परमाणु टूटता है। इस विज्ञानसम्मत मान्यता को जैन-दर्शन भी कुछ अंश में स्वीकार करता है।

## पुद्गल के बीस गुण :-

स्पर्श-शीत, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध, लघु, गुरु, मृदु और कर्कश ।

रस- अम्ल, मधुर, कटु, कषाय और तिक्त ।

गन्ध-सुगन्ध और दुर्गन्ध ।

वर्ण-नील,रक्त, पीत और श्वेत ।

संस्थान, परिमण्डल, वृत्त, त्र्यंश, चतुरंश आदि पुद्गलों में होते हैं, परंतु वे उनके गुण नहीं हैं, अपितु स्कन्ध के आकाररूप पर्याय हैं ।

सूक्ष्म परमाणु के द्रव्यरूप में निरवयव और अविभाज्य होने पर भी पर्याय-दृष्टि से उसके भेद नहीं हैं । उसमें वर्ण,गंध,रस और स्पर्श ये चार गुण और अनन्त पर्याय हैं ।

एक परमाणु में एक वर्ण,एक गंध,एक रस,और दो स्पर्श (शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष में से एक) होते हैं। पर्याय की दृष्टि से एक गुण वाला परमाणु अनन्त गुणों का होता है और अनन्त गुणों वाला परमाणु एक गुण का होता है । एक परमाणु में वर्ण से वर्णान्तर, गन्ध से गन्धान्तर, रस से रसान्तर और स्पर्श से स्पर्शान्तर होना जैनदृष्टि-सम्मत है।

## अणुवाद :-

पत्थर, लकड़ी जैसे ठोस पदार्थ हमारे चारों ओर हैं, उनके विभाग किए जा सकते हैं। साथ ही उन विभागों के भी और छोटे विभाग किए जा सकते हैं। विभाजन की यह क्रिया अन्ततः कहीं न कहीं रूकनी चाहिए और और ठोस पदार्थों को अन्तिम अवयव अथवा अणु होना चाहिए ऐसा निश्चय हमारी बुद्धि करती हैं । इसका एक कारण यह है कि मानव-बुद्धि की प्रवत्ति कुछ न कुछ अचल अविकारी ढूँढ निकाल कर उस पर स्थिर होने की है।

एक बार अणु को नित्य मान लिया कि उसके उपसरण-अपसरण से दुनिया के अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं। यही उत्पत्ति बुद्धि को समाधान देने वाली लगती है क्योंकि इस उपपत्ति से 'जो नहीं है उससे कुछ भी नहीं होता और जो अस्तित्त्व में है, उसका नाश संभव नहीं होता (नाभावो विद्यते सतः)', यही बुद्धि को संतुष्ट करने वाली प्रमा है।

१८०२-१८०३ के मध्य जॉन डाल्टन ने प्रायोगिक आधार पर 'जड़ द्रव्य अतिशय सूक्ष्म तथा मूलतः विभक्त अणुओं से बना हुआ है' इस प्रकार का अभ्युपगम किया, परन्तु तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में इससे दीर्घकाल पूर्व केवल बौद्धिक प्रपंच करके अणुवाद को व्यक्त किया गया था। कारण यह कि अणुवाद का असली नाता कुछ न कुछ अविकारी और नित्य तत्त्व खोज निकालने से है। यही बुद्धि की सहज प्रवृत्ति है।

प्राचीन ग्रीक और भारतीय तत्त्वज्ञान में विश्व की रचना के विषय में अणुवादी उपपत्तियाँ दिखाई देती हैं। किन्तु प्रथम उपपत्ति कौन-सी है या दोनों में किसने किससे उधार लिया है, इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

## ग्रीस का अणुवाद :-

ई० पू० पाँचवीं शताब्दी में ग्रीस में पहले ल्युसिपस और बाद में उसके शिष्य डेमॉक्रिटस (जन्म ई० पू० ३७०) ने अणुवाद का प्रवर्तन किया (लेकिन कुछ लोग ल्युसिपस की ऐतिहासिकता के विषय में शंका करते हैं)। इस मत के अनुसार सृष्टि के मूल में भरे हुए अणु और रिक्त आकाश ये 'दो तत्त्व' हैं। अणु अतिसूक्ष्म, अविभाज्य, अदृश्य और अविनाशी होते हैं। प्रत्येक अणु का स्वयं का वेग और गति होती है। उनमें गुणात्मक भेद नहीं होता। भेद होता है, आकार और आकृति में। अलग-अलग आकृतियों के छोटे-बड़े अणुओं के कम-ज्यादा संख्या में एकत्रित होने से इंद्रियों को रंग-गंध आदि गुण-वैचित्र्य प्रतीत होता है। परंतु मूलतः अणु में विस्तार, आकृति, घनत्व जैसे केवल प्राथमिक धर्म ही होते हैं। जड़ पदार्थ के प्राथमिक गुणधर्म और द्वितीय गुणधर्म यह जो भेद बाद में लॉक ने किया, उसका बीज यहाँ है। 'अणु का वजन होता है' यह डेमॉक्रिटस मानता था, ऐसा एक मत है। दूसरे मत के अनुसार एपिक्युरिअन पंथ के तत्त्वचिन्तकों ने यह बात कही। डेमॉक्रिटस की दृष्टि में वजन भी अणुओं के प्रचय के कारण निष्पन्न होने वाला और केवल इन्द्रियों को प्रतीत होने वाला गुणधर्म है।

'अणु का वजन है' इसे गृहीत मानकर विश्वोत्पत्ति की प्रक्रिया को इस प्रकार कहा जा सकता है - अनंत अवकाश की रिक्त जगह में अणुओं का अधःपतन होते समय जड़ अणु, वजन के कारण मध्य में आते हैं। हल्के अणु उन पर टपक पड़ने पर ये जड़ अणु किनारे की तरफ फेंके जाते हैं। इस प्रक्रिया से जो आवर्त बनते हैं, उनमें से खुद के नक्षत्र और ग्रहमाला वाले अनेक विश्व लगातार निर्मित होते रहते हैं। अणु का वजन नहीं है ऐसा मान लेने पर इस वर्णन में थोड़ा अन्तर करना पड़ता है।

आत्मा के भी अणु होते हैं, ऐसा इस मत में कहा गया है। ई०पू० चतुर्थ शताब्दी में उदित एपिक्युरियन पंथ में, अणुओं की खुद की इच्छाशक्ति होती है और उससे नियत मार्ग पर वे थोड़े यहाँ-वहाँ सरकते हैं, ऐसा मत रूढ़ हुआ।

**जैन और वैशेषिक दर्शनों का अणुवाद** - भारत में जैन और वैशेषिक दर्शनों ने अणुवाद का प्रवर्तन किया। जैनों की परिभाषा में 'अणु' के लिए 'पुद्गल' शब्द है। पुद्गल में लगातार क्रिया चलता रहती है। ग्रीक तत्त्वज्ञों के अणु के समान पुद्गल निर्गुण नहीं हैं। प्रत्येक में रूप, रस, गंध और स्पर्श ये चारों गुण होते हैं। दो परमाणुओं के मिलन से, एक अथवा दोनों की चिपकने की प्रवृत्ति के कारण, 'स्कन्ध' बनता है। स्कन्धों से अधिक बड़े स्कन्ध बनते हैं और उनकी अलग-अलग रचनाओं के कारण नए गुणों की उत्पत्ति होती है। जैन-मत के अनुसार कर्मों के भी सूक्ष्म अणु होते हैं।

वैशेषिक-मत के अनुसार केवल पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार मूल-द्रव्य ही परमाणुओं से घटित हैं। उन चारों के परमाणु मूलतः भिन्न हैं। प्रत्येक के गुण अलग-अलग हैं। उदाहरणार्थ पृथ्वी के अणु में रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण आदि कुल चौदह गुण हैं। जल के अणु में गंध के अलावा स्नेह (चिपकने की प्रवृत्ति) इस गुण के भेद से वे ही चौदह गुण हैं। आत्मा यह अणु न होकर 'विभु' यानी सर्वव्यापी है। आत्मा को, पूर्वजन्म के कर्म के अनुरूप भोग मिलें इस हेतु से अणुओं में हलचल होती है। परंतु उनमें गति होती है ईश्वर की इच्छा से। इसलिए वैशेषिकों का अणुवाद ग्रीक अणुवाद के समान जड़वादी नहीं है।

दो अणुओं के मिलने से द्वयणुक बनता है। तीन द्वयणुक के मिलने से त्र्यणुक अथवा त्रसरेणु बनता है। खिड़की में आने वाली धूप में जो बारीक रेणु दिखाई देती है वह त्रसरेणु है। इनके विविध संयोग में से स्थल-सृष्टि का प्रपंच निर्मित होता है।[१०१]

जैन-दर्शन के अहिंसा, स्याद्वाद, कर्ममुक्ति आदि आध्यात्मिक विषय जिस प्रकार अद्वितीय हैं, उसी प्रकार भौतिक पदार्थ-विज्ञान के विषय में भी उसकी अद्वितीय देन है। पुद्गल, अणु, परमाणु आदि के विषय में जैन-दर्शन के विचार अत्यंत सूक्ष्म और विश्लेषणात्मक हैं।

जैन-आगमग्रंथों में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों का वर्णन है। उनमें से 'जीव' द्रव्य का वर्णन द्वितीय अध्याय में और शेष पाँच द्रव्यों का वर्णन इस तृतीय अध्याय में किया गया है। ये छह द्रव्य अनादिकाल से इतने ही हैं और अनन्तकाल तक इतने ही रहेंगे।

इस प्रकार अजीव तत्त्व के भेद-प्रभेद के विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि जैन-दर्शन एक प्राचीन वैज्ञानिक दर्शन है। विज्ञान-जगत् में होने वाले भिन्न-भिन्न आविष्कारों और अनेक वैज्ञानिक मान्यताओं का अभूतपूर्व वर्णन जैन-शास्त्रों में किया गया है। इतना ही नहीं, उसमें ऐसी अनेक समस्याओं का भी समाधान किया गया है जिनका समाधान वैज्ञानिक दीर्घकाल में भी नहीं कर सके।

उदाहरणार्थ 'वनस्पति में जीव है' यह बात जैन-दर्शन द्वारा प्राचीनकाल से ही मानी जाती रही है। परन्तु वैज्ञानिक इस बात को मानने के लिए तब तक

तैयार नहीं हुए, जब तक श्री जगदीशचन्द्र बोस ने अपने यंत्र द्वारा पूर्णतया सिद्ध करके नहीं दिखाया। उसी प्रकार पानी में भी जंतु (Germs) होते हैं इसलिए जैन साधु ठंडा पानी उपयोग में नहीं लाते। इस बात को वैज्ञानिकों ने माइक्रोस्कोप (Microscope) द्वारा देखने पर मान लिया। सत्य बात तो यह है कि अगर जैन-दर्शन का वैज्ञानिक रूप से गहराई में जाकर अध्ययन किया जाये तो विज्ञान-जगत् को अपूर्व लाभ होगा। उसी के साथ वैज्ञानिकों की अनेक समस्याएँ, जिन्हें सुलझाने के लिए वैज्ञानिक दिन-रात प्रयोग करने में संलग्न रहते हैं, सुलभता से सुलझाई जा सकती हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी तक वैज्ञानिक 'ईथर' को भी नहीं मानते थे। बाद में अनेक आविष्कार करके वे गति का माध्यम मान्य करने लगे। बाद में आइन्स्टाइन ने कहा कि 'ईथर' अभौतिक, अपारमाणविक, लोकव्याप्त, अदृश्य और अखण्ड द्रव्य है। किन्तु सहस्रों वर्ष पहले जब विज्ञान का भी उद्‌गम नहीं हुआ था तब सृष्टि के इस सूक्ष्मतम तत्त्व का वर्णन जैन-शास्त्रों में किया गया है।

जैन-दर्शन ने पाँच द्रव्यों के बारे में स्पष्ट कहा है कि धर्म गति देने वाला तत्त्व है, अधर्म स्थितितत्त्व (रोकने वाला) है। आकाश स्थान देने वाला तत्त्व है; काल परिवर्तनशील है और पुद्‌गल स्पर्श, गंध, रसयुक्त तथा रूपी (मूर्त) द्रव्य है। शेष समस्त द्रव्य अमूर्त हैं। जीव और पुद्‌गल सक्रिय हैं, शेष द्रव्य निष्क्रिय हैं।

इस प्रकार यह जैन-दर्शन की द्रव्य-व्यवस्था और उसमें वर्णित द्रव्यों का सारांश है। इसका विस्तृत विवेचन तत्त्वार्थराजवार्तिक, तत्त्वार्थसूत्र, तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (स्वोपज्ञभाष्य) और जैन-आगमों में मिलता है।

## सन्दर्भ

१. हरिभद्रसूरि - षड्‌दर्शनसमुच्चय - टीका १६२, पृ० २४८
यश्चैतस्माद्विपरीतानि विशेषणानि विद्यन्ते यस्यासावेतद्विपरीतवान् सोऽजीवः समाख्यातः ।

२. कुन्दकुन्दाचार्य - पंचास्तिकाय - गा० १२२, पृ० १८५
जाणादि पस्सदि सव्वं इच्छदि सुक्खं विभेदि दुखादो ।
कुव्वदि हिदमहिदं वा भुंजदि जीवो फलं तेसिं ।। १२२ ।।

३. कुन्दकुन्दाचार्य - पंचास्तिकाय - गा० १२५, पृ० १८८
सुहदुक्खजाणणा या हिदपरियम्मं च अहिदभीरुत्तं ।
जस्स ण विज्जदि णिच्चं तं समणा विंति अज्जीवं ।। १२५ ।।

४. कुन्दकुन्दाचार्य - पंचास्तिकाय - गा० १२४, पृ० १८७
आगासकालपुग्गलधम्माधम्मेसु नात्थि जीवगुण ।

तेसिं अचेदणतं भणिदं जीवस्स चेदणदा ।। १२४ ।।

५. कुन्दकुन्दाचार्य - पंचास्तिकाय - गा० ४, पृ० ११
जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा तहेव आयासं ।
अत्थित्तम्हि य णियदा अणण्णमइया अणुमहंता ।। ४ ।।

६. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ० ५, सू० १,
अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ।। १ ।।

७. जैनाचार्य श्रीनेमिचंद्र - बृहद्द्रव्यसंग्रह - गा० २४, पृ० ६०
संति जदो तेणेदे अत्थि त्ति भणंति जिणवरा जहण। काया इव बहुदेसा तरहा काया य आत्थिकाया य ।। २४ ।।

८. भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक - अ० ५, सू० २६ (भाग २), पृ० ४६४ सद्द्रव्यलक्षणम् ।। २६ ।।

९. (क) भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक - अ० ५, सूत्र ३०, पृ० ४६४, (भाग २) उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।। ३० ।।
(ख) श्री ब्र० सीतलप्रसादजी-पंचास्तिकाय टीका - प्रथम भाग, श्लो० १०, पृ० ५३ द्रव्यं सल्लक्षणकं उत्पादव्ययध्रुवत्वसंयुक्तं ।
गुणपर्यायाश्रयं वा यत्तद् भणति सर्वज्ञाः ।। १० ।।

१०. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ० ५, सू० २६

११. भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक-(भाग २) अ० ५, सूत्र३० टीका, पृ० ४६४
स्वजात्यपरित्यागेन भावान्तरावाप्तिरुत्पादः ।। १ ।।

१२. भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक-(भाग २) अ०५, सूत्र ३० टीका, पृ० ४६५
पूर्वभावविगमो व्ययनं व्यय इति कथ्यते यथा घटोत्पत्तौ पिण्डाकृतेः ।। २ ।।

१३. भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक-(भाग२) अ० ५, सूत्र ३० टीका, पृ० ४६५
टनादिपारिणामिकस्वभावत्वेन व्ययोदयाभावात् ध्रुवति स्थिरीभवति इति ध्रुवः, ध्रुवस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यम्, यथा पिण्डघटाद्यवस्थासु मृदाद्यन्वयात् । ३।

१४. (क) मुनि नथमलजी - जैनदर्शन : मनन और मीमांसा - पृ० १५५-१५६
(ख) कुन्दकुन्दाचार्य - पंचास्तिकाय - गा० ७, पृ० १८
अण्णोण्णं पविसंता दिता ओगासमण्णमण्णस्स ।
मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति ।। ७ ।।

१५. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ० ५, सू० ३७

गुणपर्यायवद् द्रव्यम् । ३७ ।

१६. (क) उत्तराध्ययन - अ० ३६, गा० ७
धम्माधम्मे व दोऽवेए लोगमिता वियाहिया ।
लोगालोगे य आगासे समय समयखेतिए ।।
(ख) सं० पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (भगवई) भाग १, पृ० ४३५
धम्मत्थिकाए णं भंते! किं (के) महालए पण्णते?, गोयमा ! लोए लोएमेते लोयप्पमाणे लोयकुडे लोयं चेव फुसिता णं चिट्ठइ, एवं अहम्मात्थिकाए लोयागासे जीवत्थिकाय पोग्गलत्थिकाए पंचवि एक्काभिलावा ।। १२२ ।।

१७. उत्तराध्ययन - अ० ३६, गात्र ८, ६, १२, १३, १४

१८. उत्तराध्ययन-अ० ३६, गा० ४ टीका जैनाचार्य घासीलालजी म० (भाग४), पृ० ६८८
रूपिणश्चैव अरूपिणश्च, अजीवा द्विविधा भवन्ति ।

१६. डॉ० राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (भाग १) - पृ० २८६

२०. भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक (भाग २) - पृ० ६६१

२१. कुन्दकुन्दाचार्य - पंचास्तिकाय - गा० ६६, पृ० १५४
धम्माधम्मागासा अपुधब्भूदा समाणपरिमाणा ।
पुधगुवलद्धिविसेसा करंति एगत्तमण्णतं ।। ६६ ।।

२२. कुन्दकुन्दाचार्य - पंचास्तिकाय - गा० ७, पृ० १८
अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स ।
मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति ।। ७ ।।

२३. अनु० जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म० ठाणांगसूत्र-ठा०१०, उ०१, पृ० ८२३

२४. उत्तराध्ययनसूत्र - अ० ३६, भा० ८
धम्माधम्मागासा तिन्नि वि एए अणाइया ।
अपज्जवसिया चेव सव्वद्धं तु वियाहिया ।।

२५. डॉ० मोहनलाल मेहता - जैन धर्म-दर्शन - पृ० १४०

२६. श्रीहरिभद्रसूरि-षड्दर्शनसमुच्चय-सं० डॉ० महेन्द्रकुमार जैन - पृ० २४६
प्रदेशाः प्रकृष्टाः देशाः प्रदेशाः निर्विभागानि खण्डानीत्यर्थः ।
तेषां कायः समुदायः कथ्यते । टीका १६५

२७. नेमिचंद्र जैनाचार्य - बृहद्द्रव्यसंग्रह - गा० २४, पृ० ६०

२८. (क) नेमिचंद्राचार्यासिद्धान्तिदेव - बृहद्द्रव्यसंग्रह - भा० २५, पृ० ६२

होति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे ।
मुत्ते तिविह पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ ।। २५ ।।
(ख) हरिभद्रसूरि - षड्दर्शनसमुच्चय - पृ० २४८-२४६
(ग) उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ० ५, सू० ७, १०
असंख्येया : प्रदेशा धर्माधर्मयोः ।। ७ ।।
संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ।। १० ।।

२६. (क) हेमचन्द्राचार्य - स्याद्वादमञ्जरी - पृ० २८८
(ख) जैनाचार्य श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव- बृहद्द्रव्यसंग्रह-गा० २७, पृ० ६५

३०. हरिभद्रसूरि - षड्दर्शनसमुच्चय - पृ० २४८
तत्र धर्मोलोकव्यापी नित्योऽवस्थितोरूपी
द्रव्यमस्तिकायोऽसंख्यप्रदेशोगत्युपग्रहकारी च भवति ।

३१. (क) हरिभद्रसूरि - षड्दर्शनसमुच्चय - पृ० २५०
एवमधर्मोपि लोकव्यापितादिसकलविशेषणविशिष्टो धर्मवन्निर्विशेषं मन्तव्यः, नवरं स्थित्युपग्रहकारी स्वत एव स्थितिपरिणतानां जीवपुद्गलानां स्थितिविषये अपेक्षाकारणं वक्तव्यः ।
(ख) जैनाचार्य घासीलालजी म० उत्तराध्ययनसूत्र-अ०२८, गा०६, पृ० १४८
गतिलक्षणस्तु धर्मः अधर्मः स्थानलक्षणः ।
भाजनं सर्वद्रव्याणां, नभः अवगाहलक्षणम् ।। ६ ।।

३२. जैनाचार्य श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव - बृहद्द्रव्यसंग्रह - गा० १८, पृ० ४६
ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी ।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ।। १८ ।।

३३. कुन्दकुन्दाचार्य - पंचास्तिकाय - गा० ८६, पृ० १४३
जह हवदि धम्मदव्वं तह त जाणेह दव्वमधमक्खं ।
ठिदिकिरि याजुताणं कारणभूदं तु पुढवीव ।। ८६ ।।

३४. कुन्दकुन्दाचार्य - पंचास्तिकाय - गा० ८५, पृ० १४२ अमृतचन्द्राचार्य टीका
उदकं यथा मच्छाणां गमनानुग्रहकरं भवति लोके ।
तथा जीवपुद्गलानां धर्मे द्रव्यं विजानीहि ।। ८५ ।।

३५. मुनि नथमल - जैन-दर्शन : मनन और मीमांसा -पृ० १६०-१६२
**What is Ether?**

३६. कुन्दकुन्दाचार्य - पंचास्तिकाय - गा० ८८, पृ० १४७

ण य गच्छदि धम्मत्थी गमणं ण करेदि अण्णदवियस्स ।
हवदि गती सप्पसरो जीवाणं पुग्गलाणं च ।। ८८ ।।

३७. सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी - जैन धर्म सार - पृ० १२६

३८. कुन्दकुन्दाचार्य - पंचास्तिकाय - गा० ८९, पृ० १४८
बिज्जदि जेसिं गमणं ठाणं पुण तेसिमेव संभवदि ।
ते सगपरिणामेहिं दु गमणं ठाणं च कुव्वंति ।। ८९ ।।

३९. कुन्दकुन्दाचार्य - पंचास्तिकाय - गा० ८८ से ९५, पृ० १४६-१५३

४०. (क) सं० पुप्फभिक्खू-अर्थागम (हिंदी) दूसरा खण्ड-भगवतीसूत्र श० अ० १३, उ० ४, पृ० ९६०
(ख) जैनाचार्य घासीलालजी म-टीका-भगवतीसूत्र-भाग १०, पृ० ६०७-६१४

४१. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ० ५, सू० ३
नित्यावस्थितान्यरूपाणि । ३ ।

४२. (क) उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ० ५, सू० ६
निष्क्रियाणि च ।। ६ ।।
(ख) कुन्दकुन्दाचार्य - पंचास्तिकाय - गा० ९८, पृ० १५६
जीवा पुग्गलकाया सह सक्किरिया हवंति ण य सेसा ।
पुग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणा दु ।। ९८ ।।

४३. सं० पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (ठाणे) - भाग १, अ० ४, उ० ४, पृ० २४७
चउहिं ठाणेहिं जीवा य पोग्गला य णो संचाएन्ति बहिया लोगंतागमणयाए तं जहा-गइअभावेणं निरुवग्गहयाए लुक्खत्ताए लोगाणुभावेणं ।। ४२८ ।।

४४. जैनाचार्य नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव - बृहद्द्रव्यसंग्रह - गा० १९, पृ० ५०
अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं ।
जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं ।। १९ ।।

४५. (क) उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ० ५, सू० १८
आकाशस्यावगाह ।। १८ ।।
(ख) कुन्दकुन्दाचार्य - पंचास्तिकाय - गा० ९०, पृ० १४९
सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पुग्गलाणं च ।
जं देदि विवरमखिलं तं लोए हवदि आयासं ।। ९० ।।

४६. (क) कुन्दकुन्दाचार्य - पंचास्तिकाय - गा० ९१, पृ० १५०
(ख) जैनाचार्य नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव - बृहद्द्रव्यसंग्रह - गा० २०, पृ० ५१

(ग) उत्तराध्ययन - अ० ३६, गा० २

४७. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ० ५, सू० ३, ४, ५, ६

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ।। ३ ।।

रूपिणः पुद्गला ।। ४ ।।

आकाशादेकद्रव्याणि ।। ५ ।।

निष्क्रियाणि च ।। ६ ।।

४८. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र (अनु० पं० सुखलालजी) - पृ० १६६-१६७

४९. (क) जैनाचार्य घासीलालजी म० टीका - भगवतीसूत्र (भाग १०) - श० १३, उ० ४, पृ० ६०७-६१४

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र - अ० ३६, भा० २

५०. सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी - जैनधर्मसार - पृ० १२९

चेतनरहितममूर्तमवगाहनलक्षणं च सर्वगतम्

लोकालोकद्विभेदं, तन्नभोद्रव्यं जिनोद्दिष्टम् ।।

५१. देवेन्द्रमुनि शास्त्री - जैन दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण - पृ० १३८-१४७

५२. श्रीजिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश (भाग १) - पृ० २३२-२३३

५३. श्रीजिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (भाग १) - पृ० २३२-२३४

५४. जैनाचार्य श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव - बृहद्द्रव्यसंग्रह - गा० २७, पृ० ६५

जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुउट्टद्धं ।

तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ।। २७ ।।

५५. कुन्दकुन्दाचार्य - पंचास्तिकाय - गा० २३, पृ० ४८

सब्भावसभावाणं जीवाणं तह य पोग्गलाणं च ।

परियट्टणसंभूदो कालो णियमेण पण्णत्तो ।। २३ ।।

५६. कुन्दकुन्दाचार्य - पंचास्तिकाय - गा० २४, पृ० ५०

ववगदपणवण्णरसो ववगददोगंधअट्ठफासो य ।

अगुरुलहुगो अमुत्तो वट्टणलक्खो य कालोत्ति ।। २४ ।।

५७. कुन्दकुन्दाचार्य - कुन्दकुन्द-भारती (नियमसार) - गा० ३३, पृ० २०३

जीवादीदव्वाणं परिवट्टणकारणं हवे कालो ।

धम्मादिचउण्णाणं सहावगुणपज्जया होंति ।। ३३ ।।

५८. डॉ० राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (भाग १) - पृ० २६०-२६१

५९. भगवद्गीता - अ० ११, श्लो० ३२

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ।। ३२ ।।

६०. कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य - स्याद्वादमंजरी (हिंदी अनु०-डॉ० जगदीशचन्द्र जैन) - पृ० २६३-२६४

६१. (क) उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ० ५, सू० २२
वर्तना परिणाम-क्रिया परत्वापरत्वे वा कालस्य ।। २२ ।।
(ख) उत्तराध्ययनसूत्र - अ० २८, गा० १०
वत्तणालक्खणो कालो ।

६२. माधवाचार्य - सर्वदर्शनसंग्रह - पृ० १५५

६३. (क) देवेन्द्रमुनि शास्त्री - जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण - पृ० १५३
(ख) मुनि नथमल - जैनदर्शन : मनन और मीमांसा - पृ० १६६

६४. गोपालदास जीवाभाई पटेल - कुन्दकुन्दाचार्यांचे रत्नत्रय - पृ० ११

६५. जैनाचार्य श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव - बृहद्द्रव्यसंग्रह - गा० २१, पृ० ५२
दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो ।
परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो च परट्ठो ।। २१ ।।

६६. (क) कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य - स्याद्वादमंजरी - पृ० २६३-२६५
(ख) जैनाचार्य श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव - बृहद्द्रव्यसंग्रह-गा० २८, पृ० ५५
लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का ।
रयणाणं रासी इव ते कालाणु असंखदव्वाणि ।। २२ ।।

६७. कुन्दकुन्दाचार्य - पंचास्तिकाय - गा० २४, पृ० ५०

६८. जैनाचार्य श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव - बृहद्द्रव्यसंग्रह - गा० २१, पृ० ५२

६९. (क) अनुवाद मराठी - नरेन्द्र भिसीकर - नियमसार, गा० ३१, पृ० २३
(ख) कुन्दकुन्दाचार्य - पंचास्तिकाय - गा० २५, पृ० ५२

७०. ब्र० सीतलप्रसादजी-पंचास्तिकाय टीका (प्रथम भाग), गा० १०१, पृ० ११८
कालोत्ति य ववएसो सब्भावपरूवओ हवदि णिच्चो ।
उप्पण्णप्पद्धंसी अवरो दीहंतरट्ठाई ।। १०१ ।।

७१. कुन्दकुन्दाचार्य - पंचास्तिकाय(टीका - अमृतचन्द्राचार्य) - श्लो० २५, पृ० ५२ समयो निमिषः काष्ठा कला च नालो ततो दिवारात्रं
मासर्त्वयनसंवत्सरमिति कालः परायत्तः ।। २५ ।।

७२. कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य - स्याद्वादमंजरी - पृ० २६४-२६५

७३. कुन्दकुन्दाचार्य - पंचास्तिकाय - पृ० ५३-५५
७४. सं० पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (भगवई) भाग १-पृ० ५७४, श० ६, उ० १०
जीवे णं भंते! किं पोग्गली पोग्गले ?
गोयमा ! जीवे पोग्गलीवि पोग्गलेवि ।। ३६० ।।
७५. देवेन्द्रमुनि शास्त्री - जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण - पृ० १५७-१५८
(क) पूरणात् पुद् गलयतीति गलः - शब्दकल्पद्रुमकोश
(ख) भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक (भाग २) - अ-५, सु० १, पृ० ४३४
पूरणगलनान्वर्थसंज्ञत्वात् पुद्गलाः ।। २४ ।।
(ग) पूरणाद् गलनाच्च पुद्गलाः तत्त्वार्थवृत्ति ५/१
(घ) पूरणाद् गलनाद् इति पुद्गलाः - न्यायकोश, पृ० ५०२
(छ) छव्विहंसठाणं बहुवहि देहेहि पूरदिलि गलदिति पोग्गला
७६. (क) हरिवंशपुराण - ७/३६
वर्णगन्धरसस्पर्शः - पूरणं गलनं च यत् ।
(ख) उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ० ५, सू० २३
स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ।
(ग) माधवाचार्य - सर्वदर्शनसंग्रह (आर्हत-दर्शनम्) - पृ० १५३
पूरयन्ति गलन्तीति पुद्गलाः ।
७७. कुन्दकुन्दाचार्य - प्रवचनसार - अ- २, गा० ४०, पृ० १६८
वर्णरसगन्धस्पर्शाः विद्यन्ते पुद्गलस्य सूक्ष्मत्वात् ।
पृथिवीपर्यतस्य च शब्दः स पुद्गलश्चित्रः ।। ४० ।।
७८. भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक (भाग २)-अ० ५, सू० २५, पृ० ४९१
अणवः स्कन्धाश्च ।
७९. उत्तराध्ययनसूत्र - अ० ३६, गा० ११
एगतेण पुहतेण खन्धा व परमाणुणो ।
लेएगदेसे लोए य भइयव्वा ते उ खेतओ ।।
इत्तो कालविभागं तु तेसिं वुच्छं चउव्विहं ।।
८०. सं० पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (भगवई) - भाग १, श ५, उ० ७, पृ० ४८४
जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोणं अणंतं कालं ।
८१. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ० ५, सू० २५
अणवः स्कंधाश्च ।

८२. भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक - भाग २, अ० ५, सू० ३६, पृ० ७०१
द्व्याधिकादिगुणानां तु ।। ३६ ।।
८३. जैनाचार्य श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव - बृहद्‌द्रव्यसंग्रह - गा० १६, पृ० ४५
सद्दो बंधो सुहुमो थुलो संठाण भेद तम छाया ।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ।। १६ ।।
८४. पूज्यपादाचार्य-सर्वार्थसिद्धि - अ० ५, सू- २४, पृ० १७१
तमो दृष्टिप्रतिबन्धकारणं प्रकाशविरोधी ।
८५. भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक - भाग २, अ० ५, सू० १, पृ० ४३४
पूरणगलनान्वर्थसंज्ञत्वात् पुद्‌गलाः ।
८६. सं० पुप्फभिक्खू-सुत्तागमे (भगवई) - भाग १, श० ५, उ० ७, पृ० ४८३
८७. सं० पुप्फभिक्खू - अर्थागम (भगवतीसूत्र) - खण्ड द्वितीय, श० १, उ० १०, पृ० ६६१
८८. कुन्दकुन्दाचार्य - पंचास्तिकाय - गा० ७७, ७८, ८०, ८१, पृ० १३१-१३८
८९. आचार्यप्रवर श्रीआनंद ऋषि अभिनन्दन ग्रंथ - सं० श्रीचन्द सुराना "सरस" (श्री पुष्कर मुनिजी - जैनदर्शन में अजीव तत्त्व) - पृ० २४३
कारणमेव तदन्त्यसूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः ।
९०. सं० शोभाचंद्र भारिल्ल - मरुधरकेसरी मुनिश्रीमिश्रीमलजी महाराज अभिनंदनग्रंथ - पृ० २१०-२११
(पं० अजितकुमार शास्त्री - जैनसिद्धान्त में कार्यकारण व्यवस्था)
९१. जैनाचार्य श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव - बृहद्‌द्रव्यसंग्रह - गा० २३, पृ० ५६
एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवव्व-भेददो दव्वं ।
उत्तं कालविजुत्तं णादव्वा पंच अत्थिकाया दु ।। २३ ।।
९२. उत्तराध्ययनसूत्र - अ० २८, गा० ७
धम्मो अहम्मो आगासं कालो पुग्गल-जन्तवो ।
एस लोगो ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं ।। ७ ।।
९३. (क) देवेन्द्रमुनि शास्त्री - जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण - पृ० १६३-१६५ फुटनोट दर्शनशास्त्र का इतिहास - पृ० १२९
(ख) आचार्यप्रवर श्रीआनंद ऋषि अभिनंदनग्रंथ - सं० श्रीचन्द सुराना 'सरस' पृ० २४०-२४४
(पुष्करमुनिजी - जैन दर्शन में अजीव तत्त्व)

९४. मुनिश्री नगराजजी - जैनदर्शन और आधुनिक विज्ञान - पृ० ४७
९५. मुनिश्री नगराजजी - जैनदर्शन और आधुनिक विज्ञान - पृ० ४६-४७
९६. मुनिश्री नगराजजी - जैनदर्शन और आधुनिक विज्ञान - पृ० ४६-४७
९७. सं० पुष्फभिक्खू-सुत्तागमे (अनुयोगद्वार-प्रमाणद्वार)-भाग-२,पृ० ११२४-११२५ परमाणू दुविहे पण्णत्ते । तंजहा - सुहुमे य ववहारिय य ।
९८. सं० पुष्फभिक्खू - सुत्तागमे (अनुयोगद्वार-प्रमाणद्वार) - भाग २, पृ० ११२५ अणंताणंताणं सुहुमपोग्गलाणं समुदयसमिइसमागमेणं ववहारिए परमाणुपोग्गले निप्फज्जइ ।
९९. सं० पुष्फभिक्खू - सुत्तागमे भाग १ (भगवई) - स० २५, उ० ३, पृ० ८५८ भाग १ (भगवई)
१००. सं० पुष्फभिक्खू-सुत्तागमे (ठाणे)-भाग १, अ०४, उ०१, पृ०२२७ चउव्विहे पोग्गलपरिणामे, वण्णपरिणामे गंधपरिणामे रसपरिणामे फासपरिणामे।। ३२८।।
१०१. सं० देविदास दत्तात्रेय वाडेकर-मराठी तत्त्वज्ञान-महाकोश-प्रथम खण्ड,पृ०२-३

**संदर्भग्रंथ** - थिली, एस : ए हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी (न्यूयॉर्क, १९१४; सुधा० आ० ३, संपादक - एल्० वुड, १९५१); दासगुप्त, एस०; ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसफी, खं० १ (कैंब्रिज, १९२२) श्री ह० दीक्षित

❋

# चतुर्थ अध्याय
# पुण्यतत्त्व और पापतत्त्व
## [Virtue & Sin]

जैन-दर्शन के नव तत्त्वों में से जीव और अजीव इन तत्त्वों का विवेचन द्वितीय एवं तृतीय अध्यायों में किया गया। तीसरे पुण्य तत्त्व का और चौथे पाप तत्त्व का विवेचन चतुर्थ अध्याय में किया जायेगा।

भारतीय संस्कृति के समस्त विचारकों ने पुण्य-पाप के संबंध में खूब लिखा है। मीमांसा-दर्शन ने पुण्य-साधना पर बहुत जोर दिया है। मीमांसा-दर्शन के अनुसार पुण्य के द्वारा सुख प्राप्त करना और उसका उपभोग करना ही जीवन का ध्येय बताया गया है। परन्तु जैन-दर्शन में पुण्य को इतना महत्त्व नहीं दिया गया है।

जिस व्यक्ति को आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है, जो व्यक्ति धर्म का स्वरूप नहीं जानता, वही पुण्य को अधिक महत्त्व देता है तथा पुण्य ही साधन है, पुण्य ही सब कुछ है ऐसा कहता है। परन्तु जैन-दर्शन का मत है कि पुण्य संसार में परिभ्रमण कराने वाला है। वह आत्मा को संसार से बाँधने वाला है, मुक्त करने वाला नहीं है। जैसे पाप बंधन है, वैसे ही पुण्य भी बंधन है। परन्तु पुण्य-पाप में फर्क इतना ही है कि पाप लोहे की बेड़ी है तो पुण्य सोने की बेड़ी है। लोहे की बेड़ी काली होने से अच्छी दिखाई नहीं देती जबकि सोने की बेड़ी चमकदार होने से सुंदर दिखाई देती है। परन्तु सोने की बेड़ी चमकदार होने पर भी बंधनकारक ही होती है। वह भी व्यक्ति को बाँधकर रखती है।

सोने की बेड़ी तथा लोहे की बेड़ी दोनों ही आत्मा की परतंत्रता का कारण हैं। किन्तु इष्ट फल और अनिष्ट फल के भेद से पुण्य और पाप में भेद है। जो इष्ट गति, जाति, शरीर, इन्द्रिय आदि विषयों के हेतु हैं, वे पुण्य हैं। और जो अनिष्ट गति, जाति, शरीर, इन्द्रिय आदि के कारण हैं, वे पाप हैं। शुभ योग से पुण्य का आस्रव और अशुभ योग से पाप का आस्रव होता है।[1]

तलवार के सोने की बनी हुई होने से उसमें कोई अन्तर नहीं आता। वह सोने की होने पर भी प्राणनाशक ही होती है।[2] इसलिए पारमार्थिक दृष्टि से पुण्य सुशील न होकर कुशील है, उपादेय (ग्राह्य) न होकर हेय (त्याज्य) है। पुण्य को आज की भाषा में प्रथम श्रेणी का कारावास और पाप को कठोर कारावास कहा जा सकता है। मोक्षप्राप्ति की दृष्टि से दोनों ही त्याज्य हैं।

पुण्य-पाप के लिए सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी का दृष्टान्त पंचास्तिकाय में भी दिया गया है। जिस प्रकार लोहे की बेड़ी मनुष्य को बद्ध करती

है, उसी प्रकार सोने की बेड़ी भी करती है। इस प्रकार किया हुआ शुभ या अशुभ कर्म जीव को पुण्य या पाप कर्म से बाँधता है। मोक्ष का वास्तविक कारण शुद्धोपयोग है। उसे जो व्यक्ति नहीं जानता, वह अज्ञानवश पुण्य को मोक्ष का कारण समझकर पुण्य की इच्छा रखता है। वस्तुतः वह संसार-भ्रमण का कारण है।[३]

बंधन सोने का हो या लोहे का, वह अन्ततः दुःख देनेवाला ही होता है। अति मूल्यवान् लकड़ी के प्रहार से भी वेदना ही होती है।[४] इसलिए जैन-धर्म का कहना है कि अध्यात्म-साधना का उद्देश्य पुण्य नहीं है और पुण्य-प्राप्ति के लिए की गई साधना आत्मसाधना नहीं है। मोक्षप्राप्ति के लिए तो पुण्य और पाप दोनों ही त्याज्य हैं।

व्यावहारिक दृष्टिकोण से पाप से पुण्य श्रेष्ठ है। क्योंकि पाप के कारण नरक- प्राप्ति आदि तीव्र वेदनाएँ प्राप्त होती हैं। दुनिया में निन्दा, अपयश और कष्ट सहन करने पड़ते हैं। परंतु पुण्य के कारण स्वर्गीय और रमणीय सुख की उपलब्धि होती है। इस दुनिया में यश आदि भी मिलता है। जिस प्रकार विश्राम के लिए तीव्र धूप में बैठने की अपेक्षा वृक्ष की शीतल छाया में बैठना अधिक श्रेयस्कर तथा सुखदायी होता है, उसी प्रकार जीवन में पाप की अपेक्षा पुण्य का आश्रय लेना अधिक श्रेयस्कर है। पुण्य जहाज के समान है। जब तक हमारे सामने संसाररूपी नदी या सागर है, तब तक पुण्यरूपी जहाज की जरूरत है। संसाररूपी नदी को पार कर लेने पर पुण्य को छोड़ना पड़ता है।[५]

## पुण्य-पाप की व्याख्याएँ

जो आत्मा को प्रसन्न करता है, वह पुण्य है अथवा जिसके द्वारा आत्मा सुख-शांति का अनुभव करता है, वह सद्वेदनीय आदि पुण्य है (जिसके उदय से देव आदि चार गतियों में शारीरिक और मानसिक सुख प्राप्त होता है, उसे सत्-वेदनीय कहते हैं)[६]।

पुण्य के विपरीत पाप है जो आत्मा में शुभ परिणाम नहीं होने देता। वह असत् देवनीय आदि पाप है (जिसके उदय से नरक आदि गतियों में अनेक प्रकार के दुःख प्राप्त होते है, उसे असत्-वेदनीय कहते हैं)।[७]

जो पुद्गलकर्म शुभ है वह पुण्य और जो पुद्गलकर्म अशुभ है वह पाप है, ऐसा सर्वज्ञों ने कहा है।

जो शुभ प्रवृत्ति आत्मा को सुख देती है, वह पुण्य है और जो अशुभ प्रवृत्ति आत्मा को दुःख देती है, वह पाप है।[८]

पापी विकार मनुष्य की उन्नति में बाधक होते हैं। पाप मनुष्य को सन्मार्ग पर नहीं जाने देता तथा मनुष्य का विकास नहीं होने देता। मनुष्य को पाप से अथवा दुष्कर्म से हमेशा दूर रहना चाहिए। सचमुच पाप का मार्ग अंधकार से भरा हुआ है।[९]

कुन्दकुन्दाचार्य जी ने पंचास्तिकाय में कहा है कि जीव के अशुभ परिणाम के निमित्त से पुद्‌गलवर्गणा में अशुभ कर्मरूप परिणति होती रहती है, वही पाप है।

जो अशुभ परिणाम जीव को दुःख देते हैं, वे पाप हैं। जो आत्मा को शुभ कर्म नहीं करने देता, वह पाप है उदाहरणार्थ असत्‌वेदनीय आदि। अनिष्ट पदार्थों की प्राप्ति जिसके कारण होती है ऐसे कर्म को पाप कहते हैं।[१०]

जो पुण्य का शोषण करता है और जीवरूपी वस्त्र को मलिन करता है, वह पाप है।[११]

जो शुभ कार्य द्वारा आत्मा को पावन करता है, वह पुण्य है और जो अशुभ कार्य द्वारा आत्मा का पतन करता है, वह पाप है।[१२]

जो प्रकट है वह पुण्य है और जो गुप्त है वह पाप है। जो कृत्य अप्रच्छन्नता (प्रकट रूप) से किया जाता है, वह कृत्य पुण्य है, इसके विपरीत जो कृत्य प्रच्छन्नता (गुप्त रूप या अप्रकट रूप) से किया जाता है, वह पाप है।[१३]

परिपूर्णानन्द वर्मा ने पुण्य-पाप के बारे में कहा है - सत्य बोलना, चोरी न करना, दूसरे का धन न हड़पना, हत्या न कराना, माता-पिता को सम्मान देना, परस्त्री - गमन न करना ये सभी बातें पुण्य, सदाचार तथा नैतिकता समझी जाती हैं। परंतु व्यहार में ऐसा दिखाई नहीं देता। अपराध और पाप की व्याख्या इतनी बड़ी है कि कोई कह नहीं सकता कि उसने हमेशा धर्म, समाज, नैतिकता और न्याय से ही काम किया है या नहीं। जो अच्छा है वह अच्छा ही है और जो बुरा है, वह बुरा ही है। इन दोनों के आदि, मध्य और अंत के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। फिर भी उसे अपने किये हुए कर्म का फल आज नहीं तो कल जरूर मिलना है।[१४]

हे मानव! अगर मोक्ष या स्वर्गादि सुख प्राप्त करने की तेरी इच्छा है तो पुण्य कर। उसके बिना कोई भी सुख तुझे प्राप्त नहीं हो सकता।[१५]

निषिद्ध कर्म के अनुष्ठान अर्थात् - विहित कर्म के त्याग से पाप की उत्पत्ति होती है।[१६-१७] अपने दोषों को छुपाना और दूसरे के दोषों को दिखाना ही पाप है।[१८]

## पूर्वकृत पाप-पुण्य

पुण्य का फल अच्छा और पाप का फल बुरा होता है, ऐसा कहा जाता है। पुण्य का फल भोगना सुखद होता है और पाप का फल भोगना दुःखद होता है। पुण्य से आदमी सुखी होता है और पाप से दुःखी होता है। फिर भी दुनिया में अनेक जगह इसके विरुद्ध बातें दिखाई देती हैं। जो पुण्य कर्म करते हैं, अपने जीवन में सत्कार्य और धर्माचरण करते हैं,वे दुःखी दिखाई देते हैं। और जो रात-दिन पापकार्यो में मग्न रहते हैं हिंसाचार, असत्य-भाषण चोरी आदि करते रहते हैं, ऐसे पाप-कर्म करने वाले लोग सुखी दिखाई देते हैं। फिर यहाँ पुण्य का फल अच्छा और पाप का फल बुरा क्यों नहीं दिखायी देता ?

इसका उत्तर ज्ञानी पुरुष इस प्रकार देते हैं कि पुण्यवान दुःखी और पापी लोग सुखी ऐसा जो दिखाई देता है, यह उनके वर्तमान पुण्य का फल नहीं है वरन् उनके द्वारा किये गये पूर्व जन्म के पाप और पुण्य का फल है। वर्तमान में जो पुण्यवान् और पापी लोग, पुण्य और पाप का उपार्जन करते हैं उसका फल उन्हें भविष्य में अवश्य मिलेगा, मिले बिना नहीं रह सकता।

किसान जब फसल काटता है, वह कटाई उसके प्रथमतः बोये गये बीजों की होती है। वर्तमान में बोयी गयी फसल तो किसान भविष्य में पकने पर ही काटेगा । इसी प्रकार वर्तमान में पुण्यवान मनुष्य ने भूतकाल में जो पाप का बीज बोया था, उसका फल उसे वर्तमान में दुःखरूप में मिलता है। परन्तु साधारण लोग पुण्यवान को दुःखी और पापी लोगों को सुखी देखकर पुण्योपार्जन के विषय में उदासीन होते है। ऐसे लोगों को केवल वर्तमान पर ही दृष्टि नहीं रखनी चाहिए। इसीलिए कहा गया है -

*'वर्तमानदृष्टिपरो हि नास्तिकः'*

जो पुण्य-पाप की भूतकालीन करनी का विचार न करते हुए केवल वर्तमान के फल पर ही दृष्टि रखता है, वह नास्तिक है।[१९]

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने *'कर्म-बंध का कारण संसार है'* ऐसा कहा है।[२०]

भगवान् महावीर ने कहा है - 'इस दुनिया का प्रत्येक प्राणी स्वयंकृत कर्म से ही संसार-भ्रमण करता है। फल भोगे बिना संचित कर्म से छुटकारा नहीं मिलता।[२१]

भगवान् महावीर आगे कहते हैं कि अच्छे (सुचिण्ण) कर्म का फल शुभ होता है और बुरे (दुचिण्ण) कर्म का फल अशुभ होता है। अर्थात् प्रशस्त भाव से किए गये दान आदि सत् कर्मों का फल शुभ होता है और कुत्सित भाव से किए गये कार्य का फल अशुभ होता है। शुभ आचरण से पुण्य का बंध होता है। उसका फल सुखरूप होता है। अशुभ आचरण से पाप का बंध होता है। उसका फल दुःखरूप होता है। जिस प्रकार सदाचार सफल होता है, उसी प्रकार दुराचार भी सफल होता है।[२२]

जिस प्रकार पुण्य का फल भोगना पड़ता है, उसी प्रकार पाप का भी फल भोगना पड़ता है। जिस प्रकार पापी चोर स्वयं के द्वारा की गई सेंध में पकड़ा जाकर अपने ही दुष्कृत्य से दुःखी होता है, उसी प्रकार इहलोक और परलोक में पाप-कर्म के कारण जीव को दुःख प्राप्त होता है, क्योंकि फल भोगे बिना कृतकर्म से मुक्ति नहीं मिलती।[२३]

समस्त प्राणी स्वकृत कर्म से और अव्यक्त दुःख से दुःखी हैं। जन्म, जरा वार्धक्य और मृत्यु से पीड़ित, भयाकुल, शठ जीव, बार-बार संसार में भ्रमण करते हैं।[२४]

जीव पूर्वकृत कर्म से ही फल भोगता है। जो जीव दुःखी हैं, वे अपने द्वारा किये गये दुष्कृत्यों से दुःखी होते हैं। जैसे दुष्कृत्य होते हैं, वैसे ही उनके परिणाम होते हैं।[२५]

जीव जब दुष्कृत्य करता है तब पाप-कर्म का बंध होता है, और जब पाप-कर्म का बंध होता है, तब दुःख उत्पन्न होता है। उसमें कर्म-पुद्गल का दोष नहीं होता वरन् दुष्ट आत्मा का दोष होता है।

आत्मा स्वयं अपने सुख-दुःख को उत्पन्न करता है। पाप का आचरण करने वाला आत्मा नरक की वैतरणी नदी है क्योंकि पाप नरक का हेतु है। इसलिए ऐसा आत्मा यातनाओं का हेतु होने के कारण नरक में विद्यमान कूटशाल्मली वृक्ष के समान है। इसी प्रकार पुण्य करने वाला आत्मा स्वयं ही इष्ट स्वर्ग और अपवर्ग का सुख अर्थात् मोक्ष देने वाला होने से कामधेनु है, और चित्ताह्लादक होने से नन्दनवन के समान है। आत्मा स्वयं ही स्वयं का मित्र और शत्रु है अर्थात् आत्मा ही कर्ता और भोक्ता है।[२६]

इस प्रकार सुख-दुःख देने वाला दूसरा कोई नहीं अपितु स्वयं का आत्मा ही है। उसका निवारण करने वाला भी आत्मा ही है। जब आत्मा दुराचरण में फँसता है, तब वह उसका शत्रु बनता है और जब आत्मा सदाचरण करता है, तब वह उसका मित्र होता है।

जो दुःख स्वयंकृत है, उसके आने पर दुःखी नहीं होना चाहिए। इस दुःख से मुक्त होने का मार्ग दुःख, शोक या संताप नहीं है। अपितु ऐसा विचार करना चाहिए कि मैंने जो कुछ किया, यह उसी का फल है। मैंने अगर ऐसा कर्म नहीं किया होता तो मुझे दुःख प्राप्त नहीं होता। यदि मैंने आज दुष्कृत्य नहीं किया, तो भविष्य में मुझे दुःख नहीं मिलेगा। कृतकर्म का आत्मा द्वारा भोग किये जाने पर ही उसकी कर्म से मुक्ति होती है अथवा तप द्वारा उसका क्षय किया जा सकता है।[२७]

सूत्रकृतांग आगम में कहा गया है कि प्रत्येक मनुष्य को यह विचार करना चाहिए कि मैं ही दुःखी नहीं हूँ। संसार में रहने वाले समस्त प्राणी दुःखी हैं। दुःख उत्पन्न होने पर क्रोधादि से रहित होकर उसे समभावपूर्वक सहन करें, दुःखी न हों।[२८]

जो मनुष्य दुःख उत्पन्न होने पर शोकविह्वल होता है, और मोह से ग्रस्त होकर कामभोग की लालसा से पाप करता है, वह अतीव दुःख का संचय करता है। इसके विपरीत जो समभाव से दुःख सहन करता है शोकविह्वल नहीं होता वह कर्मों का क्षय करता है और दुःख से दूर रहकर सुख का संचय करता है।

## द्रव्यपुण्य तथा भावपुण्य

शुभ कर्म से पुण्य होता है - पुण्य के दो भेद हैं। द्रव्यपुण्य और भावपुण्य। आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय में कहा है कि जिसमें मोह, राग एवं द्वेष होते हैं, उसे अशुभ परिणाम भोगने पड़ते हैं। जिसका चित्त निर्मल है उसे शुभ परिमाण की प्राप्ति होती है। जीव के शुभ परिणाम पुण्य हैं और अशुभ परिणाम

पाप हैं। शुभ और अशुभ परिणाम से जीव की जिन कर्म-वर्गणाओं (कर्म के पुद्‌गल-स्कन्धों यानी कर्मसमूहों ) का ग्रहण होता है, वे क्रमशः द्रव्यपुण्य हैं। जीव के शुभ परिणाम भावपुण्य हैं। शुभ परिणाम से पुद्‌गल के जो कर्मवर्गणारूप शुभ पुद्‌गल आत्म-प्रदेश में प्रवेश कर उसके साथ बँध जाते हैं। वे द्रव्य पुण्य हैं।[२९]

भावपुण्य के निमित्त से उत्पन्न होने वाले सद्वेदनीय आदि शुभप्रकृतिरूप पुद्‌गल-परमाणुओं का पिण्ड द्रव्यपुण्य है।

दान, पूजा, षडावश्यक आदि रूप जीव के शुभ परिणाम भावपुण्य हैं। दूसरे के लिए शुभ भावना का चिंतन करना भी भावपुण्य है।[३०]

इष्ट पदार्थ की प्राप्ति जिस कारण से होती है, वह द्रव्यपुण्य है।

## पुण्य के अन्य दो भेद :-

(१) पुण्यानुबंधी पुण्य एवं (२) पापानुबंधी पुण्य

जो पुण्य, पुण्य की परम्परा को जन्म देता है अर्थात् जिस पुण्य को भोगते समय पुण्य का बंध होता है, वह पुण्यानुबंधी पुण्य है। उदाहरणार्थ पूर्वजन्म के पुण्य से सब प्रकार के सुखसाधन प्राप्त हुए। यदि वह मोह के कारण उनसे मत्त न होकर आत्महित के उद्देश्य से मुक्ति की अभिलाषा करता है और पूर्वजन्म के पुण्य का उपभोग कर नए पुण्य का बंध करता है तो वह पुण्यानुबंधी पुण्य है।

जो पुण्य नये पाप के बंध का कारण बनता है वह पापानुबंधी पुण्य है। अर्थात् पूर्वजन्म के पुण्य के कारण सब सुखोपभोग के साधन उपलब्ध हैं तथापि मोह की प्रबलता के कारण असदाचारी बनकर पाप करना - पापबन्ध का कारण होने से पापानुबंधी पुण्य है।

पुण्यानुबंधी पुण्य की उपमा पथ-प्रदर्शक से दी जा सकती है। यह पुण्य पथ-प्रदर्शक के समान मोक्ष का मार्ग दिखाता रहता है।

पापानुबंधी पुण्य की उपमा चोर से दी जा सकती है। जिस प्रकार चोर संपत्ति लूटकर लोगों को भिखारी बनाता है, उसी प्रकार पापनुबंधी पुण्य भी जीव को भिखारी के समान बनाता है। वह पुण्य की सारी संपत्ति लूट लेता है। इस दृष्टि से पुण्य को उपादेय और पाप को हेय माना गया है।[३१]

जीव के दया, दान आदि रूप शुभ परिणाम को पुण्य कहा गया है। सामान्य लोगों को पुण्य आकर्षक लगता है, परन्तु ज्ञानी लोगों को पुण्य पाप के समान ही बंधनरूप लगता है। वस्तुतः पुण्य, पाप के समान अनिष्ट नहीं है, ऐसा ज्ञानी भी कहते हैं। इसीलिए वे एक सीमा तक पुण्य-प्रवृत्ति का आचरण करते रहते हैं। उनका यह पुण्य पुण्यानुबंधी पुण्य है और मोक्ष का कारण है।

सामान्य लोगों के लिए पाप से पुण्य ज्यादा अच्छा है परन्तु उनका पुण्य तृष्णायुक्त होने से पापानुबंधी होता है, वह संसार में डुबोने वाला होता है। इस प्रकारके पुण्य का त्याग असत्य आवश्यक है। सम्यक्‌दृष्टि का पुण्य पुण्यानुबन्धी पुण्य है और मिथ्यादृष्टि का पुण्य पापानुबंधी पुण्य है। सम्यक्‌दृष्टि का पुण्य तीर्थंकर-प्रवृत्ति आदि के बंध के कारण विशिष्ट प्रकार का है और मिथ्यादृष्टि का

पुण्य निदानसहित (अमुक फल प्राप्त हो ऐसी इच्छा से युक्त) और भोगरूप होने से कुगति का कारण है। इस प्रकार के पुण्य का त्याग करना परमार्थ के लिए श्रेयस्कर है।[३२]

## पुण्य के नौ भेद

जो आत्मा को पवित्र करता है, जिसके कारण जीव को इच्छानुकूल सुख-उपभोग प्राप्त होते हैं, यश-कीर्ति मिलती है, उसे पुण्य कहते हैं। ऐसा पुण्य शुभ भावना के कारण प्राप्त होता है दीन-दुःखियों पर दया करना, उनकी सेवा-शुश्रूषा करना, गुणी लोगों पर प्रमोद भाव रखना, परोपकार करना आदि अनेक प्रकार से पुण्य-सम्पादन किया जाता है।

जैनागम में पुण्य नौ प्रकार का कहा गया है। जो इस प्रकार हैं -

| | | |
|---|---|---|
| (१) अन्नपुण्य | (४) लयनपुण्य | (७) वचनपुण्य |
| (२) पानपुण्य | (५) शयनपुण्य | (८) कायपुण्य |
| (३) वस्त्रपुण्य | (६) मनपुण्य | (९) नमस्कारपुण्य[३३] |

(१) **अन्नपुण्य** - भूखों दुखियों या जिन्हें अतीव आवश्यकता है ऐसे व्यक्तियों को भावपूर्वक अन्न देने से जो पुण्य होता है, वह अन्नपुण्य है।

(२) **पानपुण्य** - प्यासों को भावपूर्वक पानी देना पानपुण्य है।

(३) **वस्त्रपुण्य** - जो वस्त्ररहित है, ठण्ड से काँप रहा है, ऐसे व्यक्ति को वस्त्र देना वस्त्रपुण्य है।

(४) **लयनपुण्य** - आश्रयहीन यानी बेघर लोगों को आश्रय देना लयनपुण्य है।

(५) **शयनपुण्य** - जिन्हें आवश्यकता है ऐसे जनों को निद्रा के लिए साधन देना शयनपुण्य है।

(६) **मनपुण्य** - मन से दूसरों के कल्याण की भावना रखना और संपूर्ण विश्व का कल्याण हो ऐसी इच्छा करना। दान, शील, तप से प्राप्त होने वाला पुण्य मनपुण्य है।

(७) **वचनपुण्य** - वचनों द्वारा अच्छे आशीर्वाद देना, किसी का भला करना, मधुर और सत्य वचन बोलना, गुणी जनों की प्रशंसा करना तथा वचन से दूसरे को सांत्वना देना वचनपुण्य है।

(८) **कायपुण्य** - शरीर और शरीर से सम्बन्धित जितनी विद्याएँ हैं, धन तथा अन्य सुखसाधन की वस्तुएँ अथवा इन्द्रिय, बुद्धि आदि जो शरीर के अंगोपांग हैं, उनका दूसरों के कल्याण के लिए और दुःख को दूर करने के लिए उपयोग करना - कायपुण्य है।

(९) **नमस्कारपुण्य** - विद्या, बुद्धि, वय, चारित्र्य आदि में जो बड़े हैं उनके समक्ष नम्र होना, उन्हें नमस्कार करना और उनके उपकार के लिए कृतज्ञ होना, नमस्कारपुण्य है। साथ ही उनकी सेवा-भक्ति करना तथा विनयशील व्यवहार करना भी नमस्कारपुण्य है।

अभयदेवकृत स्थानांगटीका में नौ प्रकार के पुण्य बताये गये हैं। उन्होंने मन, वचन और काया के स्थान पर आसन, शुश्रूषा और दृष्टि - ये पुण्य बताये हैं।[३४]

दिगंबर-ग्रंथ सागार-धर्मामृत में प्रतिग्रहण, उच्चस्थापन, पाद-प्रक्षालन, अर्चना, प्रणाम, मनःशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और एषण (भोजन) - ये नौ दान के भेद कहे गये हैं।[३५]

अन्न, पानी, वस्त्र, स्थान और शयन के दान से; सत्प्रवृत्त मन, वचन एवं काया की सहायता से; शुभ वचन, भावना और नमस्कार करने से पुण्य का बंध होता है।

दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि अन्न, पानी, दवा आदि वस्तुओं का दान करना; विश्राम के लिए स्थान देना; मन में प्रशस्त भावना होना; वचन से मधुर, सत्य और हितकारी निर्दोष वचन बोलना; शरीर से शुभ कार्य करना; देव, गुरु और बड़ों को नमस्कार करना - इन सब बातों से पुण्य मिलता है।

पुण्य के जो नौ भेद बताये गये हैं, वे सिर्फ जैनियों के लिए ही हैं ऐसा नहीं है, वरन् किसी भी धर्म के व्यक्ति को इन नौ भेदों का पुण्य करना चाहिए। इन नौ भेदों में दान का विशेष महत्त्व बताया गया है। मन में अनुकम्पा रखकर दूसरों की मदद करना ही असली पुण्य है। जैन-धर्म में दान का श्रेष्ठत्व बहुत अधिक बताया गया है। प्राचीनकाल में ऋषभदेव आदि जो चौबीस तीर्थंकर हो गये हैं, वे दीक्षा के पूर्व एक साल तक प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख सुवर्ण-मुहरों का दान करते थे। इसीलिए जैन-धर्म में दान को अग्रस्थान दिया गया है।

पुण्य का संबंध शरीर से है इसलिए शरीर और शरीर से संबंधित जितनी सजीव और निर्जीव साधन-सामग्री अपने पास है, उसका उपयोग केवल अपने लिए न करके, जिन्हें उसकी अतीव आवश्यकता है, उन लोगों के लिए करने से पुण्य में वृद्धि होती है।

कई लोग कहते हैं कि हमारे पास धन नहीं है, साधन-सामग्री नहीं है, फिर हमें पुण्य का उपार्जन कैसे करना चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि पुण्य केवल बाह्य साधन-सामग्री और सम्पत्ति से ही उपार्जित नहीं किया जा सकता है अपितु शुभ भावना से भी उपार्जित किया जा सकता है। शरीर द्वारा सेवा करने से तथा बुद्धि, वाणी आदि के द्वारा सहयोग देने से भी पुण्य का उपार्जन होता है।

पुण्य और पाप भावना पर आधारित हैं। शुभ भावना होने पर पुण्य होता है और अशुभ भावना होने पर पाप होता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को ऐसी भावना रखनी चाहिए कि उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति, प्रत्येक कार्य तथा प्रत्येक व्यवहार पुण्यमय हो, दूसरे के कल्याण के लिये हो।

पुण्य के प्रभाव से ही मनुष्य धर्म का आचरण करता है। धर्म का आचरण करने से ही मोक्ष प्राप्त होता है। इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि

पुण्यधर्म मोक्ष-प्राप्ति का प्रबल कारण है। पुण्य के कारण ही अनुकूल और इष्ट सामग्री मिलती है।

पुण्य जन्म-मृत्यु के चक्र से छुड़ाता है। पुण्य मोक्ष-सुख का कारण है। पुण्य के उदय से ही सारे संकट नष्ट होते हैं। पुण्य ही समस्त विश्व पर शासन करने वाला है। इसलिए पुण्य हेय होने पर भी मोक्षप्राप्ति तक उपादेय है।[36]

## पुण्य का फल

नौ प्रकार का पुण्य करते समय अनेक प्रकार के कष्ट सहने पड़ते हैं, परन्तु पुण्य का फल भोगते समय सुख और शान्ति प्राप्त होती है। नौ प्रकार से बँधा हुआ पुण्य बयालीस प्रकारों से भोगा जाता है, यानी उसका फल बयालीस प्रकारों से मिलता है।[37] जो इस प्रकार हैं -

(१) सद्वेदनीय
(२) उच्चगोत्र
(३) मनुष्यगति
(४) मनुष्यानुपूर्वी
(५) देवगति
(६) देवानुपूर्वी
(७) पंचेन्द्रिय जाति
(८) औदारिक शरीर
(९) वैक्रिय शरीर
(१०) आहारक शरीर
(११) तेजस शरीर
(१२) कार्मण शरीर
(१३) औदारिक शरीर अंगोपांग
(१४) वैक्रिय शरीर अंगोपांग
(१५) आहारक शरीर अंगोपांग
(१६) वज्रवृषभनाराच-संहनन
(१७) समचतुरसंस्थान
(१८) शुभवर्ण
(१९) शुभगंध
(२०) शुभरस
(२१) शुभस्पर्श
(२२) अगुरुलघुनाम
(२३) पराघातनाम
(२४) उच्छ्वास नाम
(२५) आतप नाम
(२६) उद्योत नाम
(२७) शुभगति नाम
(२८) शुभ निर्माण नाम
(२९) त्रस नाम
(३०) बादर नाम
(३१) पर्याप्तनाम
(३२) प्रत्येकनाम
(३३) स्थिर नाम
(३४) शुभनाम
(३५) सौभाग्यनाम
(३६) सुस्वर नाम
(३७) आदेयनाम
(३८) यशोकीर्तिनाम
(३९) देवायु
(४०) मनुष्यायु
(४१) तिर्यंचायु
(४२) तीर्थंकरनामकर्म

इसका विस्तृत वर्णन जैन-तत्त्व-प्रकाश, तत्त्वार्थराजवार्तिक तथा जैन-तत्त्वादर्श आदि ग्रंथों में मिलता है।

पुण्य ऐसा तत्त्व है जो हेय और उपादेय दोनों है। इसका उल्लेख पूर्व में हो चुका है। जिस प्रकार सागर के एक किनारे से दूसरे किनारे तक जाने के लिए जहाज का उपयोग आवश्यक होता है और किनारे पर पहुँचने पर उस जहाज का त्याग भी आवश्यक होता है। दोनों कार्य किये बिना दूसरी ओर पहुँचना अशक्य है। उसी प्रकार प्रथमावस्था में पुण्य को स्वीकार करना आवश्यक है और आत्म-विकास की सीमा तक पहुँचने पर उसका त्याग भी आवश्यक है। जो प्रथमावस्था से ही पुण्य को त्याज्य समझकर, उसका त्याग कर देता है, उसकी वही दशा होती है, जो किनारे तक पहुँचने से पहले ही जहाज को बीच में छोड़ देने वाले की होती है। बीच में ही जहाज को छोड़ने वाला सागर में डूबकर मरता है और बीच में ही पुण्य को त्याग देने वाला संसाररूपी सागर में डूब जाता है।

पुण्य-फल के जो बयालीस भेद बताये गये हैं, उन से यह स्पष्ट होता है कि पंचेन्द्रिय, जाति, मनुष्य शरीर, वज्रऋषभनाराचसंहनन आदि मोक्ष की सामग्री पुण्य से ही प्राप्त होती है। पुण्य के बिना यह सामग्री नहीं मिलती और इस सामग्री के बिना मोक्षप्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए विवेकपूर्वक पुण्य का स्वरूप समझकर उसका उचित प्रकार से ग्रहण करना चाहिए।[३७]

## सुखप्राप्ति पुण्य के कारण ही -

पुण्य और पाप ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी तत्त्व हैं। एक तत्त्व के दो परिणाम नहीं होते। पुण्य सुख और दुःख दोनों का कारण नहीं है। वह केवल सुख का कारण है।

एक बार कालोदयी ने श्रमण भगवान् महावीर से पूछा - "भन्ते! क्या कल्याण-कर्म (पुण्य) जीव को अच्छा फल देने वाला है ?" भगवान् महावीर ने कहा - "हे कालोदयी, कल्याण-कर्म (पुण्य) ऐसा होता है - जब कोई पुरुष स्वच्छ तथा सुन्दर पात्र में परोसे गये रसदार, अठारह व्यंजनों से युक्त और औषधि-मिश्रित अन्न का सेवन करता है; तब वह आरम्भ में उसे अच्छा नहीं लगता। परन्तु पाचन होने पर वह सुरूपता, सुवर्णता, सुगंधता, सुरसता, सुस्पर्शता, इष्टता, कांतियुक्तता, प्रियता, शुभता, मनोज्ञता तथा ऊर्ध्वता आदि उत्पन्न करता है। वह बार-बार सुखरूप परिणाम उत्पन्न करता है, दुःखरूप नहीं। उसी प्रकार, हे कालोदयी! प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तदान, मैथुन-परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलहव्याख्यान, पैशुन्य परपरिवाद रति-अरति, मायामृषा और मिथ्यादर्शन रूप शल्यों का विरमण (त्याग) - आरम्भ में मनुष्य हो अच्छा नहीं लगता। परन्तु बाद में परिणाम के समय सुखरूपता, सुवर्णता आदि भाव उत्पन्न करता है और बार-बार सुखरूप परिणाम उत्पन्न करता है, दुःखरूप नहीं। इसलिए हे कालोदयी! कल्याण-कर्म (पुण्य) जीव को अच्छा फल देने वाला होता है, ऐसा कहा गया है।"

पुण्य से सुख ही प्राप्त होता है, दुःख लेश मात्र भी नहीं होता।[३८]

## पुण्य की महिमा

पुण्य से मनुष्य को स्वर्ग की प्राप्ति होती है और उसी के कारण मोक्ष की भी प्राप्ति होती है। पुण्य से धर्म की प्राप्ति भी होती है। धर्म से अधिक लाभदायक वस्तु कौन-सी है ? धर्म से श्रेष्ठ कोई वस्तु नहीं है और धर्म को भूल जाने जैसी कोई बुराई भी नहीं है।

पुण्य का फल क्या होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरों की ऋद्धि पुण्य का फल है। पुण्य के कारण ही चक्रवर्ती के अनुरूप रूप, सम्पत्ति अभेद्य शरीर का बंधन, अतीव उत्कट निधि, रत्नऋद्धि, हाथी, घोड़े, अन्तःपुर का वैभव, भोगोपभोग, ऐश्वर्य आदि प्राप्त होते हैं।

पुण्य के प्रभाव से अंधे प्राणी को दृष्टि मिलती है, वृद्ध लावण्ययुक्त होता है, निर्बल प्राणी सिंह के समान बलिष्ठ हो जाता है तथा विकृत शरीर वाला व्यक्ति

कामदेव के समान सुन्दर बनता है। ये प्रशंसनीय बातें दुर्लभ होने पर भी पुण्योदय से प्राप्त होती हैं।

पुण्य और धर्म के प्रभाव से असत्य-वचन भी सत्य होता है और सारे सुख प्राप्त होते हैं।[१०]

## असली पुण्यवान् कौन?

पुण्यशाली व्यक्ति को यद्यपि संपूर्ण शरीर, उत्तम कुल, आर्यक्षेत्र, परिपूर्ण पंचेन्द्रिय आदि प्राप्त होते हैं अर्थात् पुण्यवान के लिए कोई भी अपूर्णता नहीं दिखाई देती फिर भी कुछ लोग दरिद्र, मंदबुद्धि, कुपत्नी या कुपुत्र से युक्त क्यों दिखाई देते हैं? इसी प्रकार कुछ अच्छे लोग दुःखी दिखाई देते हैं, तब क्या यह मान लिया जाय कि वे लोग पुण्यहीन हैं? वस्तुस्थिति यह है कि प्रत्येक मनुष्य को यह सब अपने पूर्व-पुण्यों के कारण प्राप्त होता है। परंतु वर्तमान में उन्हें वास्तविक रूप से पुण्यवान् नहीं कहा जाता। जिसके पास पुण्य की अधिकता है या जो नये पुण्य की प्राप्ति अधिक मात्रा में करता है, वही वर्तमान में पुण्यवान् कहा जाता है। पुण्यवान् शब्द अधिक पुण्य के अस्तित्त्व का द्योतक है। उदाहरणार्थ - जिसके पास अधिक धन है, उसे ही धनवान कहते हैं और उस धन का उपयोग जो व्यक्ति वर्तमान अवस्था में समाज के लिए करता है, वही व्यक्ति पुण्यवान् समझा जाता है।

जिसके पास विपुल पुण्यसंचय है या जो बड़ी मात्रा में पुण्य का उपार्जन करता रहता है, ऐसे किसी भी व्यक्ति को सम्पत्ति, पत्नी, पुत्र होते हुए भी पुण्यवान् नहीं कहा जाता। कोई चोरी, लूटमार या बुरा कर्म करके भी सम्पत्ति कमा लेता है, तो उस पाप-कर्म के द्वारा प्राप्त हुई सम्पत्ति के कारण, क्या हम उस धनवान् को पुण्यवान् कह सकते हैं ? किसी को पत्नी प्राप्त हुई और पुत्र भी प्राप्त हुआ, परन्तु यदि वे हमेशा बीमार और दुःखी रहते हों या वे आज्ञाकारी और विनम्र न हों तो क्या उस व्यक्ति को केवल पत्नी तथा पुत्र होने से ही पुण्यवान कहा जा सकता है?

आजकल बहुत से लोग बाह्य वैभव और ऐश्वर्य देखकर व्यक्ति को प्रायः पुण्यवान समझते हैं। जिस व्यक्ति के पास धन, सम्पत्ति नहीं है न्याय्य मार्ग से की हुई अपनी कमाई से जो संतुष्ट है, जिसके हृदय में दया है, जो अपनी शुभेच्छाएँ, सद्भावनाएँ और शुभकामनाएँ दुनिया के दुःखी लोगों के लिए व्यक्त करता है, दुःखी लोगों के आँसू पोंछता है और यथाशक्ति अपने शरीर से भी दूसरे की सहायता करता है, क्या ऐसा व्यक्ति पुण्यवान् नहीं है? जरूर है।

प्रश्न उठता है कि हजारों रुपये प्रतिदिन खर्च करने वाले परन्तु कठोर मन वाले व्यक्ति पुण्यवान् हैं या दुःखी और दरिद्र व्यक्ति को देखकर द्रवीभूत होने वाले, बाह्य दृष्टि से गरीब परंतु अंतर्दृष्टि से अमीर व्यक्ति पुण्यवान हैं? इसका उत्तर यह है कि जो मन से अमीर हैं, वे ही सच्चे अमीर हैं। जिनका जीवन सादा है, वे ही सच्चे पुण्यवान् हैं।[११]

## उपयोग का अर्थ

उपयोग आत्मा का लक्षण है इसीलिए उमास्वातिजी ने कहा है - 'उपयोगो लक्षणम्' (तत्त्वार्थसूत्र २/८)। आत्मा संसारी हो या सिद्ध हो, वह किसी भी अवस्था में उपयोगशून्य नहीं रहता। उपयोग आत्मा का त्रैकालिक गुण है। सामान्यतः उपयोग के दो भेद हैं - (१) ज्ञानोपयोग और (२) दर्शनोपयोग। इन्हीं को दूसरे शब्दों में क्रमशः साकारोपयोग और निराकारोपयोग कहते हैं। सामान्य पदार्थ का ज्ञान दर्शनोपयोग कहलाता है और विशेष पदार्थ का ज्ञान ज्ञानोपयोग कहलाता है। आत्मा का उपयोग स्वयंसिद्ध होता है। मोह का उदय उसे मलिन करता रहता है।

ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं और दर्शनोपयोग के चार भेद हैं। इस तरह उपयोग के बारह भेद हैं।[४२]

उपयोग का विस्तृत वर्णन जीव तत्त्व में किया जा चुका है। यहाँ शुभोपयोग और अशुभोपयोग के संदर्भ के कारण उपयोग पर विचार किया जा रहा है।

## शुभोपयोग और अशुभोपभोग

जीवद्रव्य चैतन्यस्वरूप है। वह जानना और देखना इस दृष्टि से दो प्रकार का है। जानना अर्थात् ज्ञान और देखना अर्थात् दर्शन। आत्मा का चैतन्य-परिणाम निश्चय से शुभरूप और अशुभरूप है। ज्ञान तथा दर्शनरूप उपयोगों के शुद्ध और अशुद्ध इस प्रकार से दो अन्य भेद भी हैं।

जो वीतराग उपयोग है, वह शुद्धोपयोग है और जो सराग उपयोग है, वह अशुद्धोपयोग है। अशुद्धोपयोग भी विशुद्ध (मंदकषाय) और संक्लेश (तीव्रकषाय) भेदों से दो प्रकार का है। विशुद्ध रूप शुभोपयोग है और संक्लेश रूप अशुभोपयोग है।[४३]

आचार्य उमास्वाति ने कहा है कि शुभोपयोग पुण्यबन्ध का हेतु है और अशुभोपयोग पापबन्ध का हेतु है। श्रीविद्यानन्दजी ने शुभोपयोग और अशुभोपयोग की व्याख्या इस प्रकार की है - सम्यग्दर्शन से युक्त योग शुभ और शुद्ध है तथा मिथ्यादर्शन से युक्त योग अशुभ और अशुद्ध है।[४४]

तत्त्व पर श्रद्धा सम्यग्दर्शन है। तात्पर्य यह है कि वस्तु का यथार्थ ग्रहण सम्यग्दर्शन है। जिस प्रकार घर में दरवाजे, तालाब में झरने और नौका में छिद्र होते हैं, उसी तरह जीव के शुभ और अशुभ योग होते हैं। जिस प्रकार दरवाजे से घर में प्रवेश किया जाता है, उसी तरह योग से कर्मपुद्गल (कर्मसमूह) आत्म-प्रदेश में आते हैं। आस्रव करते हैं।

जिस प्रकार जल का आगमन झरने के द्वार से होता है, उसी प्रकार योग द्वारा आत्मा में कर्म आते हैं इसलिए योग को आस्रव कहते हैं। जिस प्रकार बहकर आयी हुई धूल गीले वस्त्र के चारों और चिपकती है, उसी प्रकार योग द्वारा लाये गये कर्मरूपी धूलिकणों को कषायरूपी पानी से गीली हुई आत्मा चारों ओर से

ग्रहण करती है अथवा जिस प्रकार लोहे का तप्त गोला पानी में डालने पर सर्वांग से पानी को खींचता है, उसी प्रकार कषाय-संतप्त जीव योग द्वारा लाये गये कर्मों को सब ओर से ग्रहण करता है।[४५]

शुभ और अशुभ इन दो भावों का परिणमन होता रहता है। क्योंकि जीव परिणामशील है इसलिए वह शुभ, अशुभ इनमें से किसी भी भाव के रूप में परिणमन करता है अगर आत्मा स्वभावतः ही अपरिणामी (कूटस्थनित्य) होता, तो यह परिणमन नहीं होता।

आत्मा जब शुद्ध भाव-स्वरूप में परिणत होता है, तब निर्वाणसुख प्राप्त करता है। जब शुभ-भावरूप परिणत होता है, तब स्वर्गसुख प्राप्त करता है। और जब अशुभ-भावरूप परिणत होता है, तब हत्यारा, हीन मनुष्य नारक या पशु आदि बनकर हजारों दुःखों से पीड़ित होकर चिरकाल तक इस घोर संसार में बड़े कष्ट से भ्रमण करता है।[४६]

यदि जीव का उपयोग शुभ हो तो वह पुण्यकर्म संचित करता है और अशुभ हो तो पापकर्म संचित करता है। इन शुभ और अशुभ उपयोगों के अभाव में कर्मबन्ध नहीं होता ।[४७]

हिंसा, चोरी मैथुन आदि अशुभ कायायोग हैं। असत्य बोलना, कटोर बोलना आदि अशुभ वचनयोग हैं। हिंसक विचार, ईर्ष्या, असूया आदि अशुभ मनोयोग हैं।[४८]

अहिंसा अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि शुभ काययोग हैं। सत्य, हित, मित बोलना आदि शुभ वाग्योग हैं। अर्हन्त-भक्ति, तप, रुचि, शास्त्रों का आदर आदि शुभ मनोयोग हैं।[४९]

जो आत्मा देव, साधु और गुरु की पूजा में, दान में, गुणव्रत और महाव्रत रूपी उत्कृष्ट शील में और उपवास आदि शुभ कार्यों में मग्न रहता है, उसे शुभोपयोगी कहा जाता है (गुणव्रत अर्थात् पाँच पापों का अंशतः त्याग और महाव्रत अर्थात् पाँच पापों का संपूर्ण त्याग)।[५०]

जो आत्मा शुभोपयोग से युक्त है वह मनुष्य या देव होकर उनकी आयु-कालावधि तक अनेक इंद्रियजन्य सुख प्राप्त करता है, परन्तु यह इंद्रियजन्य सुख सही अर्थ में दुःख ही है, इसलिए आत्म-सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती।[५१]

शुभोपयोग का उत्तम फल देवों में इन्द्र को और मनुष्यों में चक्रवर्ती को ही प्राप्त होता है। परन्तु उस फल के द्वारा वे केवल अपने शरीर की शोभा बढ़ा सकते हैं, आत्मा की नहीं। आत्मसुख के अभाव में वे सच्चे अर्थ में दुःखी ही रहते है। उनकी विषय-भोग की तृष्णा बढ़ती ही रहती है। पुण्य के प्रभाव से वे देवों को प्राप्त होने वाले सुख को प्राप्त कर सकते हैं। तृष्णा बढ़ती रहती है, इसलिए यह सुख पराधीन और बाधायुक्त होता है, नाशवान् होता है, कर्मबंध का कारण होता है, हानि-वृद्धिरूप होता है। अतः ऐसा सुख दुःखरूप ही ठहरता है।[५२]

जिस जीव के भाव शुभ होते हैं, उसके चित्त में कटुता नहीं होती और जो जीव दयावान् होता है, वह पुण्यशील माना जाता है। अरिहन्त, सिद्ध और साधु की भक्ति, धार्मिक प्रवृत्ति और गुरु का अनुकरण ये शुभराग और शुभ-भाव हैं। भूखे, प्यासे, दुःखी और कष्ट से पीड़ित जीवों को देखकर स्वयं उस दुःख का अनुभव करना और दया-बुद्धि से उनकी सहायता करना, अनुकम्पा और शुभ-भाव कहलाता है।[४३]

जो मनुष्य विषय-कषाय में डूब जाता है, कुशास्त्र, दुष्ट विचार, विकार और बुरी बातों की संगति करता है, जो मिथ्याशास्त्र सुनता है, आर्त, रौद्र और अशुभ ध्यान में जिसका मन डूबा रहता है, जो दूसरों की निन्दा करता है, हिंसादि का आचरण करता है, वीतराग-मार्ग को उल्टा समझता है और मिथ्या-मार्ग से गमन करता है, वह अशुभ उपयोग से युक्त है।[४४]

प्रमादी प्रवृत्ति, कलुषता, लोलुपता, दूसरों को दुःख देना तथा दूसरों की निन्दा करना - ये पाप के द्वार हैं और अशुभ कर्म हैं। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह - ये चार संज्ञाएँ; कृष्ण, नील, कपोत - ये तीन लेश्याएँ; इंद्रियवशता, आर्तध्यान, रौद्रध्यान, दूषित भावना से ज्ञान का उपयोग और मोह - ये पापकर्म के द्वार हैं। ये सभी अशुभ कर्म हैं।[४५]

वास्तविक (पारमार्थिक) दृष्टि से देखा जाये तो शुभ और अशुभ भावों के परिणाम में विशेष अन्तर नहीं है। देवों को भी स्वभावसिद्ध सुख नहीं मिलता। इसी कारण से देह-वेदना से पीड़ित होकर देव रम्य विषयों में रमण करते है। मनुष्य, देव, पशु और नारक इन चारों गतियों में देहजन्य दुःख है। सुख में मग्न देवेन्द्र और चक्रवर्ती शुभ भावों के कारण प्राप्त होने वाले भोगों में आसक्त होते हैं। शुभ उपयोग से उसके पश्चात् जाग्रत होने वाली तृष्णा से दुःखी और संतप्त होकर वे मृत्यु तक विषय-सुख की इच्छा करते हैं और अनेक प्रकार के विषयों का सेवन करते हैं।

इन्द्रियजन्य सुख दुःखरूप है क्योंकि वह पराधीन है, विषम है और असंतोष पैदा करने वाला है। इस दृष्टि से पाप-पुण्य के फल में भेद नहीं है। इसे न समझकर जो पुण्योपार्जित सुख प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं, वे अज्ञानी हैं और उन्हें इस घोर अपार संसार में भटकना पड़ेगा।

शुभ उपयोग का फल देवताओं की सम्पत्ति है और अशुभ उपयोग का फल नरक की आपत्ति है अतः इन दोनों में सुख नहीं है।[४६]

सारांश यह है कि शुभ परिणाम से होने वाला योग शुभ योग है और अशुभ परिणाम से होने वाला योग अशुभ योग है।[४७]

## पुण्य-पाप-चर्चा

'गणधरवाद' ग्रंथ में गणधरों ने भगवान् महावीर स्वामी से अनेक प्रश्न पूछे हैं। नौवें गणधर अचलभ्राता ने पुण्य-पाप के विषय में भगवान् महावीर के

साथ चर्चा की तब महावीर ने वेद का असली अर्थ बताकर अचलभ्राता और सारे गणधरों के संशयों का निवारण किया।

जैन-दर्शन में पुण्य-पाप का विवेचन विशिष्ट अर्थ में किया गया है और उसका समावेश नव तत्त्वों में हुआ है। साधारणतः व्यावहारिक भाषा में शुभाशुभ कर्म-पुद्गल को पुण्य-पाप कहा जाता है। सम्पन्नता, दरिद्रता, आकस्मिक लाभ-हानि आदि कारणों से पुण्य-पाप का बोध होता है। उसे पूर्वकृत कर्म-फल या सात्विकवृत्ति या शुभाशुभ कर्म कहा जाता है। कर्मबद्ध जीव अनेक प्रकार के सुख-दुःखों का अनुभव करता है। जिस कर्म से दुःखरूप फल की प्राप्ति होती है, उसे पाप कहते हैं और जिससे सांसारिक सुखोपभोग और सुखरूप फल की प्राप्ति होती है, उसे पुण्य कहते हैं।

पुण्य-पाप दोनों कार्मण पुद्गल की अलग-अलग अवस्थाएँ हैं। वे मेरु आदि के समान स्थूल नहीं है। और परमाणु के समान अत्यन्त सूक्ष्म भी नहीं हैं।

आत्मा को जो पवित्र करता है या जिसके सम्पर्क से आत्मा पवित्र होता है, वह पुण्य है। जो आत्मा में शुभ परिणाम को उत्पन्न नहीं होने देता तथा अशुभ परिणाम को उत्पन्न करता है, वह पाप है। इष्ट गति का कारण पुण्य है और अनिष्ट गति का कारण पाप है। इष्ट के कारण सुख की प्राप्ति होती है और अनिष्ट के कारण दुःख की प्राप्ति होती है। ऐसा भौतिक सुख या सांसारिक सुख की अपेक्षा से कहा गया है। परन्तु परम उत्कृष्ट सुख की प्राप्ति तो इष्ट-अनिष्ट से परे है।[४८]

पाप के उदय से अनेक कष्ट सहन करने पड़ते हैं। पाप का उदय होते ही संकट चारों तरफ से आते हैं। लोग पाप से पुण्य को श्रेष्ठ मानते हैं। इसीलिए जीव सदाचार, सत्प्रवृत्ति, सत्कर्म, शुभकार्य, परोपकारवृत्ति, दान आदि का पालन कर शुभ परिणाम में रहने का प्रयास करता है।

पुण्य-पाप की चर्चा में (विशेषावश्यकभाष्य में) आचार्य श्रीजिनभद्रगणिजी ने पञ्चवाद का प्रतिपादन करके स्वतंत्रवाद को बढ़ावा दिया है। वह पञ्चवाद यह है-

(१) केवल पुण्य ही है, पाप नहीं है।

(२) केवल पाप ही है, पुण्य नहीं है।

(३) पुण्य-पाप भिन्न नहीं हैं, एक साधारण तत्त्व हैं।

(४) पुण्य और पाप ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

(५) पुण्य-पाप हैं ही नहीं, सब कुछ स्वभाव ही है।

गणधरवाद में पण्डित दलसुखभाई मालवणियाजी ने इन पाँच विकल्पों का क्रमशः (१) पुण्यवाद, (२) पापवाद, (३) संकीर्णवाद, (४) स्वतंत्रवाद और (५) स्वभाववाद- इन नामों से उल्लेख किया है।

## (१) पुण्यवाद[४९]

'केवल पुण्य ही है, पाप है ही नहीं'- इस मत के लोगों का कहना है कि पुण्य का क्रमशः उत्कर्ष होता है, वह शुभ है। अर्थात् पुण्य थोड़ा-थोड़ा बढ़ता है,

वैसे ही क्रमशः सुख की वृद्धि भी होती जाती है। पुण्य का परम उत्कर्ष होते ही स्वर्ग का उत्कृष्ट सुख प्राप्त होता है। परन्तु पुण्य की क्रमशः हानि होने पर सुख की भी क्रमशः हानि होती है अर्थात् दुःख भोगने पड़ते हैं जबकि पुण्य का सर्वथा क्षय होने पर मोक्ष प्राप्त होता है। इस प्रकार केवल पुण्य को मानने से ही सुख और दुःख दोनों सिद्ध हो सकते हैं, तो पाप को अलग मानने की क्या आवश्यकता है?

जिस प्रकार पथ्याहार की क्रमिक वृद्धि से आरोग्य-वृद्धि होती है, उसी प्रकार पुण्यवृद्धि से सुखवृद्धि होती है। जिस प्रकार पथ्याहार कम होने से आरोग्य की हानि होती है, अर्थात् रोग बढ़ते हैं, उसी प्रकार पुण्य की हानि होने से दुःख बढ़ते हैं। और जैसे सर्वथा पथ्याहार का त्याग होने पर मृत्यु आती है, वैसे ही पुण्य का सर्वथा क्षय होने पर मोक्ष प्राप्त होता है। इस प्रकार जब केवल पुण्य से ही सुख-दुःख की उत्पत्ति होती है, तो पाप को अलग मानने की क्या आवश्यकता है?

## (२) पापवाद[६०]-

जो केवल पाप को ही मानते हैं और पुण्य को नहीं मानते, उनका कथन है कि पाप का अपकर्षण पुण्य की अवस्था है। अपने पक्ष के समर्थनार्थ पुण्यवादियों के पथ्याहार के उदाहरण के समान उन्होंने भी अपथ्याहार का दृष्टान्त दिया है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार अपथ्याहार की वृद्धि होने से रोगों की वृद्धि होती है, उसी प्रकार पाप की वृद्धि होने पर दुःख की वृद्धि होती है। और जब पाप का परम उत्कर्ष होता है, तब नरक का तीव्र दुःख प्राप्त होता है। अर्थात् जिस प्रकार अपथ्याहार कम होने से आरोग्यलाभ होता है, उसी प्रकार पाप का अपकर्ष होने से सुख की वृद्धि होती है और न्यूनतम पाप रह जाने पर देवों का उत्कृष्ट सुख प्राप्त होता है। अथ च जिस प्रकार अपथ्याहार के सर्वथा त्याग से परम आरोग्य का लाभ होता है, उसी प्रकार पाप के सर्वथा नाश से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस तरह केवल पाप को मानने से ही सुख और दुःख की सिद्धि हो जाती है, तो पुण्य को अलग मानने की क्या आवश्यकता है ? पापवादियों का पक्ष पुण्यवादियों के प्रतिपादन के पूर्णतया विपरीत है।

## (३) संकीर्णवाद[६१]-

पुण्य तथा पाप दोनों स्वतंत्र नहीं हैं परंतु साधारणतया एक ही हैं। संकीर्णवादी कहते हैं कि जैसे अनेक रंगों के मिलने से एक साधारण संकीर्ण रंग बनता है और जैसे सिंह और नर के रूप को धारण करने वाला नरसिंह एक ही है, उसी प्रकार पाप और पुण्य एक ही मिश्रित साधारण तत्त्व है। पाप से पुण्य की अधिकता होने पर 'पुण्यावस्था' होती है और पुण्य से पाप की अधिकता होने पर 'पापावस्था' होती है।

### (४) स्वतन्त्रवाद -

स्वतन्त्रवादी पुण्य-पाप को स्वतन्त्र तत्त्व मानते हैं। स्वतन्त्रवादियों की दृष्टि से सुख का कारण पुण्य है और दुःख का कारण पाप है। सुख और दुःख दोनों कार्य हैं। सुख-दुःख का अनुभव एक ही समय नहीं होता इसलिए सुख-दुःख के कारण भिन्न-भिन्न होने चाहिए। अतः पाप और पुण्य दोनों स्वतन्त्र तत्त्व हैं।

### (५) स्वभाववाद[६२]-

पाप-पुण्य की ये चारों कल्पनाएँ परस्पर विरोधी हैं इसलिए स्वभाववादी लोग कहते हैं कि पुण्य-पाप जैसा इस दुनिया में कुछ है ही नहीं। संसार में जो सुख-दुःख का वैचित्र्य दिखाई देता है, वह स्वभाव से होता है। इस दुनिया के सारे प्रपंच स्वभाव से ही होते हैं। विश्व-वैचित्र्य, जन्म-मरण, सुख-दुःख की प्राप्ति की तीक्ष्णता, पशु-पक्षियों का वैचित्र्य, रंगबिरंगी सृष्टि - यह सब स्वभाव के कारण ही है। स्वभाववाद का वर्णन गणधरवाद, जीवनसाधना और श्वेताश्वतरोपनिषद् आदि में उपलब्ध होता है। इन पाँच वादों में से चौथा स्वतंत्रवाद (अर्थात् पुण्य और पाप को अलग-अलग तत्त्व मानना) ही उचित है। अन्य चारों वाद युक्तिपूर्ण नहीं हैं- ऐसा भगवान् महावीर स्वामी ने गणधर श्री अचलभ्राता से कहा है।

## चार वादों का निराकरण

**पुण्यवाद का निरास** - केवल पुण्य को ही मानना उचित नहीं है क्योंकि सुख की अल्पता दुःख का कारण नहीं हो सकती। दुःख की वृद्धि अशुभ कर्म के प्रकर्ष से ही हो सकती है, पुण्य के अपकर्ष से नहीं। सुख का अनुभव पुण्य के उत्कर्ष के कारण है। इसी प्रकार दुःख के उत्कर्ष का कारण पुण्य के बजाय कुछ न कुछ तो होना ही चाहिए और वह अशुभ कारण पाप ही है। पुण्य का अपकर्ष होने पर इष्ट साधन की हानि हो सकती है, परन्तु इससे अनिष्ट साधन की वृद्धि नहीं हो सकती। जैसे सुवर्ण का घट बड़ा होने पर सुवर्ण का और छोटा होने पर लोहे का हो जाये ऐसा व्यवहार में दिखाई नहीं देता।

**पापवाद का निरास** - पुण्यवाद का निराकरण जिस युक्तिवाद से किया गया है, उससे विपरीत युक्तिवाद से पाप का निराकरण होता है। जिस प्रकार पुण्य के अपकर्ष से दुःख नहीं हो सकता, उसी प्रकार पाप के अपकर्ष से सुख भी नहीं मिल सकता। अगर ज्यादा विष ज्यादा नुकसान करता है तो थोड़ा विष थोड़ा नुकसान करेगा ही। भला वह लाभप्रद कैसे हो सकता है? इसलिए थोड़ा पाप थोड़ा दुःख देता है, परंतु सुख के लिए तो पुण्य की ही कल्पना करनी होगी।

**संकीर्णवाद का निरास** - पुण्य या पाप की अभिवृद्धि पुण्य अथवा पाप का कारण नहीं हो सकती। पुण्य और पाप ये दोनों स्वतन्त्र तत्त्व हैं। अगर ऐसा नहीं माना जाये तो काय, वाक् तथा मन के योग के परिस्पंदन से उत्पन्न कर्म-प्रक्रियाओं की व्यवस्था ही नहीं जमेगी। क्योंकि एक समय में योग का शुभरूप अथवा अशुभरूप एक ही भाव हो सकता है। एक ही समय पुण्यरूप सुख और

पापरूप दुःख दोनों की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? जब आत्मा के अध्यवसाय (दशाएँ) शुभरूप अथवा अशुभरूप होते हैं, तब क्रमशः पुण्य और पाप का बन्धन होता है।

पूर्व कथन के अनुसार शुभयोग से पुण्य की और अशुभ योग से पाप की उत्पत्ति होती है, इसलिए पाप और पुण्य का स्वतंत्र अस्तित्त्व है।

जिस प्रकार देवदत्त की वृद्धि से यज्ञदत्त की वृद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि दोनों का पृथक् अस्तित्त्व है, उसी प्रकार पुण्य तथा पाप के अस्तित्त्व को स्वतंत्र रूप से स्वीकार करना चाहिए, मिश्ररूप से नहीं।

**स्वभाववाद का निरास** - संसार में जो सुख-दुःख की विचित्रता है, वह स्वभाववाद से सिद्ध नहीं हो सकती। यदि स्वभाववाद माना जाय तो स्वभाव का अर्थ समझना चाहिए। और स्वभाव का अर्थ किसी वस्तु को माना जाय तो उसकी उपलब्धि होनी चाहिए। परन्तु जिस प्रकार आकाश-कुसुम की उपलब्धि नहीं हो सकती, उसी प्रकार स्वभाव की उपलब्धि भी नहीं हो सकती। और जब वस्तु ही नहीं है तो उससे कार्य की उपलब्धि कैसे होगी ?

यदि स्वभाव को मूर्त माना जाये तो कर्म को भी स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि कर्म और स्वभाव में इस मूर्तता के कारण नाम मात्र का अंतर है। अगर उसे अमूर्त माना जाये तो उसमें से शरीर की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अमूर्त से मूर्त की उत्पत्ति होना सम्भव नहीं है, क्योंकि दण्ड आदि उपकरणों से कुंभकार घट आदि उत्पन्न करता है, पट आदि से नहीं। जैसा कारण होता है, वैसा ही कार्य होता है। कारण कार्य का माध्यम है।

वेदों में भी ऐसे अनेक वाक्य हैं, जिनका सही अर्थ लेने से स्वभाववाद का खण्डन होता है और कर्मवाद की सिद्धि होती है।

आत्मा पंच महाभूतों से भिन्न है और वह परलोक-गमन अवश्य करता है सच देखा जाए तो आत्मा का परलोक-गमन स्वाभावानुसार न होकर कर्म के अनुसार है। इसलिए सब कुछ स्वभाव-निर्मित ही है ऐसा मानना यथार्थ नहीं लगता। स्वभाव का अर्थ निष्कारणता मान लिया जाये तो घट-पट आदि के समान खर-शृंग की भी उत्पत्ति सम्भव हो जायेगी, परंतु ऐसा दिखाई नहीं देता। खर-शृंग की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है। और कारण के बिना किसी भी वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिए जगत्-वैचित्र्य का कारण स्वभाव के बजाय कर्म को ही मानना सर्वथा उचित है।

## स्वतन्त्रवाद : स्वीकार्य

पुण्य और पाप दोनों स्वतन्त्र हैं, संकीर्ण नहीं। क्योंकि यदि वे संकीर्ण होते तो सब जीवों को उनके कार्यों का मिश्र रूप में अनुभव होता। अर्थात् केवल सुख या केवल दुःख का अनुभव नहीं होता। हमेशा सुख-दुःख मिश्र रूप में ही अनुभव में आने चाहिए थे। किन्तु ऐसा नहीं होता। स्वर्ग में देवताओं को केवल

सुखों का ही विशेष रूप से अनुभव होता है। इसके विपरीत नरकवासियों को दुःखों का ही अनुभव होता है।

संकीर्ण कारण से उत्पन्न कार्य में भी संकीर्णता ही होनी चाहिए, परन्तु वैसा दिखाई नहीं देता। इसलिए पुण्य और पाप संकीर्ण न होकर स्वतन्त्र हैं, यह सिद्ध होता है। अगर संकीर्णवाद को माना जाये तो दान का फल पुण्य और हिंसा का फल पाप मानना असंगत होगा। वेदों के अनुसार भी पुण्य-पाप की स्वतन्त्रता सिद्ध होती है।

गणधरवाद में पुण्य-पाप के संबंध में पुण्यवाद, पापवाद, संकीर्णवाद जैसे जो विकल्प दिए गये हैं, वे विकल्प मात्र ही हैं। वे किसको मान्य हैं, यह समझने का साधन अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। परन्तु इसकी थोड़ी कल्पना सांख्यकारिका की व्याख्या में, सत्त्व आदि गुणों के वर्णन के प्रसंग में मिलती है।

इन पाँच वादों में से स्वभाववाद और स्वतन्त्रवाद तो सर्वविदित ही हैं इनमें से भी पाप और पुण्य दोनों स्वतन्त्र हैं यह मान्यता ही अन्ततः मान्य की गई है।[६३]

सत् प्रशस्त कर्म-पुद्‌गल को पुण्य कहते हैं। ये कर्म-पुद्‌गल जीव के साथ संबंधित होते हैं। पुण्य का विरोधी अप्रशस्त कर्म-पुद्‌गल पाप है। पाप पुण्य के पूर्णतः विपरीत है। नरक आदि अशुभ फल देने वाला अप्रशस्त कर्म-पुद्‌गल पाप है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती तथा स्वर्ग आदि प्रशस्त पद देने वाला कर्म-पुद्‌गल पुण्य है। ये पुद्‌गल भी जीव से संबंधित होते हैं।

पुण्य-पाप के संबंध में प्रतिवादी लोग ऐसी कल्पनाएँ करते हैं कि जो खुद को तीर्थंकर मानते हैं वे कहते हैं - "संसार में पुण्य ही पुण्य है, पाप है ही नहीं। पाप शब्द को शब्दकोश में से निकाल देना चाहिए।" दूसरे कुछ लोग कहते हैं कि यह संसार तो पापरूप ही है। इसमें पुण्य थोड़ा भी नहीं है। तीसरे कोई कहते हैं कि संसार में पुण्य-पाप एक-दूसरे में मिले हुए हैं जिस प्रकार मेचक मणि में अनेक रंगों का मिश्रण होता है, उसी प्रकार पुण्य और पाप एक दूसरे में मिले हुए हैं। यह दुःख-मिश्रित सुख और सुखमिश्रित दुःख रूप फल देता रहता है। इसलिए एक पुण्य-पापरूप तीसरी ही मिश्रित वस्तु माननी चाहिए। चौथे पुण्य-पाप दोनों का मूल से ही उच्छेद करते हैं। वे कहते हैं कि संसार में पुण्य और पाप कुछ भी नहीं हैं। यह समस्त विश्व स्वाभाविक (स्वयंसिद्ध) है। ये सभी मत प्रमाण के विरुद्ध हैं। जब संसार में सब प्राणियों को सुख और दुःख का भिन्न-भिन्न अनुभव होता है, तब उन्हें उत्पन्न करने वाले पुण्य और पाप को स्वतन्त्र रूप से और अलग-अलग रीतियों से स्वीकार करना चाहिए। पुण्य और पाप में से एक को मानने से काम नहीं चल सकता। साथ ही दोनों को मिश्रित मानने से भी काम नहीं चल सकता।

यदि संसार में पुण्य और पाप में से कुछ भी नहीं होगा, तो सुख और दुःख की विचित्रता की बात तो दूर, सुख-दुःख उत्पन्न ही नहीं हो सकेंगे। कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति कहीं भी दिखाई नहीं देती। इस प्रकार पुण्य और पाप

नहीं होंगे तो दुनिया में सुख-दुःख की चर्चा भी नहीं होगी। परन्तु दुनिया से सुख-दुःख को नष्ट करना तो सचमुच आँखों में धूल झौंकने जैसा है।

विचारणीय है कि प्राणी तो सभी मनुष्य हैं किन्तु एक राजा होकर अधिकार जताता है तो दूसरा उसकी चाकरी करता है। एक लक्षाधीश होकर लाखों का भोग करता है तो दूसरा बेचारा दिनभर कठोर परिश्रम करने पर भी अपना पेट अच्छी तरह से नहीं भर पाता। एक देवता के समान हमेशा भोगविलास करता है तो दूसरा दुःख की आग में जलता रहता है। इसलिए सभी को अनुभव होने वाले सुख-दुःख के कारण पुण्य और पाप ही मानने चाहिए और जब पुण्य और पाप को मान लिया तो तीव्र पुण्य और तीव्र पाप भोगने के लिए सुख का विशिष्ट स्थान स्वर्ग और दुःख का विशिष्ट स्थान नरक भी मानने चाहिए।

पुण्य-पाप को मानकर भी स्वर्ग-नरक को न मानना तो लाभ के समय शामिल होने और हानि के समय दूर रहने जैसा है। जब पुण्य और पाप हैं, तो उनके भोगने के स्थान स्वर्ग और नरक भी हैं। सुख और दुःख किन्हीं कारणों से उत्पन्न होते हैं, इसलिए कार्य हैं। जिस प्रकार अंकुर का कारण बीज है, उसी प्रकार सुख-दुःख का बीज पुण्य और पाप हैं।

साधन समान होने पर भी उनसे उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख में थोड़ा अंतर तो दिखाई देता ही है। जो मिष्टान्न किसी बलवान व्यक्ति को आनंद देता है और उसकी वृद्धि करता है, वही मिष्टान्न दुर्बल व्यक्ति के लिए अपच आदि रोगों का कारण बन जाता है। इस प्रकार समान सामग्री होने पर भी सुख-दुःख में जमीन-आसमान जितना अंतर किसी न किसी कारण से ही होता है। अगर यह निष्कारण होता तो या तो हमेशा होता या बिल्कुल ही नहीं होता। परंतु यह भेद कभी-कभी दिखायी देता है, इसलिए यह भेद सकारण है, निष्कारण नहीं। इस महान भेद का कारण पुण्य-पापरूपी कर्म है। जो साधन पुण्यशाली को सुख देते हैं, वे ही साधन पापियों को दुःख देते हैं। जो केसर मिला हुआ दूध एक व्यक्ति को आनंद देता है, उसी को पीने से दूसरा बीमार होकर यमराज के घर का मेहमान बन जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि पुण्य से सुख और पाप से दुःख प्राप्त होता है। यदि ये दृश्य पदार्थ स्वयं ही सुख-दुःख के कारण होते तो एक ही वस्तु एक को सुख और दूसरे को दुःख कैसे देती? इस प्रकार संसार का वैचित्र्य अपने कारण से ही पुण्य और पाप को सिद्ध करता है।

कारण और कार्य रूप से पुण्य-पाप की सिद्धि होती है। दान करना, अहिंसा भाव रखना आदि शुभ क्रियाओं का तथा हिंसा आदि अशुभ क्रियाओं का फल निश्चित मिलता है। इसका कारण यह है कि वे इन क्रियाओं के कारण हैं। जिस प्रकार खेती करने का फल अनाज है, उसी प्रकार अहिंसा, दान और हिंसा आदि क्रियाओं का भी कुछ न कुछ अच्छा या बुरा फल अवश्य होना चाहिए। इनका जो कुछ अच्छा या बुरा फल मिलता है, वह पुण्य या पाप के कारण ही मिलता है।[६४]

## पुण्य और पाप का अंतर

इस संसार में जब हम चारों ओर देखते हैं तब हमें एक मनुष्य सुखी तो दूसरा दुःखी दिखायी देता है। इसी प्रकार एक अमीर तो दूसरा गरीब, एक सुरूप तो दूसरा कुरूप, एक ज्ञानी तो अन्य अज्ञानी, एक उच्चकुलोत्पन्न तो अन्य नीचकुलोत्पन्न - इस प्रकार की परस्पर विरोधी बातें दिखाई देती हैं। कुछ लोग ऐसे कुल में जन्म लेते हैं जहाँ उनमें धर्म के संस्कार नहीं पड़ते, जबकि कुछ सुसंस्कृत उच्च कुल में जन्म लेते हैं, जहाँ उनका विकास होता है और उनमें धर्म के संस्कार भी पड़ते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जिनके घर में पति-पत्नी के अलावा कोई नहीं है। और वे भी अब वृद्ध होते जा रहे हैं, परन्तु उनकी सेवा के लिए कोई भी नहीं है।

कुछ लोग ऐसे हैं जिनके घर में धन-धान्य की विपुलता है और कुछ ऐसे हैं जिनके घर में अनाज का एक कण भी नहीं मिल सकता। कुछ लोगों के घर में आज्ञाकारी नौकर-चाकर हैं तो कुछ लोग ऐसे हैं जिन्हें कोई पानी देने वाला भी नहीं है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि मानव-मानव में ऐसी विषमता क्यों है? यह विषमता किसी के द्वारा की गयी है या मनुष्य ने स्वयं ही उसको जन्म दिया है? इसका उत्तर कोई भी ज्ञानी पुरुष यही देगा कि यह विविध प्रकार की विषमता पुण्य और पाप के कारण ही है।

जिन्होंने अपने पूर्वजन्म में शुभकार्य किया है, उनका इस जन्म में पुण्यबन्ध होता है। इसी पुण्यसंचय का फल उन्हें इस जन्म में सुख, धन-धान्य, यश, बल, मित्र, उच्चकुल, वर्ण, गोत्र, सौंदर्य, सुपुत्र, संस्कारवती पत्नी, नौकर-चाकर, सम्पत्ति, घर-बार आदि के रूप में प्राप्त होता है।[६५]

जो लागू पूर्वजन्म में या इस जन्म में अशुभ कार्य करते आये हैं, उनका इस दुष्कृत्य के कारण ही पापबन्ध होता है और उसी पाप का फल उन्हें दुःख, दारिद्र्या, भूख, कुरूपता, कुपुत्र, कुपत्नी, नीच कुल, कुसंस्कार, बुरा वातावरण आदि के रूप में प्राप्त होता है।

सारांश यह है कि जिस कार्य से अथवा प्रवृत्ति से आत्मा में आनंद, सुख और पवित्रता का संचार होता है, जिन्हें प्रकट करने में मनुष्य कभी हिचकिचाता नहीं, वही पुण्य है। जो गुप्त है तथा छिपकर किया जाता है, वह पाप है। पाप करने वाला व्यक्ति सत्ताधारक हो या अमीर, उसमें पाप छिपाने की वृत्ति होती ही है। कोई मुझे देखेगा तो नहीं, कोई चिढ़ाएगा तो नहीं, कोई मेरी निन्दा तो नहीं करेगा, मुझ पर जुर्माना तो नहीं करेगा - ऐसी शंकाएँ सर्वदा पापकर्ता के मन में आती रहती हैं। इसीलिए वह किये हुए पापकार्य को छिपाना चाहता है। दूसरी बात यह है कि पाप करते समय उस व्यक्ति को मन ही मन भय, पश्चात्ताप और दुःख होता रहता है। यद्यपि उसने ऐसे भाव प्रकट नहीं किये, फिर भी मन में पाप का शल्य चुभता ही रहता है। पुण्यकार्य करने वाले व्यक्ति के मन में कभी भी भय,

शोक, चिन्ता, पश्चात्ताप आदि उत्पन्न नहीं होते। इसी से प्रत्येक व्यक्ति यह अनुमान लगा सकता है कि पुण्य-पाप में क्या अन्तर है।[६६]

जो अन्तर धूप और छाया में है वही पुण्य और पाप में भी है। व्रत तथा तप जैसा पुण्य श्रेष्ठ है क्योंकि इससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत अव्रत तथा अतप से निकृष्ट कोई पाप नहीं है क्योंकि इनसे नरक की प्राप्ति होती है।

हेतु और कार्य की विशेषता के कारण पुण्य और पाप में अंतर है, क्योंकि पुण्य का हेतु शुभ है और पाप का हेतु अशुभ है। पुण्य का हेतु परोपकार है तो पाप का हेतु परपीड़ा है। इस संबंध में एक सुभाषित प्रसिद्ध है -

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम्।।

व्यास मुनि ने अठारह पुराणों की रचना की है। प्रत्येक मनुष्य उन सब को पढ़ नहीं सकता। इसलिए व्यासजी ने ऊपर उद्धृत श्लोक में दो ही वाक्यों में अठारह पुराणों का सार बता दिया है -

*'परोपकार ही पुण्य है, और परपीड़ा ही पाप है।'*

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से पाप और पुण्य का अंतर स्पष्ट होता है।[६७]

## पाप की हेयता

भारतीय दर्शन और धर्मशास्त्र में पाप के संबंध में बहुत कुछ लिखा गया है। क्योंकि भारतीय संस्कृति धर्मप्रधान संस्कृति है। इस संस्कृति में कर्म से धर्म को तथा पाप से पुण्य को ज्यादा महत्त्व दिया गया है। इसीलिए भारतीय संस्कृति के समस्त विचारकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से पाप के संबंध में विचार प्रकट किये हैं। कहने की पद्धति सब की अलग-अलग होते हुए भी सारांश सब का एक ही है। वह यह कि पाप को सभी ने बुरा कहा है। अशुभ कहा है। पाप ही मनुष्य को पतन के गर्त में ले जाने वाला है। पाप ही नरक का द्वार है। पाप मनुष्य को दुःख देने वाला है इसलिए मनुष्य को पाप का त्याग करना चाहिए।

जैन-दर्शन के अनुसार जो कर्म विपाक-अवस्था में अत्यंत जघन्य, भयंकर, रुद्र, भयभीत करने वाला और तीव्र दुःख देने वाला है, वह पाप है। राग-द्वेष आदि भावों से पाप-कर्म होते हैं। वस्तुतः यह मनुष्य की नीच प्रवृत्ति का द्योतक है। उसकी शुभ प्रवृत्ति के विरुद्ध आंदोलन है। पापास्रव जीव के अशुभ कार्य से होता है।

जो पाप-कर्म से डरता है, वह अन्य किसी से नहीं डरता अर्थात् वह चारों ओर से निर्भय होता है। इसके विपरीत जो पाप-कर्म करने से नहीं डरता उसे दूसरे हजारों भय होते हैं।[६८]

मनुष्य को सुख प्रिय होता है और दुःख अप्रिय होता है। सुख की प्राप्ति पुण्य से होती है और दुःख की प्राप्ति पाप से होती है। इसलिए पाप का परित्याग कर पुण्य का आचरण करना चाहिए। परंतु यह कितना विचित्र है कि मानव को

जिसका फल प्रिय है, उसका कर्म प्रिय नहीं और जिसका फल प्रिय नहीं, उसका कर्म प्रिय है।

मानव पुण्य के फल की इच्छा करता है लेकिन पुण्य का आचरण नहीं करता। साथ ही पाप के फल की इच्छा नहीं करता लेकिन हमेशा पाप का आचरण करता रहता है।[६६]

जीव जब दुष्कृत्य करता है तब पापकर्म के पुद्गल आकृष्ट होकर आत्मा से चिपकते हैं। ये कर्म जब उदित होते हैं, तब जीव को दुःख होता है। इस प्रकार जीव का दुःख स्वनिर्मित है। पाप-कर्म के उदय से जब दुःख उत्पन्न होता है, तब मनुष्य को शोक नहीं करना चाहिए। उदित हुए कर्मों के फल शान्ति से भोगने पर कर्म का क्षय होता है। जीव जैसे कर्म करता है, वैसे फल भोगने ही पड़ते हैं।

जिस प्रकार धागे वस्त्र-निर्मिति के कारण होते हैं, उसी प्रकार पुण्य-कर्म सुखोत्पत्ति और पाप-कर्म दुःखोत्पत्ति के कारण होते हैं। पुण्य मित्र के समान सुमार्ग पर ले जाता है जबकि पाप दुर्जन के समान कुमार्ग पर ले जाता है, इसलिए पाप का त्याग कर पुण्य का आचरण करना चाहिए।

## पाप कब होता है?

पाप की कालिमा मनुष्य के जीवन को अन्धकारमय और काला बना देती है। इसलिए प्रश्न उठता है -"पाप क्या है? यह कब होता है?"

एक बात प्रचलित है कि स्त्री का सौंदर्य देखना पाप है, सिनेमा-नाटक देखना पाप है। कानों से मधुर संगीत सुनना पाप है। किसी एक चीज को खाना पाप है, कोई एक प्रकार का कार्य करना पाप है, इन्द्रियों को विषयभोग की तरफ ले जाना पाप है और इंद्रियों को नियंत्रण में रखना धर्म है। इसलिए लोगों ने, जो आँख स्त्री के सौंदर्य को देखती हैं, उन्हे फोड़ डालने का प्रयास किया, जो कान विकारवर्धक संगीत सुनते हैं, उनमें रुई डालकर उन्हें बंद करने की कोशिश की। इसी प्रकार जो-जो इन्द्रिय विषय-भोग की ओर मुड़ीं उन्हें नष्ट करने का प्रयत्न किया।

जैन-दर्शन ने भी पाप को छोड़ने के लिए कहा है। व्यक्ति को जीवन के विकास के लिए सर्वप्रथम पाप का त्याग करना चाहिए। परंतु जैन-दर्शन और जैन-परम्परा के विचारकों ने इन्द्रियों के नाश की बात नहीं कही क्योंकि पाप इन्द्रिय में और इन्द्रिय के विषय में नहीं है। इसलिए पाप का परित्याग करने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि पाप कब होता है और उसका बन्ध किस तरह होता है ?

आँखों के सामने कोई सुंदर रूप आता है और आँखें उसे देखती हैं, कानों का स्पर्श करके कोई मधुर ध्वनि कानों में प्रवेश करती है, जिह्वा खाद्य-पदार्थ का स्वाद लेती है, नाक सुगन्ध और दुर्गन्ध को ग्रहण करती है, त्वचा सुकोमल और कठोर पदार्थ का स्पर्श कर कोमलता और कठोरता का ग्रहण करती है, क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय का स्वभाव ही ऐसा है कि वह अपने विषय को ग्रहण करती

है। केवल देखने से, सुनने से, स्वाद लेने से, सूँघने से और स्पर्श करने से पाप नहीं लगता। क्योंकि ये सारे पदार्थ जड़ हैं और इनका ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ भी जड़ हैं, पौद्गलिक हैं। पुद्गल द्वारा पुद्गल को ग्रहण करना पाप नहीं है।

पाप और पुण्य पुद्गल में नहीं होता। जड़ में जड़त्व रहता है, चेतना नहीं रहती। अगर पुद्गल का पुद्गल से संयोग होना अथवा इन्द्रिय द्वारा अपने विषय का ग्रहण करना पाप है, ऐसा मान लिया जाये तो विश्व में कोई भी व्यक्ति निष्पाप नहीं रह सकता।

वीतराग सर्वज्ञ देव भी देवों द्वारा रचित समवशरण (सभामण्डप) में सुवर्ण और स्फटिक रत्नों के सिंहासन पर बैठकर प्रवचन देते हैं। देवांगनाएँ और देवता उनके सामने नृत्य करते हैं तथा गीत गाते हैं। उनकी आँखों के सामने रूप भी आता है, कानों द्वारा मधुर संगीत की ध्वनि सुनायी देती है, शरीर सुवर्ण सिंहासन का स्पर्श करता है। इन सब के कारण क्या उन्हें पाप लगता है? नहीं, क्योंकि इन्द्रियों का पदार्थ से संयोग होना पाप नहीं है। राग-द्वेष करना पाप है। वीतराग को पाप-पुण्य का बन्ध नहीं होता क्योंकि उनमें राग-द्वेष नहीं होता।

इससे स्पष्ट होता है कि पाप पदार्थ में न होकर राग-द्वेष में है। सत्य तो यह है कि स्त्री अथवा अन्य किसी भी पदार्थ के सौंदर्य को देखकर यदि किसी के मन में वासना जाग्रत हुई, उसके लिए आसक्ति और अनुराग उत्पन्न हुआ, अथवा कुरूप स्त्री और कुरूप वस्तु देखकर मन में द्वेषभाव जाग्रत हुआ तो वह पाप है। सारांश यह है कि राग, द्वेष, वासना आदि विकारमूलक अर्थात् पाप हैं।

इन्द्रियों द्वारा विषय का ग्रहण करते समय जब तक उसके साथ मन का संयोग नहीं होता, मन में राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होता तब तक पाप भी नहीं लगता। केवल देखने से पापबन्ध नहीं होता, पापबन्ध के कारण हैं - विषय-वासना, विकार-भावना, भोगेच्छा, आसक्ति और राग-द्वेष। इसलिए इंद्रियों का दमन करने से और उन्हें नष्ट करने से समस्या का समाधान नहीं होता, क्योंकि वासना, तृष्णा, आकांक्षा और भोग की इच्छा - ये इन्द्रियों में नहीं हैं अपितु मन में हैं। इसलिए वासना, इच्छा और तृष्णा पर संयम रखने से पाप नहीं लगेगा। पाश्चात्य विद्वान् होरेस ने कहा है -

"Govern your passions, otherwise they will govern you".

अगर तुम्हें पाप से दूर रहना है तो वासना और विकार पर संयम रखो, अन्यथा वे तुम पर हावी हो जायेंगे तथा सत्ता को प्रस्थापित कर देंगे। शिवानन्द जी ने भी कहा है कि आकांक्षा और तृष्णा ही जन्म-मरण का मूल है -

"Desire is the rootΩcause of birth and death".

समस्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि पाप पदार्थ में न होकर राग, द्वेष और तृष्णा में है। इसलिए केवल पदार्थों का त्याग करना त्याग नहीं है अपितु उनमें होने वाली आसक्ति, ममता, वासना और विकारी भावना का त्याग करना

चाहिए। यही आदर्श त्याग है। ऐसा त्याग ही व्यक्ति को पाप से बचाता है, घोर पतन से उसका संरक्षण करता है और अंधकार से उसे दूर रखता है।[७०]

## द्रव्यपाप और भावपाप

जिसके उद्गम से दुःख की प्राप्ति होती है और आत्मा शुभ कार्य से पृथक् रहता है, उसे पाप कहते हैं। उसके दो भेद हैं -

(१) द्रव्यपाप और (२) भावपाप।

**(१) द्रव्यपाप** - जिस कर्म के उदय से जीव दुःख का अनुभव करता है, वह द्रव्यपाप है।

**(२) भावपाप** - जीव के अशुभ परिणाम को भावपाप कहते हैं। पाप की अशुभ प्रकृति और अशुभ योग से पाप का बन्ध होता है।[७१]

## पाप के अन्य दो भेद

पुण्य के समान ही पाप के भी अन्य दो भेद बताये गये हैं -

(१) पापानुबन्धी पाप एवं

(२) पुण्यानुबन्धी पाप।

जिस पाप को भोगते समय नया पाप बढ़ता है, वह पापानुबंधी पाप है। जिस प्रकार कसाई, कोली आदि ने पूर्वजन्म में पाप किया होता है इसलिए उन्हें इस जन्म में दरिद्रता आदि कष्ट भोगने पड़ते हैं। और इन पापों को भोगते समय वे नये पापों का बंध करते हैं, इसलिए वह पापानुबंधी पाप है।

जिस पाप को भोगते समय नया पुण्योपार्जन होता है, उसे पुण्यानुबंधी पाप कहते हैं। जो जीव पूर्वजन्म में किए हुये पाप के कारण इस जन्म में दरिद्रता आदि दुःख भोग रहे हैं, परंतु जो सत्संग आदि कारणों से विवेकपूर्ण कार्य करके पुण्योपार्जन कर रहे हैं, उसे पुण्यानुबंधी पाप कहते हैं।[७२]

## पाप के अठारह भेद

पाप के कारण अनेक हैं, तथापि पाप के अठारह कारण माने गये हैं। इन्हें पापस्थान भी कहते हैं और पाप के अठारह भेद भी कहते हैं।

पाप के निम्नलिखित अठारह भेद हैं -

| | | |
|---|---|---|
| (१) प्राणातिपात | (७) मान | (१३) अभ्याख्यान |
| (२) मृषावाद | (८) माया | (१४) पैशुन्य |
| (३) अदत्तादान | (९) लोभ | (१५) परपरिवाद |
| (४) मैथुन | (१०) राग | (१६) रति-अरति |
| (५) परिग्रह | (११) द्वेष | (१७) मायामृषावाद |
| (६) क्रोध | (१२) कलह | (१८) मिथ्यादर्शनशल्य |

(१) **प्राणातिपात** - जीवों की हिंसा करना, प्राणियों का वध करना तथा किसी भी जीव को दुःख देना प्राणातिपात-पाप है।

(२) **मृषावाद** - असत्य बोलना और असत्य आचरण करना मृषावाद-पाप है।

(३) **अदत्तादान** - चोरी करना और मालिक के द्वारा दिए बिना किसी भी वस्तु को ग्रहण करना - अदत्तादान-पाप है।

(४) **मैथुन** - अब्रह्मचर्य, कुशील-सेवन तथा ब्रह्मचर्य का पालन न करना मैथुन है।

(५) **परिग्रह** - धन आदि द्रव्य का ममत्व, धन-धान्यादि का संग्रह करना और उसमें आसक्ति रखना परिग्रह-पाप है।

(६) **क्रोध** - क्रोध करना तथा शान्ति न रखना क्रोध-पाप है।

(७) **मान** - अहंकार करना, चित्त की कोमलता का न होना और विनय का अभाव होना मान-पाप है।

(८) **माया** - कपट करना, छल-प्रपंच करना, किसी को फँसाना तथा कटुता माया-पाप है।

(९) **लोभ** - लालसा, तृष्णा और धन-धान्य आदि वस्तु ज्यादा से ज्यादा प्राप्त करने का प्रयास करना लोभ-पाप है।

(१०) **राग** - आसक्ति भाव रखना तथा मनोज्ञ वस्तु से स्नेह रखना राग-पाप है। माया और लोभ से राग उत्पन्न होता है।

(११) **द्वेष** - वैर-विरोध करना तथा अमनोज्ञ वस्तु से द्वेष करना द्वेष-पाप है। क्रोध और मान से द्वेष उत्पन्न होता है।

(१२) **कलह** - झगड़ा करना, क्लेश करना और शान्ति न रखना ही कलह-पाप है।

(१३) **अभ्याख्यान** - किसी व्यक्ति पर झूठे दोष लगाना, झूठे कलंक लगाना, दूसरे के दोष प्रकट करना अभ्याख्यान-पाप है।

(१४) **पैशुन्य** - दूसरे को भला-बुरा कहना तथा किसी के भी दोष प्रकट करते रहना पैशुन्य-पाप है।

(१५) **परपरिवाद** - दूसरे की निन्दा करना, दूसरे का बुरा करना और झूठे दोष लगाना परपरिवाद-पाप है।

(१६) **रति-अरति** - बुरे कर्म में और पाप में मन लगाना, ध्यान-संयम-तप आदि धर्म कार्यों में रुचि न रखना (मन न लगाना) अथवा इंद्रियों के मनोज्ञ विषय प्राप्त कर प्रसन्न होना और अमनोज्ञ विषय से दुःखी होना रति-अरति-पाप है।

(१७) **मायामृषावाद (मायामोसौ)** - कपट-सहित झूठ बोलना मायामृषावाद-पाप है।

**(१८) मिथ्यादर्शन-शल्य** - तत्त्व को अतत्त्व मानना, अतत्त्व को तत्त्व मानना, कुदेव, कुधर्म, कुगुरु और कुशास्त्र पर श्रद्धा रखना, सुदेव, सुगुरु तथा सुधर्म पर श्रद्धा न होना, अर्थात् विपरीत श्रद्धा रखना मिथ्यादर्शनशल्य-पाप है।[७३]

पाप के उपर्युक्त अठारह भेदों को अठारह पापस्थान कहा गया है। वस्तुतः ये पाप के भेद न होकर पाप-बंध के हेतुओं के भेद हैं। ये अठारह पाप-बंधों के निमित्त कारण हैं, परन्तु इन्हें औपचारिक रूप से पाप कहा गया है।

ये अठारह पाप करने से जीव में जड़ता आती है। इन अठारह पापों के त्याग से जीव में हल्कापन आता है। यही बात भगवतीशास्त्र के नवम शतक में गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछी है - "हे भगवन्! जीव गुरुत्व भाव को शीघ्र कैसे प्राप्त करता है ?"

भगवान् महावीर ने कहा - "हे गौतम! प्राणातिपात आदि अठारह पाप करने से जीव को गुरुत्व भाव प्राप्त होता है।"

पुनः श्रीगौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा - "भगवन्! जीव शीघ्र लघुत्व (हल्कापन) कैसे प्राप्त करता है ?"

भगवान् महावीर ने कहा - "प्राणातिपात आदि अठारह पापों के त्याग से जीव को हल्कापन प्राप्त होता है।" भगवान् महावीर गौतम स्वामी से कहते हैं - "हे गौतम! ये अठारह पापस्थान संसार के परिभ्रमण को दीर्घकालिक करते हैं, उसमें वृद्धि करते हैं और उनके कारण जीव संसार में परिभ्रमण करता रहता है। इसके विपरीत, इनके त्याग से जीव उस परिभ्रमण को अल्पकालिक करता है, कम करता है और इस संसार के आवागमन के चक्र से पार हो जाता है। संसार-सागर से पार होने के लिए चतुर्विध अर्थात् सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप ही प्रशस्त मार्ग है। इसके विपरीत, पापाचरण जीव को कर्म के द्वारा भारी बनाता है, उसके संसार के परिभ्रमण में वृद्धि करता है और इसीलिए यह अप्रशस्त मार्ग है।[७४]

## पाप का फल

जो आत्मा को अपवित्र करते हैं, जिनके कारण मानव को सुख और समृद्धि की उपलब्धि नहीं होती है और जिनके निमित्त से मानवमात्र दुःखी होता है - यही पाप का फल है। यद्यपि पाप करते समय मनुष्य को सुख का आभास होता है, परन्तु उसका फल भोगते समय वह अत्यन्त दुःखी होता है।

जिस प्रकार पुण्य के फल के बयालीस (४२) प्रकार बताये गये हैं, उसी प्रकार पाप के फल के बयासी (८२) प्रकार बताये गये हैं। पाप के फल के ये बयासी प्रकार निम्नांकित हैं -

### पाँच ज्ञानावरणीय (५)

(१) मतिज्ञानावरण (२) श्रुतज्ञानावरण (३) अवधिज्ञानावरण
(४) मनःपर्यायज्ञानावरण (५) केवलज्ञानावरण

## नौ दर्शनावरणीय (९)

(१) निद्रा (२) निद्रानिद्रा (३) प्रचला
(४) प्रचलाप्रचला (५) स्त्यानगृद्धिनिद्रा (६) चक्षुदर्शनावरणीय
(७) अचक्षुदर्शनावरणीय (८) अवधिदर्शनावरणीय (९) केवलदर्शनावरणीय

## एक वेदनीय (१)

(१) असद्वेदनीय

## छब्बीस मोहनीय (२६)

(१) मिथ्यात्वमोहनीय (२) अनन्तानुबन्धी क्रोध
(३) अनन्तानुबन्धी मान (४) अनन्तानुबन्धी माया
(५) अनन्तानुबन्धी लोभ (६) अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध
(७) अप्रत्याख्यानावरणीय मान (८) अप्रत्याख्यानावरणीय माया
(९) अप्रत्याख्यानावरणीय लोभ (१०) प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध
(११) प्रत्याख्यानावरणीय मान (१२) प्रत्याख्यानावरणीय माया
(१३) प्रत्याख्यानावरणीय लोभ (१४) संज्वलन क्रोध
(१५) संज्वलन मान (१६) संज्वलन माया
(१७) संज्वलन लोभ

## नौ कषाय :

(१) हास्य (२) रति (३) अरति
(४) भय (५) शोक (६) जुगुप्सा
(७) स्त्रीवेद (८) पुरुषवेद (९) नपुंसक वेद

## एक आयुष्य

(१) नरकायुष्य

## (३४) चौंतीस नामकर्म

(१) नरकगति (२) तिर्यंचगति (३) एकेन्द्रिय
(४) द्वीन्द्रिय (५) त्रीन्द्रिय (६) चतुरिन्द्रिय

## पाँच संहनन

(७) ऋषभनाराच संहनन (८) नाराच संहनन (९) अर्धनाराच संहनन
(१०) किलिका संहनन (११) छेवट्ट (सेवार्त) संहनन

## पाँच संस्थान एवं चार अप्रशस्त वर्णादि

(१२) न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान (१३) सादि-संस्थान (१४) वामन-संस्थान
(१५) कुब्ज-संस्थान (१६) हुण्डक-संस्थान (१७) अशुभ वर्ण
(१८) अशुभ गन्ध (१९) अशुभ रस (२०) अशुभ स्पर्श

## दो आनुपूर्वी

(२१) नरकानुपूर्वी, (२२) तिर्यंचानुपूर्वी

### एक विहायोगति

(२३) चलने की अशुभ गति

### स्थावर-दशक

(२४) स्थावर नाम (२५) सूक्ष्म नाम (२६) अपर्याप्त नाम
(२७) साधारण नाम (२८) अस्थिर नाम (२९) अशुभ नाम
(३०) दुर्गम नाम (३१) दुःस्वर नाम (३२) अनादेय नाम
(३३) अयशोकीर्ति नाम

### एक नीच गोत्रकर्म

(३४) नीच गोत्र

### पाँच अन्तराय कर्म (५)

(१) दानान्तराय (२) लाभान्तराय (३) भोगान्तराय
(४) उपभोगान्तराय (५) वीर्यान्तराय

इस प्रकार पाप का फल बयासी (८२) प्रकार का है। इन बयासी भेदों से पाप का फल भोगना पड़ता है। पाप हेय है तथा आत्मा को कलुषित करने वाला है।[७५]

## पाप-पुण्य की कल्पना के विषय में विद्वानों के विचार

किसी भी आवरण से आच्छादित किया जाये तो भी पाप सदैव पाप ही होता है।
संसारमें दुर्बल और दरिद्र होना पाप है। - प्रेमचन्द्र
एक पाप बाद के पाप के द्वार खोलकर रखता है।
पाप एक प्रकार का अँधेरा है जो ज्ञान का प्रकाश पड़ने से नष्ट होता है।- अज्ञात
पाप की बख्शीश मृत्यु है। - स्वामी रामतीर्थ
पाप से द्वेष करो, पापी से नहीं।
जहाँ मिथ्याभिमान है, वहाँ पाप है।

जिस प्रकार भारी भोजन पेट में पहुँचने पर तकलीफ होती है, उसी प्रकार पाप भले ही स्वयं को अनिष्टकारी नहीं लगे तो भी पुत्र तथा प्रपौत्र तक उसका प्रभाव होता है।

पाप करने का अर्थ यह नहीं है कि जब वह उदित होता है, तभी उसकी गिनती पाप में होती है। पाप का विचार भी यदि हमारे मन में आ जाये, तो भी वह पाप ही होता है। -महात्मा गांधी

प्राणघात, चोरी तथा व्यभिचार ये तीन शारीरिक पाप हैं। झूठ बोलना, निन्दा करना, कटु वचन और व्यर्थ भाषण ये चार वाणी के पाप हैं। पर धन की इच्छा; दूसरे की बुराई का चिन्तन करना; असत्य, हिंसा, दया-दान के बारे में अंधश्रद्धा - ये मानसिक पाप हैं। - भगवान् बुद्ध

Not failure but low aim is a crime.

असफलता नहीं, वरन् निकृष्ट ध्येय पाप है। - टेनीसन

अज्ञान के कारण जो पाप होता है उसका प्रायश्चित्त यह है कि परमात्मा उसे क्षमा करता है, परंतु जानबूझकर जो पाप किया जाता है, उससे कैसे बचा जा सकता है? - शरच्चन्द्र (काशीनाथ)

पाप छुपाने से बढ़ता है। - शरत्चन्द्र (विराजबाहु)

अपना कर्त्तव्य करने से पहले, दूसरे के कर्त्तव्य की इच्छा करने से पाप होता है।

संसार में जितने पाप हैं उनमें से सबसे बड़ा पाप है मनुष्य की दया पर अत्याचार करना।

जिस प्रकार अग्नि अग्नि को नहीं बुझाती, उसी प्रकार पाप पाप का शमन नहीं करता। - टालस्टाय

Poverty and wealth are comparative sins.

दरिद्रता और सम्पत्ति दोनों समान पाप हैं। - क्विटर ह्यूगो

पाप का फल दुःख नहीं, परंतु एक दूसरा पाप है। - जयशंकर प्रसाद

पाप में पड़ना मानवीय स्वभाव है किन्तु उसमें मग्न रहना राक्षसी स्वभाव है। उस पर दुःखी होना संत-स्वभाव है और सब पापों से मुक्त होना ईश्वरीय स्वभाव है। - लॉन्गफैलो

पाप में गिरने वाला जो मनुष्य पाप करने पर पश्चात्ताप करता है वह साधु और जो पाप के लिए अभिमान करता है, वह शैतान। - कुलर

पुत्रेषु वा नप्तृषु वा न चेदात्मनि पश्यति।
फलत्येव ध्रुवं पापं गुरुभुक्तमिवोदरे।। - वेदव्यास

कायेन कुरुते पापं मनसा संप्रधार्य तत्।
अनृतं जिह्वया चाह त्रिविधं कर्मपातकम्।
अवश्यमेव लभते फलं पापस्य कर्मणः।
भर्तः पर्यागते काले कर्ता नास्त्यत्र संशयः।। - वाल्मीकि

मनुष्य असत्यरूप पाप का प्रथमतः मन में विचार करता है, बाद में शरीर द्वारा प्रकट करता है और जिह्वा से कहता है, तब मानसिक, कायिक और वाचिक तीन प्रकार का पातक होता है।[७६] -लोकमान्य तिलक

एक बार एक शिष्य ने गुरुजी से पाप के बारे में पूछा। तब गुरुजी ने उत्तर दिया - "जिस कार्य को करते समय और करने के बाद मन भयभीत होकर लज्जा और ग्लानि से भर जाता है, उस कृत्य को पाप कहते हैं।"

पुण्य के बारे में पूछने पर गुरुजी ने कहा, "जिस कृत्य को करते समय मन में आनन्द की अनुभूति होती है और अन्त में उल्लास, आह्लाद और प्रसन्नता आती है, उसे पुण्य कहते हैं।"

पाप दुर्गन्ध के समान शीघ्र फैलता है, परंतु पुण्य सुगन्ध के समान धीरे-धीरे फैलता है। दुर्गन्ध से जीव अस्वस्थ होता है, परंतु सुगंध से प्रसन्न हो जाता है।

पाप प्रसरणशील है, परंतु पुण्य संकोचशील है।[७७]

मानव कर्ममय है। इस लोक में जैसे कर्म किए जाते हैं, वैसे ही फल परलोक में मिलते हैं अर्थात् अच्छे कर्म का फल अच्छा और बुरे कर्म का फल बुरा मिलता है।

क्रतुमयः पुरुषो, यथाक्रतुरस्मिँल्लोके
पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति।

अच्छा आचरण करने वाले अच्छी योनि में जाते हैं और बुरा आचरण करने वाले बुरी योनि में जाते हैं।

य इह रमणीय चरणा अभ्यासो ह यत्ते रमणीयां योनिमा-पद्येरन्।
यह इह कपूयचरण अभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनिमा-पद्येरन्।।

पुण्य-कर्म से जीव पुण्यात्मा (पवित्र) बनता है और पापात्मा मलिन होता है।

'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन।'

शुभ (सत्कर्म) कर्म करने वाला शुभ फल प्राप्त करता है और पाप (अशुभ दुष्कर्म) करने वाला अशुभ फल प्राप्त करता है -

शुभकृच्छुभमाप्नोति पापकृत्पापश्नुते।[७८]

पाप-कल्पना विषयक और पुण्य-कल्पना विषयक अनेक विद्वानों के मतों को अब तक प्रस्तुत किया गया। प्रत्येक विद्वान् की भाषा और शैली के स्वतंत्र और अलग-अलग होने पर भी, उनके मतों का सर्वसामान्य तात्पर्य एक ही निकलता है। वह यह कि पाप बुरा है और पुण्य अच्छा है। दुष्कृत्य का अंतिम परिणाम पाप और सत्कृत्य का अंतिम परिणाम पुण्य है। पाप क्लेशकारक है अतः मानव को उससे परावृत्त होना है और पुण्य सुखदायी है अतः उसे प्रयत्नपूर्वक अपना बना लेना है, इसी में मनुष्य-जीवन की सार्थकता है।

## पुण्य-पाप का अस्तित्त्व

कुछ लोग कहते हैं - "कैसा पुण्य और कैसा पाप ? कुछ भी नहीं है। Eat, drink and be merry. खाना, पीना और मौज करना ही जीवन है।"

चार्वाक कहते हैं - 'जब तक जीओ सुख से जीओ। कर्ज लो और घी पीओ। इस देह के भस्म होने पर पुनः आगमन कैसे होगा? इसलिए पाप-पुण्य इत्यादि कुछ नहीं है।[७९]

इसी मत का निर्देश करते हुए सूत्रकृतांग में कहा गया है कि शास्त्रोक्त अनुष्ठान से उत्पन्न होने वाला सुख आदि फलरूप पुण्य नहीं है और निषिद्ध कर्म से उत्पन्न होने वाला नरक आदि फलरूप पाप नहीं है। इस लोक से परलोक अलग नहीं है। इस शरीर का विनाश होने पर आत्मा का भी विनाश होता है। इसलिए पुण्य-पाप इत्यादि कुछ भी नहीं है।[८०]

शास्त्रकारों के मत में उपर्युक्त कथन उचित नहीं है। पुण्य है और पाप भी है। उसका फल भी है। भगवान् महावीर ने सूत्रकृतांग में कहा है कि यह मत समझो कि पुण्य और पाप नहीं हैं, बल्कि यह समझो कि पुण्य और पाप हैं ही।[१]

उत्तराध्ययनसूत्र और स्थानांगसूत्र में नवतत्त्वों का उल्लेख मिलता है। वहाँ तीसरा तत्त्व पुण्य और चौथा तत्त्व पाप कहा गया है। स्थानांगसूत्र में पुण्य और पाप को द्वन्द्वतत्त्व माना गया है अर्थात् ये दोनों परस्पर विरोधी तत्त्व हैं। जहाँ पुण्य है, वहाँ पाप नहीं है और जहाँ पाप है, वहाँ पुण्य नहीं है। जहाँ अंधकार है, वहाँ प्रकाश नहीं है। जहाँ प्रकाश है, वहाँ अंधकार नहीं है। जहाँ उष्णता है, वहाँ शीतलता नहीं है और जहाँ शीतलता है, वहाँ उष्णता नहीं है।

इसके विपरीत कुछ लोग यह मानते हैं कि धन-सम्पत्ति पुण्य के कारण मिलती है। पुत्र पुण्य से मिलता है। परन्तु यह मत भी सर्वथा सत्य नहीं है क्योंकि पुत्र या कन्या प्राप्त होने तथा धन-वैभव प्राप्त होने का कारण पुण्य नहीं है। यदि पुत्र पुण्य का फल है ऐसा मान लिया जाता तो भगवान् महावीर के भक्त श्रेणिक से पूछा गया होता - "अपने पुत्र कोणिक के जन्म से आप पुण्यवान् बने या पापी?"

श्रेणिक ने उत्तर दिया होता, "कोणिक का जन्म मेरे पाप के कारण हुआ। क्योंकि कोणिक ने राज्य के लोभ से अपने पिता श्रेणिक को कारागृह में बन्दी बनाया था।"

मुगल बादशाह शाहजहाँ के सात पुत्र और एक कन्या जहाँआरा थी। उसके एक पुत्र औरंगजेब ने राज्यप्राप्ति के लिए उसे कैद किया था और पुत्री जहाँआरा ने भोग-उपभोग का त्याग कर आजीवन विवाहित रहकर अपने पिता की मृत्यु तक सेवा की थी। अब विचार कीजिए कि पुण्य का फल पुत्र है या पुत्री? सचमुच पुण्य का फल वही है जो व्यक्ति को शान्ति देता है, सुख देता है और सब प्रकार से सहयोग देता है।

विपुल धन-वैभव होना भी पुण्य की निशानी नहीं है। जैन-साधु के पास एक पैसा भी नहीं होता तो क्या उसका साधनामय जीवन पाप का परिणाम है? नहीं। बाह्य वैभव को पुण्यशाली मानना उचित नहीं है।

व्यक्ति को जो साधन प्राप्त हुआ, उससे यदि मन में शुभ भावना पैदा हुई और अच्छा कार्य करने की वृत्ति जाग्रत हुई, तो वह साधन पुण्यानुबंधी पुण्य है अर्थात् पुण्य के कारण वह प्राप्त हुआ है और उस साधन से पुनः पुण्य का ही बन्ध होगा।

जिस साधन का उपयोग भोग-उपभोग में और दूसरे के अहित में होता है, वह पापानुबंधी पुण्य है। वह पुण्य पाप का अर्जन करने वाला है। उस पुण्य से पुण्य का नहीं, अपितु पाप का बंध होता है। धन, वैभव, पुत्र-परिवार की प्राप्ति आदि बाह्य वैभव में पुण्य नहीं है। ये तो जड़ पदार्थ हैं। पुण्य तो मनुष्य की शुभ भावना में निहित है।[२]

किसी शूद्र के घर में दो बालकों ने जन्म लिया। एक का पालन-पोषण ब्राह्मण के घर में हुआ और दूसरे का पालन-पोषण शूद्र के घर में ही हुआ। एक कहता है - "मैं ब्राह्मण हूँ। मैं मदिरा का स्पर्श नहीं कर सकता।" इसलिए वह मदिरा का त्याग करता है। दूसरा कहता है - "मैं तो शूद्र हूँ इसलिए मुझे मदिरा से ही स्नान करना चाहिए।" इस प्रकार वह मदिरा को पवित्र मानता है।

वस्तुतः दोनों ही जन्म से शूद्र हैं परन्तु जातिभेद के अनुसार वे इस प्रकार की प्रवृत्ति रखते हैं। उसी प्रकार पुण्य और पाप दोनों ही एक जैसे हैं। फिर भी मोह-दृष्टि के भ्रम से अज्ञानी जीव उनमें भेद देखकर पुण्य को पवित्र और पाप को अपवित्र समझते हैं।[८३]

सर्वज्ञ देवों ने शुभ और अशुभ दोनों कर्मों को बन्ध का कारण कहा है और ज्ञान को मोक्ष का कारण कहा है।[८४]

जो सम्यक्-दृष्टि जीव है उसके लिए पुण्य और पाप दोनों हेय हैं।[८५]

पाप को पाप तो सभी मानते हैं, परंतु पुण्य को पाप मानने वाला ज्ञानी विरला ही होता है।[८६]

जो पुण्य की इच्छा करता है, वह संसार की इच्छा करता है, क्योंकि पुण्य सुगति का कारण है किन्तु जो पुण्य का भी क्षय करता है, वह मोक्ष प्राप्त करता है।

## पुण्य-पाप की कसौटी

साधारण लोग कहते हैं कि दान, पूजन, सेवा आदि क्रियाएँ करने से शुभ कर्म (पुण्य) का बन्ध होता है और किसी को कष्ट देने, इच्छा के विरुद्ध काम करने आदि से अशुभ कर्म (पाप) का बन्ध होता है। परंतु पुण्य-पाप का निर्णय करने की यह मुख्य कसौटी नहीं है। कारण यह कि किसी को कष्ट देने से और दूसरे की इच्छा के विरुद्ध काम करने से भी पुण्य का उपार्जन हो सकता है।

इसी प्रकार दान, पूजन, सेवा आदि करने वाला भी कभी-कभी पुण्य का उपार्जन नहीं करता, अपितु पाप भी करता है। जैसे - कोई परोपकारी, चिकित्सक जब किसी व्यक्ति की शल्यक्रिया करता है, तब उस रोगी को कष्ट अवश्य होता है। हितैषी माता-पिता अज्ञानी बालक को उसकी इच्छा के विरुद्ध सिखाने का प्रयत्न करते हैं, उस समय उस बालक को दुःख होता है। परंतु इन दोनों उदाहरणों में - चिकित्सक अनुचित काम करने वाला नहीं माना जाता और हित चाहने वाले माता-पिता भी दोषी नहीं समझे जाते।

इसके विपरीत जब कोई भोले लोगों को फँसाने की इच्छा से या किसी तुच्छ आशय से दान-पूजन आदि क्रियाएँ करता है, तब वह पुण्य के बजाय पाप होता है। इसलिए पुण्य-बन्ध या पाप-बन्ध की असली कसौटी केवल ऊपर निर्दिष्ट क्रियाएँ नहीं हैं। वरन् उसकी असली कसौटी कर्ता का आशय ही है।

अच्छे आशय से जो काम किया जाता है, वह पुण्य का निमित्त है और बुरे अभिप्राय से जो काम किया जाता है, वह पाप का निमित्त है। पुण्य-पाप की कसौटी सब को एक जैसी स्वीकार है, क्योंकि यह सिद्धान्त सर्वमान्य है -

'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।'

साधारण लोग समझते हैं कि अमुक काम न करने पर हमें पुण्य-पाप का लेप नहीं लगता इसलिए वे उस काम को छोड़ देते हैं। परंतु प्रायः उनकी मानसिक क्रिया नहीं छूटती। अतः इच्छा होते हुए भी वे स्वयं को पुण्य-पाप के लेप से मुक्त नहीं कर पाते। इसलिए 'सच्ची निर्लेपता क्या है' इसका विचार करना चाहिए। लेप (बन्ध) मानसिक क्षोभ अर्थात् कषाय को कहते हैं। अगर कषाय नहीं होगा तो ऊपर की कोई भी क्रिया आत्मा को बंधन में नहीं डाल सकती।

इसके विपरीत अगर कषाय का वेग प्रवाहित हो रहा हो तो बाहर से किये गये हजारों प्रयत्न भी हमें बंधन से नहीं बचा सकते। कषायरहित वीतराग, सर्वत्र कीचड़ में कमल की तरह, निर्लिप्त रहते हैं। परंतु कषाय-युक्त आत्मा योगी की पोशाक धारण करके तिलभर भी शुद्धि नहीं कर सकता। इससे यह स्पष्ट होता है कि आसक्ति को छोड़कर जो काम किया जाता है, वह बन्धनकारक नहीं होता अर्थात् असली निर्लेपता मानसिक क्षोभ के त्याग में है। यही बोध कर्म-शास्त्र में प्राप्त होता है और यही बात अन्यत्र भी कही गयी है -

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयाऽसंगी मोक्षे निर्विषयं स्मृतम्।। - मैत्र्युपनिषद्

मनुष्य का मन ही बन्ध और मोक्ष का कारण है जिसका मन विषय में आसक्त है, उसे बंध होता रहता है और जो विषयरहित है, उसे मोक्ष प्राप्त होता है। इसलिए मानवमात्र को विषय में अनासक्त होकर सर्वप्रथम अपना मन ही पवित्र बनाना चाहिए। संसार में जिसका मन अलिप्त है, वह कभी आसक्त नहीं बनता। पुण्य-पाप उसका स्पर्श नहीं कर सकते। और ऐसा मानव भवसागर पार करके मोक्ष-शिखर पर शीघ्र ही आरूढ़ हो जाता है।

## अन्य धर्मों में पाप-पुण्य

पाप और पुण्य नीतिशास्त्रीय और धर्मशास्त्रीय संज्ञाएँ हैं। दुष्कृत्य या सत्कृत्य करने से अदृष्ट या अपूर्व जो विशिष्ट शक्तियाँ या सामर्थ्य उत्पन्न होती हैं, उन्हें क्रमशः 'पाप' और 'पुण्य' कहते हैं। 'इष्टान्तरजनकं पुण्यम्' अर्थात् अन्य इष्ट फल उत्पन्न करने वाला 'पुण्य' होता है अथवा 'विहितात् इष्टात् जन्यं पुण्यम्' अर्थात् विहित कर्म से जो उत्पन्न होता है, वह 'पुण्य' है। ऐसी पुण्य की व्याख्याएँ मिलती हैं। उसी तरह अनिष्ट उत्पन्न करने वाला पाप है अथवा दुष्कृत्य और निषिद्ध कर्म करने से जो उत्पन्न होता है, वह 'पाप' है। ऐसी पाप की व्याख्याएँ की गयी हैं।

कोई दुष्कृत्य जब सामाजिक या सरकारी नियमों के विरुद्ध होता है, तब वह गुनाह या अपराध बनकर दण्डा बनता है। जो कानून से दण्डा नहीं है परन्तु नैतिक दृष्टि से दुष्कृत्य है 'वह कृत्य दण्डनीय नहीं हुआ' इसलिए कर्ता उसके फल से मुक्त है, ऐसा नहीं होता। ऐसे कृत्य से जो अदृष्ट उत्पन्न होता है, वही पाप है। पाप की कल्पना में मानवीय नियमों के उल्लघंन की अपेक्षा ईश्वरीय नियमों का उल्लघंन ही अभिप्रेत है।

जिस सत्कर्म का फल यहाँ नहीं मिला, वह सत्कर्म खाली गया ऐसा मानना नीतिशास्त्रियों की अंतःप्रज्ञा को नहीं जमता। ऐसे सत्कर्म का फल कर्ता को इहलोक में या परलोक में मिलता ही है। यहाँ के सत्कर्म और उसके फल को जोड़ने वाली अदृश्य शक्ति ही पुण्य है।

प्रत्येक को स्वकृत अच्छे या बुरे कर्म का फल भोगना ही पड़ता है। इसीलिए 'मृत्यु के बाद जीव का किसी न किसी स्वरूप में अस्तित्त्व है' जैसे सिद्धान्तों को स्वीकार करने पर पाप-पुण्य की कल्पनाएँ अर्थपूर्ण ठहरती हैं। अधिकांश धर्मों में पाप-पुण्य की कल्पना मिलती है।

पाप में भी महापाप और क्षुद्र या क्षुल्लक पाप जैसे भेद किये गये हैं। कात्यायन ने पाप के महापातक, अतिपातक, पातक, प्रासंगिक पातक और उपपातक - ये पाँच भेद बताये हैं। पाप के कायिक, वाचिक और मानसिक भेद भी किये जाते हैं। महापाप कौन से हैं इस विषय में मतभेद है। चोरी, गुरुपत्नी से व्यभिचार, ब्रह्महत्या, सुरापान, असत्य-भाषण और दुष्कृत्य का बार-बार आचरण ये महापाप स्मृति में बताये गये हैं।[८८]

छान्दोग्य उपनिषद् में चौर्य, ब्रह्महत्या, गुरुपत्नी से व्यभिचार और मद्यपान महापाप हैं, ऐसा कहा गया है। चौर्य, हिंसा, परदारगमन - ये तीन कायिक पाप हैं। असत्य, कठोरता, पैशुन्य (दुष्टता) और असंबद्ध बोलना - ये चार वाचिक पाप हैं। और दूसरे की सम्पत्ति की अभिलाषा, दूसरे का अनिष्ट-चिन्तन, झूठी बातों का अभिनिवेश - ये तीन मानसिक पाप मिलाकर दशविध पापकर्म कहे गये हैं। परोपकार पुण्य है और परपीड़ा पाप है इस अर्थ का सुभाषित प्रसिद्ध ही है। इस्लाम धर्म में भी पाप के 'सधीर' अर्थात् क्षुल्लक और 'कबीर' अर्थात् महापाप ये दो वर्ग माने गये हैं।

पाप के समान पुण्य के भी कायिक, वाचिक, मानसिक, साथ ही महत् पुण्य या महापुण्य और क्षुल्लक पुण्य ऐसे भेद किए जा सकते हैं।

'मनुष्य पाप करने में क्यों प्रवृत्त होता है?' अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर श्रीकृष्ण ने 'रजोगुण से उत्पन्न काम और क्रोध रूप महाशत्रु मनुष्य को पापकर्म में प्रवृत्त करते हैं' इस प्रकार दिया है। परन्तु तत्त्वज्ञानियों को यह उत्तर समाधान करने वाला नहीं लगता। उनका प्रश्न मानसशास्त्रीय न होकर सत्ताशास्त्रीय है। अधिकांश धर्मों में "मानव में पाप-प्रवृत्ति क्यों?" इस प्रश्न का उत्तर 'अपने मूल स्थान से च्युत होकर आत्मा को जीव-दशा जिस मूल पाप के कारण प्राप्त हुई, उस

मूल पाप के ही परिणामस्वरूप मानव में जन्मजात पापवृत्ति होती है' - यह दिया जाता है। आत्मा शुद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर भी अज्ञान से स्वयं को बाँधकर जीवदशा तक पहुँचता है ऐसा वेदान्त का कथन है। ईसाई धर्म में आदम और ईव ने शैतान के चंगुल में फँसकर विषयरूपी सेब को खाया, यही मूल पाप मानव में परंपरा से चलता आया है, ऐसा बताया गया है। समस्त उत्तर मूल प्रश्न का उत्तर न देकर, उस प्रश्न को सिर्फ पीछे धकेलते रहते हैं। परन्तु आदम में या शैतान में या आत्मा के मूल शुद्ध स्वरूप में मूल पाप-प्रवृत्ति का उद्‌गम क्यों हुआ? यह प्रश्न अनुत्तरित ही रहता है।

पाप-क्षालन के अनेक उपाय सभी धर्म-ग्रंथों में प्रतिपादित किये गये हैं। तीर्थयात्रा, तीर्थ-स्नान, देवदर्शन, यज्ञ, उपवास, व्रत, दान, परोपकार, प्रायचित्त, नाम-स्मरण, प्रार्थना, पश्चात्ताप और पाप का स्वीकार या पाप-कर्म का उच्चार तथा ईश्वर-शरणागति आदि अनेक मार्गों द्वारा पाप की निष्कृति की जा सकती है। भागवत्-सम्प्रदाय में नाम-स्मरण और ईश्वर-शरणागति को बहुत महत्त्व दिया गया है। इस्लाम धर्म में भी, हररोज की प्रार्थना समय पर करने से क्षुल्लक पाप से मुक्ति मिलती है, ऐसा कहा गया है। मनुस्मृति आदि ग्रंथों में तथा ईसाई एवं इस्लामी धर्म-ग्रंथों में भी पाप-निवेदन और पश्चात्ताप को विशेष महत्त्व दिया गया है।

परन्तु जैन-धर्म की विशेषता यह है कि इस धर्म में - मानव मात्र का पाप कर्म का बंध कम कैसे हो सकता है? पाप-पुण्य की असली कसौटी क्या है? और विवेक से काम करने पर मानव पाप से कैसे बच सकता है? यह बताया गया है।

आध्यात्मिक दृष्टि से, स्व-स्वरूप के पास या ईश्वर के पास ले जाने वाला कार्य 'पुण्य' और आत्मस्वरूप से या ईश्वर से दूर ले जाने वाला कार्य 'पाप' कहलाता है, ऐसी व्याख्या की गयी है। यज्ञ, दान, परोपकार आदि सारे पुण्यकर्म स्वर्ग आदि भोग-सुख देने वाले हैं। उनका फल भी अशाश्वत है। ये सत्कर्म ईश्वर-स्वरूप के पास ले जाने में असमर्थ होने से, ऊपर निर्दिष्ट पुण्य की व्याख्या के अनुसार, 'पुण्य' नहीं कहे जा सकते। इसी प्रकार चौर्य, व्यभिचार आदि 'पाप' भी नहीं कहे जा सकते। इसलिए वेदांती उन्हें 'पुण्यात्मक पाप' कहते हैं और उन्हें 'पापात्मक पाप' और शुद्ध पुण्य' से अलग रखते हैं। संत ज्ञानेश्वर ने स्वर्ग में ले जाने वाले या आत्मस्वरूप के पास ले जाने वाले या मोक्ष के कारण को 'शुद्ध पुण्य' कहा है।[८८]

स्वर्गा पुण्यात्मके पापे जाइजे। पापात्मके पापे नरका जाइजे।
मग मातें जेणें पाविजे। ते शुद्ध पुण्य।। - ज्ञानेश्वरी ६/३१६

उपर्युक्त विवेचन से, पाप और पुण्य इन संकल्पनाओं का स्वरूप मुख्यतः धार्मिक होता है, यह स्पष्ट होता है तथापि उनका आशय बड़े पैमाने पर नीतिशास्त्रीय है। सद्‌गुण, श्रेय-युक्त कर्तव्य, इच्छा-स्वातंत्र्य आदि प्रमुख नैतिक

संकल्पनाओं के साथ उनका अतीव निकट का संबंध है। भारतीय तत्त्वज्ञान का कर्म-सिद्धान्त भी उनसे जुड़ा हुआ है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से देखने पर एक बात ध्यान में आती है, वह यह कि पाप-पुण्य की कल्पनाओं में कर्म-फल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसकी उपेक्षा नहीं की गई है। इसलिए ये संकल्पनाएँ कर्त्तव्यवादी नीतिशास्त्र की अपेक्षा प्रयोजनवादी नीतिशास्त्र के अधिक नजदीक हैं।

अन्य स्थानों पर पाप और पुण्य का स्वरूप देखने पर ऐसा लगता है कि जैन-दर्शन में पुण्य-पाप के सम्बन्ध में जितना विस्तृत और सुस्पष्ट विवेचन मिलता है, उतना कहीं भी दिखाई नहीं देता। जैन-दर्शन का यह वैशिष्टय है कि प्रायः सभी विषय पर उसका अत्यंत सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन दिखाई देता है :-

पुण्य

- द्रव्यपुण्य, भावपुण्य
- पुण्यानुबन्धी पुण्य, पापानुबन्धी पुण्य
- पुण्य के नौ भेद
  (१) अन्नपुण्य
  (२) पानपुण्य
  (३) लयनपुण्य
  (४) शयनपुण्य
  (५) वस्त्रपुण्य
  (६) मनपुण्य
  (७) वचनपुण्य
  (८) कायपुण्य
  (९) नमस्कारपुण्य

पाप

- द्रव्यपाप, भावपाप
- पापानुबन्धीपाप, पुण्यानुबन्धीपाप
- पाप के अठारह भेद
  (१) प्राणातिपात
  (२) मृषावाद
  (३) अदत्तादान
  (४) मैथुन
  (५) परिग्रह
  (६) क्रोध
  (७) मान
  (८) माया
  (९) लोभ
  (१०) राग
  (११) द्वेष
  (१२) कलह
  (१३) अभ्याख्यान
  (१४) पैशुन्य
  (१५) परपरिवाद
  (१६) रति और अरति
  (१७) मायामृषावाद
  (१८) मिथ्यादर्शनशल्य

पुण्य -फल के बयालीस भेद हैं तथा पाप-फल के बयासी (८२) भेद हैं।

## विवेक ही पुण्य है

जैन-शास्त्र में भगवान् महावीर ने साधक को लक्ष्य करके कहा है - "हे साधक! तू अपनी क्रिया का त्याग मत कर। तुझे लगता है कि चलने से पाप लगता है, सोने से पाप लगता है, बोलने से पाप लगता है। इसलिए खाना-पीना बन्द करके, मौन धारण करके एक स्थान पर बैठ जाएँ। परन्तु हे साधक! यह पाप से बचने का मार्ग नहीं है।"

जब तक मन, वचन और काया का योग है, तब तक क्रिया बन्द नहीं हो सकती। शरीर और वाणी को मनुष्य रोक सकता है, परंतु मन की गति को रोकने में मनुष्य समर्थ नहीं है। शरीर स्थिर किया जा सकता है, लेकिन मन स्थिर नहीं हो सकता इसलिए निष्क्रिय बनने की आवश्यकता है, ऐसा नहीं है। अपितु आवश्यक यह है कि समस्त क्रियाएँ तथा समस्त कार्य सावधानी से और विवेकपूर्वक किए जाएँ। इस प्रकार जाग्रत साधक पाप से मुक्त रहता है।

भगवान् महावीर कहते हैं-"अगर पाप से परावृत्त होना है, तो क्रिया से दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। बस अविवेक से दूर रहो। अज्ञान से दूर रहो। आसक्ति वासना, राग, द्वेष और तृष्णा से दूर रहो।"

विवेकपूर्वक चालिए, खड़े रहिए, विवेकपूर्वक बैठिए, विवेकपूर्वक सोइये विवेकपूर्वक भोजन कीजिए विवेकपूर्वक बोलिए। विवेकपूर्वक समस्त कार्य कीजिए। फिर पाप-कर्म नहीं होगा।[५०]

जिस प्रकार जैन-दर्शन में कर्म के दो भेद माने गये हैं- शुभकर्म और अशुभकर्म (जिन्हें क्रमशः पुण्य और पाप कहा गया है) उसी प्रकार गीता में भी कर्म के दो भेद माने गए हैं, वे हैं पाप और पुण्य। जब अर्जुन के समक्ष अच्छे और बुरे स्वभाव का या कर्म का प्रश्न उपस्थित होता है, तब उसके मन में शंका उत्पन्न होती है कि पाप-पुण्य का कारण क्या है? ऐसी कौन-सी शक्ति है जो मनुष्य को शुभ या अशुभ कर्मों की ओर आकर्षित कर लेती है? इस प्रश्न का श्रीकृष्ण ने सादा, सरल और स्पष्ट उत्तर यह दिया है कि प्रत्येक के स्वभाव में रजोगुण का अंश है। यह गुण काम-क्रोध के रूप में स्पष्ट दिखाई देता है और पाप की ओर खींच ले जाता है। क्रोध वह अग्नि है, जो अंतर्मन में हमेशा धधकती रहती है। विचार करने पर जितना ज्ञान होता है उतना दूसरे के कहने से हमें नहीं होता। बुद्धिवादी, कर्मवादी और ज्ञानयोगी इन सभी को क्रोधरूपी शत्रु का भय हमेशा रहता है। इन दोनों की मुख्य समस्या काम और क्रोध को जीत लेने की है।

भगवद्गीता में काम और क्रोध का - पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच विषय पाँच महाभूत, मन और बुद्धि इतना विशाल क्षेत्र बताया गया है। सब जगह

इनकी शुद्धि के उपाय करने चाहिए। इसीलिए गीताकार की दृष्टि में इन्द्रिय-संयम उच्च जीवन के सोपान की पहली सीढ़ी है। उस पर कदम रखे बिना कोई भी ऊपर नहीं चढ़ सकता।

जो व्यक्ति अनासक्त रहकर कर्म करता है, उसके जीवन पर कर्म का किसी भी प्रकार से प्रभाव नहीं पड़ता। गीता का संदेश है कि कर्म करते रहिए परंतु कर्म-फल में आसक्त मत रहिए जो व्यक्ति कर्म-फल में अनासक्त रहता है, वही पुण्य और पाप से निर्लिप्त रहता है तथा इन सभी का त्याग कर अर्थात् कर्म-अकर्म, पुण्य-पाप से दूर रहकर मोक्ष प्राप्त करता है।

जैन-दर्शन में भी यही कहा गया है कि यदि मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा हो तो किसी भी फल में आसक्त न होकर कर्माकर्म और पुण्य-पाप इन सब का त्याग करना चाहिए। इनका त्याग करने के पश्चात् ही मोक्ष-प्राप्ति हो सकती है भारतीय संस्कृति के सभी धर्मों में पुण्य-पाप के संबंध में मान्यताएँ तथा मोक्ष-विषयक चिन्तन करीब-करीब एक जैसा है। परंतु जैन-धर्म की यह विशेषता है कि पुण्य-पाप के विषय में या दूसरे किसी भी तत्त्व के विषय में जितना स्पष्टीकरण जैन-दर्शन में मिलता है,उतना अन्य किसी भी दर्शन में नहीं मिलता।

पुण्य और पाप का ज्ञान जीवन में अतीव प्रभावकारी होता है। जिस मनुष्य को पुण्य और पाप के रहस्य का ज्ञान होता है, उसका अंतर्बाह्य जीवन ही बदल जाता है। ऐसा व्यक्ति अशुभ कर्म को भी शुभकार्य में रूपान्तरित कर सकता है। जिन-जिन बातों से मूढ-अज्ञानी मनुष्य समझते हुए या न समझते हुए पाप का उपार्जन करता है उन्हीं बातों से यह पाप-पुण्य के रहस्य को जानकार पुण्य का उपार्जन करता है। जिस वस्तु से साधारण मनुष्य पाप का उपार्जन करता है, उसी वस्तु से पाप-पुण्यज्ञ व्यक्ति पुण्य का उपार्जन करता है।

वनस्पतियाँ ऑक्सीजन छोड़ती हैं। उनके द्वारा छोड़ी गयी ऑक्सीजन को मानव श्वसन द्वारा ग्रहण करता है। उस ऑक्सीजन का उपयोग स्वयं के जीवन के लिए करके उससे निर्मित कार्बन डाय-आक्साइड, मानव वातावरण में छोड़ देता है। वनस्पतियाँ उसे जीवनोपयोगी होने से ग्रहण करती हैं। इस प्रकार जीवनचक्र निसर्ग में अखण्ड रूप से चलता रहता है। इस जीवन-चक्र के समान ही पाप-पुण्य का जानकार व्यक्ति पुण्य-पापरूपी ऑक्सीजन और कार्बन डाय-ऑक्साइड में से केवल पुण्यरूपी ऑक्सीजन को ग्रहण करता है। पुण्य का सच्चा आकलन होने से व्यक्ति का सर्वदा के लिए समाधान हो जाता है।

पुण्य के प्रभाव और पाप के दुष्परिणाम को ध्यान में रखकर प्रत्येक को पुण्य-पाप का रहस्य समझकर, पुण्य को संचित करना चाहिए और पाप से परावृत्त होना चाहिए। और जब प्रत्यक्ष मोक्ष-प्राप्ति का स्वर्णिम क्षण आये, तब पुण्य एवं

पाप इन दोनों की श्रृंखलाओं से अलिप्त होकर, मोक्ष-प्राप्ति कर जीवन को सार्थक करना चाहिए।

## सन्दर्भ


१. भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक - भाग २, अ. ६, सू. ३, पृ. ५०७
उभयमपि पारतन्त्र्यहेतुत्वादविशिष्टमिति चेत्, न, इष्टानिष्टनिमित्तभेदात्तद्‌भेदसिद्धेः ।६। स्यान्मतम् - यथा निगडस्य कनकमयस्यायसस्य --------तत्र शुभो योगः पुण्यस्यास्रवः अशुभः पापस्य।

२. एकनाथ भारुड - 'सुरी सोन्याची झाली म्हणून का उरीच मारावी?

३. श्री. ब्र. शीतलप्रसादजी-पंचास्तिकाय-टीका - भाग २, गा. १५३, १६१, पृ. १२७, १२८
सो वण्णियम्हि णियलं बंधदि कालयसं च जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ।। १५३।।
परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमनहेदुं विमोक्खहेदुं अयाणंता ।। १६१।।

४. उपाध्याय अमरमुनि - सूक्तित्रिवेणी - गा.७३, पृ. २४०
हेमं वा आयसं वा वि, बंधणं दुक्खकारणा।
महग्धसावि दंडस्स, णिवाए दुक्खसंपदा ।। इसि. ४५/५

५. आचार्य श्रीआनन्दऋषि - आनन्दप्रवचन - भाग ७, पृ. ३४४

६. (क) भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक - भा. २, अ. ६, सू. ३, पृ. ५०७ पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम् ।। ४।। वृत्ति
(ख) भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक - भा. २, अ. ८, सू. ८, पृ. ५७३ यस्योदयाद्देवादिगतिषु शारीरमानसुखप्राप्तिस्तत्सद्वेद्यम् ।१। टीका

७. (क) भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक-भा. २, अ. ६, सू. ३, पृ. ५०७
(ख) भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक - भा. २, अ. ८, सू. ८, पृ. ५७३ यत्फलं दुःखमनेकविधं तदसद्वेद्यम् ।२। टीका

८. (क) उमास्वाति - प्रशमरतिप्रकरणम् - अधिकार १५, पृ. ७०
पुद्‌गलकर्म शुभं यत्तत्पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम्।
यदशुभमयं तत्पापमिति भवति सर्वज्ञनिर्दिष्टम् ।। २६ ।।
(ख) श्रीमद्विजयानन्दसूरि - जैनतत्त्वादर्श - पृ. २१३
येन शुभप्रकृत्या आत्मकं कर्म जीवान् सुखं ददाति तत् पुण्यम् ।।

९. विजयमुनि शास्त्री - समयसार-प्रवचन - पृ. ४

Sinful way is full of darkness.

१०. (क) कुंदकुंदाचार्य - पंचास्तिकाय - अमृतचन्द्रसूरिटीका, पृ. १७२
अशुभपरिणामो जीवस्य, तन्निमित्तः कर्मपरिणामः
पुद्गलानां च पापम् । गा. १०८ टीका.
(ख) श्रीमद्विजयानंदसूरि - जैनतत्त्वादर्श - प. २१३
येन अशुभप्रकृत्या आत्मकं कर्म जीवान् दुःखं ददाति तत् पापम्।
(ग) पूज्यपादाचार्य - सर्वार्थसिद्धि - सू. ३ (तत्त्वार्थवृत्ति), पृ. १८४
पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम् असद्वेद्यादि ।।
(घ) जिनेन्द्रवर्णी - जैनेन्द्र-सिद्धांतकोश - भा. ३, पृ. ५३
पापं नाम अनभिमतस्य प्रापकं।

११. जैनाचार्य विजयलक्ष्मणसूरीश्वरजी महाराज : आत्मतत्त्व-विचार
पायति शोषयति पुण्यं पांशयति वा गुण्डयति वा जीववस्त्रमिति पापम्।
पृ. ६११

१२. आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरिजी म० सा० वल्लभप्रवचन- भा. २, पृ. २८४
पुनाति शुभकार्येणात्मानमिति पुण्यम्
प्रापयत्यधस्तादात्मानमिति पापम्।

१३. आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरिजी म० सा० वल्लभप्रवचन- भा. २, पृ. २८४
'प्रकटं पुण्यम्', 'प्रच्छन्नं पापम्' ।

१४. परिपूर्णानन्द वर्म्मा - पतन की परिभाषा - पृ. ८.

१५. संयोजक मुनिश्रीसुशीलविजयजी म० सा० संसार चक्र - पृ. २०
पुण्यं कुरुष्व यदि तेषु तवास्ति वाञ्छा ।
डॉ० धनराज मानधाने - हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास - पृ. ६२

१६. पाति रक्षति अस्मादात्मानमिति पापम्।
हिन्दी-विश्वकोष - कलकत्ता १६२७, प. २८२

१७. महानिर्वाणतन्त्र - हिन्दी-विश्वकोष - कलकत्ता १६२७, पृ. २८२

१८. स्वदोषगोपनं पापं परदोषप्रकाशनम्।
ईर्ष्याविद्धं वाक्यदुष्टं निष्ठुरत्वं षडम्बरम् ।। - वामनपुराण, अ. ५८

१९. आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरिजी म० सा० वल्लभप्रवचन-भाग २,
पृ. २६३-२६४

२०. उत्तराध्ययनसूत्र - अ. १४, गा. १६
संसारहेउं च वयन्ति बन्धं ।

२१. सं० पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (सूयगडं) - अ. २, उ. १, पृ. १०५
जमिणं जगई पुढो जगा कम्मेहिं लुप्पन्ति पाणिणो ।
सयमेव कडेहि गाहई नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं ।। ४ ।।

२२. सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (ओववाइयसुत्तं) - भाग २, पृ. २२
सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा भवंति, दुचिण्णा
कम्मा दुचिण्णा फला भवंति, फुसइ पुण्णपावे, पच्चायंति जीवा
सफले कल्लाण पावए ।।

२३. (क) उत्तराध्ययनसूत्र - अ. ४, गा. ३
तेणे जहा सन्धिमुहे गहीए सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ।।
(ख) उत्तराध्ययनसूत्र - अ. १३, गा. १०
सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ।

२४. टीका - जैनाचार्य घासीलालजी म० सा० सूत्रकृतांग, प्रथम भाग,
श्रुतस्कन्ध १, अ. २३, गा. १८ पृ. ६७७.
सर्वे स्वकर्मकल्पिता अव्यक्तेन दुःखेन प्राणिनः।
हिण्डन्ति भयाकुलाः शठा जातिजरामरणैरभिद्रुताः ।। १८।।

२५. (क) सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (सूयगडं) - अ.५, उ.२, पृ. ११६
वेयन्ति कम्माई पुरेकडाइं।
(ख) सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (सूयगडं) - अ.५, उ.१, पृ. ११६
दुक्खन्ति दुक्खी इह दुक्कडेणं ।। १६ ।।
(ग) सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (सूयगडं) - अ.५, उ.१, पृ. ११६
जहा कडं कम्म तहासि भारे ।। २६ ।।

२६. उत्तराध्ययनसूत्र - अ. २०, गा. ३६, ३७
अप्पा नई वेयरणी अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणू अप्पा मे नन्दणं वणं ।। ३६ ।।
अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय - सुपट्ठियो ।। ३७ ।।

२७. दशवैकालिकसूत्र-अनु-जैनाचार्य आत्मारामजी म. प्रथम चूलिका, पृ. ६३६
पापानां कृतानां कर्मणां पूर्वं दुश्चरितानां दुष्प्रतिक्रान्तानां वेदयित्वा मोक्षः, नास्त्यवेदयित्वा, तपसा या क्षपयित्वा।

२८. सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (सूयगडं) - अ. २, उ. १, पृ. १०५

न वि ता अहमेव लुप्पए लोगंसि पाणिणो ।
एवं सहिएहि पासए अणिहे से पुट्ठेऽहियासए ।। १३ ।।

२९. कुंदकुंदाचार्य - पंचास्तिकाय - अ. १, गा. १३१-१३२, पृ. १९४-१९५
मोहो रागो दोसो चित्तपसदो य जस्स भावम्मि।
विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो ।। १३१ ।।
सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावंति हवदि जीवस्स ।
दोण्हं पोग्गलमेत्तो भावो कम्मतणं पत्तो ।। १३२ ।।

३०. (क) जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग ३, पृ. ६०
भावपुण्यनिमित्तेनोत्पन्नः सद्वेद्यादिशुभप्रकृतिरूपः पुद्गलपरमाणुपिण्डो द्रव्यपुण्यम्।
(ख) दानपूजाषडावश्यकादिरूपो जीवस्य शुभपरिणामो भावपुण्यम्।

३१. देवेन्द्रमुनि शास्त्री-जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण - पृ. १६४-१६५.

३२. क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भा. ३, पृ. ५६

३३. (क) सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (ठाणे) - भाग १, ठा. ९, पृ. २६७
(ख) जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म. (हिंदी अनु.) ठाणांगसूत्र-ठा. ९, उ. ३, पृ. ७८७.
नवविहेपुण्णे पन्नता तंजहा - अण्णपुण्णे, पाणपुण्णे, वत्थपुण्णे, लेणपुण्णे, सयणपुण्णे, मणपुण्णे, वयपुण्णे, कायपुण्णे नमोक्कारपुण्णे ।।

३४. अभयदेवसूरिकृत टीका - स्थानांगसूत्र - ठा. ९, उ. ३, पृ. ४२८
अन्नं पानं च वस्त्रं च, आलयः शयनासनम् ।
शुश्रूषा वन्दनं तुष्टिः, पुण्यं नवविधं स्मृतम् ।। १ ।।

३५. (क) श्री समन्तभद्राचार्य - सागारधर्मामृत - अ. ५, पृ. २३१
प्रतिग्रहोच्चस्थापनादिक्षालनानितीर्विदुः । योगान्नशुद्धीश्च विधीन्
नवादरविशेषितान् ।। ४५ ।।
(ख) आचार्य भिक्खू - नवपदार्थ - पृ. २०१
पडिगहणमुच्चठाणं पादोदकमच्चणं च पणामं च ।
मणवयकायसुद्धी एसणसुद्धी य णवविहं पुण्णं ।। - सागारधर्मामृत ५/४५

३६. आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरिजी म-वल्लभप्रवचन - भाग २, पृ. ३१८-२३२
पुण्यमेव भवमर्मदारणं पुण्यमेव शिवशर्मकारणम् ।
पुण्यमेव हि विपत्तिशामनं पुण्यमेव जगदेकशासनम् ।।

३७. (क) जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म० सा० जैनतत्त्वप्रकाश - पृ. ३५०

(ख) उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र (अनु. पं. सुखलालजी) - पृ. २३३
(ग) संयोजक उदयविजयगणि - नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह(देवगुप्तसूरि अभयदेव भाष्यसहित - नवतत्त्वप्रकरणम्) - पृ. १६
सायं उच्चगोयं, सत्ततीसं तु नामपगईओ ।
तिन्नि य आऊणि तहा बायालं पुन्नपगईओ ।। ७ ।।

३८. जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म. जैनतत्त्वप्रकाश - पृ. ३५१

३९. (क) पुप्फभिक्खू - अर्थागम (भगवती)-खण्ड २, भगवतीसूत्र ५, श. ७, उ. १०, पृ. ७३४-७३५
(ख) पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (भगवई) - भाग १, स. ७, उ. १०, पृ. ५२८-५२९

४०. क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग ३, पृ. ६४-
पुण्यं स्वर्गप्रदं नित्यं निर्वाणं च सुदुर्लभम् । १।
काणि पुण्ण-फलाणि । तित्थयरगणहर-रिसि ----- रिद्धिओ ।२।
पुण्याद् विना कुतस्तादृगरूपादीनीदृशी ----------- परिच्छदः ।१६२।
कोऽप्यन्धोऽपि सुलोचनोऽपि -------- यद्दुर्लभम् ।१८९।
अलियवयणं पि सच्चं --------- होदि । ४३४ ।

४१. आचार्यश्रीविजयवल्लभसूरिजी म० वल्लभप्रवचन - भाग २, पृ. २८५-२८७

४२. (क) कुन्दकुन्दाचार्य - पंचास्तिकाय - गा. ४०, ४१, ४२; पृ. ८०-८२
(ख) अमृतचन्द्रसूरि - तत्त्वार्थसार - श्लोक १०-१३, पृ. ३४
(ग) उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ. २, सू. ९
स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ।

४३. कुन्दकुन्दाचार्य - प्रवचनसार - अ. २, भा. ६३, पृ. १९७
अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो ।
सो वि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि ।। ६३ ।।

४४. (क) उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ. ६, सू. ३, ४-
(ख) विद्यानन्दस्वामी - तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक - अ. ६, सू. ३, पृ. ४४३
सम्यग्दर्शनाद्यनुरंजितो योगः शुभो विशुद्ध्यांगत्वात् मिथ्यादर्शनाद्यानुरंजितोऽशुभः ।

४४. भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक - अ. ६, सू. २, पृ. ५०६
तत्प्रणालिकया कर्मास्रवणादास्रवाभिधानं --- आस्रवस्त्रसरेणुवत् ।

४५. कुन्दकुन्दाचार्य - प्रवचनसार - गा. ११, पृ. ११ (ज्ञानाधिकार)
धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो ।

पाविद णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ।। ११ ।।

४६. कुन्दकुन्दाचार्य - प्रवचनसार - गा. ६४, पृ. १६७ (ज्ञेयधिकार)
उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवरस संचयं जदि ।
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि । ६४ ।

४७. भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक - भाग २, अ. ६, सु. ३, पृ. ५०६
प्राणातिपातानृतभाषणवधचिन्तनादिरशुभः ।१।
अहिंसाऽस्तेयब्रह्मचर्यादिः शुभकाययोगः । सत्यहितमित भाषणादिः शुभो वाग्योगः।
अर्हद्भक्तितपोरुचिश्रुतविनयादिः शुभो मनोयोगः (तत्त्वार्थराजवार्तिक -६/१३)।

४८. कुन्दकुन्दाचार्य - प्रवचनसार - अ. २, गा. ६९, पृ. २०२
देवदजादिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु ।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा ।। ६९ ।।

४९. कुन्दकुन्दाचार्य-प्रवचनसार (ज्ञानाधिकार) अ. १, गा. ७०, पृ. ८१, ८२
युक्तः शुभेन आत्मा तिर्यग्वा मानुषो वा देवो वा ।
भूतस्तावत्कालं लभते सुखमैन्द्रियं विविधम् ।। ७० ।।
सौख्यं स्वभावसिद्धं नास्ति सुराणामपि सिद्धमुपदेशे ।
ते देहवेदनार्ता रमन्ते विषयेषु रम्येषु ।। ७१ ।।

५०. कुन्दकुन्दाचार्य-प्रवचनसार (ज्ञानाधिकार)-अ.१, गा.७२-७६, पृ. ८४-८६

५१. (क) कुन्दकुन्दाचार्य पंचास्तिकाय- गा. १३५, १३६, १३७, पृ. १९९-२०१
(ख) कुन्दकुन्दाचार्य - प्रवचनसार - अ. २, गा. ६५, पृ. १९८

५२. कुन्दकुन्दाचार्य - प्रवचनसार (श्रीमद्अमृतचन्द्रसूरिकृत तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति) - अ. २, गा. ६६, पृ. १९९
विषयकषायावगाढो दुःश्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्टियुतः ।
उग्र उन्मार्गपर उपयोगो यस्य सोऽशुभः ।। ६६ ।।

५३. कुन्दकुन्दाचार्य - पंचास्तिकाय- गा. १४०, १४१; पृ. २०४, २०५-

५४. कुन्दकुन्दाचार्य - प्रवचनसार - अ. १, गा. ७१-७७

५५. भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक - भा. २, अ. ६, सू. ३, पृ. ५०७
शुभाशुभपरिणामनिर्वृत्तत्वाच्छुभाशुभव्यपदेशः । ३ ।
शुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः शुभः, अशुभपरिणामनिर्वृत्तश्चाशुभः ।

५६. आचार्य श्रीजिनभद्रगणि - गणधरवाद (गुजराती-अनु-दलसुखभाई मालवणिया) - गा. १९४०, पृ. ३३
सोभवण्णातिगुणं सुभाणुभावं जं तयं पुण्णं । विवरीतमतो पावं ण वातरं

णातिसुहुमं च ।। १६४० ।।

५७. आचार्य श्रीजिनभद्रगणि - गणधरवाद - गा. १६०६
पुण्णक्करिसे सुभता तरतमजोगाकरिसतो हाणी ।
तस्सेव खये मोक्खो पत्थाहारोचमाणातो ।। १६०६ ।।

५८. आचार्य श्रीजिनभद्रगणि - गणधरवाद - गा. १६१०-
पावुक्करिसेऽधमता तरतमजोगावकरिसतो सुभता ।
तस्सेव खए मोक्खो अत्थभत्तोवमाणातो ।। १६१० ।।

५९. आचार्य श्रीजिनभद्रगणि - गणधरवाद - गा. १६११-
साधारणवण्णादि व अध साधारणमधेगमत्ताए ।।
उक्करिसावकरिसतो तस्सेव य पुण्णपाववक्खा ।। १६११ ।।

६०. (क) आचार्य श्रीजिनभद्रगणि-गणधरवाद (गुजराती-अनु-दलसुखभाई मालवणिया) - पृ. ४५
सर्वहेतुनिराशंसं भावानां जन्म वर्ण्यते ।
स्वभाववादिभिस्ते हि नाहुः स्वमपि कारणम् ।।
राजीवकण्टकादीनां वैचित्र्यं कः करोति हि ? ।
मयूरचन्द्रिकादिर्वा वैचित्र्यं केन निर्मितः ? ।।
कादाचित्कं यदत्रास्ति निःशेषं तदहेतुकम् ।
यथा कण्टकतैक्ष्ण्यादि तथा चैते सुखादयः ।।
(ख) श्रीविनयचन्द्रजी महाराज - जीवनसाधना - पृ. ४४
कण्टकस्य तीक्ष्णत्वं मयूरस्य विचित्रता ।
वर्णाश्च ताम्रचूडानां स्वभावेन भवन्ति हि ।
(ग) गीताप्रेस, गोरखपुर-श्वेताश्वतरोपनिषद् (सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित) - अ. १, मन्त्र २, पृ. ७१
कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या ।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ।। २ ।।
(घ) महर्षिश्रीकृष्णद्वैपायनप्रणीतं श्रीमन्महाभारतम् - भाग ३, शांतिपर्व, अ. २५, श्लो. १६, पृ. ३४१
हन्तीति मन्यते कश्चिन्न हन्तीत्यपि चापरः ।
स्वभावतस्तु नियतो भूतान् प्रभवाप्ययौ ।। १६ ।।
(च) हुकुमचंद पार्श्वनाथ संगवे (अप्रकाशित शोधप्रबंध) विशेषावश्यकभाष्य का दार्शनिक अध्ययन - काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

- माठरवृत्तिका ६९, न्यायकुसुमांजलि १.५ .
नित्यासत्या भवत्यन्ते नित्यासत्याश्च केचन् ।
विचित्र केचिदिव्यमेतत् स्वभावो नियामकः ।।
अग्निरूपो जलं शीतं समस्पर्शस्तथातिलः ।
केनेदंत्रितं तस्माद् स्वभावात् तद्व्यवस्थितिः ।।
(छ) व्याख्याकार-मरुधरकेसरी प्रवर्तक मुनिश्रीमिश्रीमलजी-कर्मग्रन्थ-भाग ३, पृ. १८ (प्रस्तावना)
यः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां च ।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ।।

६१. (क) हुकुमचंद पार्श्वनाथ संगवे (अप्रकाशित शोधप्रबंध) विशेषावश्यकभाष्य का दार्शनिक अध्ययन - काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, अ. ४, ६
(ख) आचार्य श्रीजिनभद्रगणि-गणधरवाद (गुजराती-अनु. दलसुखभाई मालवणिया) भाग २ (नववा गणधर अचलभ्राता-पुण्यपापचा) पृ. १३४-१५१

६२. हरिभद्रसूरि - षड्दर्शनसमुच्चय - पृ. २६८-२७१

६३. उत्तराध्ययनसूत्र - अ. ३, गा. १७, १८
खेत्तं वत्थू हिरण्णं च पसवो दासपोरुसं ।
चत्तारि कामखंधाणि तत्थ से उववज्जई ।। १७ ।।
मित्तवं नायवं होइ उच्चगोए य वण्णव ।
अपपायंके महापन्ने अभिजाए जसोबले ।। १८ ।।

६४. आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरिजी म० सा० वल्लभप्रवचन - भाग २, पृ. २७७, २७८, २८४, २८५-

६५. (क) क्षु० जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग ३, पृ. ६४
(ख) विदुषी महासती श्रीउज्ज्वलकुमारीजी (सम्पादक - रत्नकुमार जैन 'रत्नेश') - जीवन-धर्म - पृ. ११२

६६. विदुषी महासती श्रीउज्ज्लकुमारीजी (सम्पादक - रत्नकुमार जैन 'रत्नेश') - जीवन-धर्म - पृ. ३२
He who fears to do wrong has but one great fear, he has a thousand who has overcome it.

६७. महासती श्रीउज्ज्वलकुमारी - उज्ज्वलवाणी - भाग १, पृ. १-

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः । न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः ।।

६८. पं. विजयमुनि शास्त्री - समयसारप्रवचन - पृ. ४५-४६-

६९. मरुधरकेसरीप्रवर्तक मुनिश्रीमिश्रीमलजी म० कर्मग्रन्थ-भा-१, पृ. ७३- ७४

७०. देवेन्द्रमुनि शास्त्री - जैन-दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण-पृ. १६५

७१. (क) प्रकाशक- श्रीअगरचन्द भैरोदान सेठिया. नवतत्त्व-पृ. ७२-७३
(ख) अनु. जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म- ठाणांगसूत्र - ठा. १, सू. ६५ पृ. १०-११
एगे पाणातिवाए जाव एगे परिग्गहे व एगे कोहे जाव
लोभे एगे पेज्जे, एगे दोसे, जाव एगे परपरिवाए एगा,
अरतिरति एगे मायामोसे एगे मिच्छादंसणसल्ले ।। ६५ ।।
(ग) सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (ठाणे) - भा. १, अ. १, उ. १, पृ. १८४
(घ) जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म- जैनतत्त्वप्रकाश - पृ. ३५२

७२. सं. पुप्फभिक्खूदृसुत्तागमे (भगवतीसूत्र) - भा. १, श. १, उ. ६, पृ. ४१०
(ख) सं. पुप्फभिक्खूदृअर्थागम (भगवतीसूत्र)-खण्ड २, श. १, उ. ६, पृ. ५४६
(ग) सं. एन्. व्ही. वैद्य दृ नायाधम्मकहाओ - पृ. ८३

७३. श्री तिलोकरत्न स्था. जैनधार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी; पच्चीसबोलकाथोकडा सार्थ - पृ. १४-१५
(ख) श्रीमलयगिरिकृतटीकासंयुक्तादृ कर्मप्रकृति
श्रीमद्यशोविजयोपाध्याटीकान्तर्गतविशेषाधिकारयुक्ता च - पृ. ३-४
(ग) जैनाचार्य श्रीअमोलकऋषिजी म. जैनतत्त्वप्रकाश - पृ. ३५२-५३
(घ) उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र (अनु. पं. सुखलालजी) - पृ. ३३३
(ङ) भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक-भा. २, अ. ८, सू. २६, पृ. ५८६
अतोऽन्यत् पापम् ।। २६ ।। टीका-अस्मात् पुण्यसंज्ञककर्मप्रकृ -तिसमूहादन्यत् कर्म पापमित्युच्यते । तद् द्वयशीतिविधम् तद्यथा - ज्ञानावरणप्रकृतयः पञ्च, दर्शनावरणस्य नव, मोहनीयस्य षड्विंशतिः, पञ्चान्तरायस्य, नरकगतिः, तिर्यञ्चगतिः, चतस्रो जातयः, पञ्च संस्थानानि, पञ्च संहननानि, अप्रशस्तवर्ण गन्धरसस्पर्शाः, ------------- असद्वेद्याम् नरकायुः, नीचगोत्रमिति ।

७४. संग्रहकर्ता - रमाशंकर गुप्त - सूक्तिसागर, पृ. २६१-२६५ (हिंदी)

७५. देवेन्द्रमुनि शास्त्री - चिंतन की चाँदनी - पृ. १५४-१५५
७६. (क) उपाध्याय अमरमुनि - सूक्ति-त्रिवेणी - पृ. २०८
(ख) उपरिनिर्दिष्ट, पृ. २१० (ग) उपरिनिर्दिष्ट, पृ. १३०
(घ) उपरिनिर्दिष्ट, पृ. २२० (च) उपरिनिर्दिष्ट, पृ. १३८
७७. माधवाचार्य - सर्वदर्शनसंग्रह - पृ. २४
यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ?
७८. जैनाचार्य घासीलालजी म. कृत टीका-सूत्राकृतांगसूत्र-अ. १, गा.१२, पृ-१६०
शरीरस्य विनाशेन विनाशी भवति देहिनः ।।
७९. जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म. कृत अनुवाद - सूयगडांगसूत्र, अ. २१, धु. २, पृ. ४६८
णत्थि पुण्णे व पावे वा । णेवं सन्नं निवेसए ।।
अत्थि पुण्णे व पावे वा । एवं सन्नं निवेसए ।। १६ ।।
८०. पं. विजयमुनि शास्त्री - समयसारप्रवचन - पृ. ४०-४२
८१. क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग ३, पृ. ६१
एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमानादन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव । द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जातिभेदभ्रमेण ।
८४. उपरिनिर्दिष्ट, भाग ३, पृ. ६१
कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद् बन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात्।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं,
ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ।
८५. उपरिनिर्दिष्ट, भाग ३, पृ. ६२
सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य पुण्यपापद्वयमपि हेयम् ।
८६. उपरिनिर्दिष्ट, भाग ३, पृ. ६३
जो पाउ वि सो पाउ मुणि सव्वु को वि मुणेइ ।
जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुह को वि हवेइ ।
८७. पंडित सुखलालजी - दर्शन और चिंतन - पृ. २२६-२२७
कर्मवाद - द्वितीय खण्ड ।
८८. मनुस्मृति - अ. ११, श्लो. ५४-

ब्रह्महत्त्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ।। ५४ ।।

८६. सं. प्रो. देवीदास दत्तात्रेय वाडेकर - मराठीतत्त्वज्ञानमहाकोश - खण्ड २, पृ. २७१-२७३ इसका संदर्भग्रंथ. सी.म. फड़के 'वेदान्तनिदर्शन' (पुणे, १६१३, सुधा आ. १६२५) शं. वा. दाँडेकर, संपा. सार्थ ज्ञानेश्वरी (पुणे, १६५३, आ. ४, १६६७) जी. गॅलोथे दि फिलॉसॉफी ऑफ रिलिजन (एडिंबरो, १६१४) खिं. स. अंतरकर

६०. जैनाचार्य श्रीआत्मारामजी म-दशवैकालिकसूत्र (अनुवाद) - अ. ४, गा. ८, पृ. ११७

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए ।
जयं भुंजंतो, भासंतो पाव कम्मं न बंधई ।। ८ ।।

# पंचम अध्याय

# आस्रव तत्त्व
## (Influx of Karma)

नवतत्त्वों में से आस्रव तत्त्व पाँचवां तत्त्व है। आस्रव का अर्थ है - पाप-कर्मों का आना। अशुभ कर्म आत्मा में निरन्तर आते ही रहते हैं। इसलिए जीव को संसार में परिभ्रमण कर अतीव दुःख सहन करना पड़ता है। जो आत्मा आस्रव को समझ कर उससे दूर रहेगा, वही कर्म-बंधन से मुक्त हो सकेगा।

इस संसार में जीव को कष्ट देने वाले अनेक आस्रव हैं, जिसके कारण फल के रूप में अनेक प्रकार के दुःख जीव को भोगने पड़ते हैं।

आस्रव को आस्रव-द्वार भी कहा गया है। स्थानांगसूत्र में पाँच आस्रवद्वार बताये गये हैं। ये आस्रवद्वार महाभयंकर हैं इनमें से पाप हमेशा आते ही रहते हैं।

श्रीअभयदेव लिखते हैं - "जीवरूपी तालाब में कर्मरूपी पानी आने का जो द्वार (उपाय) है, वह आस्रवद्वार है। जीवरूपी तालाब में कर्मरूपी पानी के आगमन के निरोध का जो द्वार (उपाय) है, वह संवरद्वार है।"[1]

जिस प्रकार तालाब में पानी होने पर यह सहज ही सिद्ध होता है कि उसमें पानी के आगमन के मार्ग भी हैं, इन्हीं मार्गों को हम आस्रवद्वार कहते हैं। उसी प्रकार संसारी जीव के साथ कर्म का संबंध है। योग के द्वारा आत्मा में कर्म आते हैं, इसलिए जिनेन्द्रदेव उसे आस्रव कहते हैं।[2]

कर्मों के आगमन का द्वार आस्रवद्वार है। आगम में कहा गया है कि ऐसा विश्वास मत रखो कि आस्रव और संवर नहीं हैं, अपितु ऐसा विश्वास रखो कि आस्रव और संवर हैं।[3]

## आस्रव की व्याख्याएँ

आस्रव शब्द स्रु सरना, आत्मा में प्रवेश करना - इस धातु से बना है।

जिससे कर्म आते हैं, उसे आस्रव कहते हैं। वह शुभ-अशुभ कर्मों के आगमन का हेतु है।

मिथ्यात्व आदि बन्ध के हेतु हैं। इन्हें जिन-शासन में आस्रव कहा गया है। कर्मागमन करने वाले को आस्रव कहते हैं। आत्मा में कर्म के प्रवेश को भी आस्रव कहा गया है।[4]

जिसके द्वारा ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्म आत्मा में सभी ओर से आते हैं, उसे आस्रव कहते हैं। अर्थात् जिसके द्वारा कर्म का उपार्जन होता है, उसे आस्रव कहते हैं।[5]

काय, वाक् तथा मन के कर्मयोग को आस्रव कहते हैं।[६]

जैन-आगम और जैन-दर्शन में आस्रव की व्याख्या इस प्रकार की गई है - जिस क्रिया से, जिस विचार से तथा जिस भावना से कर्मवर्गणा (कर्मसमूह) के पुद्‌गल आते हैं, वह आस्रव है।[७]

पुण्यपापरूप कर्मों के आगमन को आस्रव कहते हैं।

केवल कर्म का आना ही आस्रव है।[८]

जिस प्रकार नदियों द्वारा समुद्र प्रतिदिन पानी से भरता रहता है, उसी प्रकार मिथ्यादर्शन आदि के स्रोत से आत्मा में कर्म आते हैं।[९]

आस्रव की ऐसी अनेक व्याख्याएँ हैं, परन्तु सबका भावार्थ एक ही है।

जीव के राग-द्वेष आदि भावों से कर्म आते हैं और उसका बन्ध होता है। आस्रव की मूल क्रिया राग-द्वेष है। संवर के द्वारा आस्रव को कर्मागमन से रोकने से, नया कर्मबन्ध नहीं होता और पूर्वकर्म का क्रम से क्षय होकर जीव मोक्ष को प्राप्त होता है।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग - ये चार आस्रव ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के बंध के कारण हैं। परन्तु जीव के राग-द्वेष का परिणाम भी कर्मबंध का कारण है। इसलिए वास्तविक राग, द्वेष और मोह ये आस्रव हैं, अर्थात् कर्मबन्ध के द्वारा जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ है, उसे आस्रव या बंध नहीं होता। क्योंकि जीव के राग-द्वेष आदि भाव ही बन्ध के कारण हैं। जिस प्रकार पका फल पेड़ से अपने आप ही गिर जाता है, और फिर वह कभी डंठल से नहीं चिपकता उसी प्रकार जीव के राग आदि भाव एक बार गल जाने (नष्ट होने) पर पुनः कभी उदित नहीं होते। जब तक जीव कषाययुक्त होता है, तब तक वह, कर्मबद्ध होता है। परन्तु जब वह कषाय से मुक्त होता है, और सम्यक्त्व प्राप्त करता है, तब कर्मरहित होता है।[१०]

## आस्रव का लक्षण

प्रश्न उठता है कि आत्मा के साथ संयोग का क्या कारण है। क्योंकि कार्य के होने पर कारण होना ही चाहिए। जिस प्रकार कपड़ा तैयार करने के लिए धागे कारण हैं, घर की निर्मित के लिए मिट्‌टी कारण है, वृक्ष के लिए बीज निमित्त है, उसीप्रकार आत्मा के साथ कर्म के संयोग का भी कारण है, और वह है - आस्रव।

आस्रव पुण्य-पापरूपी कर्मों के आगमन का द्वार है। जिसके कारण और जिसके माध्यम से शुभाशुभ कर्म आत्म-प्रदेश में प्रविष्ट होते हैं और आत्मा के साथ बँध हैं, वही आस्रव है।

आस्रव द्वारा आत्मा कर्म का ग्रहण करता रहता है। जिस प्रकार स्त्रोत द्वारा तालाब में पानी आता है, दरवाजे द्वारा गृह में प्रवेश होता है, उसी प्रकार आत्म-प्रदेश में कर्म का आगमन होता है, उसके जो मार्ग हैं, वे आस्रव हैं। कर्म-आगमन का द्वारा होने से आस्रव को आगम-शास्त्र में आस्रव-द्वार भी कहा गया है।

संसारी जीव मन, वचन और काया से युक्त होता है। मन, वचन तथा काया को योग कहते हैं। योग में परिस्पंदनात्मक क्रिया प्रतिक्षण होती रहती है, जिसके कारण जीव हमेशा कर्म-पुद्‌गल के आस्रव ग्रहण करता रहता है। जिस प्रकार नदी द्वारा समुद्र को हमेशा पानी मिलता रहता है, एक क्षण भी प्रवाह बंद नहीं होता, उसी प्रकार जीव हिंसा, असत्य अथवा राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति द्वारा कर्म का सतत् ग्रहण करता रहता है। कर्म एक क्षण भी नहीं रुकता, इसलिए कर्म-आगमन के मार्ग को आस्रव कहते हैं।[११]

## आस्रव तत्त्व और आस्रव-द्वार

आस्रव-तत्त्व को आस्रव-द्वार भी कहते हैं। दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। स्थानांगसूत्र और समवायांगसूत्र में आस्रवद्वार शब्द का प्रयोग किया गया है। आत्म-प्रदेश में कर्म के प्रवेश के द्वार को आस्रवद्वार कहते हैं।

जिस प्रकार कुएँ में पानी आने के अनंत स्रोत होते हैं, नौका में जल-प्रवेश का कारण उसके छिद्र होते हैं घर में प्रवेश करने का साधन उसके दरवाजे होते हैं, उसी प्रकार जीव-प्रदेश में कर्म के आगमन का मार्ग आस्रव-तत्त्व है। कर्म के प्रवेश के हेतु, उपाय, साधन अथवा निमित्त आस्रव होने से आस्रव-तत्त्व को आश्रवद्वार कहा गया है।[१२]

आस्रव और कर्म भिन्न-भिन्न हैं, एक नहीं हैं। जिस प्रकार छिद्र और उसमें प्रविष्ट होने वाला पानी एक नहीं है। अपितु छिद्र पानी के प्रवेश का कारण है।

जिस प्रकार दरवाजा और उसमें प्रविष्ट होने वाले प्राणी एक नहीं होते, अलग-अलग होते हैं, घर का दरवाजा प्रवेश का मार्ग है; उसी प्रकार आस्रव और कर्म - ये दोनों एक नहीं हैं, अलग-अलग हैं। आस्रव कर्म के आगमन का कारण है। कर्म जड़ है। आस्रव जीव का परिणाम अथवा उसकी क्रिया है और कर्म

उसका फल है। जीव के प्रदेश में कर्म के आगमन का हेतु उसका परिणाम है। जीव का परिणाम ही यह आस्रव-द्वार है। परिणाम का अर्थ है - मिथ्यात्व, प्रमाद आदि भाव।[९३]

जो कर्म-पुद्गल के ग्रहण के हेतु हैं, वे आस्रव हैं। जो ग्रहण किये जाते हैं, वे ज्ञानावरणादि आठ कर्म हैं।[९४]

## आस्रव-द्वार या बन्ध-हेतु

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग - ये पाँच बन्ध-हेतु अर्थात् आस्रव हैं। जीव के परिणाम हैं।[९५]

बन्ध-हेतुओं की संख्या के संबंध में तीन परंपराएँ हैं -

(१) पहली परम्परा - कषाय और योग ये दोनों बन्धहेतु हैं।

(२) दूसरी परम्परा - मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार बन्धहेतु हैं।

(३) तीसरी परम्परा - मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बन्ध हेतु हैं।

इस प्रकार संख्याओं में भेद है, परंतु तात्त्विक दृष्टि से इन परंपराओं में कोई अन्तर नहीं है।

प्रमाद एक प्रकार का असंयम है, इसलिए वह अविरति या कषाय के अंतर्गत ही है। इस दृष्टि से पाँच आस्रव-द्वारों के बजाय चार बताये गये है। उमास्वाति के मतानुसार बताये गये पाँच आस्रवों- मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग का विवेचन आगे किया जायेगा।

आज जिन भावों से कर्म का आस्रव हो रहा है, वे भाव पहले से बँधे हुए कर्म के उदय से हुए हैं। इसलिए आज के आस्रव पूर्वबन्ध के कार्य हैं। उसी तरह आगे होने वाले कर्मबन्ध के कारण हैं। इस प्रकार बन्ध, पूर्व आस्रव का कार्य और उत्तर आस्रव का कारण बनता है।

जिस प्रकार, जो बीज हम आज बोते हैं, वह पहले वृक्ष का कार्य होता है और आगे उगने वाले अंकुर का कारण होता है। उसी प्रकार आस्रव और बंध में बीज और अंकुर के समान कार्य-कारण भाव है। अगर उस आस्रव को बन्ध का हेतु और उस बंध का ही कार्य मान लिया जाता तो इतरेतराश्रय हो गया होता। परंतु आस्रव और बन्ध का प्रवाह अनादि माना गया है। अनादि काल से पूर्व बन्ध के कारण आस्रव और उसी के कारण उत्तरबन्ध होता आया है।

जिस प्रकार आज का बीज पूर्व के वृक्ष का और वह वृक्ष उसके पूर्व के बीज का कारण है और ऐसी परम्परा अनादि काल से चलती आ रही है, उसी

प्रकार आज का आस्रव पूर्व के बन्ध का कारण, वह बन्ध पूर्व के आस्रव का कारण और वह आस्रव उसके पूर्व के बन्ध का कारण होता है। इस प्रकार आस्रव और बन्ध का संबंध अनादि काल से, अखण्ड रूप से है।[१६]

## पुण्यास्रव और पापास्रव

यह आस्रव जब पुण्य-बन्ध में होता है तब इसे पुण्यास्रव कहते हैं और जब पाप-बंध में होता है तब इसे पापास्रव कहते हैं। पुण्यास्रव और पापास्रव - ये दोनों मिथ्यात्व आदि की तीव्रता और मन्दता की अपेक्षा से अनेक प्रकार के होते हैं।[१७]

जीव का परिणमन दो प्रकारों से होता है - शुभ और अशुभ। शुभ भाव पुण्य का आस्रव है और अशुभ भाव पाप का आस्रव है। जिस प्रकार, सर्प के द्वारा ग्रहण किये गये दूध का विष में रूपान्तर होता है और मनुष्य के द्वारा ग्रहण किये गये दूध का पोषण के रूप में रूपान्तर होता है। उसी प्रकार बुरे परिणाम से आत्मा में स्रवित कर्म-वर्गणा के पुद्गल पाप-रूप में परिणमन करते हैं और अच्छे परिणाम से आत्मा में स्रवित कर्म-वर्गणा के पुद्गल पुण्य-रूप में परिणमन करते हैं। जीव की अच्छी अथवा बुरी भावना 'आस्रव' कहलाती है।[१८]

जिस जीव में प्रशस्त राग है, अनुकम्पायुक्त परिणाम है और चित्त की कलुषता का अभाव है, उस जीव को 'पुण्य-आस्रव' होता है।[१९]

प्रमाद-सहित क्रिया, मन की मलिनता और इन्द्रियों के विषय में चंचलता, इसके साथ ही अन्य जीवों को दुःख देना, दूसरों की निन्दा करना, बुरा बोलना आदि के आचरण से अशुभ-योगी जीव पाप का आस्रव करता है। इसे ही 'पापास्रव' कहते हैं।[२०]

हिंसा, असत्य-भाषण, चोरी, मैथुन और परिग्रह - इन सब का त्याग करना ही जिसका लक्षण है, ऐसे व्रत को भावपूर्वक धारण करना पुण्यास्रव को बढ़ाता है। पाँच पापों का त्याग करना ही व्रत है। व्रत से पुण्यकर्म का आस्रव होता है।[२१]

हिंसा, असत्य-भाषण, चोरी, मैथुन और परिग्रह - इन सब का त्याग न करना ही जिसका लक्षण है, ऐसा अव्रत अपनी भावना से स्वयं पापास्रव को बढ़ाता है। पाँच पापों का त्याग न करना अव्रत है। अव्रत से पापकर्म का आस्रव होता है।[२२]

## द्रव्यास्रव और भावास्रव

आस्रव के दो भेद हैं - (१) द्रव्यास्रव और भावास्रव।

आस्रव के दो भेद मानने का कारण यह है कि संसारी जीव शरीर आदि से सम्बद्ध हैं, और संसार में अनेक प्रकार की पुद्‌गल-वर्गणाएँ भरी हुई हैं। इनमें कार्मण-वर्गणा भी एक है, और वह कर्मरूप बनने की योग्यता धारण करती है। परंतु कार्मण-वर्गणा कर्मरूप उसी समय बनती है, जब जीव आत्म-प्रदेश में परिस्पन्दन करता है। इसलिए कार्मण-वर्गणा और आत्म-परिणाम - इन दोनों को अलग-अलग समझने के लिए द्रव्यास्रव और भावास्रव ये दो भेद किये गये हैं। भावास्रव तेल से आवेष्टित पदार्थ के समान है और द्रव्यास्रव उससे चिपकने वाली धूल के समान है। भावास्रव निमित्त कारण है और द्रव्यास्रव कारण की सामर्थ्य के परिणाम को दिखाता है।

अपने-अपने निमित्त रूप से योग को प्राप्त कर आत्म-प्रदेश में स्थित पुद्‌गल कर्मरूप में परिणमित होते हैं, अथवा ज्ञानावरण आदि कार्यों के कारण जो योग्य पुद्‌गल आता है, उसे द्रव्यास्रव कहते हैं।

आत्मा के स्वयं के जिन शुभ-अशुभ परिणामों के कारण पुद्‌गल द्रव्य कर्म बनकर आत्मा में आते हैं, उन परिणामों को भावास्रव कहते हैं।[२३]

आत्मा के जिस परिणाम से कर्म का आस्रव होता है, वह परिणाम भावास्रव कहलाता है। भावार्थ यह है कि कर्मास्रव को दूर करने में समर्थ जो शुद्ध आत्मा की भावना है, उस भावना के विरुद्ध जिस परिणाम से आत्मा के कर्म का आस्रव होता है, वह द्रव्यास्रव है। अविरति, प्रमाद, योग, क्रोध आदि कषाय 'भावास्रव' हैं।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय- इन आठ कर्मों के योग से जिस पुद्‌गल कर्म का आगमन होता है, वह द्रव्यास्रव है।[२४]

जीव द्वारा प्रतिक्षण मन, वचन और काया के द्वारा जो शुभ और अशुभ प्रवृत्ति होती है, उसे भावास्रव कहते हैं। उसके निमित्त से विशेष प्रकार के जो जड़ पुद्‌गल आकृष्ट होकर उसके प्रदेश में प्रवेश करते हैं, उन्हें 'द्रव्यास्रव' कहते हैं।

जिन भावों से कर्म का आस्रव होता है, उन्हें भावास्रव कहते हैं। कर्मद्रव्य के आगमन को द्रव्यास्रव कहते हैं। पुद्‌गल में कर्म-पर्याय की निर्मिति होना तथा उसका आत्म-प्रदेश में जाना- द्रव्यास्रव कहलाता है। मिथ्यात्व आदि भावों को भावबन्ध कहा गया है। परंतु प्रथम क्षण में उत्पन्न होने वाले ये भाव कर्मों को आकृष्ट करने की योग-क्रिया के कारण बनते हैं, इसलिए इन्हें भावास्रव कहते हैं।

भावास्रव की मन्दता, मध्यम अवस्था और तीव्रता के अनुसार आत्म-प्रदेश का परिस्पन्दन होता है।

जीव के द्वारा हर समय मन, वचन तथा काया द्वारा जो शुभ या अशुभ प्रवृत्तियाँ होती हैं, उन्हें जीव का भावास्रव कहते हैं। उसके निमित्त से कुछ विशेष प्रकार की जो जड़ पुद्गल-वर्गणाएँ आकृष्ट होकर उसके प्रदेश में प्रवेश करती हैं, वह द्रव्यास्रव है।

इस प्रकार द्रव्यास्रव और भावास्रव की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ हैं। परंतु उन सब का भावार्थ एक ही है।[२५]

## ईर्यापथ और सांपरायिक आस्रव

जैन-आगम में आस्रव के सामान्यतः दो भेद हैं। ईर्यापथ आस्रव और सांपरायिक आस्रव। कषाय-सहित जीव को सांपरायिक आस्रव होता है और कषाय-रहित वीतराग जीव को ईयापथ आस्रव होता है।[२६]

कषाययुक्त योग से होने वाला सांपरायिक आस्रव बन्ध का कारण होने से संसार को बढ़ाता है। संपराय का अर्थ है संसार। संसार के कारणभूत कर्मों को सांपरायिक कर्म कहते हैं - 'संपरायः संसारः तत् प्रयोजनम् कर्म सांपरायिकम्।' जो कर्म संसार का प्रयोजन है और संसार की वृद्धि करने वाला है, ऐसे कर्म के आगमन को सांपरायिक आस्रव कहते हैं।[२७]

सांपरायिक कर्म से कर्म का आस्रव होता है और आने के समय कुछ भी फल न देने से कर्म का क्षय होता है। मोह का सब प्रकार से उपशम या क्षय होने पर ऐसे कर्म आते हैं। जब तक कषाय का थोड़ा सा भी सद्भाव है, तब तक ईर्यापथ आस्रव नहीं हो सकता।

ईर्यापथ आस्रव सिर्फ मन, वचन तथा काया का योग होने पर ही होता है। इसमें कषाय नहीं होते। एक क्षण में कर्म आते हैं और जाते हैं। इसलिए कर्म का बंध नहीं होता। कारण यह है कि कषाय और राग-द्वेष न होने से कर्मबन्ध नहीं होता। इसलिए इसे 'ईर्यापथ आस्रव' कहते हैं।

जिसमें क्रोध, मान, माया, लोभ, आदि विकार हैं, वह सांपरायिक आस्रव है, और जिसमें ये विकार नही हैं, वह ईर्यापथ आस्रव है। आत्मा का संपराय अर्थात् पराभव करने वाला कर्म सांपरायिक है।

जिस प्रकार गीली चमड़ी पर हवा द्वारा लायी गयी धूल चिपक जाती है, उसी प्रकार योग द्वारा आकृष्ट होने वाले कर्म-पुद्गल कषाय के उदय के कारण आत्मा से चिपक जाते हैं और स्थिति प्राप्त करते हैं। यह सांपरायिक कर्म है।

जिस प्रकार सूखी दीवार पर, पत्थर या लकड़ी का टुकड़ा फैंकने पर वह दीवार से चिपकता नहीं है, उसी प्रकार योग से आकृष्ट कर्म, कषाय का उदय न होने से, आत्मा से लगकर तत्काल छूट जाते हैं। ऐसे कर्म ईर्यापथ कर्म हैं। ईर्यापथ कर्म की स्थिति सिर्फ एक क्षण की मानी गयी है।

सांपरायिक आस्रव कषाय की तीव्रता और मन्दता के अनुरूप ज्यादा या कम स्थितियुक्त होता है। और जहाँ तक हो सकता है, शुभाशुभ विपाक (फल) के कारण स्थितियुक्त होता है। परंतु कषाय-युक्त आत्मा को मन-वचन और काया द्वारा जो कर्म बाँधता है, वह कषाय के अभाव में विपाकजनक नहीं होता।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के आस्रवों में योग निमित्त है। परंतु ईर्यापथ में कषाय - रहित योग होता है और सांपरायिक में मिथ्यात्वादि कषायसहित योग होता है। मिथ्यात्व आदि आत्मा के भावरूप हैं और योग प्रवृत्तिरूप है। इससे आत्म-प्रदेश में परिस्पंदन - कम्पन होता है, मिथ्यात्व आदि में नहीं होता। इसलिए प्रवृत्ति की मुख्यता की अपेक्षा से योग-परिस्पंदन को आस्रव कहते हैं।

सारांशतः तीनों प्रकार के योग समान हैं। फिर भी यदि कषाय न हो, तो उपार्जित कर्म में स्थिति का बंध नहीं होता। स्थितिबंध का कारण कषाय है, इसलिए कषाय ही संसार का मूल कारण है। अर्थात् सकषाय जीव के आस्रव को सांपरायिक आस्रव और अकषाय जीव के आस्रव को ईर्यापथ आस्रव कहते हैं।[२८]

## आस्रवों की संख्या

जीव चार कषाय, पाँच इन्द्रिय, पाँच अव्रत और पच्चीस क्रियाद्वार- ये सांपरायिक आस्रव करता है।[२९]

जिस प्रकार नौका के छिद्र द्वारा नौका में पानी आता है, उसी प्रकार योग और कषाय के द्वारा कषायों के समूह आत्मा में प्रविष्ट होते हैं। जिस प्रकार पानी से भारी बनकर नौका पानी में डूब जाती है, उसी प्रकार कर्म से भारी बनकर आत्मारूपी नौका संसार-सागर में डूब जाती है। आस्रव के कारण आत्मा का पतन होता है। ये आस्रव अनेक प्रकार के हैं। परंतु आस्रव निश्चिरूप से कितने प्रकार के हैं, इस संबंध में भिन्न-भिन्न विचार-प्रवाह हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द के मत में आस्रव चार हैं। वे हैं - (१) मिथ्यात्व आस्रव (२) अविरति आस्रव (३) कषाय आस्रव और (४) योग आस्रव।[३०]

**आगम में आस्रव के पाँच भेद हैं -**

**(१) मिथ्यात्व आस्रव (२) अविरति आस्रव (३) प्रमाद आस्रव (४) कषाय आस्रव एवं (५) योग आस्रव।[३१]**

## आस्रव के पाँच भेद

आस्रव के पाँच भेद हैं - (१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय एवं (५) योग।

कर्म संसार का कारण है। कर्म का आगमन योग द्वारा होने के साथ ही उसमें स्वभाव, फलोदय आदि कारणों से मिथ्यात्वादिरूप राग-द्वेषात्मक आत्मपरिणाम हैं।

ऊपर के पाँच कारणों में से पहले की अपेक्षा दूसरे में, दूसरे की अपेक्षा तीसरे में इस प्रकार क्रमशः आखिरी अर्थात् पाँचवें भाग में विपाक-शक्ति से कम से कम शक्ति वाले कर्म का आगमन होता है। इसी के साथ जहाँ पहला कारण होगा, अर्थात् मिथ्यात्व होगा, यहाँ अविरति आदि चारों कारणों का भी अस्तित्त्व होना ही चाहिए। परंतु दूसरे, तीसरे आदि कारणों में पूर्व के कारणों का अस्तित्त्व हो या न हो, बाद के कारण अवश्य होते हैं।

जब तक मिथ्यात्व रहेगा तक तक अन्य कारण भी रहेंगे। इसीलिये आस्रव के कारणों में प्रथम स्थान मिथ्यात्व को तथा अविरति, प्रमाद कषाय और योग को क्रमशः दूसरा, तीसरा चौथा और पाँचवां स्थान दिया गया है। इन पाँच स्थानों में पहले का अर्थात् मिथ्यात्व का स्थान प्रमुख है और वह पाँचों स्थानों में दिखाई देता है।[३२]

**(१) मिथ्यात्त्व** – कर्मबंध का मूल कारण कौन-सा है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया कि कर्मबंधः च मिथ्यात्त्वमुक्तम्।'[३३] अर्थात् कर्मबंध का मूल कारण मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व को मिथ्यादृष्टि तथा मिथ्यादर्शन भी कहते हैं।

मिथ्या अर्थात् असत्य और दृष्टि अर्थात् दर्शन अथवा श्रद्धा। असत्य-श्रद्धान या असत्य-दर्शन मिथ्यादृष्टि है। जीव आदि तत्त्वों के विरुद्ध श्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं। इस विपरीत श्रद्धान के कारण जड़ पदार्थों में चैतन्य-बुद्धि, अतत्त्व में तत्त्व-बुद्धि, अधर्म में धर्म-बुद्धि आदि विपरीत भावनाएँ होती हैं। मिथ्यात्व के कारण सारासार विवेक नहीं रहता, पदार्थ के स्वरूप के विषय में गलत धारणा बनती है। कल्याण-मार्ग पर सच्ची श्रद्धा नहीं रहती। मिथ्यात्व - सहज और गृहीत दो प्रकार का होता है। दोनों प्रकार के मिथ्यात्व में तत्त्व-विषयक अभिरुचि निर्मित नहीं होती। आत्मा कुदेव को देव, कुगुरु को गुरु और अंध श्रद्धाओं को धर्म मानता है।[३४]

मिथ्यात्व बुद्धि को इस प्रकार आच्छादित करता है कि यथार्थ ज्ञान भी शून्य के समान हो जाता है। स्वयं के संबंध में भी यथार्थ दृष्टि नहीं रह पाती।

साथ ही दूसरे के विषय में भी यथार्थ दृष्टि नहीं रह पाती। मिथ्यादृष्टि की स्वरूप-स्थिति को संक्षेप में 'विवेकशून्य निर्जीव' शरीर कहा जाता है।

तत्त्व का सत्य श्रद्धान न होने से मिथ्यात्व के अनेक भेद हो सकते हैं क्योंकि आत्म-परिणामों की गिनती नहीं की जा सकती। वे सम्यक्रूप भी होते हैं और मिथ्यात्वरूप भी होते हैं। जब परिणामों का प्रवाह तात्त्विक दृष्टि और सत्य-प्ररूपणा की ओर उन्मुख होता है, तब वह सम्यक् रूप ही अतत्त्व में तत्त्वदृष्टि रूप होता है। उसी प्रकार विपरीत धारणा और असत्य आग्रह आदि से युक्त होकर उसके अनुसार प्ररूपणा की ओर उन्मुख होने पर मिथ्यारूप होता है। इस प्रकार जीव जब मिथ्यात्व से युक्त हो जाता है, तब अनन्त काल तक संसार का बन्ध करते हुए संसार-परिभ्रमण करता रहता है, क्योंकि मिथ्यात्व ही सब दोषों का मूल है।

अभ्यन्तर में वीतराग के लिए रुचि होने पर भी उसके विषय में विपरीत अभिनिवेश (आग्रह) को उत्पन्न करने वाला मिथ्यात्व कहलाता है। साथ ही बाह्य विषयों में परसंबंधी शुद्ध आत्मतत्त्व से लेकर संपूर्ण द्रव्य तक जो विपरीत अर्थात् उलटे आग्रह को उत्पन्न करता है, उसे मिथ्यात्व कहते हैं।[३५]

आगम-शास्त्र में मिथ्यात्व को पाप कहा गया है। जब तक मिथ्यात्व का अस्तित्व होता है, तब तक शुभाशुभ सारी क्रियाओं को अध्यात्म-दृष्टि से पाप ही कहा जाता है।

शरीरधारी जीव के लिए मिथ्यात्व के समान दूसरा कोई भी अकल्याणकारी नहीं है। मिथ्यात्व ही सब से बड़ा पाप है। जीव आदि पदार्थों का श्रद्धान न करना मिथ्यादर्शन है।[३६]

**(२) अविरति** - विरति का अर्थ है त्याग और त्याग न करना 'अविरति' है। अर्थात् इच्छा और पापाचरण से विरत न होना अविरति है। इन्द्रिय-विषयों का त्याग न करना और त्याग की भावना न रखना अर्थात् त्याग के बारे में उदासीन रहना और भोग में उत्साह दिखाना अविरति है। मानव के इच्छा करते ही कषाय की ऐसी जबर्दस्त उत्पत्ति होता है, कि मानव पूर्णतः तो दूर, थोड़ा सा भी चारित्र प्राप्त नहीं कर पाता।

इच्छा की उत्पत्ति का स्थान मन है। पाप-प्रवृत्ति शरीर और वचन के द्वारा होती है। इसलिये मन और इन्द्रियों के असंयम से प्रवृत्त होकर पृथ्वी आदि षट्काय जीवों की हिंसा का त्याग न करना तथा प्रत्याख्यान न करना अविरति है। अभ्यन्तर में निज परमात्म-स्वरूप की भावना के कारण उत्पन्न परमसुख रूपी अमृत है और उस परमसुख में प्रीति भी है, तथापि इसके विपरीत बाह्य विषयों में व्रत आदि धारण न करना भी, अविरति है।[३७]

जब तक मन और इंद्रियों को संयमित नहीं किया जाता, तब तक अविरति का पाप लगता है। कुछ लोग कहते हैं कि जो पाप हमनें नहीं किया और जिन पदार्थों का हमनें भोग नहीं किया, उनका पाप हमें क्यों लगता है ? इसका उत्तर यह है - जब दरवाजा खुला रहता है, तब कोई भी अंदर आ सकता है। इसी प्रकार जब तक त्याग नहीं किया जाता, आशा और तृष्णा रूपी दरवाजा बन्द नहीं किया जाता, तब तक उस दरवाजे द्वारा आने वाला पाप सीधे अंदर प्रवेश करता है, रुक नहीं सकता।

उपर्युक्त कथन को और अधिक स्पष्ट करने के लिए 'भावना-शतक' में कहा गया है कि जिस प्रकार बाप-दादों से अर्जित सम्पत्ति व्यक्ति की सन्तान या वारिसों को मिल जाती है और वे उस पर अपना अधिकार समझते हैं। उसी प्रकार पिछले अनन्त जन्मों में जीव ने जो पाप-कर्म किये हैं; उन कर्मों का वर्तमान काल में किसी भी प्रकार का प्रत्यक्ष संबंध न होने पर भी; जब तक पाप का मन, वचन तथा काया के द्वारा त्याग नहीं किया जाता है, व्रत धारण नहीं किया जाता है, पूर्व के अधिकरणों (साधनों) से उसका संबंध नष्ट नहीं होता है; तब तक समस्त पाप-क्रियाएँ जीव को लगती हैं।[३८]

भले ही वर्तमान काल में किसी भी वस्तु के साथ संबंध न हो और इन्द्रिय -भोग भी नहीं किया हो, परन्तु भूतकाल में संपर्क रहा हो और भविष्यत् काल में होने की संभावना हो तो भी पाप-कर्म के आगमन के दरवाजे को बन्द कर देना चाहिए। परंतु वह दरवाजा तभी बन्द हो सकता है जब प्रत्याख्यान किया जाए तथा अविरति का त्याग किया जाये।

अविरति का त्याग करने से जीव को बड़े पैमाने पर लाभ होता है इसीलिए कहा गया है-

'निरुद्धासवे, असबलचरित्ते, अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिये विहरइ।' - भावनायोग : एक विश्लेषण, पृ- २८३।

त्याग करने का पहला लाभ यह है कि जीव आस्रवों का निरोध करता है और कर्मागमन का द्वार बंद हो जाता है। दूसरा लाभ यह है कि शुद्ध चारित्र का पालन होता है। तीसरा लाभ यह है कि पाँच समिति तथा तीन गुप्तिरूप 'अष्ट प्रवचन' रूपी माता की आराधना में हमेशा जागृति रहती है, जिससे सन्मार्ग में सम्यक् समाधिस्थ होकर जीव विचरण करता है और रम जाता है।

विरति के अनेक लाभ हैं परन्तु अविरति की स्थिति में उपर्युक्त एक भी लाभ नहीं मिलता, उल्टे नुकसान होने की संभावना रहती है। इसलिए आत्म-कल्याण के लिए अविरति का त्याग करना चाहिए। अविरति के बारह भेद हैं

(१-६) पृथ्वी आदि षट्काय जीवों की हिंसा का त्याग न करना।
(७-११) स्पर्श, रस आदि पंचेन्द्रियों को विषय-प्रवृत्ति से न रोकना।
(१२) मन का असंयम अर्थात् मन को अशुभ प्रवृत्ति से न हटाना।[३९]

**(३) प्रमाद** - जागरूकता का अभाव प्रमाद कहलाता है। अर्थात् आत्म-कल्याण में और सत् प्रवृत्ति में उत्साह न होना अपितु अनादर होना प्रमाद है।

धर्म के लिए आत्मा का आन्तरिक अनुत्साह - आलस्य भाव अथवा शुभ उपयोग का अभाव, या शुभ कार्य में उद्यत न होना अथवा सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्ष मार्ग के लिए प्रयत्न करने में शिथिलता करना - इन सभी का नाम प्रमाद है। भाव यह है कि आत्म-विकास की प्रवृत्ति में आलस्य और शिथिलता को प्रमाद कहते हैं।

मिथ्यात्व और अविरति के समान ही प्रमाद भी जीव का महान् शत्रु है। इसीलिए भगवान् महावीर ने गौतम से कहा, "हे गौतम! समयं गोयम, मा पमायए।" अर्थात् 'क्षणमात्र का भी प्रमाद न कर'।

धर्म-क्रिया में प्रमाद करने से जिनका समय व्यर्थ चला जाता है, वे इस प्रमाद के दोषों के कारण संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं। इसलिए अगर जीव को इस संसार में परिभ्रमण नहीं करना है, तो विवेकशील आत्मा को क्षण मात्र का भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। जिन्होनें जीवन में प्रमाद किया उन्होंने अपनी आयु को व्यर्थ गँवाया।

*प्रमाद के पाँच भेद :-*

(१) मद, (२) विषय, (३) कषाय, (४) निद्रा, (५) विकथा - ये पाँच प्रमाद जीव से संसार में परिभ्रमण कराते हैं।[४०] इनके अर्थ इस प्रकार हैं -

मद : जाति, कुल, बल, रूप, तप, ज्ञान, लाभ, ऐश्वर्य और बड़प्पन का गर्व करना।

विषय : पंचेन्द्रियों का - रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द - इन विषयों में आसक्त रहना।

कषाय : क्रोध, मान, माया और लोभ - इन कषायों में प्रवृत्ति रखना।

निद्रा : नींद तथा आलस्य के कारण सुस्त रहना।

विकथा : निरर्थक और पापजनक क्रियाओं जैसे - स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा, देशकथा आदि में रस लेना।

इस प्रकार प्रमाद के - चार विकथाएँ, चार कषाय, पाँच इन्द्रिय, एक निद्रा तथा एक प्रणय (मद) - कुल पंद्रह भेद होते हैं।

पाँच इन्द्रियों के विषयों मे तल्लीन होने से, स्त्रीकथा, भोजनकथा, देशकथा और राजकथा आदि विकथाओं में रस लेने से तथा निद्रा और प्रणय आदि में मग्न होने से कुशल (सत्प्रवृत्त) मार्ग के विषय में अनादर का भाव उत्पन्न होता है।

इस प्रकार जागरूकता के अभाव में कुशल कर्म के विषय में अनास्था भी उत्पन्न होती है और हिंसा की भूमिका भी तैयार होती है। हिंसा का मुख्य कारण प्रमाद है। दूसरे प्राणियों की हत्या हो या न हो, प्रमादी व्यक्ति को हिंसा का अशुभ मिलता ही है।

संपूर्ण जगत् में मानव-जीवन सर्वश्रेष्ठ है, इसलिए उसे प्रत्येक क्षण का उपयोग नये कर्मागमन को रोकने के लिए और पूर्व में बाँधे हुए कर्मों का क्षय करने के लिए करना चाहिए।

साधक को भारंड पक्षी के समान अप्रमादी यानी सावधान रहना चाहिए- 'भारंड पक्खी य चरेडपमत्ते'।[४१]

**(४) कषाय** - 'कषाय' सामासिक शब्द है जो दो शब्दों से मिलकर बना है - कष + आय । कष का अर्थ है - संसार क्योंकि उसमें जीव विविध दुःखों के कारण कष्ट सहन करते हैं और पीड़ित होते हैं। आय का अर्थ है - प्राप्ति। इन दोनों पदों का सम्मिलित अर्थ है - जिसके द्वारा संसार की प्राप्ति होती है, उसे 'कषाय' कहते है।

वस्तुतः कषाय-गति बड़ी ही तीव्र (प्रबल) होती है। जन्म-मरण रूपी यह संसार कषायों से भरा हुआ है। यदि कषाय का अभाव हो जाय तो जन्म-मरण की परम्परा का विषवृक्ष स्वयं ही शुष्क होकर नष्ट हो जायेगा। इसीलिए आचार्य शय्यंभव ने कहा है - अनिग्रहीत कषाय पुनर्भव के मूल में पानी देते हैं, उसे सूखने नहीं देते।

कषाय अध्यात्म के लिए दोषरूप हैं। चाहे वे प्रकट हों या अप्रकट, वे आत्मा के ज्ञान तथा दर्शन को और चारित्र्यरूप शुद्ध स्वरूप को मलिन करते हैं। कर्म-रंगों से आत्मा को रँगते हैं और दीर्घ काल तक आत्मा की सुख-शान्ति को छिन्नभिन्न करते हैं। क्योंकि कषाय ही कर्म के उत्पादक हैं। वे जीव को दुःख देते हैं। अगर कषाय नहीं रहें तो कर्म-बंध भी नहीं होगा। आचार्य वीरसेन ने कषायों की कर्मोत्पादकता के संबंध में 'धवला' ग्रंथ में कहा है - 'जो दुःखरूपी अनाज उत्पन्न करने वाले कर्मरूपी खेत को जोतते हैं, फलयुक्त करते हैं,- वे क्रोध, मान, माया आदि कषाय हैं।[४२]

कषाय -वेदनीय कर्म के उदय से होने वाला क्रोध आदि रूप कालुष्य कषाय है। अर्थात् आत्मा के कलुषित परिणाम को कषाय कहते हैं। कषाय आत्मा

के स्वाभाविक स्वरूप को नष्ट करते हैं और कर्म के साथ आत्मा का संबंध जोड़ते हैं।[४३]

क्रोध, मान, माया तथा लोभ - इन चार कषायों के अलावा अनेक प्रकार के कषायों का निर्देश आगम में मिलता है। क्रोध आदि इन चार कषायों को शास्त्रों में लुटेरों की उपमा दी गयी है। परन्तु इन लुटेरों में और सामान्य लुटेरों में यह अन्तर है कि दूसरे प्रकार के लुटेरे संपत्ति का हरण करके भाग जाते हैं, परन्तु क्रोधादिरूप लुटेरे आत्मा की संपत्ति को लूटकर आत्मा में ही छिपकर बैठ जाते हैं। इसलिए उन्हें 'अज्झत्थ दोसा' - आत्मा में छिपे हुए दोष, रोग और तस्कर कहा गया है। ये आत्मा को अपने संपर्क द्वारा निःसत्व और तुच्छ करके संसार-परिभ्रमण कराते हैं। इसीलिए कहा गया है -

कोहो य माणो य अणिग्गहोआ, माया य लोहो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचन्ति मूलाइ पुणब्भवस्स।।

- दशवैकालिक ८/४०

इसका अर्थ यह है कि क्रोध, मान माया और लोभ वृद्धिंगत होकर जीव के पुनर्जन्म के मूल में सिंचन करते रहते हैं। अर्थात् पुनर्जन्म, पुनःमरण (पुनरपि जननं, पुनरपि मरणं) - इस प्रकार बार-बार जन्म-मरणों का चक्र चलता रहता है। कषायों के कारण जीव के जन्म-मरण के मूल कारणों में वृद्धि होती है और जीव बार-बार जन्म-मरण के द्वारा संसार में परिभ्रमण करता है।

कषाय जीव का संसार में परिभ्रमण कराते हैं, इतना ही नहीं, उसके आत्मिक गुणों का घात भी करते हैं। क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है। माया-कपट मित्रता का नाश करते हैं और लोभ सभी गुणों का नाश करता है।[४४]

क्रोध से जीव का अधःपतन होता है। जीव अपने स्थान से भ्रष्ट होता है। और जो स्थान-भ्रष्ट हुए हैं, उनकी संसार में प्रतिष्ठा नहीं रहती। मान-कषाय के कारण सद्गति प्राप्त नहीं होती। लोभ से इहलोक-परलोक के विषय में भय उत्पन्न होता है, इसलिए इन आत्माघाती कषायों को छोड़ना ही चाहिए।[४५]

कषाय का आगमन होने पर मनुष्य की बुद्धि तथा विचारशक्ति शून्य हो जाती हैं। उसमें विवेक नहीं रहता। सभ्यता और शिष्टाचार नहीं रहते। इसीलिए कषायों को चण्डाल-चौकड़ी कहा गया है।

ये कषाय रात-दिन कहीं भी अपने कुकर्म-वृत्ति रूपी शस्त्र द्वारा जीव की शक्ति का हरण करते रहते हैं।[४६]

क्रोध आदि कषाय आत्मा को कुगति में ले जाने के कारण होते हैं, आत्मा के स्वरूप की हिंसा करते हैं, इसीलिए वे कषाय हैं।

क्रोध व मान - ये दोनों द्वेष हैं। माया और लाभ - ये राग हैं। आचार्यों ने कषायों (राग और द्वेष) का अन्य प्रकार से भी वर्णन किया है। क्योंकि राग व द्वेष ये प्रमुख आस्रव हैं। न्यायसूत्र, गीता और पालि-त्रिपिटक साहित्य में भी राग-द्वेष के द्वंद्व को पाप का मूल कहा गया है।

कषायों से मुक्ति ही असली मुक्ति है - कषायमुक्तिः किल एव मुक्तिः।।

भावना योग : एक विश्लेषण, पृ. २४६।

## कषायों के भेद :

कषायों के क्रोध, मान, माया और लोभ - ये चार भेद हैं। क्रोध आदि के अनन्तानुबंधी आदि चार उपभेद हैं। क्रोध आदि चतुष्क का अनन्तानुबंधी आदि चार भेदों से गुणा करने पर कषायों के सोलह भेद होते है -

(१-४) अनन्तानुबंधी चतुष्क {अनन्तानुबंधी - क्रोध, मान, माया और लोभ}- ये उत्पन्न होकर जीव के होने तक नष्ट नहीं होते तथा आत्मा के सम्यक्त्व गुण को आवृत करते हैं।

(५-८) अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क {अप्रत्याख्यात - क्रोध, मान, माया और लोभ}- इनकी वासना एक वर्ष तक रह सकती है। ये कषाय जीव को चारित्र्य-पालन नहीं करने देते।

(९-१२) प्रत्याख्यानावरण चतुष्क {प्रत्याख्यात क्रोध, मान, माया और लोभ}- इनकी वासना चार महीनों तक रहती है। जीव संपूर्ण संयम पालन करने में असमर्थ होता है।

(१३-१६) संज्वलन चतुष्क {संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ}- इनका वासना- काल पंद्रह दिनों तक होता है। इन कषायों का उदय होने पर यथाख्यात चारित्र्य उत्पन्न नहीं होता।

इस प्रकार कषाय के उपर्युक्त सोलह भेद हैं। ये स्वयं कषाय नहीं हैं परन्तु कषाय की उत्पत्ति में सहायक हैं। ये कषाय द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। ऐसे कषायों को 'नोकषाय' कहते हैं। इनके नौ भेद हैं -

(१) हास्य, (२) रति, (३) अरति, (४) भय, (५) शोक, (६) जुगुप्सा, (७) स्त्रीवेद, (८) पुरुषवेद तथा (९) नपुंसकवेद।

इस प्रकार चतुष्क के अनंतानुबंधी क्रोध आदि सोलह भेद हैं। इनमें 'नोकषाय' के नौ भेद मिलाकर कषाय के पच्चीस भेद हो जाते हैं। ये कषाय भाव जीव के लक्षण नहीं हैं, वरन् कर्मजनित विकारी प्रवृत्तियाँ हैं, इसलिए इन कषायों को त्याग कर आत्म-स्वरूप में लीन होने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। क्रोध को क्षमा से, अभिमान (मान) को मार्दव से माया को आर्जव (सरलता) से और लोभ को निःस्पृहता से जीतना चाहिए।[८७]

**(५) योग** - मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को योग कहते हैं। योग के कारण आत्मप्रदेश में परिस्पन्दन होता है तथा मिथ्यात्व के कारण आत्मा कर्म का ग्रहण करता है।[४८]

जिस प्रकार नदी के उद्गम-स्थान पर मूसलाधार वर्षा होने पर नदी की बाढ़ का पानी रोका नहीं जा सकता, उसीप्रकार जब तक मन, वचन और कायारूप योग की प्रवृत्ति चलती रहती है, तब तक कर्म से निवृत्ति नहीं हो सकती।[४९]

योगभाष्य आदि ग्रंथों में 'चित्तवत्ति का निरोधरूप ध्यान' - इस अर्थ में योग शब्द का प्रयोग किया गया है। परन्तु जैन-दर्शन में मन-वचन-काया से होने वाली आत्मा की क्रिया कर्म-परमाणुओं के साथ आत्मा का योग-संबंध स्थापित करती है, इसलिए उसे योग कहा गया है। और उसके निरोध को ध्यान कहा गया है। आत्मा सक्रिय है और उसके प्रदेश में मन, वचन और काया के कारण परिस्पंदन होता रहता है। परिस्पंदन की यह क्रिया तेरहवें गुणस्थान में होती है। चौदहवें गुण-स्थान में अयोगावस्था होती है। मन, वचन, काया और क्रिया का पूर्णतः निरोध होता है और आत्मा शुद्ध एवं स्थिर होता है।

कर्मजन्य मलिनता और योगजन्य चंचलता नष्ट होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। योग आस्रव है और उसके कारण कर्म का आगमन होता है। शुभ योग से पुण्य का आस्रव होता है और अशुभ योग से पाप का आस्रव होता है।[५०]

आत्मा की प्रवृत्ति के दो भेद हैं -

(१) बाह्य तथा (२) अभ्यंतर।

बाह्य प्रवृत्ति का नाम योग है और अभ्यंतर प्रवृत्ति का नाम अध्यवसाय या परिणाम है। ये दोनों ही (१) शुभ और (२) अशुभ हैं।

शुभ योग और शुभ अध्यवसाय के निमित्त संयम, तप, त्याग आदि हैं। वे कर्म-निर्जरा के कारण हैं। अशुभ योग और अशुभ अध्यवसाय के लिए मिथ्यावादी लोगों का संयोग कारण है, और यह कर्म आस्रव का द्वार है। अशुभ योग तो एकान्त रूप से आस्रव है और शुभयोग आस्रव और निर्जरा का कारण है। शुभ योग से पुण्य-प्रकृति का आस्रव होने के साथ ही अशुभ-प्रकृति की निर्जरा भी होती है।

आत्मा अपनी बाह्य प्रवृत्ति, क्रिया और परिस्पंदन; मन, वचन और काया द्वारा करता है। योग के मुख्य तीन भेद हैं - मन, वचन, और काया। जब तक इनका प्रवाह प्रचण्ड रूप से चलता है, तब तक आत्मा को उसके द्वारा होने वाली प्रवृत्ति का परिणाम भोगना पड़ता है। इसलिए योग का सद्भाव तेरहवें गुणस्थान

तक माना गया है। और चौहदवें गुणस्थान में योग का अभाव होने से तथा कर्म का आगमन सर्वथा रुक जाने से आत्मा का अस्तित्त्व सिद्ध होता है।

अगर कर्म के आस्रव को रोकना है, तो सर्वप्रथम मन का निग्रह करना पड़ेगा। मनो-निग्रह होने पर वचन और काय-योग का निग्रह सहज होगा। मन का निग्रह दुष्कर है, परन्तु असंभव नहीं है।

मनोनिग्रह के लिए जो उपाय गीता में बताये गये हैं, वे ही पातंजल योग-शास्त्र में भी कहे गये हैं।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते (गीता, अ० ६, श्लोक ३५)।

अभ्यासवैराग्याभ्याम् तन्निरोधः (पातंजल योगदर्शन, सू० १२, पृष्ठ ३०)।

अभ्यास और वैराग्य से चित्तवृत्ति का निरोध किया जाता है। जैन-शास्त्र में गुप्ति और समिति को निग्रह का उपाय कहा गया है। मनोनिग्रह के लिए उपाय के रूप में अन्य साधनों का भी उल्लेख किया गया है। परन्तु इन सभी का एक ही अर्थ है कि प्रयत्नशील होकर निग्रह कीजिए। मन का निग्रह होने पर वचन और काया की प्रवृत्ति में अपने आप ही परिवर्तन होगा और कर्म के आस्रव में न्यूनता आयेगी।

**योग के भेद** - सामान्यतः मन, वचन और काया - ये योग के मुख्य तीन भेद हैं। परन्तु विशेष रूप से योग के निम्नलिखित पंद्रह भेद हैं -

(१) सत्य-मनोयोग,(२) असत्य-मनोयोग, (३) मिश्र-मनोयोग, (४) व्यवहार-मनोयोग,
(५) सत्य-वचन-योग, (६) असत्य-वचन-योग, (७) मिश्र-वचन-योग,
(८) व्यवहार-वचन-योग, (९) औदारिक-काय-योग, (१०) औदारिक-मिश्रकाय-योग,
(११) वैक्रिय-काय-योग, (१२) वैक्रिय-मिश्र-काययोग, (१३) आहारक-काय-योग,
(१४) आहारक-मिश्रकाय-योग, (१५) कार्मणकाय-योग।

ऊपर लिखे पंद्रह भेदों में से कुछ भेद हेय हैं तो कुछ भेद उपादेय हैं।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय से अशुभ कर्म आते है। इसलिए इन्हें अशुभ आस्रव कहते हैं। ये आस्रव संसार-बंध के कारण हैं इसलिये इन्हें सांपरायिक आस्रव कहते हैं। परन्तु योग को भी आस्रव कहने का कारण यह है कि योग दो प्रकार का है - (१) शुभ और (२) अशुभ। शुभ योग से पुण्यबंध और निर्जरा होती है। निर्जरा-युक्त शुभ योग को ईर्यापथिक आस्रव कहते हैं। इन सब आस्रवों में मिथ्यात्व ही मुख्य आस्रव है। मिथ्यात्व छूटने पर कर्मागमन रुकता है और कर्मागमन रुक जाने पर आत्मा अजरामर बनता है।[५२]

## आस्रव के बीस भेद

आस्रव के पाँच जघन्य भेद, बीस मध्यम भेद और बयालीस उत्कृष्ट भेद हैं।[५३] इनमें से पाँच भेदों का स्पष्टीकरण पूर्व में हो चुका है।

आस्रव के बीस मध्यम भेद ये हैं -

(१) मिथ्यात्व आस्रव : विपरीत श्रद्धा को मिथ्यात्व कहते हैं (कुगुरु, कुदेव तथा कुधर्म पर श्रद्धा रखना और पच्चीस प्रकार के मिथ्यात्वों का सेवन करना)।

(२) अव्रत आस्रव : त्याग न करना (पाँच इन्द्रियों और मन को काबू में न रखना, षट्काय जीवों की हिंसा से दूर न रहना- यह बारह प्रकार की अविरति है)।[६५]

(३) प्रमाद आस्रव : धर्म के बारे में उदासीन रहना (मदविषय, कषाय, निद्रा तथा विकथा करना)। कुशलकार्य अर्थात् पुण्यकार्य में उदासीन भाव प्रमाद है।

(४) कषाय आस्रव : जीव के क्रोध आदि विकार को कषाय आस्रव कहते हैं।

(५) योग आस्रवः मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्ति को योग आस्रव कहते हैं।

(६) प्राणातिपात आस्रव : जीवों की हिंसा करना।

(७) मृषावाद आस्रव : झूठ बोलना।

(८) अदत्तादान आस्रव : चोरी करना।

(९) मैथुन आस्रव : अब्रह्मचर्य का सेवन करना।

(१०) परिग्रह आस्रव : परिग्रह रखना।

(११) श्रोत्रेन्द्रिय आस्रव : कानों को शब्द सुनने के लिए प्रवृत्त करना।

(१२) चक्षुरिन्द्रिय आस्रव : आँखों को रूप देखने के लिए प्रवृत्त करना।

(१३) घ्राणेन्द्रिय आस्रव : नाक को गंध लेने के लिए प्रवृत्त करना।

(१४) रसनेन्द्रिय आस्रव : जिह्वा को रस ग्रहण के लिए प्रवृत्त करना।

(१५) स्पर्शेन्द्रिय आस्रव : शरीर को स्पर्श करने के लिए प्रवृत्त करना।

(१६) मन आस्रव : मन से अनेक प्रकार की दुष्प्रवृत्ति करना।

(१७) वचन आस्रव : वचन से अनेक प्रकार की दुष्प्रवृत्ति करना।

(१८) काय आस्रव : काया से अनेक प्रकार की दुष्प्रवृत्ति करना।

(१९) भाण्डोपकरण आस्रव : किसी वस्तु को असावधानी से लेना या रखना।

(२०) सूचिकुशाग्र आस्रव : सुई आदि साधन असावधानी से लेना या रखना।[६६]

## आस्रव के बयालीस भेद

उमास्वातिजी के मतानुसार आस्रव के बयालीस भेद हैं।[६७] ये साम्परायिक आस्रव के भेद हैं, जो निम्नलिखित हैं :-

| | |
|---|---|
| पाँच इन्द्रियाँ | ५ |
| चार कषाय | ४ |
| पाँच अव्रत | ५ |
| तीन योग | ३ |

पच्चीस क्रिया २५

कुल ४२

उक्त बयालीस भेदों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है -

## पाँच इन्द्रियाँ

१- स्पर्शन : शरीर को स्पर्श करने के लिए प्रवृत्त करना।

२- रसन : जिह्वा को रस ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त करना।

३- घ्राण : नाक को गंध लेने के लिए प्रवृत्त करना।

४- चक्षु : आँखों को रूप देखने के लिए प्रवृत्त करना।

५- श्रोत्र : कानों को सुनने के लिए प्रवृत्त करना।

## चार कषाय

१- क्रोध : गुस्सा करना।

२- मान : गर्व करना।

३- माया : कपटपूर्ण आचरण करना।

४- लोभ : आसक्ति रखना।

## पाँच अव्रत

१- हिंसा : प्रमत्त योग से होने वाला प्राणिवध हिंसा है -

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा - तत्त्वार्थ ७/८।

२- असत्यःअसत्य बोलना। अनृत ही असत्य है-'असदभिधानमनृतम्-तत्त्वार्थ ७/६।

३- चोरी : दिये बिना लेना चोरी है - अदत्तादानम् स्तेयम्। - तत्त्वार्थ ७/१०।

४- अब्रह्म : मैथुन-प्रवृत्ति अब्रह्म है - मैथुनम् अब्रह्म - तत्त्वार्थ ७/११।

५- परिग्रह : मूर्च्छाभाव (आसक्ति) परिग्रह है - मूर्च्छा परिग्रहः - तत्त्वार्थ ७/१२।

## तीन योग

१- मन योग : मन को अशुभ कार्य में प्रवृत्त करना।

२- वचन योग : वचन को अशुभ कार्य में प्रवृत्त करना।

३- काय योग : काया को अशुभ कार्य में प्रवृत्त करना।

## पच्चीस क्रियाएँ

पच्चीस क्रियाएँ सांपरायिक कर्म के बंधन के लिए कारण हैं। क्रिया दो प्रकार की है - (१) जीव के निमित्त से लगने वाली जीव क्रिया और (२) अजीव निमित्त से लगने वाली अजीव क्रिया। जीव-क्रिया के भी दो भेद हैं - (१) सम्यक्त्वी जीवों को लगने वाली क्रिया तथा (२) मिथ्यात्वी जीवों को लगने वाली क्रिया।

अजीव क्रिया के दो भेद हैं - (१) साम्परायिक क्रिया और (२) ईर्यापथिक क्रिया।

ईर्यापथिक क्रिया एक ही प्रकार की है। साम्परायिक क्रिया के पच्चीस भेद हैं,[४८] जो निम्नलिखित हैं -

१- कायिकी क्रिया : दुष्टतापूर्वक और अयतनापूर्वक काया की प्रवृत्ति करना। 'मेरा शरीर दुर्बल होगा' आदि विचारों से व्रत-नियम आदि का पालन और धर्माचरण न करते हुए आरंभजनक (जिससे पाप लगता है ऐसा) कार्य करना कायिकी क्रिया है। उसके दो भेद हैं- (१) अनुपरत कायिकी क्रिया और (२) दोषयुक्त कायिकी क्रिया।

२- अधिकरणिकी क्रिया : चाकू, छुरी, कैंची, सुई, तलवार, भाला आदि शस्त्रों का संग्रह या प्रयोग करने से तथा कठोर और दुःखजनक वचनों का उच्चार करने से अधिकरणिकी क्रिया लगती है। इसके दो भेद हैं - (१) संयोजनाधिकरणिकी, (२) निर्वर्तनाधिकरणिकी।

३- प्राद्वेषिकी क्रिया : क्रोध के आवेश में होने वाली क्रिया। ईर्ष्या-द्वेष करना, जीव और अजीव के प्रति मत्सर भाव रखना और दूसरे का बुरा देखकर आनंदित होने से यह क्रिया लगती है। इसके दो भेद हैं- (१) जीव के प्रति द्वेष भाव रखना, (२) अजीव के प्रति द्वेष भाव रखना।

४- पारितापनिकी क्रिया : प्राणियों को दुःख देने, किसी भी शस्त्र से अपने या दूसरे के शरीर के अवयवों का छेदन करने इत्यादि से लगने वाली क्रिया। इसके दो भेद हैं - (१) स्वहस्तिकी क्रिया तथा (२) परहस्तिकी क्रिया।

५- प्राणातिपातिकी क्रिया : विष से या शस्त्र से जीव का घात करने से यह क्रिया लगती है। स्वयं प्राणी का नाश करने या दूसरे को नाश करने के लिए कहने से इस क्रिया के दो भेद हो जाते हैं- (१) स्वहस्तिकी क्रिया तथा (२) परहस्तिकी क्रिया।

६- आरम्भिकी क्रिया : पृथ्वीकाय आदि षट्काय-जीवों की हिंसा का जब तक त्याग नहीं किया जाता, तब तक जो पाप लगता है, वह आरंभिकी क्रिया है। इसके दो भेद हैं - (१) जीवों का आरंभ करने से लगने वाली क्रिया एवं (२) अजीवों का आरंभ करने से लगने वाली क्रिया।

७- परिग्रहिकी क्रिया : धन-धान्य, क्षेत्र, वस्तु, सोना, चाँदी, द्विपाद, चतुष्पाद आदि का संग्रह करने से और उस के प्रति मोह-ममत्व रखने से लगने वाली क्रिया। इसके दो भेद हैं- (१) जीवपरिग्रह क्रिया और (२) अजीव परिग्रह क्रिया।

८- मायाप्रत्यया क्रिया : कपट करने से लगने वाली क्रिया। अपनी दुष्ट भावनाओं को छुपाकर अच्छेपन का प्रदर्शन करने तथा दूसरों को फँसाने के लिए अनेक योजनाएँ बनाने से लगने वाली क्रिया। इसके भी दो भेद हैं - (१) आत्मभाव-वक्रता तथा (२) परभाव-वक्रता।

९- अप्रत्याख्यानप्रत्यया क्रिया : उपभोग-परिभोग की वस्तुओं का जब तक त्याग नहीं किया जाता, तब तक यह क्रिया लगती है। इसके दो भेद हैं - (१) सजीव

वस्तु का प्रत्याख्यान न करने से और (२) अजीव वस्तुओं का प्रत्याख्यान न करने से।

१०- मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया : कुगुरु, कुदेव और कुधर्म पर श्रद्धा रखने से यह क्रिया लगती है। इसके दो भेद हैं - (१) न्यूनाधिक मिथ्यादर्शनप्रत्यया तथा (२) विपरीत मिथ्यादर्शनप्रत्यया।

११- दृष्टि-क्रिया : किसी भी वस्तु को देखने से लगने वाली क्रिया। इसके भी दो भेद हैं- (१) जीवदृष्टि और (२) अजीवदृष्टि।

१२- स्पृष्टि-क्रिया : राग-द्वेष के अधीन होकर किसी भी वस्तु का स्पर्श करने से लगने वाली क्रिया। इसके दो भेद हैं - (१) जीवस्पृष्टि और (२) अजीवस्पृष्टि।

१३- पाडुच्चिया (प्रातीत्यिकी) क्रिया : जीव और अजीव - इन बाह्य वस्तुओं के निमित्त से जो राग-द्वेष उत्पन्न होता है, उससे लगने वाली क्रिया। इसके भी दो भेद हैं - (१) जीव-प्रातीत्यिकी और (२) अजीव-प्रातीत्यिकी।

१४- सामन्तोपनिपातिकी क्रिया : आस-पास के लोग आकर गाय, घोड़े आदि जीवों की या रथ, घर, वस्त्र, अलंकार आदि की प्रशंसा करते हैं। उस प्रशंसा को सुनकर खुश होने से और घी, तेल आदि का पात्र खुला रखने पर उसमें जीव-जन्तुओं के गिरने से लगने वाली क्रिया सामन्तोपनिपातिकी क्रिया है। इसके दो भेद हैं - (१) जीवसामन्तोपनिपातिकी तथा (२) अजीवसामन्तोपनिपातिकी।

१५- स्वहस्तिकी (साहत्थिया) क्रिया : परस्पर झगड़े कराने से लगने वाली क्रिया। भेड़, मुर्गी, हाथी, मनुष्य आदि में परस्पर लड़ाई कराने से और अजीव वस्तु, वस्त्र, पात्र आदि का ताडन करने से लगने वाली क्रिया। इसके दो भेद हैं - (१) जीव-स्वहस्तिकी तथा (२) अजीव-स्वहस्तिकी।

१६- नैशस्त्रिकी (नेसत्थिया) क्रिया : किसी भी वस्तु को अव्यवस्थित रखना अर्थात् जीव-जन्तु देखे बिना वस्तु रख देने से यह क्रिया लगती है। इसके दो भेद हैं - (१)जीवनेसत्थिया तथा (२) अजीवनेसत्थिया।

१७- आज्ञापनिका (आणवणिया) क्रिया : मालिक की आज्ञा के बिना किसी भी वस्तु को ग्रहण करने अथवा ग्रहण करके वस्तु माँगने से लगने वाली क्रिया। अर्थात् सजीव या अजीव वस्तु के माँगने से लगने वाली क्रिया। इसके दो भेद हैं - (१) जीव-आणवणिया, (२) अजीव-आणवणिया।

१८- वैदारणिका (वेयारणिया) क्रिया : किसी भी वस्तु का विदारण (चीर-फाड़) करने से लगने वाली क्रिया, चाहे वह वस्तु सजीव हो या अजीव। इसके भी दो भेद हैं - (१) जीव-विदारणिया तथा (२) अजीव-विदारणिया।

१९- अनाभोगप्रत्यया क्रिया : सावधानी के बिना कार्य करने से लगनेवाली क्रिया, अर्थात् अयतनापूर्वक वस्तु या पात्र लेने या रखने से लगने वाली क्रिया। इसके दो भेद हैं - (१) वस्त्र और पात्र लेने और रखने में असावधानी, (२) वस्त्र-पात्र के प्रतिलेखन में असावधानी।

२०- अणवंकखवत्तिया क्रिया : अपेक्षा के बिना काम करना तथा इहलोक और परलोक के विरुद्ध काम करना। हिंसा में धर्म कहने, साथ ही महिमापूजा के लिए तप, संयम आदि का आचरण करने से लगने वाली क्रिया। इसके दो भेद हैं - (१) स्वयं हलचल करने से लगने वाली क्रिया और (२) दूसरे को हलचल करने में लगाने से लगने वाली क्रिया।

२१- अणापओगवत्तिया क्रिया : दो वस्तुओं का संयोग करवाने से लगने वाली क्रिया। इसके दो भेद हैं - (१) सजीव और (२) अजीव।

२२- सामुदाणया क्रिया : कई लोग मिलकर जो सामुदायिक कार्य करते हैं, उससे लगने वाली क्रिया। जैसे - कंपनी, नाटक, व्यापार आदि में हँसना, खेलना, प्रशंसा करना इत्यादि कर्मबंधों से लगने वाली क्रिया। इसके तीन भेद हैं - (१) सान्तर, (२) निरंतर तथा (३) तदुभय।

२३- पेज्जवत्तिया (प्रेमप्रत्यया) क्रिया : प्रेम (अनुराग) के कारण लगने वाली क्रिया। इसके दो भेद हैं - (१) मायाचार करने से लगने वाली क्रिया एवं (२) लोभ करने से लगने वाली क्रिया।

२४- दोसवत्तिया (द्वेषप्रत्यया) क्रिया : द्वेष भावना से लगने वाली क्रिया। इसके भी दो भेद हैं - (१)क्रोध करने से लगने वाली क्रिया और (२) मान करने से लगनेवाली क्रिया।

२५- इरियावहिया क्रिया : जो क्रिया ईर्यापथ अर्थात् गमनागमन से लगती है उसे इरियावहिया क्रिया कहते हैं। इसके दो भेद हैं - (१) छद्मस्थ अकषाय साधु को चलने-फिरने से लगने वाली क्रिया तथा (२) संयोगकेवली अरिहंत को लगने वाली क्रिया।

कर्मबंध के कारण उत्पन्न हुए दुष्ट व्यापार-विशेष अर्थात् क्रिया (सांपरायिक) होती है। ऊपर की पच्चीस क्रियाएँ कर्मबंध की कारण हैं, इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव को उनसे दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए।[५९]

उपर्युक्त भेदों को मिलाकर आस्रव के बयालीस भेद होते हैं इन बयालीस भेदों से जीव को अशुभ कर्म भोगने पड़ते हैं।[६०]

## प्रश्न-व्याकरण और आस्रवद्वार

प्रश्न-व्याकरण दसवाँ जैन-आगम (शास्त्र) है। इसमें दो श्रुतस्कन्ध हैं - (१) आस्रवद्वार-श्रुतस्कन्ध और (२) संवरद्वार श्रुतस्कन्ध।

प्रथम श्रुतस्कंध में आस्रव-पंचक का और द्वितीय श्रुतस्कंध में संवर-पंचक का वर्णन है।

सुधर्मा स्वामी ने अपने शिष्य जंबुस्वामी से कहा -"*हे जंबु! प्रश्नव्याकरणशास्त्र के दो श्रुतस्कंध हैं। एक श्रुतस्कंध आस्रवद्वार-श्रुतस्कंध है। उसमें भगवान् ने आस्रव-पंचक का वर्णन किया है और द्वितीय श्रुतस्कंध में संवर-पंचक का वर्णन है। उसी में भगवान् ने कहा है कि आस्रव-पंचक का त्याग*

*करके संवर-पंचक का भावपूर्ण रक्षण करने से जीव कर्म-रज से मुक्त होता है और सर्वश्रेष्ठ सिद्धि प्राप्त करता है।"*

संवर-पंचक में संवर के संबंध में कहा गया है कि संवर अनास्रवरूप है, छिद्ररहित है, अपरिस्रावी है, संक्लेश से रहित है और समस्त तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट है। परन्तु आस्रव इसके विपरीत है। इस प्रकार प्रश्नव्याकरणसूत्र में आस्रव और संवर का विस्तृत वर्णन है।[६१]

## आस्रव और संवर में अन्तर

जिन पाप-क्रियाओं से आत्मा बाँधा जाता है, उन क्रियाओं को आस्रव या कर्मबंध का द्वार कहते हैं। संयम-मार्ग पर प्रवृत्त होकर इन्द्रिय, कषाय और संज्ञा का निग्रह करने पर ही आत्मा में पाप का प्रवेश-द्वार बंद होता है। इसे ही संवर कहते हैं।

जिसे किसी भी वस्तु के प्रति राग, द्वेष या मोह नहीं है, और जो सुख-दुःख को समान मानता है, ऐसे भिक्षु (साधु) को शुभ या अशुभ कर्म का बंध नहीं होता। जिस विरक्त मनुष्य की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों में पाप-भाव या पुण्य-भाव उत्पन्न नहीं होता, उसे हमेशा संवर होता है। वह शुभ और अशुभ कर्मों से बद्ध नहीं होता।[६२]

आस्रव को एक दृष्टि से 'विकारी परिणाम के भाव आना' - कहा जाता है। जिस प्रकार हवा के कारण वृक्षों में परिस्पंदन (कंपन) की गति बढ़ती है, उसी प्रकार आत्म-प्रदेश में इन कषाय आदि विकारी भावों के कारण हलचल उत्पन्न होती है। इन हलचल की क्रियाओं को ही आस्रव कहते हैं। संवर में जिस प्रकार कर्मरूपी हवा की गति रुक जाती है, उसी प्रकार आत्म-प्रदेश में राग, द्वेष और मोह आदि भाव भी रुक जाते हैं। जैसे कर्म के कारण को पहचाना जाता है, वैसे ही, उसे आत्म-प्रदेश में आया जानकर कषाय आदि को रोकने का प्रयत्न किया जाता है, यही संवर है। कर्म आये और फिर वह अपने आप रुक जाये, ऐसा कभी हो नहीं सकता। हवा का प्रवाह आता है और चला जाता है, परन्तु हवा का वेग जब तक रहता है, तब तक परिस्पंदन करता रहता है। उसकी समाप्ति होने पर यह परिस्पंदन आदि रूप क्रिया अपने आप ही रुक जाती है। आत्मा का स्वभाव एक जैसा ही रहता है, परन्तु आत्मा विकारी भाव से अपनी क्रिया करता है। जो विकारी भावों की क्रियाओं को समझता है, वही आत्म-स्वरूप में स्थित होता है। आत्म-स्वरूप में स्थित होने को ही 'संवर' कहते हैं।

आस्रव कर्म का कर्ता, कर्म का उपाय, कर्म का हेतु, उसका निमित्त और कर्म के आगमन का द्वार है।

दशवैकालिकसूत्र के चौथे अध्ययन में कहा गया है कि आस्रव-द्वार को बंद करने से पाप कर्म नहीं होता। तीसरे अध्ययन में भी आस्रव का उल्लेख है।[६३]

प्रश्न-व्याकरण-सूत्र में पाँच आस्रवद्वार और पाँच संवरद्वार बताये गये हैं। इन दोनों का वहाँ अत्यन्त विस्तृत वर्णन है।[६४] भगवान् महावीर ने आस्रव को फूटी हुई नौका की उपमा दी है। इसका विवेचन भगवतीसूत्र के तृतीय शतक के तृतीय उद्देशक में और उसी सूत्र के पहले शतक के छठे उद्देशक में मिलता है।

कर्म का निरोध करने वाली आत्मा की अवस्था का नाम 'संवर' है। संवर आस्रव का विरोधी तत्त्व है। आस्रव कर्म-ग्राहक अवस्था है और संवर कर्म-निरोधक है। प्रत्येक आस्रव का एक-एक प्रतिपक्षी संवर है। जैसे -

मिथ्यात्व आस्रव का प्रतिपक्षी - सम्यक्त्व संवर है।
अविरति आस्रव का प्रतिपक्षी - व्रत संवर है।
प्रमाद आस्रव का प्रतिपक्षी - अप्रमाद संवर है।
कषाय आस्रव का प्रतिपक्षी - अकषाय संवर है।
योग आस्रव का प्रतिपक्षी - अयोग संवर है।

इसी प्रकार प्राणातिपात आदि पंद्रह आस्रवों के अप्राणातिपात आदि पंद्रह संवर प्रतिपक्षी हैं।

आस्रव और संवर के प्रतिपक्षी होने से दोनों के भेदों की संख्या में समानता दिखाई देती है। आस्रव के पाँच भेद हैं, और संवर के भी पाँच भेद हैं। आस्रव के बीस भेद हैं, संवर के भी बीस भेद हैं। संवर के सत्तावन भेद हैं, आस्रव के भी कहीं-कहीं सत्तावन भेद मिलते हैं। परन्तु बयालीस भेद तो स्पष्ट ही हैं। आस्रव को नौका की उपमा देते हैं, संवर को भी वही उपमा दी जाती है। आस्रव में द्रव्यास्रव और भावास्रव हैं, संवर के भी द्रव्य-संवर और भाव-संवर - ये दो भेद दिखाई देते हैं। आस्रव के कारण जीव को संसार-परिभ्रमण करना पड़ता है। परन्तु संवर के कारण संसार-परिभ्रमण कम होता है। आस्रव हेय है, संवर उपादेय है। आस्रव मोक्ष की चोटी को प्राप्त करने में सहायक नहीं है जबकि संवर मोक्ष की चोटी को प्राप्त करने में सहायक है।

## आस्रव और बंध में अन्तर

प्रश्न उपस्थित होता है कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग आस्रव और बंध के ये हेतु समान हैं। फिर आस्रव और बंध में क्या अन्तर है?

इसका उत्तर यह है कि प्रथम क्षण में जिस कर्मस्कंध का आगमन होता है, वह आस्रव है। कर्मस्कंध के आगमन के बाद द्वितीय क्षण में उस कर्मस्कंध का जीव-प्रदेश में स्थित होना बन्ध है। आस्रव और बंध में यही अन्तर है।[६५]

## बौद्ध-साहित्य में आस्रव

बहने की क्रिया को आस्रव कहते हैं, जैसे - 'नदी आस्रवति' (नदी बहती है)।

बौद्ध-दर्शन में भी आस्रव (आसव) शब्द आता है। परंतु उसका अर्थ चित्त-मल बताया गया है। जीव कषाय या चित्त-मल से युक्त होकर आवागमन करता है।[६६]

'आसव' शब्द को स्पष्ट करते समय बौद्ध-साहित्य में कहा गया है कि किसी वस्तु के स्थिर न होते हुए भी उस वस्तु को स्थिर मानना अनादि दोष है। उसका नाम अविद्या है। यह अविद्या आसव के कारण प्रकट होती है। इस आसव के चार भेद हैं -
(१) कामासव, (२) भावासव, (३) दृश्यासव और (४) अविद्यासव। इनके अर्थ इस प्रकार बताये गये हैं -
(१) कामासव : शब्दादि विषय प्राप्त करने की इच्छा।
(२) भावासव : पंच स्कंध अर्थात् सचेतन देह में जीने की इच्छा।
(३) दृश्यासव : बौद्ध-दृष्टि के विरुद्ध दृष्टि-सेवन करने का वेग।
(४) अविद्यासव : अस्थिर या अनित्य पदार्थ के विषय में स्थिरता या नित्यता की बुद्धि। आसव अविद्या के सामान्य विकार हैं और क्लेश अविद्या का विशिष्ट विकार है।[६७]

कई जैन-पारिभाषिक शब्दों को जैन-दर्शन से बौद्धों ने लिया है। आस्रव शब्द भी उन्होंने जैन-दर्शन से ही लिया है, ऐसा प्रतीत होता है।

वेदों में प्रयुक्त आस्रव शब्द का अर्थ सोम आदि मादक वस्तु है। इसलिए वैदिक 'आस्रव' शब्द का, जैन-पारिभाषिक शब्द 'आस्रव' के साथ संबंध नहीं है। धम्मपद में आस्रवक्षय-विषयक अनेक गाथाएँ है।[६८]

## आस्रव और कर्म भिन्न-भिन्न हैं

श्रीहेमचन्द्रसूरि का कथन है कि जो कर्म-पुद्गल ग्रहण के हेतु हैं, वे आस्रव हैं और जो ग्रहण किए जाते हैं, वे ज्ञानावरणादि आठ कर्म हैं। इस प्रकार आस्रव और कर्म भिन्न-भिन्न हैं, एक नहीं हैं।[६९]

आस्रव कर्म-आगमन का कारण है इसलिए वह कर्म से भिन्न है। जीव द्वारा कृत मिथ्यात्व आदि कर्म आस्रव के कारण होते हैं। जीव द्वारा किए जाने वाले कर्म को आत्म-प्रदेश में ग्रहण करना- मिथ्यात्व आदि आस्रव का हेतु है। आस्रव कारण अर्थात् साधन है और कर्म कार्य है। आस्रव जीव का परिणाम या कार्य है और कर्म उस परिणाम या क्रिया का पौद्गालिक फल है। इसलिए कर्म से इसे पृथक् माना गया है।

जिस प्रकार छेद और उसमें प्रविष्ट होने वाला पानी, दरवाजा और उसमें प्रविष्ट होने वाले प्राणी- एक नहीं हैं, पृथक्-पृथक् हैं; उसी प्रकार आस्रव और कर्म भिन्न-भिन्न हैं, एक नहीं हैं।

## निरास्रवी होने का उपाय

गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा - "जीव निरास्रवी कैसे होता है?" भगवान् महावीर ने उत्तर दिया - "हे गौतम! प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और रात्रि-भोजन के विरमण (त्याग) से जीव निरास्रवी होता है। जो पाँच समितियों से युक्त, तीन गुप्तियों से युक्त, कषायरहित, जितेन्द्रिय, गौरवरहित और निःशल्य होता है, वह जीव निरास्रवी होता है।[७०]

गौतम ने एक बार महावीर से पूछा - "भन्ते! प्रत्याख्यान करने (संसारी विषय-वासना का त्याग करने) से जीव को क्या लाभ होता है?" भगवान् ने उत्तर दिया, *"हे गौतम! प्रत्याख्यान से जीव आस्रव-द्वार बंद कर सकता है और इच्छानिरोध कर सकता है। इच्छा-निरोध के कारण जीव सब द्रव्यों से तृष्णारहित होता है और शान्त बनता है।'*

इस कथन का सार यही है कि अप्रत्याख्यान आस्रव है। उसके कारण कर्मों का आगमन होता है। जो प्रत्याख्यान करता है, उसकी आत्मा में नये कर्मों का प्रवेश नहीं होता।[७१]

इसी प्रकार एक बार गौतम ने पूछा, "भगवन्! अनेक जन्मों में संचित किये गये कर्मों से मुक्ति कैसे प्राप्त होगी?" प्रभु ने कहा, "जिस प्रकार तालाब का पानी आने का मार्ग बंद करने पर और अंदर का पानी उलीचने पर वह सूर्य की उष्णता से सूख जाता है; उसी प्रकार पाप-कर्म के आस्रव को रोकने पर अर्थात् निरास्रवी होने पर, साधक के अनेक जन्मों के संचित कर्म तप द्वारा नष्ट हो जाते हैं"।[७२]

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि नवीन कर्म के आगमन का निरोध करना या आस्रव को रोकना - कर्म से मुक्त होने की पहली सीढ़ी है। जो आस्रव-रहित होता है, उसके अति जड़ कर्म भी तप से नष्ट हो जाते हैं।

जीव तालाब के समान है। आस्रव जल-मार्ग के समान है और कर्म पानी के समान है। जीवरूपी तालाब को कर्मरूपी पानी से खाली करने के लिए आस्रवरूपी झरना पहले बंद करना चाहिए।

जैनागम में आस्रव-द्वार के निरोध का उल्लेख अनेक जगह आया है। इसका कारण यही है कि आस्रव पाप-कर्म के आगमन का हेतु है। नया कर्मबंध न हो इसलिए पहले उसे रोकना आवश्यक है। जिस प्रकार कर्म से मुक्त होने के लिए नवीन कर्म से दूर रहना आवश्यक है, उसी प्रकार पूर्वसंचित कर्म से मुक्त होने के लिए निरास्रवी होना आवश्यक है।

जीव में आस्रव के द्वारा कर्मागमन होता है क्योंकि जीव के अच्छे-बुरे परिणाम पुण्य-पाप के आस्रव से होते हैं। कर्म के प्रवेश-मार्ग को आत्म-प्रदेश से दूर रखना जीव का कर्तव्य है। कर्म, पुद्गल होने पर भी आत्म-प्रदेश में इस प्रकार आता है कि जीव अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा को पहचान नहीं सकता। उसी

प्रकार मन, वचन तथा काया की क्रियाओं को भी नहीं रोक सकता। इसलिए कर्म-पुद्गलों को आने से रोकना ही साधक की सिद्धि है।

जिस जीव ने आस्रव का निरोध कर अपने आत्म-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसे आध्यात्मिक दृष्टि से 'तत्त्वज्ञानी' कहा गया है। जो मिथ्यात्व के कारणों से रहित बनकर तथा ममत्वरहित होकर वीतरागता के मार्ग का अनुसरण करता है, वही आस्रव से मुक्त हो सकता है।

यदि मानव को आस्रवतत्त्व का यथार्थ ज्ञान हो जाये अर्थात् कर्म कैसे आते हैं, कर्मों का बंध कैसे होता है, आस्रव के कारण संसार-परिभ्रमण कैसे करना पड़ता है, इन सभी का ज्ञान हो जाये तभी वह आस्रव से परावृत्त होने का प्रयत्न कर सकता है।

यह संसार सागर के समान है। इसमें जन्म, जरा, मृत्यु आदि अनेक दुःखरूप पानी भरा हुआ है। तृष्णा और आशा रूपी महाभयंकर लहरें उठ रही हैं। ऐसे संसार-सागर में कर्म-आस्रवों के कारण जीव परिभ्रमण कर रहा है। आस्रव के कारणों और दोषों को जानकर जीव जब-जब उनका त्याग करेगा, तभी वह इस संसार-सागर को पार कर सकेगा और जन्म-मरण रूप संसार-चक्र से मुक्त होकर अक्षय, अव्याबाध और सुखरूप निर्वाण को प्राप्त कर सकेगा।

आस्रव के ४२ भेदों को भेदवृक्ष के द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है-

## आस्रव के बयालीस भेद

आस्रव

ईर्यापथ | साम्परायिक

साम्परायिक:

| इन्द्रिय | कषाय | अव्रत | योग | क्रिया | |
|---|---|---|---|---|---|
| १- स्पर्शन | १- क्रोध | १- हिंसा | १- मन | १-कायिक क्रिया | २- अधिकरणिकी क्रिया |
| २- रसन | २- मान | २- असत्य | २- वचन | ३-प्राद्वेषिकी | ४- परितापनिकी |
| ३- घ्राण | ३- माया | ३- चोरी | ३- काया | ५-प्राणतिपातिकी | ६- आरंभिकी |
| ४- चक्षु | ४- लोभ | ४- अब्रह्म | | ७-परिग्रहिकी | ८- मायाप्रत्यया |
| ५- श्रोत्र | | ५- परिग्रह | | ९- अप्रत्याख्यानप्रत्यया | |
| | | | | १०- मिथ्यादर्शन प्रत्यया | |
| | | | | ११- दृष्टि-क्रिया | १२- सृष्टि क्रिया |
| | | | | १३- पाडुच्चिया | १४- सामन्तोपनिपातिकी |
| | | | | १५- स्वहस्तिकी | १६- नैशस्त्रिकी |
| | | | | १७- अज्ञापनिका | १८- वैदारणिका |
| | | | | १९- अनाभोगप्रत्यया | |
| | | | | २०- अणवकंखवत्तिया | |
| | | | | २१- अणापओगवत्तिया | २२- सामुदाणिया |
| | | | | २३- पेज्जवत्तिया | २४- दोसवत्तिया |
| | | | | २५- इरियावहिया | |

## सन्दर्भ


१. अभयदेवसूरि टीका - स्थानांगसूत्र - स्था. ५, उ.२, सू. ४१८, पृ. ३००
आयवणं-जीवतडागे कर्म्मजलस्य आगमनमाश्रवः, कर्म्मानिबन्धनमित्यर्थः, तस्य द्वाराणीव द्वाराणिउपाया आस्रवद्वाराणीति । तथा संवरणं - जीवतडागे कर्म्मजलस्य निरोधनं संवरस्तस्य द्वाराणि उपायाः संवरद्वाराणिमिथ्यात्वादीनामास्रवाणां क्रमेण विपर्ययाः सम्यक्त्वविरत्यप्रमादाकषायित्वायोगित्वलक्षणाः।

२. (क) श्रीमद्अमृतचन्द्रसूरि-तत्त्वार्थसार (सं. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य)-पृ.११०
सरसः सलिलावाहिद्वारामत्र जनैर्यथा । तदास्रवहेतुत्वादास्रवो व्यपदिश्यते ।।
आत्मनोऽपि तथैवेषा जिनैर्योगप्रणालिका। कर्मास्रवस्य हेतुत्वादास्रवो व्यपदिश्यते।।
(ख) भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक-भाग २, अ. ६, सू. २, टीका, पृ.५०६
तत्प्रणालिकया कर्मास्रवणादास्रवाभिधानं सलिलवाहिद्वारवत् । ४ ।
यथा सरःसलिलवाहिद्वारं तदास्रवणकारणत्वात् आस्रव इत्याख्यायते, तथा योगप्रणालिकया आत्मनः कर्म आस्रवतीति योगः आस्रव इति व्यपदेशमर्हति ।

३. अनु. जैनाचार्य श्रीअमोलकऋषिजी म. सूयगडांगसूत्र - अ. २१, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, गा. १७, पृ. ४९८-४९९.
नत्थि आसवे संवरे वा, ---- एवं सन्न निवेसए ।

४. सं. बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री - जैनलक्षणावली - भाग १, पृ. २२१
(क) आश्रयते गृह्यते कर्म अनेन इत्यास्रवः शुभाशुभकर्मादानहेतुः ।
(ख) मिथ्यात्वाद्यास्तु हेतवः ये बन्धस्य स विज्ञेयः आस्रवो जिनशासने ।।
(ग) स आस्रव इह प्रोक्तः कर्मागमनकारणम् ।
(घ) आत्मनि कर्मानुप्रवेशमात्रहेतुरास्रव इति ।
(च) विजयानंदसूरि - जैनतत्त्वादर्श - पृ. २२७
आस्रवन्ति आगच्छन्ति कर्माणि जीवेषु येन स आस्रवः ।

५. (क) मुनिश्री न्यायविजयजी - जैनदर्शन - पृ. २१
(ख) अनु. जैनाचार्य घासीलालजी म. उपासकदशांगसूत्र - पृ. १२६
आस्रवः आ = समन्तात् स्रवति = प्रविशत्यर्थादात्मनि ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधं कर्म येन सः आस्रवः ।

६. उमास्वाति-तत्त्वार्थसूत्र - अ. ६, सू. १,२
कायवाङ्मनः कर्मयोगः । १ ।
स आस्रवः । २ ।

७. पं. विजयमुनि शास्त्री - समयसारप्रवचन - पृ. ५४
८. क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग १, पृ. २६६
(क) पुण्यपापागमद्वारलक्षण आस्रवः ।
(ख) आस्रवत्यनेन आस्रवणमात्रं वा आस्रवः ।
(ग) आस्रव इव आस्रवः । क उपमार्थः ।
९. उपनिर्दिष्ट भाग १, पृ. २६६
यथा महोदधेः सलिलमापगामुखैरहरहरापूर्यते तथा
मिथ्यादर्शनादिद्वारानुप्रविष्टैः कर्मभिरनिशमात्मा समापूर्यत इति ।
१०. श्रीगोपालदास जीवाभाई पटेल-कुंदकुंदाचार्यांचे रत्नत्रय - पृ.६२
११. आचार्य श्रीआनन्द ऋषि-भावनायोग : एक विश्लेषण - पृ. २३७-२३८
१२. आचार्य भिक्खू - नवपदार्थ - पृ. ३६९
१३. आचार्य भिक्खू - नवपदार्थ - पृ. ३६९
१४. सं- उदयविजयगणि - नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह (श्रीहेमचन्द्रसूरि-सप्ततत्त्वप्रकरणम्) - गा. ६२, पृ. ९
यः कर्मपुद्गलादानहेतुः प्रोक्तः स आस्रवः ।
कर्माणि चाष्टधा ज्ञानावरणीयादिभेदतः ।। ६२ ।।
१५. (क) उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ. ८, सू. १
मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ।। १ ।।
(ख) अनु. जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म. ठाणांग - ठा. ५, उ. २, पृ. ५६२
पंच आसवदारा पन्नता तं जहा - मिच्छत्तं, अविरई, पमाओ, कसाया, जोगा।
(ग) सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (समवायांग) - भाग १, स. ५, पृ. ३१९
पंच आसवदारा पन्नत्ता, तं जहा-मिच्छत्तं अविरई पमाया कसाया जोगा ।
१६. हरिभद्रसूरि - षड्दर्शनसमुच्चय - पृ. २७४-२७५
आस्रवस्य पूर्वबन्धापेक्षया कार्यत्वमिष्यते, उत्तरबन्धापेक्षया च कारणत्त्वम् ।
एवं बन्धस्यापि पूर्वोत्तरास्रवापेक्षया कार्यत्वं च ज्ञातव्यं बीजांकुरयोरिव
बंधास्रवयोरन्योन्यं कारणत्वं कार्यकारणभावनियमात् ।
१७. उपनिर्दिष्ट पृ. २७५
आस्रव पुण्यापुण्यबन्ध हेतुतया द्विविधः । द्विविधोऽप्ययं मिथ्यात्वाद्युत्तरभेदापेक्ष-योत्कर्षापकर्षभेदापेक्षया वानेकप्रकारः ।
१८. आचार्य भिक्खू - नवपदार्थ - पृ. ३७०
१९. कुन्दकुन्दाचार्य-पंचास्तिकाय - गा. १३५, पृ. १९९
रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो ।
चित्तम्हि णत्थि कलुसं पुण्णं जीवस्स आसवदि ।। १३५ ।।

२०. उपनिर्दिष्ट गा. १३६, पृ. २०३
चरिया पमादबहुला कालुस्सं लोलदा य विसयेसु ।
परपरितावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि ।। १३६ ।।
२१. श्रीमद्अमृतचन्द्रसूरि (सं. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य) - तत्त्वार्थसार -
गा. १०१, पृ. १३७
हिंसानृतचुराब्रह्मसङ्गसंन्यासलक्षणम्। व्रतपुण्यास्रवोत्थानं भावेनेति प्रपंचितम्।।
१०१।।
२२. उपनिर्दिष्ट गा. १०२, पृ. १३८
हिंसानृतचुराब्रह्मसङ्गासंन्यासलक्षणम् ।
चिन्त्यं पापास्रवोत्थानं भावेन स्वयमव्रतम् ।। १०२ ।।
२३. आचार्य श्रीआनन्दऋषिजी म. भावनायोग : एक विश्लेषण - पृ. २३८-२३६
२४. जैनाचार्य श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव - बृहद्द्रव्यसंग्रह
गा. २६, ३०, ३१. पृ. ७७-७६
आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवण परो होदि ।। २६ ।।
मिच्छात्ताविरदिपमादजोगकोधादओऽय विण्णेया ।
पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स ।। ३० ।।
णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि ।
दव्वासवो स णेओ अणेयमेओ जिणक्खादो ।। ३१ ।।
२५. क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग १, पृ. २६६
लद्धूण तं णिमित्तं जोगं जं पुग्गले पदेसत्थं ।
परिणमदि कम्मभावं तं पि हु दव्वासवं बीजं ।
आस्रवत्यागच्छति जायते कर्मत्वपर्यायपुद्गलानां कारणभूतेनात्मपरिणामेन
स परिणाम भाव आस्रवः ।
२६. (क) उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ. ६, सू. ५
सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः । ५ ।
(ख) श्रीमद्विद्यानंद स्वामी - तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक - पृ. ४४४
स सांपरायिकस्य स्यात्सकषायस्य देहिनः ।
ईर्यापथस्य च प्रोक्तोऽकषायस्येह सूत्रतः ।। १ ।।
२७. क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग १, पृ. २६६
२८. (क) उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र (अनु. पं. सुखलालजी) - पृ. २४१-२४२
(ख) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि-तत्त्वार्थसार (सं. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य)
चतुर्थ अधिकार, श्लोक ५ से ७, पृ. ११०-१११

जन्तवः सकषाया ये कर्म ते साम्परायिकम् ।
अर्जयन्त्युपशान्ताद्या ईर्यापथमथापरे ।। ५ ।।
साम्परायिकमेतस्यादार्द्रचर्मस्यरेणुवत् ।
सकषायचयस्य यत्कर्म योगानीतं तु मूर्च्छति ।। ६ ।।
ईर्यापथं तु तच्छुष्ककुड्यप्रक्षिप्तलोष्टवत् ।
अकषायस्य यत्कर्म योगानीतं न मूर्च्छति ।। ७ ।।

२९. (क) उपनिर्दिष्ट चतुर्थ अधिकार, श्लो. ८, पृ. १११
चतुःकषायपंचाक्षैस्तथा पंचभिरव्रतै ।
क्रियाभिः पंचविंशत्या साम्परायिकमास्रवेत् ।। ८ ।।
(ख) उमास्वाति-तत्त्वार्थसूत्र - अ. ६, सू. ६,
अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः पंचचतुः पंचपंचविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ।। ६ ।।

३०. कुन्दकुन्दाचार्य- कुन्दकुन्दभारती (समयसार-आस्रवाधिकार) - अ.४, गा. १६४, १६५, पृ. ६७
मिच्छत्त अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु ।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ।। १६४ ।।
णाणावरणादियस्स ते दु कम्मस्स कारणं होति ।
तेसिंपि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ।। १६५ ।।

३१. अनु- जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म. ठाणांग - ठा. ५, उ. २
पंच आसवदारा पन्नता तं जहा मिच्छत्तं अविरई पमाओ कसाया जोगा।

३२. आचार्य श्रीआनन्दऋषि-भावनायोग : एक विश्लेषण - पृ. २४०

३३. भारतभूषण पं. मुनि श्रीरत्नचन्द्रजी म. भावनाशतक - पृ. २२४

३४. (क) क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग ३, पृ. ३११
विपरीताभिनिवेशोपयोगविकाररूपं शुद्धजीवादिपदार्थविषये विपरीतश्रद्धानं मिथ्यात्वमिति।
(ख) आचार्य हेमचन्द्र-योगशास्त्र (सं. मुनि समदर्शी प्रभाकर, महासती उमराव कुँवर, पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल) - द्वितीय प्रकाश, श्लो- ३, पृ. २८
अदेवे देवबुद्धिर्या, गुरुधीरगुरौ च या ।
अधर्मे धर्मबुद्धिश्च, मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात् ।। ३ ।।

३५. जैनाचार्य श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव - बृहद्द्रव्यसंग्रह - गा. ३०, पृ. ७८ (अमृतचन्द्रसूरि टीका)
अभ्यन्तरे वीतरागनिजात्मतत्त्वानुभूतिरुचिविषये विपरीताभिनिवेशजनकं, बहिर्विषये तु परकीयशुद्धात्मतत्त्वप्रभृतिसमस्तद्रव्येषु विपरीताभिनिवेषोत्पादकं च मिथ्यात्वं भण्यते ।

३६. (क) क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग ३, पृ. ३१२

अश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ।

(ख) उपनिर्दिष्ट भाग ३, पृ. ३११

तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाणं होइ अत्थाणं ।

३७. जैनाचार्य श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव - बृहद्द्रव्यसंग्रह - गा. ३०, पृ. ७८ (अमृतचन्द्रसूरि टीका)

अभ्यन्तरे निजपरमात्मस्वरूपभावेनोत्पन्नपरमसुखामृतरतिविलक्षणा वहिर्विषये पुनरव्रतरूपा चेत्यविरतिः ।

३८. भारतभूषण मुनिश्रीरत्नचन्द्रजी म. भावनाशतक - पृ. २३१

प्रवृद्धैर्जनैरर्जिते द्रव्यजाते ।

प्रपौत्रा यथा स्वत्ववादं वदन्ति

भवानन्त्यसंयोजिते पापकार्ये ।

विना सुव्रतं नश्यति स्वीयता नो ।। ५१ ।।

३९. (क) आचार्य श्रीआनन्दऋषि - भावनायोग : एक विश्लेषण - पृ. २४२-२४३

(ख) क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग १, पृ. २१२

अविरतिर्द्वादशविधाः षट्कायषट्करणविषयभेदात् ।

४०. भारतभूषण पं. मुनिश्रीरत्नचन्द्रजी म- भावनाशतक - पृ. २३६

मद विषय कसाया, निद्दा विगहा पंचमा भणिया ।।

ए ए पंच पमाया, जीवा पाडंति संसारे ।। १ ।।

४१. (क) आचार्य श्रीआनन्दऋषि - भावनायोग : एक विश्लेषण - पृ. २४४-२४६

(ख) क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग ३, पृ. १४७

विकह तहा कसाया इंद्रियणिद्दा तहेव पमाओ य ।

चदु चदु पण एगेगं होंति पमादा हु पण्णरसा ।।

(ग) देवेन्द्रमुनि शास्त्री - जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण - पृ. १९८-१९९.

४२. देवेन्द्रमुनि शास्त्री - जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण - पृ. १९९

(क) कष्यन्ते प्राणी विविधदुःखैरस्मिन्निति कषः संसारः, तस्य आयो लाभो येभ्यस्ते कषायाः - प्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति आचार्य नमि।

(ख) सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स । - दशवै. ८

(ग) दुःखशस्यं कर्मक्षेत्रं कृषन्ति फलवत्कुर्वन्ति इति कषायाः - धवला ।

४३. क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग २, पृ. ३५-

कषायवेदनीयस्योदयात्मनः कालुष्यं क्रोधादिरूपमुत्पद्यमानं 'कषत्यात्मानं हिनस्ति' इति कषाय इत्युच्यते ।

४४. दशवैकालिकसूत्र - अ. ८, भा. ३८

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणय नासणो ।

माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्व विणासणो ।। ३८ ।।

४५. उत्तराध्ययनसूत्र - अ. ६, गा. ५४.

अहे वयइ कोहेणं माणेणं अहमा गई ।

माया गईपडिग्घाओ लोभाओ दुहओ भयं ।।

४६. भारतभूषण पं. मुनिश्री रत्नचन्द्रजी म. भावनाशतक - पृ. २३८

कषायास्तु नक्तंदिवं सर्वदेशे ।

कुकर्मास्त्रमाश्रित्य शक्तिं हरन्ति ।।

४७. (क) आचार्य श्रीआनन्दऋषि - भावनायोग : एक विश्लेषण - पृ. २४७-२५०

(ख) आचार्य हेमचन्द्र - योगशास्त्र (चतुर्थ प्रकाश) - श्लो. ६,७,८ पृ. ११६

स्युः कषाया क्रोधमानमायालोभाः शरीरिणाम् ।

चतुर्विधास्ते प्रत्येकं भेदैः संज्वलनादिभिः ।। ६ ।।

पक्षं संज्वलनः प्रत्याख्यानो मासचतुष्टयम् ।

अप्रत्याख्यानको वर्षं जन्मानन्तानुबन्धकः ।। ७ ।।

वीतराग-यति-श्राद्ध-सम्यग्दृष्टित्व-घातकाः ।

ते देवत्व-मनुष्यतत्त्व-तिर्यक्त्व-नरकप्रदाः ।। ८ ।।

(ग) उपनिर्दिष्ट श्लो. २३, पृ. १२०

क्षान्त्या क्रोधो मृदुत्वेन मानो मायाऽऽर्जवेन च ।

लोभश्चानीहया जेयाः कषाया इति संग्रहः ।। २३ ।।

४८. क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग ३, पृ. ३६०

(क) मणसा वाया काएण वा वि जुत्तस्स विरियपरिणामो जीवस्स (जिहं) प्पणिजोगो जोगो त्ति जिणेहिं णिदिट्ठो ।

(ख) आत्मप्रदेशानां संकोचविकोचो योगः ।

(ग) योजनं योगः संबंध इति यावत् ।

(घ) योगः समाधिः सम्यक्प्रणिधानमित्यर्थः ।

(च) युजेः समाधिवचनस्य योगः समाधिः ध्यानमित्यनर्थान्तरम् ।

४९. भारतभूषण पं. मुनिश्री रत्नचन्द्रजी म. भावनाशतक - भा. ५४, पृ. २४२

सुवृष्टो यथा नो नदीपूररोधः ।

प्रवृत्ती यथा चित्तवृत्तेन रोधः ।।

तथा यावदस्ति त्रिधा योगवृत्ति -

र्न तावत्पुनः कर्मणां स्यान्निवृत्तिः ।। ५४ ।।

५०. देवेन्द्रमुनिशास्त्री - जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण - पृ. २००

५१. आचार्य श्रीआनन्दऋषि - भावनायोग : एक विश्लेषण - पृ. २५०-२५३

५२. आचार्य श्रीआनन्दऋषि - जैनधर्म : नवतत्त्व - पृ. २२

५३. (क) प्रकाशक - श्रीअगरचंद भैरोदान सेठिया - नवतत्त्व, पृ. ७५
(ख) जैनाचार्य श्रीअमोलकऋषिजी म. जैनतत्त्वप्रकाश - पृ. ३५३
५४. पूज्यपादाचार्य - सर्वार्थसिद्धि - अ. ८, सू. १, पृ. २२१
अविरतिर्द्वादशविधा षट्कायषट्करणविषयभेदात् ।
५५. पूज्यपादाचार्य - सर्वार्थसिद्धि - अ. ८, सू. १, पृ. २२०
स च प्रमादः कुशलेष्वनादरः ।
५६. जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म. जैनतत्त्वप्रकाश - पृ. ३५३
५७. उमास्वाति-तत्त्वार्थसूत्र - अ. ६, सू. ६.
अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः पंचचतुः पंचपंचविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ।। ६ ।।
५८. (क) श्रीमदमृतचन्द्रसूरि-तत्त्वार्थसार(सं. पं.पन्नालाल साहित्याचार्य)-पृ. ११२-११३
(ख) प्रकाशक श्रीअगरचन्द भैरोदान सेठिया-नवतत्त्व - पृ. ७६-८१.
५९. (क) जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म. जैनतत्त्वप्रकाश - पृ. ३५४-३६३.
(ख) क्षु. जिनेन्द्र वर्णी -जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग २, पृ. १७४.
(ग) सं पुप्फभिक्खू - अर्थागम (भगवतीसूत्र) - खण्ड २, पृ. ६७८-६२१.
६०. सं. उदयविजयगणि-नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह (देवगुप्तसूरि-नवतत्त्वप्रकरणम्)-गा. ९, पृ. १९
इंदियकसायअव्वय-किरिया पणचउपंचपणवीसा ।
जोगा तिण्णेव भवे, बायालं आसवो होइ ।। ९ ।।
६१. (क) सं. पुप्फभिक्खू-सुत्तागमे (पण्हावागरणं-प्रश्नव्याकरण) भाग १, पृ.११९९-१२००
जंबू दसमस्स अंगस्स समणेणं जाव संपत्तेणं दो सुयखंधा पण्णत्ता-आसवदारा य संवरदारा य ।
(ख) उपनिर्दिष्ट पृ. १२२३
पंचवे य उज्झिऊणं पंचेव य रक्खिऊण भावेण ।
कम्मरयविप्पमुक्का सिद्धिवरमणुत्तरं जंति ।। ५ ।।
(ग) उपनिर्दिष्ट पृ. १२२९
अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्सावि
असंकिलिट्ठो सुद्धो सव्वजिणमणुन्नाओ ।
६२. श्री गोपालदास जीवाभाई पटेल-कुंदकुंदाचार्यांचे रत्नत्रय - पृ. ३९.
६३. अनु. जैनाचार्य आत्मारामजी म. दशवैकालिकसूत्र - अ. ३-४, पृ. ३४-१४१
६४. अनु. जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म. प्रश्नव्याकरणसूत्र-आस्रवद्वार, पृ. १ से १३० व संवरद्वार, पृ. १३१ से २२८.
६५. क्षु. जिनेन्द्र वर्णी-जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग १, पृ. २६७.

आस्रवे बन्धे च मिथ्यात्वाविरत्यादिकारणानि समानानि को विशेषः । इति चेत् नैवं, प्रथमे क्षणे कर्मस्कन्धानामागमनमास्रवः, आगमनान्तरं द्वितीयक्षणादौ जीवप्रदेशेष्ववस्थानं बन्ध इति भेदः ।

६६. राहुल सांकृत्यायन-दर्शनदिग्दर्शन - पृ. ५६८.

६७. देवेन्द्रमुनि शास्त्री-जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण - पृ. २००-२०१

६८. सं. विनोबा भावे-धम्मपदम् (नवसंहिता) - पृ. ८२-८३

६९. संयोजक उदयविजयगणि-नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह (हेमचन्द्रसूरिसप्ततत्त्वप्रकरणम्) - श्लो. ६२, पृ. ८.

७०. उत्तराध्ययनसूत्र - अ. ३०, सू. २,३

पाणवह-मुसावाया अदत्त-मेहुण-परिग्गहा विरओ ।
राईभोयणविरओ जीवो भवइ अणासवो ।। २ ।।
पंचसमिओ तिगुत्तो अकसाओ जिइन्दिओ ।
अगारओ य निस्सल्लो जीवो होइ अणासवो ।। ३ ।।

७१. उत्तराध्ययनसूत्र - अ. २९, सू. १४.

पच्चक्खाणेणं भन्ते । जीवे किं जणयइ ?
पच्चक्खाणेणं आसदाराइं निरुम्भई ।

७२. उत्तराध्ययनसूत्र - अ. ३०, सू. ५,६.

## षष्ठ अध्याय

# संवर-तत्त्व

## (Arrest of the influx of Karma)

नव तत्त्वों में 'संवर' छठा तत्त्व है। आस्रव को रोकना तथा कर्म को न आने देना 'संवर' है। संवर आस्रव का प्रतिपक्षी है। आत्म-प्रदेश में आगमन करने वाले कर्मों का प्रवेश रोकना ही संवर का कार्य है।

अनादि काल से जीव कर्मावृत बनकर संसार-सागर में परिभ्रमण कर रहा है। जीव कभी कर्मों का क्षय करता है तो कभी कर्मों का बंध करता है। परंतु क्षय या बंध की प्रक्रिया से आत्मा भवपार नहीं हो सकता। आस्रव के कारण नये कर्मों की वृद्धि होती ही रहती है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग - ये कर्मवृद्धि के कारण हैं। इनसे कर्मों का आगमन कैसे होता है, आत्म-परिणामों की स्थिति कैसी होती है, मिथ्यात्व के कारण आत्मा को संसार में कैसे परिभ्रमण करना पड़ता है आदि का वर्णन आस्रव तत्त्व में हो चुका है।

आत्मा कर्मावृत बनकर संसार में परिभ्रमण करता रहता है, फिर भी आत्म-विकास की शक्ति उसमें छिपी रहती है। अँधेरे से प्रकाश की ओर और अज्ञान से ज्ञान की ओर जाने के लिए जीव के प्रयत्न चलते रहते हैं। इस प्रकार के प्रयत्न करना ही संवर-मार्ग पर चलना है।

आस्रव-तत्त्व में आत्मा के पतन की अवस्था को दिखाया गया है और संवर में आत्मा के उत्थान की अवस्था दिखाई गयी है। अगर जीव में दोष हैं, तो उन दोषों को दूर करने के उपाय भी होने ही चाहिए। दुर्गुण होंगे तो उन्हें दूर करके सद्गुण भी प्राप्त किये जा सकते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर आस्रव के बाद संवर का क्रम आता है क्योंकि आस्रव में दोष-उत्पादक कारण बताये गये हैं और संवर में उन कारणों का निर्मूलन करने वाले उपाय बताये गये हैं।

आत्म-परिणाम अगर वैतरणी नदी है, तो मनोरथों को पूर्ण करने वाली कामधेनु भी है और जैसे नरक में कूटशाल्मली वृक्षों का जंगल है, वैसे ही स्वर्ग में नन्दनवन भी है। इसी प्रकार आस्रव है, तो उसका प्रतिपक्षी संवर भी है।

बंध और मोक्ष आत्म-परिणाम पर ही निर्भर हैं। जब आत्मा अशुभ से निवृत्त होकर शुभ की तरफ मुड़ता है, मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर जाता है, अविरति से विरति की ओर मुड़ता है, तब कर्मों का आगमन रोका जाता है और आत्मा आस्रव से संवर की ओर प्रवृत्त होता है।

जब घर का द्वार बंद होता है तब कोई भी घर में प्रवेश नहीं कर सकता, धूल भी नहीं आ सकती। नाव में छिद्र न हो तो नाव में पानी प्रवेश नहीं कर सकता। झरना बंद करने पर तालाब में पानी प्रवेश नहीं कर सकता। उसी

प्रकार मिथ्यात्व आदि का अभाव होने पर आत्मा में कर्म प्रेवश नहीं कर सकता। अर्थात् नवीन कर्म का आस्रव नहीं होगा और आस्रव का निरोध होने पर शुभाशुभ कर्म नहीं आ सकेंगे। इसी हेतु संवर का अस्तित्त्व स्थापित हुआ?[१]

## संवर की व्याख्याएँ -

संवर शब्द सम् तथा वृ से मिलकर बना है। 'सम्' उपसर्ग है और 'वृ' धातु है। 'वृ' का अर्थ है रोकना या अड़ाना। यही संवर शब्द की व्युत्पत्ति है। आस्रव स्त्रोत ;च्पचमद्ध का दरवाजा है। उसे जो रोकता है, वही संवर है। जो आत्मा को वश में करता है उसी को संवर प्राप्त होता है।[२]

आस्रव का निरोध करना संवर है, अर्थात् समस्त आस्रवों को रोकना संवर है। मन, वचन, काया - इन तीन गुप्तियों को निरास्रवी बनाना संवर है।[३]

आस्रव कर्मरूपी पानी के झरने के समान है। उसे रोककर कर्मरूपी पानी का रास्ता बंद करना संवर है।[४]

संवर यह संवर के समान ही है।[५]

जिससे कर्म रोका जाता है वह संवर है।[६] मिथ्यादर्शन आदि जो कर्म के आगमन के निमित्त हैं, उनका अभाव होना संवर है। अर्थात् मिथ्यादर्शन आदि निमित्त से होने वाले कर्म का रुक जाना 'संवर' है।

जिन सम्यक् दर्शन आदि अथवा गुप्ति, समिति आदि परिणामों से मिथ्यादर्शन आदि परिणाम रोके जाते हैं, उन्हें रोकने वाले उपाय संवर हैं।

कर्म के आस्रव को रोकने में समर्थ तथा स्वानुभव में परिणत जीव के शुभ और अशुभ कर्मों के आगमन का निरोध संवर है।[७]

कर्म के आस्रव को रोकने में जो समर्थ है, वह संवर है। संवर के सम्यक्त्व, कषाय-जीतना और योग का अभाव जैसे अन्य भी नाम हैं।[८]

आस्रव (आत्मा की चंचलता, योग, पदसिनग) का निरोध होना (कर्म-पुद्गलों का आत्मा में प्रवेश न होना) संवर है।

कर्मबंधन जिसके योग से रुकता है उसे 'संवर' कहते हैं। जिस उज्ज्वल, आत्म-परिणाम से कर्मबंधन रुकता है उस (उज्ज्वल परिणाम) को संवर कहते हैं। इस प्रकार कर्मबंधन को रोकने के कारण को संवर कहते हैं।

आस्रव-अवस्था में जीव के प्रदेश में परिस्पंदन (कम्पन) होता रहता है। आस्रव के निरोध से जीव के चंचल प्रदेश स्थिर होते हैं। आत्म-प्रदेश की चंचलता आस्रव-द्वार है और स्थिरता संवर-द्वार है।

आत्मा की राग-द्वेषमूलक अशुद्ध प्रवृत्ति को रोकना संवर का कार्य है। संवर के कारण आत्मा में नवीन कर्मों का आगमन नहीं होता।

जिसके कारण आत्मा में प्रवेश करने वाले कर्म रुकते हैं, वह गुप्ति, समिति आदि से युक्त संवर नाम का तत्त्व है।[९]

संवर आत्मा का निग्रह करने से होता है। यह निवृत्तिपरक है, प्रवृत्तिपरक नहीं। इसलिए प्रवृत्ति ही आस्रव और निवृत्ति ही संवर है। जिन उपायों से आस्रव का निग्रह होता है, वे उपाय ही संवर हैं।

जिस प्रकार रोगी का रोग नष्ट होने में औषधि कारण है उसी प्रकार आस्रव को रोकने वाले उपाय संवर हैं। सारांशतः कहा जा सकता है कि आस्रव का निरोध करना ही संवर है।[१०]

संसार में आने का कारण आस्रव है और मोक्ष का कारण संवर है। यही धर्म के सिद्धान्तों का सारांश है।[११]

आस्रव के कारण नये कर्मों का प्रवेश होता है और संवर से नये कर्मों का प्रवेश रुक जाता है। आध्यात्मिक विकास का क्रम आस्रव-निरोध के विकास पर आधारित है। इसलिए जैसे-जैसे आस्रव-निरोध बढ़ता जायेगा, वैसे-वैसे गुणस्थान की भी वृद्धि होती जायेगी।

"गुणस्थान" जैन-धर्म का पारिभाषिक शब्द है। आत्मा के गुणों का क्रमशः विकास जिस स्थान पर होता है उस स्थान को जैन-धर्म में "गुणस्थान" कहते हैं। समस्त कर्मों से आत्मा की मुक्ति होकर उसे जो मुक्तावस्था प्राप्त होती है, उस अवस्था को जैनियों ने "निर्वाण" कहा है। कर्म-बंधन आत्मा की भावना पर निर्भर करता है। भावना का अर्थ है - विचार। आत्मा जैसे-जैसे बुरे विचार मन में लाता है, वैसे-वैसे उसके दुर्गुण बढ़ते हैं। गुणस्थान के कारण आत्मा में कौनसे भाव हैं यह समझा जाता है और आत्मा की योग्यता क्या है, यह भी समझा जाता है।

जैन-तत्त्वज्ञान में गुणस्थानों का विशेष महत्त्व है। जो अन्तिम गुणस्थान पर आरूढ़ होता है, वह निर्वाण (मोक्ष) पद पर आरूढ़ होता है। गुणस्थान चौदह हैं। ये चौदह गुणस्थान मोक्ष-मन्दिर की चौदह सीढ़ियाँ हैं।[१२]

आत्मा के कर्म के उपादानहेतुभूत परिणाम का अभाव संवर कहलाता है। इसलिए कुछ कर्मों के आगमन के निमित्त का अभाव ही संवर है।[१३]

संवर के अस्तित्त्व के लिए भगवान् महावीर स्वामी ने सूत्रकृतांग शास्त्र में कहा है - 'यह मत समझो कि आस्रव और संवर नहीं है, अपितु यह समझो कि आस्रव और संवर हैं'।[१४]

आस्रव-द्वार कर्म के आगमन का द्वार है। यह द्वार बंद करने पर संवर का अस्तित्त्व स्थापित होता है। आत्मा को वश में करने पर आत्म-निग्रह से संवर होता है। यह उत्तम गुणरत्न है क्योंकि मोक्ष का मुख्य मार्ग संवर ही है।

## संवृत आत्मा और सास्रव आत्मा

नौका को पानी में उतारने पर यदि नौका में पानी प्रवेश करे तो यह सिद्ध होता है कि वह आस्रविनी या सछिद्र है। यदि नौका में पानी प्रवेश न करे तो 'वह अनास्रविनी या छिद्ररहित है' यह सिद्ध होता है। इसी प्रकार जिस आत्मा

में मिथ्यात्व आदि रूप छिद्र है, वह साम्रव आत्मा है और जिसमें मिथ्यात्व आदि रूप छिद्र नहीं हैं, वह संवृत आत्मा है। साम्रव आत्मा मानने से संवृत आत्मा अपने आप ही सिद्ध हो जाता है।

*संवर के संबंध में कुछ उदाहरण :-*

(१) तालाब के झरनों को निरुद्ध करने के समान जीव के आम्रव का निरोध करना संवर है।
(२) घर का दरवाजा बंद करने के समान जीव के आस्रव का निरोध करना संवर है।
(३) नौका के छिद्र को निरुद्ध करने की तरह जीव के आस्रव का निरोध करना संवर है।[१५]

## संवर आत्म-निग्रह से होता है :-

आस्रव का निरोध किया जा सकता है। संवर, निर्जरा और मोक्ष के निरोध का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। समस्त आस्रव द्वारों का निरोध करना ही संवर है।[१६]

जो कार्य निरोध करने योग्य है, वह आस्रव है। पाप-प्रवृत्ति का निरोध करना संवर है। आत्म-निग्रह से आत्मा को वश में करने से संवर होता है।

आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि कहते हैं कि जिन उपायों से जो आस्रव रुकता है, उस आस्रव के निरोध के लिए उन्हीं उपायों का उपयोग करना चाहिए। जैसे - क्षमा से क्रोध को जीतना चाहिए, मृदु-भाव से अभिमान पर विजय प्राप्त करनी चाहिए, ऋजुता (सरलता) से माया (कपट) पर विजय प्राप्त करें और निःस्पृहता से लोभ का निरोध करें। असंयम से उत्पन्न हुए विषैले भोगों को अखण्ड संयम से नष्ट करें। मनयोग, वचन योग और काययोग को मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति से जीत लेना चाहिए। अप्रमाद से प्रमाद को दूर करें। सावद्य योग (पापमय योग) के त्याग से विरति-संवर प्राप्त करें। सम्यग्दर्शन से मिथ्यात्व नष्ट करें और आर्त तथा रौद्र ध्यान को मन की शुभ स्थिरता से दूर करें।[१७]

## मोक्ष-मार्ग के लिए संवर उत्तम गुणरत्न है :-

पहले संसार और बाद में मोक्ष - ऐसा क्रम है। पहले मोक्ष और बाद में संसार- ऐसा क्रम नहीं है। मोक्ष साध्य है, संसार त्याज्य है। इस संसार के मुख्य हेतु आस्रव और बंध हैं और मोक्ष के प्रमुख हेतु संवर और निर्जरा हैं।[१८]

संवर से आस्रव का अर्थात् नये कर्मों के आगमन का निरोध होता है। निर्जरा से पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय होता है। इस प्रकार से दोनों मोक्ष-साधना के अनिवार्य साधन हैं।

जो संवरयुक्त है, वह मोक्ष के अमोघ साधन से युक्त है। वह अत्यंत गुणवान है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र्य को रत्नत्रय कहा गया है। संवर सम्यक् चारित्र है, इसलिए यह उत्तम गुणरत्न है।

मोक्ष के दो साधक तत्त्व हैं - (१) संवर और (२) निर्जरा। जितने आस्रव हैं उतने ही संवर भी हैं। आस्रव के पाँच भेद हैं, इसलिए संवर के भी पाँच भेद हैं -

## संवर के भेद

संवर के दो भेद हैं - (१) द्रव्यसंवर और (२) भावसंवर।

सब प्रकार के आस्रवों का निरोध संवर है। संवर के द्रव्य-संवर और भाव-संवर दो भेद हैं। इनमें से कर्मपुद्गल के ग्रहण का छेदन या निरोध करना द्रव्य-संवर है। और संसार-वृद्धि की कारणभूत क्रियाओं का त्याग करना तथा आत्मा का शुद्धोपयोग करना अर्थात् समिति, गुप्ति आदि भाव-संवर हैं।[१९]

आत्मा का परिणाम है कर्मास्रव, उसे रोकने में जो कारणभूत होता है, उसे भाव-संवर कहते हैं। और जो द्रव्य-आस्रव को रोकने में कारणभूत होता है, वह द्रव्य-संवर है।

पाँच व्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहजय और पाँच चारित्र- इन्हें जानना भावसंवर है।

आस्रव-रहित सहज स्वभाव होने से सब कर्मों को रोकने में कारण जो शुद्ध परमात्म-तत्त्व है, उसके स्वभाव से उत्पन्न जो शुद्धचेतन परिणाम है, वह भाव-संवर है। और भाव-संवर के कारण से उत्पन्न जो कार्यरूप (नवीन द्रव्य कर्मों के आगमन का) अभाव है, वह द्रव्यसंवर है।[२०]

एक उदाहरण द्वारा प्रस्तुत विषय का स्वरूप अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। कल्पना कीजिए कि एक मनुष्य किसी तालाब को खाली करने के लिए उसमें से पानी निकालकर बाहर फैंक रहा है। वह रात-दिन बड़ा परिश्रम कर रहा है। वह एक तरफ से पानी निकाल कर बाहर फैंक रहा है, और दूसरी तरफ से पानी तालाब में प्रवेश कर रहा है। इस प्रकार रात-दिन परिश्रम करने से जितना तालाब खाली होता है, उतना ही या उससे भी अधिक पानी तालाब में भरता ही जाता है। ऐसी परिस्थिति में कितने भी प्रयत्न किये जायें, परिश्रम किया जाय, तो भी तालाब खाली होने की संभावना नहीं है। जब झरनों को बंद करके पानी को बाहर फैंका जाएगा, तभी तालाब खाली हो सकेगा।

संवर इस उदाहरण से अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है। आत्मा तालाब के समान है। उसमें कर्म रूपी पानी भरा हुआ है। आस्रव रूपी झरनों से उसमें रात-दिन कर्मरूपी पानी प्रवेश करता ही रहता है। साधक तप आदि साधनों द्वारा कर्म रूपी पानी को बाहर फैंकने का प्रयत्न करता है, परंतु जब तक कर्मों के आगमन का दरवाजा हम बंद नहीं करते, तब तक कर्म-जल से भरा हुआ

आत्म-सरोवर खाली नहीं हो सकता। इस प्रकार आस्रवरूपी झरनों को बंद करना ही संवर है।[21]

## संवर के पाँच भेद

संवर आस्रवों का निरोधक है। आस्रवों के जिस प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग - ये पाँच भेद हैं, उसी प्रकार प्रतिपक्षी संवर के भी सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग - ये पाँच भेद हैं।[22] इनका स्वरूप इस प्रकार बताया गया है -

### (१) सम्यक्त्व :-

यह मिथ्यात्व आस्रव का प्रतिपक्षी है। मिथ्यात्व कर्म आस्रव-द्वार है तो सम्यक्त्व कर्मों को रोकने वाला है। कर्म-बन्ध का मुख्य कारण मिथ्यात्व है। जब तक जीव को "मैं कौन हूँ? मेरा कर्तव्य क्या है?" इसका ज्ञान नहीं होता, तब तक उसे स्वस्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता । मिथ्यात्व जीव को स्वरूप-दर्शन नहीं होने देता। मिथ्यात्व के कारण जीव को संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है। परंतु जब जीव को अपने स्वरूप का बोध होता है अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्त होता है, तब जीव संसार से विरक्त होने लगता है।

### सम्यक्त्व का लक्षण :

जीव, अजीव आदि तत्त्वों को यथार्थ (जैसा है वैसा) समझना और वैसी ही श्रद्धा रखना सम्यक्त्व कहलाता है।

सम्यक्त्व नैसर्गिक रीति से या परोपदेश से प्राप्त होता है। सम्यक्त्व पहचानने के लक्षण ये हैं -

(१) शम - क्रोध आदि कषायों का उपशम या क्षय होना।
(२) संवेग - मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा रखना।
(३) निर्वेद - संसार से उदासीन रहना।
(४) अनुकम्पा - जीवमात्र पर दया करना तथा उन्हें पीड़ा न होने देना।[24]

### सम्यक्त्व का महत्त्व :

सम्यक्त्व मोक्ष-प्राप्ति का प्रमुख कारण है। सम्यक्त्व के बिना चारित्र्य नहीं हो सकता परंतु सम्यक्त्व चारित्र्य के बिना हो सकता है। अर्थात् चारित्र्य से पहले सम्यक्त्व प्राप्त होना अत्यन्त आवश्यक है।

सम्यक्त्व के बिना ज्ञान भी नहीं हो सकता और ज्ञान के बिना चारित्र्य प्राप्त नहीं होता। चारित्र्य गुण के बिना मोक्ष नहीं मिल सकता। मोक्ष के बिना निर्वाण (अनन्त चिदानन्द पद) प्राप्त नहीं हो सकता।[25] इतना ही नहीं संसाररूपी

सागर में बह जाने वाले और अपने कर्मों द्वारा कष्ट भोगने वाले जीवों के लिए सम्यग्दर्शन द्वीप के समान विश्राम-स्थान है। सम्यग्दृष्टि जीव को ही सुलभ-बोधि प्राप्त होती है।

जिस प्रकार शरीर में समस्त अवयव हों पर मस्तक न हो, तो उसमें थोड़ा सा भी सौंदर्य नहीं होगा । यही बात सम्यक्त्व के बारे में भी लागू होती है। मस्तक-विहीन शरीर को 'धड़' कहते हैं और मस्तक होने पर पूर्ण शरीर कहा जाता है। सब प्रकार के व्रत, तप, ज्ञान आदि होने पर भी अगर सम्यक्त्व नहीं हो, तो उनका कुछ भी महत्त्व नहीं है। वह सब हाथी के स्नान के समान निरर्थक है।

एक (१) अंक के बिना शून्यों का कुछ भी अर्थ या कीमत नहीं है। नेत्र के बिना सूर्यप्रकाश और सुवृष्टि के बिना खेत निरर्थक है, उसी प्रकार सुदृष्टि ही सम्यक्त्व है। सम्यग्दर्शन के बिना तप तथा जप की कुछ भी कीमत या महत्त्व नहीं है। जो सम्यग्दर्शन से युक्त है, उसी का तप, जप और इन्द्रियसंयम सार्थक है। उसी का ज्ञान सत्य है। सम्यग्दर्शन ही मिथ्यात्व का उच्छेद करने वाला है, इसलिए मुमुक्षु को सम्यग्दर्शन की आराधना करनी चाहिए।[२६]

## सम्यक्त्व के भेद :

मिथ्यात्व-मोहनीय कर्मों का अवरोध क्रमशः उपशम, क्षयोपशम और क्षयरूप से होता है। इसीलिए सम्यक्त्व के भी क्रमशः औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व - ये तीन भेद होते हैं।[२७]

*(१) औपशमिक सम्यक्त्व (अनन्तानुबंधी) :* क्रोध, मान, माया और लोभ अर्थात् अनन्तानुबंधी चतुष्क और दर्शन मोह की तीन प्रकृतियों - मिथ्यात्व, सम्यक्-मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति-कुल सात प्रकृतियों का उपशम होने पर आत्मा की जो तत्त्वरुचि होती है उसे औपशमिक-सम्यक्त्व कहते हैं।

*(२) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व :* अनन्तानुबंधी कषाय और उदयप्राप्त मिथ्यात्व का क्षय तथा अनुदय प्राप्त मिथ्यात्व का उपशम करते समय जीव की जो तत्त्वरुचि होती है, उसे क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व कहते हैं।

*(३) क्षायिक सम्यक्त्व :* सम्यक्त्वघाती, अनन्तानुबंधी चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक - इन सात प्रकृतियों के क्षय से होने वाली जीव की तत्त्वरुचियाँ क्षायिक सम्यक्त्व हैं।

सम्यक्त्व के ऊपर के भेद जीव की अपेक्षा से हैं। सम्यक्त्व की अपेक्षा से नहीं हैं। तत्त्वश्रद्धा ही सम्यक्त्व का सही लक्षण है। सम्यक्त्व की प्राप्ति से ही आत्म-कल्याण का मार्ग सुलभ होता है।

## सम्यक्त्व के पाँच अतिचार (दोष) :

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि-प्रशंसा और अन्यदृष्टि-संस्तव - ये पाँच सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं।

व्रत-नियमों का अंशतः पालन होना और अंशतः भंग होना 'अतिचार' कहलाता है। सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचारों का स्वरूप इस प्रकार है -

(१) शंका - अरिहन्त भगवंत के कहे हुए सूक्ष्म और अतीन्द्रिय तत्त्वों में, यह सही है या नहीं, ऐसा संदेह (संशय) होना 'शंका' है।

(२) कांक्षा - धर्म का फल आत्मशुद्धि है। परंतु धर्म-साधना में ऐहिक और पारलौकिक भोग-उपभोगों की आकांक्षा रखना 'कांक्षा' है।

(३) विचिकित्सा - सन्तों के मलिन शरीर और वस्त्रों को देखकर घृणा करना ही 'विचिकित्सा' है।

(४) अन्यदृष्टि-संस्तव - मिथ्यादृष्टि जीवों की वचनों द्वारा स्तुति करना 'अन्यदृष्टि-संस्तव' है।[२८]

(५) अन्यदृष्टि-प्रशंसा - मिथ्यादृष्टि जीवों के ज्ञान, तप आदि के बारे में 'ये अच्छे हैं' ऐसी भावना रखना 'अन्यदृष्टि-प्रशंसा' है।

दोषरहित और गुणसहित सम्यग्दर्शन से जो युक्त हैं, वे संसार में रहते हुए भी जल-कमलवत् निर्लिप्त हैं। सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने पर संसार का अंत निश्चित है। अथ च मिथ्यात्व का रुक जाना ही मोक्ष है।

**(२) विरति** : कर्म के आगमन का जो दूसरा कारण है, वह है हिंसा आदि पाप-कर्मों में मग्न होना। उन पाप-कर्मों से विरत होना अर्थात् उनका त्याग करना विरति-व्रत है। पाप के त्याग से कर्म का आगमन रुकता है, इसलिए विरति को संवर भी कहते हैं।

जीवन में व्रतों का महत्त्व श्वास-उच्छ्वास के समान है। जिस प्रकार श्वासोच्छ्वास से जीवित प्राणी पहचाना जाता है, उसी प्रकार व्रत से सम्यक्त्व की पहचान होती है। सम्यग्दृष्टि पाप-कार्य नहीं करता।

'सम्मत्तदंसणं न करेइ पावं' (आचारांगसूत्र - ३/२) ।

व्रत से पाप-कर्म की निवृत्ति होती है और पाप-कार्य की निवृत्ति से नये कर्मों के आस्रव रोके जाते हैं। आस्रव का रुकना ही कर्मरूपी रोग की दवा है।

विना व्रतं कर्मरूपास्रवस्तथा' (भावनाशतक-६०) ।

कर्मास्रवरूपी रोग को नष्ट करने के लिए व्रतरूपी औषधि का उपयोग करना आवश्यक है।

व्रत के पाँच भेद हैं - (१) प्राणातिपात-विरमण, (२) मृषावाद-विरमण, (३) अदत्तादान-विरमण, (४) मैथुन-विरमण तथा (५) परिग्रह-विरमण। इन व्रतों का पालन साधु करते हैं। गृहस्थ को बारह अणुव्रतों का पालन करना पड़ता है। मुक्ति का उपाय व्रत-प्रत्याख्यान करना है। यही विरति-संवर है।[२९]

## (३) अप्रमाद :

आत्म-प्रदेश में होने वाले अनुत्साह का क्षय करना अप्रमाद है। धर्म के बारे में उत्साह रखना अप्रमाद है।

यदि कर्मरूपी रोग की सम्यक् प्रकार से निवृत्ति होने पर सत्प्रवृत्ति को जारी नहीं रखा जाये, तो कर्मरूपी रोग के परमाणुओं का क्षय नहीं हो सकता। जैसे उचित औषधि के उपचार से रोग तो दूर हुआ, परंतु उसके बाद वैद्य के द्वारा बताए गये पथ्य और उपचार के अनुसार आचरण नहीं किया, तो पूर्णतः शरीर-स्वास्थ्य प्राप्त नहीं हो सकता अर्थात् प्रमाद, कर्म-रोग का कारण है और उसे दूर करना ही अप्रमाद है।

साधक को ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की आराधना करनी चाहिए, साथ ही जीवन को सफल बनाने के लिए अप्रमाद-संवर में सदैव मग्न रहना चाहिए। क्योंकि अप्रमाद के द्वारा कर्मबंध नहीं होता और दुःखानुभव भी नहीं होता।

सब प्रकार के प्रमादों से रहित और व्रत, गुण तथा शील से विभूषित, सद्ध्यान में लीन रहने वाले सम्यग्ज्ञानी साधु को अप्रमत्त संयमी कहते हैं। पाँच महाव्रतों, पाँच समितियों तथा तीन गुप्तियों को धारण करना और सब कषायों का अभाव होना 'अप्रमाद' कहलाता है।[३०]

## (४) अकषाय :

अप्रमाद के बाद अकषाय का क्रम आता है। अकषाय कर्मास्रव को रोकने का चौथा उपाय है। अकषाय के द्वारा मानव मोक्ष तक पहुँच सकता है। कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ। इस अनंत-चतुष्क के कारण ही आत्मा को संसार-परिभ्रमण करना पड़ता है। भवपार होना है तो इस अनंत-चतुष्क का त्याग करना चाहिए और अकषाय को धारण करके भवपार होना चाहिए। अकषाय संवर अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

## (५) अयोग :

यह संवर का पाँचवां प्रकार है। 'अयोग' का अर्थ है मन, वचन और काया की विकारोत्पादक वृत्तियों का निग्रह करना। दूसरे के अनिष्ट का चिन्तन करना, दुष्ट इच्छा करना, ईर्ष्या और वैर भाव रखना ये दुष्ट मनोयोग हैं। किसी की निन्दा करना, गाली देना, झूटा कलंक लगाना तथा असत्य बोलना - ये अशुभ वचन-योग हैं। चोरी एवं कुकर्म करना आदि अशुभ काय-योग हैं। जब इस अशुभ प्रवृत्ति को रोका जायेगा और जीव द्वारा शुभ-प्रवृत्ति होगी, तभी कर्मास्रव रुकेगा।

योग शुभ और अशुभ दो प्रकार के हो सकते हैं। जब योग के साथ कषाय का संबंध होता है, तब वे अशुभ होते हैं। लेकिन मूलतः योग शुभ ही होते हैं।

योग पर विजय प्राप्त करने के उपाय हैं - दोषों का निग्रह करना तथा उन्हें दूर करना। यही अयोग संवर है।[३१]

जो जीव शुक्लध्यानरूप अग्नि द्वारा घाती कर्मों को नष्ट करके योगरहित होता है, उसे अयोगी या अयोगकेवली कहते हैं।[३२]

उपर्युक्त पाँच संवर-भेदों का सारांश इस प्रकार है -

(१) सम्यक्त्व : विपरीत मान्यता से मुक्त होना अर्थात् मिथ्यात्व का अभाव होना।
(२) विरति : अठारह प्रकार के पापों का सर्वथा त्याग करना।
(३) अप्रमाद : धर्म के विषय में पूर्ण उत्साह होना।
(४) अकषाय[३३] : जीव के समस्त कषायों - क्रोध, मान और लोभ आदि का नष्ट होना।
(५) अयोग : मन, वचन और काया की दुष्प्रवृत्तियों को रोकना।[३४]

संवर के इन भेदों पर बार-बार चिन्तन करना और उनका आचरण करना ही कर्म-मुक्ति का सच्चा मार्ग है।

## संवर के बीस भेद[३५]

आस्रव के बीस भेदों के समान ही संवर के भी बीस भेद हैं। जो निम्नलिखित हैं:-

| | |
|---|---|
| (१) सम्यक्त्व संवर | (११) श्रोत्रेन्द्रिय संवर |
| (२) विरति संवर | (१२) चक्षुरिन्द्रिय संवर |
| (३) अप्रमाद संवर | (१३) घ्राणेन्द्रिय संवर |
| (४) अकषाय संवर | (१४) रसनेन्द्रिय संवर |
| (५) अयोग संवर | (१५) स्पर्शेन्द्रिय संवर |
| (६) प्राणातिपात-विरमण संवर | (१६) मनः संवर |
| (७) मृषावाद-विरमण संवर | (१७) वचन संवर |
| (८) अदत्तादान-विरमण संवर | (१८) काय संवर |
| (९) मैथुन-विरमण संवर | (१९) भाण्डोपकरण संवर |
| (१०) परिग्रह-विरमण संवर | (२०) सूची-कुशाग्र संवर |

### संवर के बीस भेदों का स्पष्टीकरण :-

१. सम्यक्त्व संवर : यह मिथ्यात्व आस्रव का प्रतिपक्षी है। नव तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा सम्यक्त्व संवर है।

२. विरति संवर : यह प्रमाद आस्रव का प्रतिपक्षी है। प्रमाद न करना अप्रमाद संवर है।
३. अप्रमाद संवर : यह प्रमाद आस्रव का प्रतिपक्षी है। प्रमाद न करना अप्रमाद संवर है।
४. अकषाय संवर : यह कषाय आस्रव का प्रतिपक्षी है। कषाय (क्रोध, मान, माया तथा लोभ) न करना अकषाय संवर है। कषायों के कारण आत्मा मलिन होता है। कषाय नष्ट करना अकषाय संवर है।
५. अयोग संवर : यह योग आस्रव का प्रतिपक्षी है। मन, वचन और काया के योग का निरोध होना 'अयोग संवर' है।
६. प्राणातिपात : यह प्राणातिपात आस्रव का प्रतिपक्षी है। हिंसा न करना ही प्राणातिपात-विरमण संवर है। क्योंकि सभी जीव जीवित रहना चाहते हैं। किसी को भी मरण अच्छा नहीं लगता। हरबर्ट वारेन ;भ्मतइमतज ूंततमदद्ध ने श्रंपदपेउ नामक ग्रंथ में कहा है कि जीवन दुःख और सुख से भरा हुआ होने पर भी, सब को प्रिय होता है।[३६]
७. मृषावाद-विरमण : यह मृषावाद आस्रव का प्रतिपक्षी है। असत्य (झूठ) न बोलना ही मृषावाद-विरमण संवर है।
८. अदत्तादान-विरमण : यह अदत्तादान आस्रव का प्रतिपक्षी है। चोरी न करना अदत्तादान-विरमण संवर है।
९. मैथुन-विरमण : यह मैथुन आस्रव के विपरीत है। मैथुन-सेवन का त्याग करना मिथुन-विरमण संवर है।
१०. परिग्रह-विरमण : यह परिग्रह आस्रव का उल्टा है। परिग्रह और ममता-भाव का त्याग ही परिग्रह-विरमण संवर है।
११. श्रोत्रेन्द्रिय संवर : यह श्रोत्रेन्द्रिय आस्रव का प्रतिपक्षी है। स्तुति और निन्दा-युक्त शब्दों में राग-द्वेष न करना ही श्रोत्रेन्द्रिय संवर है।
१२. चक्षुरिन्द्रिय संवर : यह चक्षुरिन्द्रिय आस्रव के विपरीत है। अच्छे या बुरे रूप से राग-द्वेष न करना चक्षुरिन्द्रिय संवर है।
१३. घ्राणेन्द्रिय संवर : यह घ्राणेन्द्रिय आस्रव का प्रतिपक्षी है। सुगन्ध और दुर्गन्ध से राग-द्वेष न करना घ्राणेन्द्रिय संवर है।
१४. रसनेन्द्रिय संवर : यह रसनेन्द्रिय आस्रव का प्रतिपक्षी है। सुस्वाद (मधुर स्वाद) या बुरे स्वाद के लिए राग-द्वेष न करना रसनेन्द्रिय संवर है।
१५. स्पर्शेन्द्रिय संवर : यह स्पर्शेन्द्रिय आस्रव का विरोधी है। स्पर्श के बारे में राग-द्वेष न करना ही स्पर्शेन्द्रिय संवर है।
१६. मन संवर : यह वचनयोग आस्रव का प्रतिपक्षी है। अच्छे-बुरे मनोयोग का सम्पूर्ण विरोध ही मन संवर है।
१७. वचन संवर : यह वचनयोग आस्रव का विरोधी है। शुभ और अशुभ - इन दोनों प्रकार के वचनों का संपूर्ण निरोध ही वचन संवर है।

१८. काय संवर : यह काय-योग आस्रव का प्रतिपक्षी है। शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कार्यों का सम्पूर्ण निरोध करना ही काय संवर है।
१९. भाण्डोपकरण : यह भाण्डोपकरण आस्रव का विरोधी है। वस्त्र, पात्र आदि लेते समय और रखते समय, किसी भी प्रकार के जीव की हिंसा न हो, ऐसी सावधानी रखना ही भाण्डोपकरण संवर है।
२०. सूची-कुशाग्र : यह सूची-कुशाग्र आस्रव का प्रतिपक्षी है। सुई आदि साधन लेते समय और रखते समय जीव की हिंसा न हो ऐसी सावधानी रखना सूची-कुशाग्र संवर है।[३७]

## संवर के सत्तावन भेद :

संवर के पाँच जघन्य भेद हैं, बीस मध्यम भेद हैं और सत्तावन उत्कृष्ट भेद हैं। पाँच और बीस भेदों का विवेचन हो चुका है। अब सत्तावन भेदों के बारे में विचार किया जायेगा।

संवर की सिद्धि गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-जय और चारित्र्य से होती है।[३८]

तीन गुप्ति, पाँच समिति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषह और पाँच चारित्र्य- इस प्रकार से संवर के सत्तावन भेद होते हैं।

## तीन गुप्ति :

संवर, निरोध और निवृत्ति - गुप्ति के पर्यायवाची शब्द हैं।

*गुप्ति की व्याख्याएँ :*

आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र में गुप्ति की व्याख्या इस प्रकार की गई है -

"संसार की अभिलाषा से परावृत्त होकर मन, वचन और काया की स्वैर प्रवृत्ति को रोकना गुप्ति कहलाता है। अशुभ से निवृत्ति ही गुप्ति है।"[३९]

आचार्य उमास्वाती ने स्वोपज्ञभाष्य में गुप्ति की, "जिसके योग से मनोयोग, वचनयोग और काययोग का संरक्षण होता है, उसे गुप्ति कहते हैं" यह व्याख्या की है।[४०]

संसार के कारणों से आत्मा का सम्यक् प्रकार से संरक्षण करना 'गुप्ति' कहलाता है।

मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्तियों को रोकना और शुभ प्रवृत्ति की ओर जाना 'गुप्ति' कहलाता है।

अशुभ योग का निग्रह 'गुप्ति' है। मन, वचन और काया को उन्मार्ग से रोकना और सन्मार्ग पर लाना 'गुप्ति' है।[४१]

गुप्तियाँ तीन हैं - (१) मन-गुप्ति, (२) वचन-गुप्ति और (३) काय-गुप्ति।

**मन-गुप्ति** : दुष्ट संकल्पों का त्याग करना और शुभ संकल्पों को धारण करना ही मन-गुप्ति कहलाता है।

सब प्रकार की कल्पनाओं से रहित तथा पूर्णतः समभाव में स्थित आत्मा में रमने वाला मन 'मनोगुप्ति' है।[४२]

**वचन-गुप्ति** : बोलने के हर प्रसंग में वचनों का नियमन करना (मर्यादित बोलना) या उचित समय पर मौन धारण करना 'वचन-गुप्ति' है। दूसरे शब्दों में - संज्ञा आदि का त्याग करके सर्वथा मौन धारण करना और भाषण (बोलने) के संबंध में व्यापार (क्रियाओं) को रोकना वचन-गुप्ति है।[४३]

**काय-गुप्ति** : किसी भी वस्तु को लेने, रखने या उठाने आदि में - जीव-जंतु नहीं मरने चाहिए- इस प्रकार विवेक रखना 'कायगुप्ति' है। देव, मनुष्य और तिर्यंच के संबंध में उपसर्ग होने पर भी कायोत्सर्ग में स्थित मुनि के शरीर की स्थिरता 'कायगुप्ति' है। उपसर्ग होने पर भी मुनि कायोत्सर्ग करके अपने शरीर की हलचल आदि शारीरिक क्रियाओं को रोकते हैं। शरीर को स्थिर और अकंप रखते हैं। यही 'कायगुप्ति' है। सोना, उठना, चलना, फिरना, आवागमन करना आदि क्रियाओं में नियम-युक्त बर्ताव करना भी 'कायगुप्ति' है।[४४]

सारांशतः कहा जा सकता है कि - राग-द्वेष से मन को परावृत्त करना 'मनोगुप्ति' है। असत्य भाषण से निवृत्त होना या मौन धारण करना 'वचनगुप्ति' है। औदारिक आदि शरीर की जो क्रियाएँ होती हैं, उनसे निवृत्त होना 'कायगुप्ति' है। अथवा हिंसा, चोरी आदि पाप-क्रियाओं से परावृत्त होना 'कायगुप्ति' है।[४५]

'कायगुप्ति' से जीव को संवर (अशुभ प्रवृत्ति के निरोध) का लाभ होता रहता है। काय -गुप्ति होने के बाद पुनः होने वाले पाप-आस्रव का, संवर निरोध करता रहता है।[४६]

## पाँच समितियाँ :

समिति, सत्प्रवृत्ति और विशुद्धि-समानार्थक शब्द हैं।[४७] जब तक शरीर का त्याग नहीं होता तब तक जीवन व्यतीत करने के लिए कुछ न कुछ बोलना, खाना, पीना, उठना, बैठना आदि क्रियाएँ करनी ही पड़ती हैं। इसलिए संवर अशक्य है। अतः समिति- सम्यक् प्रकार की प्रवृत्ति - का विधान किया गया है।

## समिति की व्याख्याएँ :

प्राणातिपात जीव-हिंसा से निवृत्त होने को और सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करने को 'समिति' कहते हैं। समिति शब्द जैन-आगम का पारिभाषिक शब्द है।

प्रयत्नपूर्वक आत्मा की सम्यक् प्रवृत्ति (सम्+इ) को समिति कहते हैं। समिति (सम्यक् प्रवृत्ति) का अर्थ है सावधानीपूर्वक कार्य करना। किसी भी प्राणी

को कष्ट (पीड़ा) न हो इस प्रकार की सावधानीपूर्वक जो प्रवृत्ति है उसे 'समिति' कहते हैं।[४८]

दूसरे शब्दों में किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचे - ऐसी यत्नपूर्वक प्रवृत्ति को 'समिति' कहा जाता है[४९] अथवा निश्चय से स्व-स्वरूप में सम्यक् प्रकार से गमन अर्थात् परिणमन 'समिति' है।[५०]

निश्चयनय की अपेक्षा से अनंत ज्ञान आदि स्वभाव से युक्त अपनी आत्मा में 'सम' होना - उत्तम प्रकार से अर्थात् समस्त राग आदि भावों के त्याग द्वारा आत्मा में लीन होना, आत्मा का चिन्तन करना, उसमें तन्मय होना आदि रूप जो अयन (गमन) अर्थात् परिणमन है, वह समिति है।[५१]

गमन आदि कार्यों में जैसी प्रवृत्ति आगम में कही गई है, वैसी प्रवृत्ति करना समिति है।[५२]

समिति के निम्नलिखित पाँच प्रकार हैं : -

(१) ईर्या समिति,
(२) भाषा समिति,
(३) एषणा समिति,
(४) आदान-निक्षेप समिति और
(५) उत्सर्ग समिति।

ये समितियाँ विवेकयुक्त प्रवृत्तिरूप होने से संवर का कारण बनती हैं।[५३] इनका विवेचन इस प्रकार किया गया है -

## (१) ईर्या समिति :

विवेकपूर्वक गमन करने तथा दूसरे जीव को किसी भी प्रकार की पीड़ा न हो इसलिए नीचे देखकर चलने को 'ईर्या समिति' कहा जाता है। जिसमें लोगों का आवागमन होता है और जिस पर सूर्य की किरणें पड़ती हैं, उस मार्ग पर जीवों की रक्षा के लिए, नीचे अच्छी तरह भूमि को देखकर चलना ईर्या समिति कहलाता है।[५४]

जिस प्रकार जैन-धर्म में जीव की रक्षा का उपदेश दिया गया है, उसी प्रकार हिंदू-धर्म में भी ठीक वैसा ही उपदेश दिया गया है। इस संबंध में मनुस्मृति में कहा गया है- हमें चलते समय चींटियों आदि क्षुद्र प्राणियों को पीड़ा न हो इसलिए दिन में या रात में किसी भी समय जमीन की ओर दृष्टि रखकर चलना चाहिए।[५५]

## (२) भाषा समिति :

सत्य, हितकारी, सन्देहरहित (स्पष्ट), नपा-तुला और निरवद्य (निर्दोष) बोलने को या वचन की प्रवृत्ति को 'भाषा समिति' कहते हैं।

हित-अहित का विचार करके उपर्युक्त निर्दोष भाषा बोलना ही श्रेयस्कर है।[५६]

जो भाषा भले ही सत्य हो किन्तु फिर भी यदि उससे अनेक जीवों की हत्या होती हो तो ऐसी भाषा नहीं बोलनी चाहिए। जिसे बोलने से कर्मबंध होता है, ऐसी भाषा भी कभी नहीं बोलनी चाहिए।

हमेशा मधुर, असंदिग्ध, सत्य, कल्याणकारी, हानि-लाभ का पूर्ण विचार करके बोलना चाहिए। इसे ही 'भाषा समिति' कहा गया है।

भाषा सत्य और प्रिय होनी चाहिए, इस संबंध में सर्वत्र एकमत दिखाई देता है। मनुस्मृति में भी यही कहा गया है-

'सत्य बोलना चाहिए, प्रिय बोलना चाहिए, जो सत्य होकर भी अप्रिय हो ऐसा वचन नहीं बोलना चाहिए। दूसरे को खुशी हो इसलिए झूठ भाषण नहीं करना चाहिए- यह सनातन धर्म है।[५७]

दूसरा यदि अपशब्द का प्रयोग करे तो भी हमें उसे मर्मभेदक शब्दों से नहीं दुखाना चाहिए। किसी का भी द्रोह करने की बुद्धि नहीं रखनी चाहिए। परलोक के लिए रुकावट पैदा करने वाली, उद्वेगजनक वाणी को कभी मुख से नहीं निकालना चाहिए।[५८]

पैशुन्य, व्यर्थ हँसना, कठोर वचन, परनिन्दा, स्वयं की प्रशंसा और विकथा आदि वचनों को छोड़कर स्व-पर-हितकारी वचन बोलना 'भाषा समिति' है।[५९]

साधु को अपनी भाषा से - क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, वाचालता (निंदा आदि) तथा अनावश्यक कथन इत्यादि को ध्यानपूर्वक टालना चाहिए। क्योंकि उनसे भाषा दूषित होती है।[६०]

अनिंद्य, सत्य बोलना, सब लोगों के लिए हितकर और परिमित भाषण करना (मर्यादित बोलना) एवं सबको प्रिय हो ऐसी भाषा बोलना 'भाषा समिति' है।[६१]

भाषा समिति की व्याख्याएँ शब्द-भेद से भले ही अलग-अलग लगती हैं, परंतु भावार्थ सब का एक ही है।

### (३) एषणा समिति :

जीवन के लिए आवश्यक निर्दोष साधनों को इकट्ठा करने के लिए सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करना और विधिपूर्वक निर्दोष आहार लेना 'एषणा समिति' है।

अन्न, पान, वस्त्र, रजोहरण आदि धर्म के साधनों को धारण करने वाले साधु को, उनको धारण करने से जो उद्गम, उत्पादन और एषणा दोष लगते हैं, उनका त्याग करना 'एषणा समिति' कहलाता है।[६२]

प्रतिदिन भिक्षा के बयालीस दोषों को त्यागकर मुनि जो निर्दोष अन्न तथा पानी ग्रहण करते हैं, उसे 'एषणा समिति' कहते हैं।[६३]

## (४) आदान-निक्षेप समिति :

सब वस्तुओं को अच्छी तरह से देखकर और रजोहरण से प्रमार्जन करके (जीव-जन्तु देखकर) लेने और रखने की इस प्रवृत्ति को आदान-निक्षेप समिति कहते हैं।

इस समिति के अनुसार आचरण करने वाले मुनियों को ओघ-उपाधि (सामान्य उपकरण) और औपग्रहीत उपाधि (विशेष उपकरण) - दोनों प्रकार के उपकरणों को लेने और रखने का ध्यान रखना चाहिए।

'आदान' का अर्थ है लेना और 'निक्षेप' का अर्थ है रखना। इस समिति के पालन से कर्म की निर्जरा और पुण्य की प्राप्ति होती है। क्योंकि इसमें कोई भी प्रमाद और किसी भी जीव की हिंसा होने की संभावना नहीं है।[६४]

आसन, रजोहरण, पात्र, पुस्तक आदि संयम के उपकरणों का, सम्यक् प्रकार से निरीक्षण कर, उनका प्रमार्जन कर (जीव-जन्तु देखकर), विवेकपूर्वक ग्रहण करना और रखना आदान-निक्षेप समिति है।[६५]

उपर्युक्त व्याख्याएँ शब्द-भेद के कारण अलग-अलग दिखाई देती हैं, परन्तु उनका भावार्थ एक ही है।

## (५) उत्सर्ग (प्रतिष्ठापन) समिति :

एकान्त स्थान, अचित्त स्थान, दूर किसी जगह छेदरहित चौड़ा तथा जहाँ कोई निन्दा और विरोध न करे- ऐसे स्थान पर मूत्र, विष्टा आदि देह का मलक्षेपण करना प्रतिष्ठापना (उत्सर्ग) समिति है। जहाँ छोटे-बड़े किसी भी जीव को बाधा नहीं पहुँचे ऐसी शुद्ध और जन्तुरहित भूमि पर कफ, मल-मूत्र आदि निरुपयोगी वस्तुएँ डालना 'उत्सर्ग समिति' कहलाता है।[६६]

उपर्युक्त पाँच समितियों का अर्थ संक्षेप में इस प्रकार है- अच्छी तरह से गमनागमन करना; उत्तम, हित-मित वचन बोलना; योग्य आहार ग्रहण करना; पदार्थों का यत्नपूर्वक ग्रहण-विसर्जन करना तथा भूमि देखकर त्याज्य वस्तुओं का त्याग करना- इन पाँच समितियों का साधु को बारीकी से आचरण करना चाहिए।

इस प्रकार उक्त पाँच समितियों द्वारा जीव, स्थान आदि विधि को जानने वाले मुनि को, प्राणिमात्र को होने वाली पीड़ा को दूर करने के उपाय जानने चाहिए।[६७]

अहिंसा व्रत के रक्षण के लिए पाँच समितियों का पालन करना अत्यंत आवश्यक है।[६८]

जैसे स्नेह-गुण से युक्त कमलपत्र पानी से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार समिति से युक्त मुनि पाप से लिप्त नहीं होता।[६९]

इस प्रकार समितिपूर्वक प्रवृत्ति करने से, साधु को असंयमरूप परिणाम के निमित्त से जिन कर्मों का आस्रव होता है, उनका संवर हो जाता है।[७०]

## समिति और गुप्ति का महत्त्व :

जैन-धर्म की साधना में समिति और गुप्ति का विशेष स्थान है। क्योंकि समिति और गुप्ति के सम्यक् पालन से साधक संसार-चक्र से शीघ्र मुक्त हो जाता है। इन पाँच समितियों और तीन गुप्तियों को मिलाकर 'आठ प्रवचन-माता' भी कहते हैं।[७१]

समिति और गुप्ति को 'आठ प्रवचन-माता' कहा गया है क्योंकि ये प्रवचनों को जन्म देती हैं। ये प्रवचनों की संरक्षिका भी हैं। प्रवचन अर्थात् श्रुतज्ञान से साधक सम्यक् शिक्षा (उचित ज्ञान) प्राप्त कर मोक्ष की प्राप्ति के लिए समर्थ होता है।

शास्त्र के अनुसार शरीर का जो सम्यक् वर्तन है, उसे समिति कहते हैं। मन, वचन और काया के सम्यक् योग-निग्रह को गुप्ति कहते हैं।

वस्तुतः पाँच समितियाँ चारित्र्य की शुभ प्रवृत्ति के लिए हैं और तीन गुप्तियाँ सभी अशुभ विषयों की निवृत्ति के लिए हैं।[७२]

## दस धर्म :

संवर तत्त्व के सत्तावन भेदों में से, तीन गुप्तियों और पाँच समितियों के विवेचन के बाद दस प्रकार के धर्म आते हैं।

## धर्मों की भूमिका :

गुप्ति में प्रवृत्ति का संपूर्णतः विरोध होता है। जो गुप्ति-पालन में असमर्थ है, उसे सुप्रवृत्ति के सही प्रकार दिखाने के लिए 'एषणा' आदि समितियों के उपदेश हैं। दुष्प्रवृत्ति करने वाले के प्रमाद (दोष)-परिहार के लिए और सावधानता से वर्तन के लिए क्षमा आदि उत्तम धर्मों का उपदेश बताया गया है।[७३]

धर्म के आचरण के विषय में कहा है कि जो जीव धर्म का आचरण किये बिना परलोक में जाता है, वह व्याधि और रोग आदि से पीड़ित होकर अत्यंत दुःखी होता है क्योंकि धर्म के द्वारा मन के कषायों को जीतने के लिए उनके विरोधी गुणों का अभ्यास करवाया जाता है। इस प्रकार धर्म कषाय-विजय का भी कारण है।[७४]

धर्म के दस भेदों को समझने से पूर्व धर्म का महत्त्व क्या है, यह समझना अत्यंत आवश्यक है।

गुणभद्रदेव-विरचित आत्मानुशासन में धर्म का बड़ा महत्त्व बताया गया है। उसमें कहा गया है - 'हे जीव! तू सुख में हो या दुःख में, संसार की इन

दोनों अवस्थाओं में तेरा एकमात्र कार्य धर्म ही होना चाहिए। क्योंकि यदि तू सुख में होगा, तो धर्म तेरे सुख की वृद्धि का कारण होगा और यदि दुःख में होगा, तो धर्म तेरे दुःख के विनाश का कारण होगा।[७५]

## बौद्धों के दस धर्म :

धर्म के दस भेद जैनों के समान ही बौद्ध, ईसाई और हिंदू लोगों ने भी माने हैं। बौद्धों के द्वारा मान्य दस धर्म ये हैं -

(१) अधिकारी व्यक्ति को दान देना, (२) सदाचार की शिक्षा के अनुसार अपना जीवन बिताना, (३) हमेशा सद्विचारों की प्रवृत्ति और प्रगति के बारे में तत्पर रहना, (४) सेवा को अपना ध्येय समझकर हमेशा दूसरों की सेवा करना, (५) अपने माता-पिता और अपने से बड़े लोगों की, उनकी बीमारी में, सेवा-शुश्रूषा करना और हमेशा उनसे आदर से बर्ताव करना, (६) अपने सद्गुणों का लाभ दूसरों को देना, (७) दूसरों के सद्गुणों को स्वयं आत्मसात् करना, (८) सत्य के मार्ग पर चलने वाले का उपदेश सुनना, (९) न्याय मार्ग पर ले जाने वाले ध्येय-वाक्यों का अन्य लोगों को उपदेश देना तथा (१०) धर्म के विषय में अपने विश्वास को हमेशा निर्मल और शुद्ध रखना।

## ईसाइयों के दस धर्म :

(१) तुम अपने लिए बनाई हुई मूर्ति को ईश्वर मत मानो, स्वर्ग में जो निवास करता है उसे या पृथ्वी पर वास करने वाले को ईश्वर मानो। (२) ऐसी बनाई हुई मूर्ति के सामने अपने मस्तक को मत झुकाओ। (३) अपना मालिक जो ईश्वर है, उसके नाम का व्यर्थ जाप मत करो, क्योंकि जो व्यर्थ उसका नाम लेते हैं या उसके नाम का जयघोष करते हैं, उन्हें ईश्वर निरपराधी नहीं समझता। (४) जीवन के पवित्र दिन को ध्यान में रखो। उसे भूलो मत। उस दिन को पवित्र ही रहने दो। छह दिनों तक परिश्रम करो अपना काम पूर्ण करो। सातवाँ दिन निश्चित ही तुम्हारे ईश्वर की दृष्टि से पवित्र है। इस पवित्र दिन तुम कुछ भी काम न करो। तुम स्वयं, तुम्हारे पुत्र-पुत्रियाँ, नौकर, नौकरानी, मौसी, घर पर आए हुए मेहमान आदि को इस दिन काम नहीं करना चाहिए । क्योंकि ईश्वर ने छह दिनों में पूर्णतया स्वर्ग, पृथ्वी, सागर और दूसरी वस्तुओं को निर्माण किया और सातवें दिन विश्राम करके इस को पवित्र किया। (५) अपने माता-पिता का आदर करो। उनको सम्मान दो, ताकि पृथ्वी पर रहने के जो दिन ईश्वर ने बताए हैं, उनमें वृद्धि हो। (६) किसी को निरर्थक मत मारो (किसी की हत्या मत करो)। (७) व्यभिचार मत करो। (८) चोरी मत करो। (९) अपने पड़ोसी के विरुद्ध झूठी गवाही मत दो। (१०) अपने पड़ोसी का घर हड़पने की इच्छा मत करो। उसी प्रकार उसकी पत्नी उसके नौकर, नौकरानी, उसके बैल, गधों और अन्य किसी

भी वस्तु को किसी भी समय छीन लेने की या प्राप्त करने की इच्छा मन में न आने दो।[७६]

## हिन्दुओं के दस धर्म

मनुस्मृति में हिन्दुओं के निम्नलिखित दस धर्म बताये गये हैं।[७७] - (१) धैर्य रखना, (२) सहनशील रहना, (३) मन को वश में रखना, (४) किसी के द्वारा दिए बिना उसकी वस्तु को हाथ न लगना, (५) किसी भी वस्तु या व्यक्ति का ज्यादा लोभ न करना, (६) शरीर की इन्द्रियों को वश में रखना, (७) अपने बुद्धि-चातुर्य का उपयोग करना, (८) अपने ज्ञान की वृद्धि करना, (९) हमेशा सत्य बोलना और (१०) क्रोध न करना।

## जैनों के दस धर्म

जैन-धर्म में दस प्रकार के धर्म बताए गए हैं। वे हैं - (१) क्षमा, (२) मार्दव, (३) आर्जव, (४) शौच, (५) सत्य, (६) संयम, (७) तप, (८) त्याग, (९) अकिंचन और (१०) ब्रह्मचर्य। इनके अर्थ इस प्रकार बताये गये हैं -

१. क्षमा : किसी भी परिस्थिति में मन में क्रोध का भाव उत्पन न होने देना (अर्थात् मन में क्रोध न आने देना)।
२. मार्दव : उच्च जाति, कुल, शक्ति,वैभव, अमीरी, शैक्षणिक पात्रता आदि का कभी अभिमान न करना।
३. आर्जव : हेतुपूर्वक छल, कपट, विश्वासघात, धोखा आदि न करना।
४. शौच : दूसरे के धन-दौलत की इच्छा न करना तथा लोभ, लालच, वासना आदि के अधीन न होना।
५. सत्य : झूठ न बोलना। प्रत्येक के साथ उसके हित की बातें करना, उससे सत्य तथा अच्छी लगने वाली बातें करना।
६. संयम : मन और इन्द्रियों को वश में रखना।
७. तप : अपनी इच्छाओं तथा आवश्कयताओं को न बढ़ने देना। अध्ययन और धर्माध्ययन में स्वयं को लगाना।
८. त्याग : अपने पास जो कुछ है उसका अपनी शक्ति के अनुसार दीन-दुखियों, गरीबों, असहायों तथा निराश्रितों को उपयोग करने देना।
९. अकिंचन : संपत्ति इकट्ठा करके न रखना, क्योंकि वही सब पापों का मूल है।
१०- ब्रह्मचर्य : सब स्त्री-पुरुषों को माता, बहिन तथा भाई के समान समझना।

बौद्ध, ईसाई, जैन और हिन्दुओं ने धर्म के दस भेद ही क्यों माने हैं,यह ऐतिहासिक चर्चा का विषय है।[७८]

इन दस धर्मों का विस्तृत वर्णन इस प्रकार किया गया है-

**(१) क्षमा :** क्षमा, तितिक्षा, सहिष्णुता और क्रोध-निग्रह समानार्थक शब्द हैं। क्षमा होगी तभी धर्म रहेगा। इसलिए कहा गया है-क्षमायां स्थाप्यते धर्मः। अर्थात् धर्म का निवासस्थान क्षमा है।[७९]

दूसरों के घर भिक्षा के लिए जाते समय भिक्षु को, दुष्ट लोगों द्वारा गालियाँ, हँसी-मजाक, अवज्ञा, ताडना (फटकारना), शरीर-छेदन आदि क्रोध के असह्य निमित्त मिलने पर भी, स्वयं का मन कलुषित न होने देना ही उत्तम क्षमा है।[८०]

क्षमा के बारे में हुक्म मुनि ने 'अध्यात्मप्रकरण' में लिखा है कि समभाव से गाली सहन करने वाले को छियासाठ करोड़ उपवासों का फल मिलता है।[८१]

क्रोध-उत्पादक परिस्थति में भी मन को कलुषित होने से, क्षमा के द्वारा बचाया जाता है। कारण के होने पर भी मन को कलुषित न होने देना क्षमा है। क्रोध के कारण के होने पर भी क्रोध उत्पन्न न होने देना ही उत्तम क्षमा-धर्म है।[८२]

मनुष्य दूसरे पर सत्ता स्थापित करने के हिए क्रोध की शरण लेता है। परन्तु उस बेचारे को यह मालूम नहीं होता कि सत्ता क्रोध के प्रताप से प्राप्त नहीं होती, वह स्वयं के पूर्वजन्म के पुण्य से ही प्राप्त होती है। क्रोध के कारण आत्मा में क्रूरता उत्पन्न होती है। यह क्रूरता मनुष्य से, हिंसक जानवर को भी लज्जित करने वाला कार्य करवा लेती है।[८३]

उत्तम क्षमा आदि में एक संवररूपी धर्मभाव दिखाई देता है।[८४] क्षमा के लिए कुरगडूक मुनि का उदाहरण सर्वश्रेष्ठ है।[८५]

पागल कुत्ता मुनष्य को केवल एक ही बार कष्ट देता है। एक ही बार मृत्यु देता है, परन्तु क्रोध, लाभ आदि का विष मनुष्य को जीवन भर कष्ट देता है। इतना ही नहीं, अनेक बार जन्म-मरण भी करवाता है।[८६]

कुरल काव्य में श्रीएलाचार्य जी ने क्षमा के संबंध में कहा है- उपवास करके तपश्चर्या करने वाले सचमुच महान् हैं। परन्तु उनका स्थान उन लोगों के बाद ही है, जो अपनी निन्दा करने वालों को भी क्षमा कर देते है।[८७]

## क्षमा के विषय में विद्वानों के विचार :

क्षमा धर्म है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा वेद है और क्षमा शास्त्र है। जो इस बात को समझता है, वह सभी को क्षमा करने योग्य हो जाता है।[८८]

क्षमा ब्रह्म है, क्षमा सत्य है, क्षमा भूत है, क्षमा भविष्य है, क्षमा तप है और क्षमा पवित्रता है। क्षमा से संपूर्ण जगत व्याप्त है।[८९]

क्षमा तेजस्वी पुरुषों का तेज है। तपस्वियों का ब्रह्म है। क्षमा सत्यवादी पुरुषों का सत्य है। क्षमा यज्ञ है और मनोनिग्रह है।[९०]

**(२) मार्दव** : संवर के दस धर्मों में दूसरा धर्म मार्दव है। मार्दव अर्थात् बड़ों को मान देना। बड़ों के सामने नम्रता धारण कर उद्दण्डता का व्यहार न करना मार्दव-धर्म का लक्षण है।[९१]

नम्र वृत्ति रखना और गर्व न करना भी मार्दव का लक्षण है -[९२]
मृदोर्भावःमार्दवम् तथा मृदोः कर्म मार्दवम्।

इसका अर्थ है - जाति, कुल, रूप आदि का गर्व न करना (मद, मान और कषाय का त्याग करना) मार्दव है।

मृदु-भाव, कोमलता, मृदु-कर्म या नम्र व्यहार को मार्दव कहते है। इसका तात्पर्य है - मद का निग्रह या मान कषाय का विनाश । इसे ही मान कषाय का अभाव या धर्म कहा जाता है।[९३]

मार्दव अर्थात् विनय । कहा गया है की विनय जैन-धर्म का मूल है। विनय ही मुक्ति-पथ की सहायिका है। जो विनयशील नहीं है, वह स्वयं पर सयंम नहीं रख सकता और तपस्या भी नहीं कर सकता।[९४]

विनय के कारण ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। सम्यक्त्व से चारित्र्य की प्राप्ति होती है। चारित्र्य से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार विनय के कारण क्रमशः उत्तमोत्तम गुणों की प्राप्ति होती है और अंत में मोक्ष प्राप्त होता है।[९५]

विनय के बारे में कहा गया है कि अविनीतों को विपत्ति प्राप्त होती है और विनीत साधक को संपत्ति प्राप्त होती है।[९६]

जिनमें नम्रता है, उनके सामने विश्व झुक जाता है। जिनके मन में गर्व है, उनका सभी तिरस्कार करते हैं। प्रकृति का यही क्रम है। जो सब से छोटा बनता है, वही बड़ा बन सकता है और निसर्ग भी उसके सामने नम्र हो जाता है।

फल लगने पर जिस प्रकार पेड़ झुक जाता है, उसी तरह मनुष्य को भी धन, वैभव या ज्ञान से संपन्न होने पर अधिक नम्र होना चाहिए। मनुष्य जैसे-जैसे धर्म को प्राप्त करता जाता है, वैसे-वैसे वह अधिक नम्र बनाता जाता है। धर्म को जानने पर भी यदि कोई नम्र बनने के बजाय अभिमानी बन जाय,

तो समझना चाहिए कि उसने ठीक प्रकार से धर्म को नहीं समझा । घर जितना ऊँचा बनाना है, उतनी ही उसकी बुनियाद गहरी होनी चाहिए। इसी प्रकार जीवन को जितना ऊँचा बनाना है, उतना ही नम्र होना चाहिए।[97]

संत तुकाराम महाराज ने नम्रता का महत्त्वपूर्ण दृष्टान्त दिया है। वे कहते हैं- बड़ी बाढ़ में वृक्ष बह जाते हैं लेकिन कोमल घास बनी रहती है' - महापुरे झाड़े जाती तेथे लव्हाजे वाचती ।

ऑगस्टाइन कहता है-

**"Should you ask me, what is the first thing in religion? I should reply, the first, second and third thing therein — nay, all — is humility."**

स्वयं का हित चाहने वाले को विनय में स्थिर रहना चाहिए।[98]

**(३) आर्जव** : मन, वचन और काया में कुटिलता न होना ही आर्जव अर्थात् सरलता है। भाव-विशुद्धि और सरलता-आर्जव के लक्षण हैं। ऋजुभाव या ऋजुकर्म को भी आर्जव कहते हैं।

जो शुभ विचार रखता है, दुष्ट भाव या मायाचारी (कपटी) परिणामों को छोड़कर शुद्ध मन से चारित्र्य का पालन करता है, वह आर्जव धर्म का आचरण करता है।

योग का वक्र न होना आर्जव है। जिस प्रकार रस्सी के दोनों सिरों को खींचने पर वह सीधी हो जाती है, उसी प्रकार मन से कपट दूर होने पर मन सरल बनता है। अर्थात् मन की सरलता का ही नाम आर्जव है।

जो विचार मन में होते हैं, वे ही वचनों के द्वारा प्रकट होते है और वे ही सफल होते हैं। अर्थात् शरीर का भी उन्हीं के अनुसार कार्य होता है। यही आर्जव धर्म है। इसके विरुद्ध दूसरों को फँसाना अधर्म है। ये दोनों क्रमशः देवगति और नरकगति के कारण हैं।

जो मुनि दुष्ट विचार और कार्य नहीं करते, बुरी बातें नहीं बोलते साथ ही अपने दोष छिपाकर नहीं रखते, वे ही आर्जव-धर्म का आचरण करते हैं। क्योंकि मन, वचन और काया की सरलता का नाम आर्जव हैं।[99]

जिसमें आर्जव-गुण होता है, उसी में धर्म स्थिर रहता है। जो सरल मन से युक्त होता है, उसी को शुद्धि प्राप्त होती है, और जो शुद्ध होता है, उसी में धर्म रहता है। जो धर्मयुक्त आत्मा है उसे घी से युक्त अग्नि के समान परम निर्वाण (विशुद्ध आत्मदीप्ति) की प्राप्ति होती है।[100]

**(४) शौच** : शौच का अर्थ अलुब्धता है। लोभ कषाय का त्याग या लोभरहित प्रवृत्ति-शौच धर्म का लक्षण है । भाषिक दृष्टि से शौच शब्द का अर्थ शुचिभाव या

शुचिकर्म होता है। अर्थात् भावों की विशुद्धि, कल्मषता का अभाव और धर्म की साधना में भी आसक्ति न होना शौच धर्म है। लोभरूप मलिनता के अभाव को ही शौच-धर्म कहते हैं।[१०१]

शौच-धर्म आत्म-परिणाम की मलिनता दूर करने से होता है। शारीरिक मलिनता का अभाव गौण है। सन्तोष में ही सुख है- संतोषः परमं सुखम्। धर्म की साधना के विषय में और शरीर में भी आसक्ति न रखने, जैसी निर्लोभता को शौच कहते हैं। दुर्भावनाओं से दूर रहना और लोभ आदि का त्याग करना ही शौच है। दूसरे शब्दों में आत्यन्तिक लोभ की निवृत्ति को शौच कहते हैं।[१०२]

**(५) सत्य :** सत्-प्रशस्त पदार्थ को प्रवृत्त करने वाले और सज्जनों के लिए हितकारक वचन को सत्य कहते हैं।

जो अनृत अर्थात् मिथ्या नहीं है; परुषता, रूक्षता तथा कठोरता से रहित है; दोषरूप भी नहीं है; असभ्यता का द्योतक नहीं है; चपलतारहित है तथा मलिनता और कलुषता का सूचक नहीं है-वही सत्य है।[१०३]

सत्य से बढ़कर दूसरा कोई भी धर्म श्रेष्ठ नहीं है- सत्यान्नास्ति परो धर्मः। सत्य को स्वर्ग का सोपान भी कहा गया है- 'सत्यं स्वर्गस्य सोपनम्'। प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा गया है- 'सच्चं खु भगवं' अर्थात् सत्य ही परमेश्वर है।

प्रश्नव्याकरणसूत्र में यह भी कहा गया है कि सत्य जगत् में सारभूत है। वह महासमुद्र से भी अधिक गंभीर है। मेरु पर्वत से भी अधिक स्थिर है। चन्द्रमण्डल से भी अधिक सौम्य है तथा सूर्यमण्डल से भी अधिक तेजस्वी है।[१०४]

हित, मित और यथार्थ वचनों का उपयोग करना सत्य नामक यतिधर्म है। और अनृत, परुषता, कुटिलता, आदि से रहित वचन ही उत्तम सत्य हैं।[१०५]

सत्य की उपासना करने वाले के केवल विचार और उच्चार ही सत्य नहीं होते, उनका आचार भी सत्य तथा सम्यक् होता है। इमर्सन ने कहा है -

"The greatest homage we pay to truth is to use it."

अर्थात् सत्य को अपने जीवन में उतारना (सत्याचरण करना) ही सत्य का सर्वोच्च सम्मान है । ठाणांगसूत्र के चौथै ठाणे में चार प्रकार के सत्य बताये गये हैं- 'चउव्विहे सच्चे पण्णत्ते तं जहा- काउज्जुयया, मासुज्जुयया, भावज्जुयया अविसंवायणाजोगे।' अर्थात् काया की ऋजुता भाषा की ऋजुता भावनाओं की ऋजुता और इन तीनों योगों की अविसंवादिता - ये सत्य के चार भेद हैं।

सत्य मानव-हृदय में रहने वाली ईश्वर की मूर्ति ही है। जिसे सत्य ज्ञात हो गया उसे ईश्वर के सारे आशीर्वाद प्राप्त हो गये ऐसा समझना चाहिए। सत्य के बिना मनुष्य अंधा है। सत्य ही मानव का हृदय-चक्षु है।

सॉक्रेटिस के शिष्य प्लेटो ने कहा है-

"There is nothing so delightful as the hearing or the speaking of the truth."

अर्थात् सत्यवचन सुनने और बोलने से अधिक आनंद देने वाला कुछ भी नहीं है।[१०६]

जिस प्रकार शरीर में प्राणों का मूल्य सर्वाधिक है । उसी प्रकार समस्त सद्गुणों में सत्य सबसे अधिक मूल्यवान है। सत्य के अभाव में मनुष्य की अवस्था प्राणशून्य शरीर के समान होती है। आत्मा को सच्चिदानंद कहा जाता है, परन्तु आत्मा का आनन्द तो सत्य ही है और संपूर्ण समाज ही सत्य पर आधारित है।[१०७]

**(६) संयम** : मन, वचन और काया के कर्म को 'योग' कहते हैं । इस योग के निग्रह को संयम कहते हैं। मन वचन और काया के अधीन न होना अपितु उन्हें अपने अधीन रखना 'संयम-धर्म' है। हिंसा आदि अवद्य कर्मों या इन्द्रियों के विषयों से मन, वचन और काया को उपरत (उदासीन) रखना ही संयम धर्म है। उमास्वतिजी ने संयम के सत्रह प्रकार बताये हैं।[१०८]

संयम का अर्थ है- सम्यक् प्रकार से, यमों (नियमों) का पालन करना। जो मनुष्य सम्यक् प्रकार से यमों का पालन करता है, उसे यम का भी भय नहीं रहता।

जैसा कि विश्वसंत महासती श्री उज्ज्वल कुमारीजी ने अपने प्रवचन में कहा है -

*यमाः संयमिताः येन यमः तस्य करोति किम्?*

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह- ये पाँच व्रत बताये गये हैं। इन पाँच व्रतों को जैन-आगम में 'पंच महाव्रत' कहा गया है। बौद्ध-धर्म में इन्हें 'पंचशील' कहा गया है। वैदिक धर्म में इन्हें 'पंच यम' कहा गया है। इंद्रिय-विजय और प्राणि-रक्षा करना भी 'संयम' ही है।

सम्यक् प्रकार से नियमों का पालन करना, अर्थात् व्रत समिति, गुप्ति आदि रूपों से आचरण करना या विशुद्ध आत्म-ध्यान में मग्न रहना ही संयम है।

संयम का अर्थ है- आत्म-नियंत्रण और आत्मनियंत्रण ही जीवन है। जीवन की कला जानने के लिए मन एकाग्र करके 'संयम : एक चिन्तन' विषय का अभ्यास करना चाहिए।[१०९]

**(७) तप** : 'इच्छानिरोधः तपः' अर्थात् इच्छा का निरोध करना 'तप' है। मन की आशा और तृष्णा को रोकना 'तप' है। मलिन प्रवृत्ति का निर्मूलन करने के लिए तथा बल की प्राप्ति के लिए जो आत्मदमन किया जाता है, उसे तप कहते हैं। तप बारह प्रकार के हैं। उनका विस्तृत वर्णन 'निर्जरा' तत्त्व में किया जायेगा।[११०]

कर्मों का क्षय करने के लिए अनशन आदि करना तपोधर्म है। मनुष्य तप के द्वारा विश्व को जीत सकता है। तप की महिमा अनेक उपनिषदों, बौद्ध-ग्रंथों, वैदिक ग्रंथों तथा जैन-ग्रंथों में बतायी गयी है।

तप रूपी तेजस्वी शक्ति के द्वारा मनुष्य संसार में विजयश्री और समृद्धि प्राप्त कर सकता है।[१११]

(८) **त्याग** : चेतन और अचेतन को छोड़ना 'त्याग-धर्म' है। सुपात्र को दान आदि देना परिग्रह-त्याग है। रोगी को दवाई देना, शक्ति के अनुसार भूखे को अन्न देना, प्रणिमात्र को अभय देना, तथा समाज के उद्धार (कल्याण) के लिए तन-धन आदि का त्याग करना भी त्याग है।[११२]

निर्ममत्व को त्याग कहा गया है। धर्म की बुनियाद (नींव) त्याग है। त्याग के बिना सुख नहीं है।[११३]

(६) **अकिंचन्य** : शरीर और धर्मोपकरण (पात्र, रजोहरण आदि) के लिए भी ममत्व के भाव नहीं होने चाहिए। इसे 'अकिंचन्य धर्म' कहते हैं।[११४]

सर्वार्थसिद्धि में पूज्यपादाचार्यजी ने कहा है - 'अभिप्राय का त्याग करना अकिंचन्य है।' नास्ति मे किंह्चन् मेरा कुछ भी नहीं है ऐसी भावना 'अकिंचन्य' है।

संपूर्ण परिग्रह का त्याग करना अकिंचन्य धर्म है। शरीर आदि में मोह की निवृत्ति के लिए 'मम इदम्' - यह मेरा है - इस प्रकार की भावना रखना 'अकिंचन्य' है।[११५]

(१०) **ब्रह्मचर्य** : अध्यात्म-मार्ग में ब्रह्मचर्य का सर्वप्रथम स्थान है, क्योंकि ब्रह्म में रम जाना ही वास्तविक ब्रह्मचर्य है। यह ब्रह्मचर्य अणुव्रत और महाव्रत दोनों रूपों में स्वीकारा जाता है। ब्रह्मचर्य का पालन मानव-जीवन के लिए श्रेयस्कर है।

जीव ब्रह्म है। आत्मध्यान में जो मुनि रम जाता है, वही ब्रह्मचर्य का आचरण करता है।[११६]

'ब्रह्म' शब्द का अर्थ निर्मल ज्ञानस्वरूप आत्मा है। ऐसी आत्मा में लीन होना ब्रह्मचर्य है। जिस मुनि का मन अपने शरीर के लिए भी निर्ममत्वरूप है, वही ब्रह्मचर्य-धर्म का पालन कर सकता है।[११७]

ब्रह्म वेदाः तदध्ययनार्थं व्रतं अपि ब्रह्म। तत् चरतीति ब्रह्मचारी। ब्रह्मचारिणः भावः ब्रह्मचर्यम्।

ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले को हिंसा आदि दोष नहीं लगते। नित्य गुरुकुलवास के कारण गुणसम्पदा अपने आप मिलती है। स्त्री-विलास, विभ्रम आदि के अधीन हुआ प्राणी पाप का शिकार बनता है। संसार में अजितेन्द्रियता बड़ा अपमान करती है।[११८]

दोष आदि का नाश करने के लिए ज्ञान आदि सद्गुणों का अभ्यास करना, गुरु की अधीनता में रहना तथा ब्रह्म (गुरुकुल) में चर्य निवास करना ब्रह्मचर्य है।[११९]

व्रत-पालन के लिए, ज्ञान की सिद्धि या वृद्धि के लिए अथवा कषाय नष्ट करने के लिए गुरु के सान्निध्य में रहने को ब्रह्मचर्य कहते हैं।

प्रश्नव्याकरणसूत्र में ब्रह्मचर्य की उपमा भगवान् से दी गई है[१२०]- 'तं बंभं भगवंतम्।'

ब्रह्मचर्य की महिमा अत्यधिक है। जो ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करता, उसकी आयु, तेज, बल, वीर्य, बुद्धि, शोभा, लक्ष्मी, यश और पुण्य नष्ट हो जाते हैं। वह परमात्मा को प्रिय नहीं रहता।[१२१]

केवल एक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने से समस्त व्रत-नियमों का पालन हो जाता है।[१२२]

कुछ लोग ब्रह्मचर्य का अर्थ मात्र जननेन्द्रिय पर संयम रखना समझते हैं परंतु महावीर और महात्मा गांधी के मतानुसार सभी इन्द्रियों और सम्पूर्ण विकारों पर अधिकार प्राप्त करना ही असली ब्रह्मचर्य है।[१२३]

ब्रह्मचर्य सब व्रतों का मुकुटमणि है। वह सब धर्मों का मूल है। प्राचीन शास्त्रों में 'ब्रह्म' शब्द के मुख्य तीन अर्थ बताए गये हैं- वीर्य, आत्मा और विद्या। 'चर्य' शब्द के भी तीन अर्थ हैं - रक्षण, रमण और अध्ययन। इस दृष्टि से ब्रह्मचर्य के ये तीन अर्थ होते हैं -
(१) वीर्यरक्षण, (२) आत्मरक्षण और (३) विद्याध्ययन।

वीर्यरक्षण का अर्थ तो प्रसिद्ध ही है। शेष दो अर्थ विचारणीय हैं। आत्म-स्वरूप में लीन होना और हमेशा ज्ञानार्जन करते रहना भी ब्रह्मचर्य की साधना है। इसलिए ब्रह्मचर्य, विकारों का उपशमन और आत्मरक्षण करना है।[१२४]

आचार्य पतंजलि ने योगदर्शन में कहा है कि जब साधक में ब्रह्मचर्य की पूर्णतः दृढ़स्थिति होती है, तब उसके मन, बुद्धि, इन्द्रियों और शरीर में एक अपूर्व शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। सामान्य मनुष्य उसकी बराबरी नहीं कर सकता।[१२५]

काम-विकार का चिन्तन और स्मरण करने से ही मनुष्य उस विषय-विकार की ओर आकृष्ट होता है अर्थात् आसक्त होता है।[१२६]

## बारह अनुप्रेक्षाएँ

संवर तत्त्व के सत्तावन (५७) भेदों में से तीन गुप्तियों, पाँच समितियों तथा दस धर्मों के विवेचन के बाद बारह अनुप्रेक्षाओं का क्रम है।

अनुप्रेक्षा (अनु+प्र+ईक्ष्) का अर्थ है - भावना अर्थात् बार-बार चिन्तन करना तथा गहराई में जाकर विचार करना। गहरे और तात्त्विक चिन्तन से राग,

द्वेष आदि वृत्तियाँ रुक जाती हैं। इसलिए ऐसे चिन्तन का संवर के उपायों में वर्णन किया गया है।[१२७]

मोक्ष-मार्ग पर वैराग्य की वृद्धि के लिए बारह अनुप्रेक्षाओं का जैनागम में किया गया कथन प्रसिद्ध ही है। इन बारह अनुप्रेक्षाओं को बारह वैराग्य भावनाएँ भी कहते हैं।

कर्म-निर्जरा के लिए अस्थिमज्जानुगत अर्थात् पूर्ण रूप से हृदयंगम हुए श्रुतज्ञान का परिशीलन करना 'अनुप्रेक्षा' है।

सुने हुए अर्थ का श्रुतानुसार चिन्तन करना 'अनुप्रेक्षा' है।[१२८]

शरीर आदि के स्वभाव का बार-बार चिन्तन करना, साथ ही जाने हुए अर्थ का मन में चिन्तन करना, 'अनुप्रेक्षा' है।[१२९]

जिन विषयों का ज्ञान जीवन-शुद्धि के लिए विशेष उपयोगी है ऐसे बारह विषयों के चिन्तन को 'बारह अनुप्रेक्षा' की संज्ञा दी गयी है। बारह अनुप्रेक्षायें ये हैं -

| | | |
|---|---|---|
| (१) अनित्यानुप्रेक्षा | (५) अन्यत्वानुप्रेक्षा | (९) निर्जरानुप्रेक्षा |
| (२) अशरणानुप्रेक्षा | (६) अशुचित्वानुप्रेक्षा | (१०) लोकानुप्रेक्षा |
| (३) संसारानुप्रेक्षा | (७) आस्रवानुप्रेक्षा | (११) बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा एवं |
| (४) एकत्वानुप्रेक्षा | (८) संवरानुप्रेक्षा | (१२) धर्मस्वाख्याततत्त्वानुप्रेक्षा।[१३०] |

## (१) अनित्यानुप्रेक्षा

किसी भी प्राप्त वस्तु के वियोग से दुःख न हो इसलिए आसक्ति को कम करना चाहिए। आसक्ति को कम करने के लिए 'संसार के समस्त पदार्थ - धन, यौवन, जीवन आदि - इन्द्रधनुष, बिजली या पानी के बुलबुले के समान क्षणभंगुर हैं', ऐसा चिन्तन करना ही अनित्यानुप्रेक्षा है। इस संसार के सभी पदार्थ अनित्य हैं। प्रातःकाल निसर्ग का जो स्वरूप दिखाई देता है, वह मध्यान्ह में नहीं दिखाई देता और मध्यान्ह के समय जो स्वरूप दिखाई देता है, वह रात में नहीं दिखाई देता।[१३१]

शरीर, जीवन धारण करने वाले समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि का आधार है। परंतु वह भी प्रचण्ड वायु से छिन्न-भिन्न किये गये बादलों के समान नश्वर है।

लक्ष्मी सागर की लहरों के समान चंचल है। प्रियजनों का संयोग स्वप्न के समान क्षणिक है और यौवन वायु द्वारा उड़ाये जाने वाले (कपास के) तंतुओं के समान अस्थिर है।

इस प्रकार से स्थिर चित्त से, प्रत्येक क्षण, तृष्णारूपी काले भुजंग का नाश करने वाले निर्ममत्व भाव को जाग्रत करने के लिए, संसार में दिखाई देने वाले अनित्य स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए।[१३२]

## (२) अशरणानुप्रेक्षा

जिस प्रकार निर्जन वन में भूखे सिंह द्वारा पकड़े गए मृगशावक का कोई त्राता नहीं होता, उसी प्रकार इस संसार में अन्ततः व्यक्ति का कोई भी रक्षण करने वाला नहीं होता। 'स्वयं द्वारा पालित-पोषित स्वयं का शरीर भी दुःख का कारण बन जाता है। पास के रिश्तेदार भी मृत्यु से हमारा रक्षण नहीं कर सकते। अगर सद्भावनापूर्वक धर्म का पालन किया जाये तो वही संकट से हमें बचा सकता है' - इस प्रकार का चिन्तन 'अशरणानुप्रेक्षा' है।[१३३]

## (३) संसारानुप्रेक्षा

यह संसार हर्ष-विषाद, सुख-दुःख जैसे द्वन्द्वों का उपवन है। ऐसे संसार के स्वरूप का चिन्तन करना 'संसारानुप्रेक्षा' है।[१३४]

जीव चार गतियों में दुःख भोगता रहता है और पाँच प्रकार से परिभ्रमण करता है, परन्तु कभी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। यह संसार साररहित (दुःखरूप) है। इसमें थोड़ा सा भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता।[१३५]

भव-भवान्तर में भ्रमण करने वाला यह जीव कर्म के बंध के कारण, किराये की झोंपड़ी की तरह, किस योनि में प्रवेश नहीं करता और किस योनि का त्याग नहीं करता। वह संसार की सब योनियों में जन्म लेता है और मरता है।[१३६]

## (४) एकत्वानुप्रेक्षा

संसार में जन्म, व्याधि, जरा, मृत्यु आदि स्वयं को ही भोगने पड़ते हैं, इसमें कोई रिश्तेदार भागीदार नहीं होता- इस प्रकार का चिन्तन 'एकत्वानुप्रेक्षा' है।

जीव अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही मरता है भव-भवान्तर में संचित कर्म को अकेला ही भोगता रहता है। एक जीव द्वारा पापाचरण से जो सम्पत्ति प्राप्त की जाती है, उसे सारे रिश्तेदार मिलकर भोगते हैं। परंतु वह पापाचारी अपने पाप कर्मों के परिणामस्वरूप नरक में अकेला ही दुःख भोगता है।[१३७]

'वाल्या' नामक लुटेरे की पत्नी और बच्चों ने उसके पापकर्म में हिस्सेदार होने से इन्कार कर दिया था, यह सर्वश्रुत ही है। इससे 'एकत्वानुप्रेक्षा' की कल्पना अधिक स्पष्ट होती है।

## (५) अन्यत्वानुप्रेक्षा

शरीर से आत्मा अलग है, ऐसा चिन्तन करना 'अन्यत्वानुप्रेक्षा' है।

शरीर रूपी है और आत्मा अरूपी है। शरीर जड़ है और आत्मा चेतन है। शरीर अनित्य है और आत्मा नित्य है। शरीर नये जन्म के साथ नहीं रहता

है और आत्मा नये जन्म के साथ भी रहता है। इस प्रकार जहाँ शरीरी और अशरीरी (आत्मा) में अन्तर स्पष्टतः प्रतीत होता है, वहाँ धन और बंधु-बांधवों की भिन्नता बताना या समझाना बिलकुल कठिन नहीं है।[१३८]

## (६) अशुचित्वानुप्रेक्षा

शरीर अपवित्रता, दुर्गन्ध, मलिनता और मांसादि से भरा हुआ है - ऐसा चिन्तन करना 'अशुचित्वानुप्रेक्षा' है।

इस देह के नौ द्वारों से सदैव दुर्गंध से युक्त रस निकलता रहता है और उस रस से देह लिप्त रहती है। ऐसी अपवित्र देह में पवित्रता की कल्पना करना अत्यधिक मोह की विडंबना ही है।[१३९]

## (७) आस्रवानुप्रेक्षा

मिथ्यात्व आदि भावना से कर्म का आस्रव होता है। आस्रव ही संसार का मूल कारण है, ऐसा चिन्तन करना ही 'आस्रवानुप्रेक्षा' है।

मन, वचन और काया के व्यापार को 'योग' कहते हैं। योग द्वारा जीव में शुभ और अशुभ कर्मों का आगमन होता है, इसलिए योग को आस्रव कहते हैं।[१४०]

## (८) संवरानुप्रेक्षा

आत्मा में नये कर्मों का प्रवेश न होने देना 'संवर' है। संवर से जीव का कल्याण होता है। संवर के स्वरूप का और गुणों का चिन्तन करना 'संवरानुप्रेक्षा' है।

सम्यक् दर्शन द्वारा मिथ्यात्व को जीतना चाहिए। साथ ही शुभ भावना में चित्त को स्थिर करके आर्त-रौद्र ध्यान को जीतना चाहिए। किस आस्रव का किस उपाय से निरोध किया जा सकता है, बार-बार इस प्रकार का चिन्तन करना 'संवर भावना' है।[१४१]

## (९) निर्जरानुप्रेक्षा

निर्जरा के स्वरूप और गुणों का चिन्तन करना 'निर्जरानुप्रेक्षा' है, केवल कर्म की निर्जरा के लिए जो तपश्चरण आदि क्रियाएँ की जाती हैं, उन क्रियाओं से होने वाली निर्जरा 'सकाम निर्जरा' है । यह निर्जरा सम्यक् दृष्टि वाले जीवों को ही प्राप्त होती है। सम्यक्त्व से भिन्न एकेन्द्रिय आदि अन्य प्राणियों के कर्मों की निर्जरा करने की अभिलाषा के अलावा भूख, प्यास आदि कष्टों को सहन करने से जो निर्जरा होती है, उसे 'अकाम निर्जरा' कहते हैं। प्रत्येक संसारी जीव

प्रतिक्षण अकाम निर्जरा करता रहता है। परंतु सकाम निर्जरा तो केवल ज्ञानयुक्त तपस्या करने पर ही होती है।[१४२]

## (१०) लोकानुप्रेक्षा

त्रिलोक के आकार का चिन्तन करना 'लोकानुप्रेक्षा' है। इस लोक को किसी ने तैयार नहीं किया है और न ही धारण किया है। यह अनादि काल से स्वयंसिद्ध है यह किसी पर आधारित नहीं है, अपितु अवकाश में स्थित है। लोक तीन हैं - अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। अधोलोक में सात नरकभूमियाँ हैं। उन नरक-भूमियों को बर्फ, घन वायु और विरल वायु ने घेर रखा है। ये तीनों इतने प्रबल हैं कि पृथ्वी को धारण करने में समर्थ हैं।[१४३]

## (११) बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा

रत्नत्रयरूप बोध की प्राप्ति अत्यन्त कठिन है यह चिन्तन करना 'बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा' है। विशेष पुण्योदय से धर्माभिलाषारूप श्रद्धा, धर्मोपदेशक गुरु और धर्मश्रवण की प्राप्ति होती है। परंतु यह सब प्राप्त होने पर भी तत्त्वनिश्चयरूप सम्यक्त्व बोधिरत्न की प्राप्ति होना अत्यंत कठिन है।[१४४]

## (१२) धर्मस्वाख्यात तत्त्वानुप्रेक्षा

तीर्थंकरों द्वारा बताया गया (लक्षणयुक्त) अहिंसा धर्म ही जीव का कल्याण करने वाला है, ऐसा चिन्तन करना 'धर्मास्वाख्यात-तत्त्वानुप्रेक्षा' है।

धर्म के प्रभाव से कल्पवृक्ष, चिन्तामणि आदि मनोनुकूल फल देते हैं। परंतु अधर्मी लोगों को फल मिलना तो दूर, वह देखने को भी नहीं मिलता। इस संसार में जिनका कोई बंधु नहीं है, उनका बन्धु धर्म है। जिनका कोई मित्र नहीं उनका मित्र धर्म है। जो अनाथ हैं, धर्म उनका रक्षणकर्ता है। धर्म ही संपूर्ण विश्व का एकमात्र रक्षक है। जो धर्म की शरण में पहुँच गये हैं; राक्षस, यक्ष, अजगर, व्याघ्र, सर्प, अग्नि और विष आदि उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते।

धर्म प्राणिमात्र को नरक-पाताल में गिरने से बचाता है और सर्वज्ञों को अनुपमेय वैभव प्रदान करता है। अर्थात् धर्म अनर्थों से बचाता है और इष्ट अर्थ की प्राप्ति कराता है।[१४५]

बारह भावनाओं का अधिक विस्तृत वर्णन- कुन्दकुन्दाचार्य के द्वादशानुप्रेक्षा, पण्डित दौलतरामजी के 'छहढाला' (पाँचवीं ढाल), और भारतभूषण पं- मुनिश्रीरतनचन्द्रजी म- के गुजराती भाषा में लिखित 'भावनाशतक', सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र, सिद्धसेनगणिकृत स्वोपज्ञभाष्य, भट्टाकलंकदेव के तत्त्वार्थराजवार्तिक आदि- अनेक ग्रंथों में मिलता है।

जो मुमुक्षु उपर्युक्त बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन और मनन करता है, वह मन और इंद्रियों पर विजय प्राप्त कर आत्मा में स्वानुभव करने लगता है। इस प्रकार ऐसा मुमुक्षु पवित्र यश और वचन को धारण कर अन्त में सम्यक् दर्शन आदि उत्कृष्ट गुणों द्वारा निर्वाण पद प्राप्त करता है।

भूतकाल में जो श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध पुरुष हुए हैं तथा जो आगे होंगे, उन्होंने इन्हीं भावनाओं का चिन्तन किया है और आगे भी करेंगे। इससे भी इन भावनाओं का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।[१४६]

इन बारह भावनाओं के सतत् अध्ययन से व्यक्ति के हृदय में स्थित कषायरूपी अग्नि बुझ जाती है। साथ ही पर-द्रव्य के विषय में होने वाली आसक्ति नहीं रहती और अज्ञानरूपी अंधकार नष्ट होकर ज्ञानरूपी दीप का प्रकाश फैलता है।[१४७]

ज्ञानी पुरुषों को इन बारह अनुप्रेक्षाओं का बार-बार चिन्तन करना चाहिए क्योंकि इस चिन्तन से कर्मक्षय होता है।[१४८]

इस प्रकार बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करने से साधक प्रमादरहित होता है और उससे महान् संवर होता है।

## बाईस परीषहजय

सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास आदि से बाधा पहुँचने पर भी दुःखी न होना अथवा ध्यान से विचलित न होना 'परीषहजय' है। पूर्ण तथा दृढ़ वैराग्य भावना होने पर साधक विचलित नहीं होता।

दुःख प्राप्त होने पर भी दुःखी न होना 'परीषहजय' है।[१४९] कड़ी भूख, प्यास आदि वेदनाएँ शांत भाव से सहन करना भी 'परीषहजय' कहलाता है।[१५०]

परीषहों पर विजय प्राप्त करना 'परीषहजय' है। क्षुधा आदि वेदनाएँ होने पर भी कर्म-निर्जरा के लिए दुःख सहन करना परीषहजय है।[१५१]

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र्य - इस रत्नत्रयरूप मोक्ष-मार्ग से विभक्त (दूर या च्युत) न होना और कर्म की निर्जरा के लिए दुःख सहन करना - 'परीषहजय' कहलाता है।[१५२]

क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण (गर्म), दंशमशक, नग्नत्व अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन - ये बाईस परीषह हैं।[१५३] इनका विवेचन इस प्रकार किया गया है-

१. क्षुधा परीषह : भूख सहन करना अर्थात् अत्यंत भूख लगने पर भी उसे धैर्य और शान्ति से सहन करना।
२. तृषा परीषह : अतीव प्यास लगी होने पर भी व्याकुल न होते हुए उसे शांति से सहन करना।

३. शीत परीषह : अत्यंत ठंड पड़ने पर भी प्रतिकार करने की भावना न होना और उसे शांति से सहन करना।
४. उष्ण (गर्म) परीषह : ग्रीष्म ऋतु आदि के निमित्त से होने वाली उष्णता (गर्मी) के दुःख से मन में चंचलता न आने देना तथा गर्मी को शांति से सहन करना।
५. दंशमशक परीषह : मच्छर, मक्खी या अन्य कीट के काटने से होने वाली पीड़ा को शान्ति से सहन करना।
६. नग्नत्व परीषह : वस्त्ररहित होने पर भी लज्जा न आना, बालक के समान निर्विकार रहना तथा इन्द्रियों में विकार उत्पन्न न होने देना। उत्तराध्ययन में इसे 'अचेल परीषह' कहा गया है।
७. अरति परीषह : परिश्रम करने पर भी संयम न छोड़ना।
८. स्त्री परीषह : सुंदर स्त्रियों के इशारों से मन को विचलित न होने देना।
९. चर्या परीषह : अनेक गांवों में भटकना और कष्ट सहन करना।
१०. निषधा परीषह : ध्यान आदि के लिए निश्चित किए हुए आसन से विचलित न होना तथा स्थिर आसन के कारण होने वाले दुःख को सहन करना।
११. शय्या परीषह : शास्त्र के अनुसार एक ही करवट से सोने से तथा असमतल भूमि पर सोने के कारण होने वाले कष्ट सहन करना।
१२. आक्रोश परीषह : अति कठोर वचन सुनने पर भी शांत रहकर उसे सहन करना और क्रोधित न होना।
१३. वध परीषह : वध जैसे संकट की घड़ी आने पर भी समभाव रखना तथा द्वेष न करना।
१४. याचना परीषह : प्राण जाने की नौबत आने पर भी आहार के लिए याचना न करना और समाधानी रहना।
१५. अलाभ परीषह : आहार आदि का लाभ न होने पर भी लाभ होने जैसी शान्ति रखना।
१६. रोग परीषह : व्याधि होने पर व्याकुल न होते हुए वेदना को शान्ति से सहन करना।
१७. तृणस्पर्श परीषह : मार्ग में चलते समय काँटें तथा गड्ढे आदि से होने वाली वेदना को प्रतिकार न करते हुए सहन करना।
१८. मल परीषह : शरीर गन्दा होने पर भी घृणा न करते हुए आत्म-भावना में लीन रहना।
१९. सत्कार-पुरस्कार परीषह : अज्ञानी लोगों द्वारा अपमान होने पर उनसे सम्मान की इच्छा न करना। किसी के द्वारा सम्मान किये जाने पर उसे भूल न जाना। मान-अपमान में समभाव रखना।
२०. प्रज्ञा परीषह : अपने ज्ञान या पाण्डित्य का गर्व न करना।

२१. अज्ञान परीषह : किसी के द्वारा तिरस्कार किए जाने पर या 'तुम अज्ञानी और मूर्ख हो', ऐसा कहे जाने पर भी ज्ञानप्राप्ति में शिथिलता न आने देना।
२२. अदर्शन परीषह : 'दीक्षा लेने के बाद अनेक वर्ष बीत गये फिर भी अभी तक मुझे ऋद्धि या सिद्धि कुछ भी प्राप्त नहीं हुई', ऐसी चिन्ता न होने देना।

इस प्रकार बाईस परीषहों को शान्ति से सहन करने पर संवर होता है।

किसी भी प्रकार की वेदना उत्पन्न होने पर, आत्म-स्वरूप का चिन्तन करते हुए, व्याकुल न होकर समस्त परीषहों को सहजता से सहन करना, 'परीषहजय' कहलाता है।[१५४]

जो मुमुक्षु पूर्वबद्ध कर्म की निर्जरा करने के लिए आत्म-स्वरूप में स्थित होकर, क्षुधा आदि बाईस प्रकार की वेदनाओं को सहन करता है, उसे ही 'परीषह-विजयी' कहते हैं।[१५५]

## पाँच चारित्र्य

संवर तत्त्व के सत्तावन भेदों में से तीन गुप्तियों, पाँच समितियों, दस धर्मों, बारह अनुप्रेक्षाओं तथा बाईस परीषह-जयों - के बाद पाँच चारित्र्यों का क्रम आता है।

किसी के द्वारा जो शुद्ध आचरण किया जाता है, उसे चारित्र (चारित्र्य) कहते हैं। जिसके कारण हित होता है और अहित का निवारण होता है, उसे चारित्र कहते हैं। अथवा सज्जन जैसा आचरण करते हैं, उसे चारित्र्य कहते हैं।

संसार की कारणभूत बाह्य तथा अंतरंग क्रियाओं से निवृत्त होना चारित्र्य है। साथ ही आत्म-स्वरूप में रम जाना भी चारित्र्य है।[१५६]

चारित्र्य ही धर्म है।[१५७]

आत्मिक दृष्टि से भी शुद्ध स्थिति में स्थिर रहना चारित्र्य है। आत्मा को समस्त सावद्य योगों से परावृत्त करने वाला तत्त्व चारित्र्य है। चारित्र्य का मोक्ष-मार्ग में तीसरा स्थान है।[१५८]

सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म संपराय और यथाख्यात - चारित्र्य के ये पाँच भेद हैं।[१५९]

## (१) सामायिक चारित्र्य

सम अर्थात् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य। आय अर्थात् लाभ। समाय से 'इक' तद्धित प्रत्यय लगने पर 'सामायिक' शब्द निष्पन्न होता है। सामायिक का अर्थ है - समस्त सावद्य व्यापारों का त्यागरूप सर्वविरति चारित्र्य। साधु को इसका आचरण करना चाहिए। इस चारित्र्य के दो भेद हैं -

(१) इत्वर सामायिक चारित्र्य और (२) यावत्कायिक सामायिक चारित्र्य।

समभाव में स्थिर रहने के लिए संपूर्ण अशुद्ध प्रवृत्तियों का त्याग और अठारह प्रकार के पापों का त्याग करना 'सामायिक चारित्र्य' है। इसमें पाँच महाव्रतों का ग्रहण किया जाता है। संपूर्ण जीवराशि को ज्ञानयुक्त जानना और उसमें समभाव रखना अर्थात् सब को सिद्ध के समान शुद्ध जानना तथा राग-द्वेष छोड़ देना 'सामायिक चारित्र्य' है।[१६०]

## (२) छेदोपस्थापन चारित्र्य

छेद अर्थात् रद्द करना। कुछ दोषों के दण्डस्वरूप पूर्व में पालन की गई दीक्षा को रद्द करना। उपस्थापन अर्थात् पुनः महाव्रतों का उपस्थापन करना। यह 'छेदोपस्थापन चारित्र्य' है।[१६१]

यदि प्रमादवश चारित्र्य में दोष लगे हों तो प्रायश्चित्त आदि के द्वारा लगे हुए दोषों को दूर करके पुनः निर्दोष संयम धारण करना 'छेदोपस्थापन चारित्र्य' कहलाता है। इसके दो भेद हैं - (१) सातिचार छेदोपस्थापन और (२) निरतिचार छेदोपस्थापन।

सातिचार का अर्थ है दोषसहित और निरतिचार का अर्थ है दोषरहित।[१६२]

प्रमाद से किए गए अनर्थ-प्रबंधों अर्थात् हिंसा आदि अव्रतों का त्याग करने पर जो सम्यक् प्रकार की प्रतिक्रिया होती है, अर्थात् व्रतों का पुनः ग्रहण होता है - उसे छेदोपस्थापन चारित्र्य कहते हैं।[१६३]

हिंसा आदि पाप-क्रियाओं का त्याग करना छेदोपस्थापन चारित्र्य है अथवा व्रत में बाधा आने पर पुनः उसकी शुद्धि करने को छेदोपस्थापन चारित्र्य कहते हैं।[१६४]

## (३) परिहार-विशुद्धि चारित्र्य

परिहार का अर्थ है-त्याग तथा विशुद्धि का अर्थ है-विशेष शुद्धि। मिथ्यात्व, राग आदि विकल्प-मलों का त्याग कर विशेष रूप से आत्मशुद्धि करना 'परिहार-विशुद्धि चारित्र्य' है। इसके दो भेद हैं - (१) निर्विशमानक और (२) निर्विष्टकायिक।

जिस चारित्र्य में जीव-हिंसा को निषिद्ध मानकर उसका पूर्णतः त्याग होता है और विशिष्ट विशुद्धि होती है - उसे 'परिहार-विशुद्धि चारित्र्य' कहते हैं। इसमें विशिष्ट प्रकार के आचारों का पालन किया जाता है। विशेष तपस्या से विशुद्धि होना इस चारित्र्य की विशेषता है।

परिहार-विशुद्धि अत्यंत निर्मल चारित्र्य है। यह धीर और उच्चदर्शी साधुओं को प्राप्त होता है। 'प्राणि-वध की निवृत्ति' को परिहार कहते हैं। उसकी शुद्धि जिस चारित्र्य से होती है, वह परिहार-विशुद्धि चारित्र्य है।[१६५]

## (४) सूक्ष्म संपराय चारित्र्य

सूक्ष्म का अर्थ है - अत्यंत जघन्य और संपराय का अर्थ है - लोभकषाय। उसका उदयरूप जो चारित्र्य है, उसे 'संपराय चारित्र्य' कहते हैं।

जिस चारित्र्य में सूक्ष्म संपराय लोभ-कषाय का अस्तित्त्व अति सूक्ष्म रूप में होता है परंतु क्रोधादि कषायों का अस्तित्त्व अल्प भी नहीं होता उसे सूक्ष्म संपराय चारित्र्य कहते हैं। इसके दो भेद हैं- (१) संक्लिश्यमान सूक्ष्म संपराय और (२) विशुद्धमान सूक्ष्म संपराय।

## (५) यथाख्यात चारित्र्य

अरिहन्त भगवान् ने आगमों में चारित्र्य का जो स्वरूप बताया है, उसका उसी प्रकार से पालन करना यथाख्यात चारित्र्य है । इसके दो प्रकार हैं - (क) उपशान्त यथाख्यात चारित्र्य और (ख) क्षायिक यथाख्यात चारित्र्य ।

जब तक व्यक्ति के जीवन में क्रोध, मान, माया तथा लोभ रूपी कषाय नष्ट नहीं होते, शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थिरता नहीं होती और वीतराग भाव की प्राप्ति नहीं होती, तब तक उपशान्त यथाख्यात चारित्र्य होता है । किन्तु जब कषाय पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं, आत्मस्वभाव में स्थिरता हो जाती है और वीतराग अवस्था की प्राप्ति हो जाती है, उस समय वह क्षायिक यथाख्यात चारित्र्य कहा जाता है ।

यथाख्यात चारित्र्य का मोक्षप्राप्ति में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है । यथाख्यात चारित्र्य की महिमा ऐसी है कि इसका पालन करने पर मोक्ष अवश्य ही प्राप्त होता है।[१६६]

## संवरतत्त्व के सत्तावन प्रकार[१६७]

| गुप्ति (३) | समिति (५) | धर्म (१०) | अनुप्रेक्षा (१२) | परीषहजय (२२) | | चारित्र्य |
|---|---|---|---|---|---|---|
| मनगुप्ति | ईर्या | उत्तमक्षमा | अनित्य | क्षुधा | रोग | सामायिक |
| वचनगुप्ति | भाषा | उत्तममार्दव | अशरण | तृषा | तृणस्पर्श | छेदोपास्थापन |
| कायगुप्ति | एषणा | उत्तमआर्जव | संसार | शीत | मल | परिहारविशुद्धि |
| | आदान- | उत्तमशौच | एकत्व | उष्ण | चर्या | सूक्ष्मसम्पराय |
| | निक्षेप | उत्तमसत्य | अन्यत्त्व | दंशमशक | निषद्या | यथाख्यात |
| | उत्सर्ग | उत्तमसंयम | अशुचित्व | नाग्न्य | शय्या | |
| | | उत्तमतप | आस्रव | अरति | सत्कार-पुरस्कार | |
| | | उत्तमत्याग | संवर | स्त्री | प्रज्ञा | |

| | | | |
|---|---|---|---|
| उत्तमअकिंचन्य | निर्जरा | आक्रोश | अज्ञान |
| उत्तमब्रह्मचर्य | लोक | वध | अदर्शन |
| | बोधिदुर्लभ | याचना | |
| | धर्म | अलाभ | |

## संवर का महत्त्व

जिस प्रकार नगर के द्वार पूरी तरह बन्द होने पर उस नगर में शत्रु का प्रवेश असम्भव होता है; उसी प्रकार इन्द्रिय, कषाय एवं योग का सम्यक् प्रकार से निरोध होने पर और गुप्ति, समिति, धर्मानुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र्य का पालन करने पर आत्मा में नवीन कर्मों का प्रवेश नहीं हो पाता है । इसी को संवर कहते हैं ।[१६८]

## बौद्ध-दर्शन में संवर

जैन-दर्शन के अनेक शब्द बौद्ध-दर्शन में भी प्रचलित रहे हैं। इसका कारण यह है कि महावीर और बुद्ध दोनों ही समकालीन थे। यद्यपि दोनों दर्शनों में आस्रव और संवर शब्दों का प्रयोग हुआ है फिर भी इनके अर्थ के विषय में दोनों दर्शनों में मतभेद है। तथागत बुद्ध ने अंगुत्तरनिकाय में कहा है कि आस्रव का निरोध संवर है । संवर की यह परिभाषा दोनों परम्पराओं में समानरूप से मिलती है । वैसे बौद्ध-परम्परा में संवर का अर्थ 'इन्द्रियों को अपने विषयों की ओर स्वतन्त्र रूप से जाने से रोकना' है। इससे आस्रव नहीं हो पाता है ।

अंगुत्तरनिकाय में इसके अतिरिक्त, संवर के अन्य अर्थ भी प्रचलित रहे हैं -

१. प्रतिसेवना संवर - भोजन-पान, वस्त्र तथा चिकित्सा आदि के अभाव में मन प्रसन्न नहीं रहता है और कर्मबन्ध होता है । अतः इनके उपभोग को नियन्त्रित करना प्रतिसेवना संवर है ।
२. अधिवासना संवर - जिसे अपनी विषय-वासनाओं को नियन्त्रित करने में और शारीरिक कष्टों को सहने में ही आनन्द आता है, ऐसा व्यक्ति शारीरिक सुखों को पसन्द नहीं करता और स्वेच्छा से कष्टों को सहन करता है । इससे उसके आस्रवों का निरोध होता है और संवर का परिपालन होता है ।
३. परिवर्जन संवर - जिस प्रकार मदोन्मत्त हाथी अथवा अश्व आदि पशु तथा सर्प, बिच्छू सदैव कष्ट ही देते हैं, उसी प्रकार पापी मित्र आदि भी दुःखदायक होते हैं । अतः उनका परिवर्जन करना ही परिवर्जन संवर है ।
४. विनोदन संवर - हिंसा-वितर्क, काम-वितर्क तथा पाप-वितर्क ये सभी बन्धन के कारण हैं । अतः इन बन्धनों का सेवन न करना ही विनोदन संवर है ।
५. भावना संवर - शुभ भावनाओं से आस्रव का निरोध होता है । अतः यथाशक्य प्रशस्त भावों में ही अपनी आत्मा को स्थापित करना चाहिए ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अंगुत्तरनिकाय में अविद्या के अथवा आस्रवों के निरोध को संवर कहा गया है ।[१६९]

## आस्रव और संवर

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये कर्म के आस्रव के द्वार हैं । इसके विपरीत सम्यक्दर्शन, विषयों से विरक्ति, कषायों के निग्रह तथा मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों का निरोध करने से कर्मों का आस्रव नहीं होता है । अतः इनके प्रतिपक्षी अर्थात् सम्यक् दर्शन, विषयों से विरक्ति, कषाय एवं योगनिग्रह ये सभी संवर हैं ।[१७०]

## आस्रव और संवर का पारस्परिक सम्बन्ध

पूर्वबद्ध कर्मों से मुक्त होने के लिए सर्वप्रथम साधक को संवर की साधना करनी होती है । क्योंकि संवर ही नवीन कर्मों के आगमन को रोकता है । आचार्य हेमचन्द्र ने इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण दिये हैं ।

जिस प्रकार चौराहे पर स्थित मकान के द्वार यदि बन्द नहीं किये जाते तो उसमें निश्चय ही धूल प्रवेश करती है, उसी प्रकार यदि आत्मा ऐन्द्रिय विषय-भोगों को नियन्त्रित नहीं करता है अर्थात् उनका निरोध नहीं करता है तो उसमें अवश्य ही कर्म प्रवेश कर जाते हैं । इसके विपरीत जो साधक बन्धन के इन द्वारों को सम्यक् प्रकार से अवरुद्ध कर देता है उसमें कर्मरूपी आस्रव नहीं होता है।

जिस प्रकार तालाब में सभी ओर से पानी आता है, उसी प्रकार आत्मा भी योगों के निमित्त से चारों ओर से कर्मों से घिरा होता है । जब तक वह संवर नहीं करता, नवीन कर्मों के आगमन को रोक पाने में समर्थ नहीं होता है ।

एक अन्य उदाहरण से यह भी समझाया गया है कि जिस प्रकार छिद्रयुक्त नौका में पानी का प्रवेश होता है, उसी प्रकार असंवृत जीवों में कर्म-मल का प्रवेश धीरे-धीरे होता रहता है । अतः अपनी योग्य प्रवृत्तियों का निरोध करके ही कर्मप्रकृतियों से बचा जा सकता है[१७१] यही संवर है ।

पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट करने के लिए निर्जरा की आवश्यकता होती है । परन्तु नवीन कर्मों का निरोध करने के लिये संवर को आवश्यक माना गया है । संवर के सत्तावन प्रकार माने गये हैं, जिनकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है । जब तक आत्मा आत्मस्वरूप का ज्ञाता नहीं होता है, तब तक वह कर्मों के प्रभाव से संसार में परिभ्रमण करता रहता है । यह समझकर आस्रव का निरोध करके जो आत्मा सत्तावन प्रकार के संवर का पालन करता है वह अवश्य ही मुक्ति को प्राप्त होता है ।

## सन्दर्भ


१. (क) आचार्य श्रीआनन्दऋषि - भावनायोग : एक विश्लेषण - पृ. २५५-२५६-
(ख) आचार्य भिक्खू-नवपदार्थ, पृ. ४८८
छठो पदार्थ संवर कह्यो, तिणरा थिरीभूत परदेस। आस्रव दुवार नो रूंधणो, तिण सुं मिटीयो करमां रो परवेस ।। आस्रव दुवार करमां रा वारणा, ढकीयां छे संवर दुवार ।
(ग) क्षु. जिनेन्द्र वर्णी- जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भा. ४, पृ. १४२
रुंधिय छिद्दसहस्से जलजाणे जह जलं तु णासवदि । मिच्छत्ताइ अभावे तह जीवे संवरो होइ ।।
२. (क) माधवाचार्य-सर्वदर्शनसंग्रह (भाष्यकार प्रो. उमाशंकर शर्मा "ऋषि")- पृ. १६५.
(ख) मुनिश्री न्यायविजयजी-जैनदर्शन - पृ. २२
३. (क) उमास्वाति-तत्त्वार्थसूत्र - अ. ९, सू. १
आस्रवनिरोधः संवरः ।। १ ।।
(ख) उत्तराध्ययनसूत्र अ. २९, सू. ११
निरुद्धासवे संवरो ।
(ग) हेमचन्द्राचार्य-योगशास्त्र (चतुर्थ प्रकाश) - श्लो. ७९, पृ. १३३.
सर्वेषामास्रवाणां तु निरोधः संवरः स्मृतः ।
(घ) उमास्वातिवाचक-प्रशमरतिप्रकरण (सटीकमवचूरिसहित) - पृ. ७
वाक्कायमनोगुप्तिनिरास्रवः संवरस्तूक्तः ।। २२० ।।
४. माधवाचार्य-सर्वदर्शनसंग्रह - पृ. १६५.
आश्रवः स्रोतसो द्वारं संवृणोतीति संवरः ।
५. भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक - भाग १, अ. २, सू. ४, पृ. २७
संवर इव संवरः । क उपमार्थः ? - टीका, १८
६. उपनिर्दिष्ट, भाग १, अ. सू. ४, पृ. २६.
संव्रियतेऽनेन संवरणमात्रं वा संवरः - टीका ११
७. (क) उपनिर्दिष्ट भाग २, अ. ९, सू. १, पृ. ५८७.
कर्मागमनिमित्तऽप्रादुर्भूतिरास्रवनिरोधः - टीका १, तन्निरोधे सति तत्पूर्वककर्मादानाभावः संवरः - टीका २
(ख) उपनिर्दिष्ट, भाग २, अ. ९, सू. १, पृ. ५८७.
मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययकर्मसंवर संवरः - टीका ६
(ग) क्षु- जिनेन्द्र वर्णी-जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भा. ४, पृ. १४२.
संव्रियते संरुध्यते मिथ्यादर्शनादिपरिणामो येन परिणामान्तरेण सम्यग्दर्शनादिना, गुप्त्यादिना वा स संवरः ।
(घ) जैनाचार्य नेमिचन्द्र - बृहद्द्रव्यसंग्रह - भा. २८, पृ. ७६.

कर्मास्रवनिरोधसमर्थसर्वसंवित्तिपरिणतजीवस्य शुभाशुभकर्मागमनसंवरणं संवरः ।
- श्रीमद्‌ब्रह्मदेवविनिर्मितवृत्ति.

८. क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग ४, पृ. १४३.
सम्मत्त देसवयं महव्वयं तह जओ कसायाणं। पदे संवरणामा जोगाभावो तहा चेव।

९. (क) आचार्य भिक्खू-नवपदार्थ (अनु श्रीचंद रामपुरिया) - पृ. ५०४-५०७.
(ख) माधवाचार्य-सर्वदर्शनसंग्रह - पृ. १६४.
येनात्मनि प्रविशत्कर्म प्रतिबध्यते स गुप्तिसमित्यादिः संवरः ।

१०. आचार्य श्रीआनंद ऋषि - भावनायोग : एक विश्लेषण - पृ. ३५६.

११. माधवाचार्य-सर्वदर्शनसंग्रह - पृ. १६५
आस्रवो भवहेतुः स्यात्संवरो मोक्षकारणम्। इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याःप्रपंचनम्।।

१२. (क) सं. पं. महादेवशास्त्री जोशी-भारतीयसंस्कृतिकोश - तीसरा खण्ड, पृ. ६१.
(ख) श्रीमन्नेमिचन्द्रसिद्धान्तकचक्रवर्ति-गोम्मटसार (जीवकाण्ड) - गुणस्थान, गा. ८-६६, पृ. ४-३०.

१३. श्रीसिद्धसेनगणि-तत्त्वार्थधिगमसूत्र (स्वोपज्ञभाष्य) - भा. २, अ. ९, पृ. १८०.
आत्मनः कर्मापादानहेतुभूतपरिणामाभावः संवर इत्यभिप्रायः ।
असो यावत्किंचित्कर्मागमनिमित्तं तस्याभावः संवरः

१४. अनु. जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म.- सूत्रकृतांग - अ. २१, श्रुतस्कंध २, पृ. ४६८.
नत्थि आसवे संवरे वा एवं सन्नं णनिवेसए ।।
अत्थि आसवे संवरे वा एवं सन्नं निवेसए ।। १७ ।।

१५. आचार्य भिक्खू-नवपदार्थ - पृ- ५०५

१६. उदयविजयगणि-नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह (श्री हेमचन्द्रसूरि-सप्ततत्त्वप्रकरण) - पृ.१४
सर्वेषामास्रवाणां यो रोधहेतुः स संवरः ।। १११ ।।

१७. उदयविजयगणि-नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह (श्रीहेमचन्द्रसूरि-सप्ततत्त्वप्रकरण) - पृ.१४-१५.
येन येन उपायेन रुध्यते यो य आस्रवः ।
तस्य तस्य निरोधाय स स योज्यो मनीषिभिः ।। ११३ ।।
क्षमया मृदुभावेन, ऋजुत्वेनाप्यनीहया ।
क्रोधं मानं तथा मायां लोभं रुध्याद्‌यथाक्रमम् ।। ११४ ।।
असंयमकृतोत्सेकान् विषयान् विषमान्निमान् ।
निराकुर्यादखण्डेन संयमेन महामतिः ।। ११५ ।।
तिसृभिर्गुप्तिभिर्योगान्, प्रमादं चाप्रमादतः ।
सावद्ययोगहानेन, विरतिं चापि साधयेत् ।। ११६ ।।
सदर्शनेन मिथ्यात्वं शुभस्थैर्येण चेतसः ।
विजयेतार्त्तरौद्रे च, संवरार्थे कृतोद्यमः ।। ११७ ।।

१८. श्रीमत्पूज्यपादाचार्य-सर्वार्थसिद्धिः - अ. १/४, पृ. ६
संसारस्य प्रधानहेतुरास्रवो बन्धश्च। मोक्षस्य प्रधानहेतुः संवरो निर्जरा च ।।
१९. आचार्य हेमचन्द्र-योगशास्त्र - चतुर्थप्रकाश, श्लो. ७९-८०, पृ. १३३-३४
सर्वेषामास्रवाणां तु निरोधः संवरः स्मृतः। स पुनर्भिद्याते द्वेधा
द्रव्यभावविभेदतः।। ७९।। यः कर्मपुद्गलादानछेदः स द्रव्य-संवरः ।
भव-हेतु-क्रिया-त्यागः स पुनर्भाव.
संवरः ।। ८०।।
२०. (क) आचार्य श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव-बृहद्द्रव्यसंग्रह - पृ. ८४, ८६.
चेदणपरिणामी जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदु ।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो ।। ३४ ।।
यदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपेहा परीसहजओ य ।
चारित्तं बहुमेया णायव्वा भावसंवरविसेसा ।। ३५ ।।
(ख) पूज्यपादाचार्य-सर्वार्थसिद्धि - अ. ९, सू. १ (टीका), पृ. २३-७-३८
(ग) जैनाचार्य श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव-बृहद्द्रव्यसंग्रह - गा. ४३, पृ. ८५
निरास्रवसहजस्वभावत्वात्सर्वकर्मसंवर हेतुरित्युक्तलक्षणः ------ कार्यभूतो
नवतरद्रव्यकर्मागमनाभावः स द्रव्यसंवर ।
२१. सं. देवेन्द्रमुनि शास्त्री-जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण - पृ. २०३-२०४
२२. (क) सं. पुप्फभिक्खू-सुत्तागमे (समवायांग) - भाग १, स. ५, पृ. ३१९
पंच संवरदारा पण्णता तंजहा सम्मत्तं विरई अकसायाअजोगया।
(ख) उपनिर्दिष्ट, (ठाणे) - भाग १, अ. ५, उ. २, पृ. २६२
पंच संवरदारा पण्णता तंजहा सम्मत्तं विरई अपमाओ अकसाइत्तं पसत्थ
जोगित्तं ।
२३. (क) उत्तराध्ययनसूत्र-अ. २८, गा. १५
तहियाणं तु भावाणं सब्भावे उवएसणं ।
भावेणं सद्दहंतस्स सम्मत्तं तं वियाहियं।।
(ख) उमास्वाति-तत्त्वार्थसूत्र - अ. १, सू. २.
तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।
२४. आचार्य हेमचन्द्र-योगशास्त्र (द्वितीय प्रकाश) - श्लो. १५, पृ. ३३
शम-संवेग-निर्वेदानुकम्पाऽऽस्तिक्य-लक्षणः। लक्षणैः पंचभिः सम्यक्,
सम्यक्त्वमुपलक्ष्यते।। १५।।
२५. उत्तराध्ययनसूत्र-अ. २८, गा. २९, ३०.
नात्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं दंसणे उ भइयव्वं ।
सम्मत्त-चरित्ताइं जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं ।। २९ ।।
नादंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ।। ३० ।।
२६. भारतभूषण पं. मुनिश्रीरत्नचन्द्रजी महाराज-भावनाशतक- श्लो. ५८, पृ.२५५।

विनैककं शून्यगणा वृथा । विनाऽर्कतेजा नयने वृथा यथा ।।
विना सुवृष्टिं च कृषिर्व्यथा यथा । विना सुदृष्टिं विपुलं तपस्तथा ।।

२७. क्षु. जिनेन्द्र वर्णी-जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग ४, पृ. ३४६
त्रयं औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकभेदात् ।

२८. (क) उमास्वाति-तत्त्वार्थसूत्र - अ. ७, सू. १८
शंकाकांक्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः ।। १८ ।।
(ख) श्रीमद्अमृचन्द्रसूरि-तत्त्वार्थसार (चतुर्थाधिकार) - श्लो. ८४, पृ. १३२.
(सं. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य)
शंकनं कांक्षणं चैव तथा च विचिकित्सनम् ।
प्रशंसा परदृष्टीनां संस्तवश्चेति पंच ते ।। ८४ ।।

२९. श्रीमद्पूज्यपादाचार्य-सर्वार्थसिद्धि - अ. ७, सू. १, पृ. १९९
तेभ्यो विरमणं विरतिर्व्रतमित्युच्यते ।। - टीका

३०. बालचन्द्रसिद्धान्तशास्त्री - जैनलक्षणावली - भाग १, पृ. १०७
(क) यश्च निद्राकषायादिप्रमादरहितो व्रती ।
गुणस्थानं भवेत्तस्याप्रमत्तसंयताभिधम् ।।
(ख) पंचमहव्वयाणि पंचसमिदीओ तिण्णि गुत्तीओ णिस्सेसकसायाभावो अप्पमादो णाम।

३१. आचार्य श्रीआनंदऋषि-भावनायोग : एक विश्लेषण - पृ. २५६-२७१

३२. बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री - जैनलक्षणावली - पृ. १२३.
प्रदह्याधातिकर्माणि शुक्लध्यान-कृशानुना अयोगो याति शैलेषिं मोक्षलक्ष्मीं निरास्रवः।। अयोगो मनोवाक्कायव्यापारविकलः ।

३३- उपरिनिर्दिष्ट पृ. २
सकलकषायाभावोऽकषायः । न विद्यते कषायोऽस्येत्यकषायः ।

३४. सं. उदयविजयगणि-नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह (हेमचन्द्रसूरि-सप्ततत्त्वप्रकरण) - भा. २४-१२६, पृ. १५-१६.

३५. जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म. - जैनतत्त्वप्रकाश - पृ. ३६३.

३६- Herbert Warren—Jainism : Chapter I, Page 1 Life is dear to all, even though it may contain misery as well as happiness.

३७. (क) उत्तराध्ययनसूत्र - अ. २९, सूत्र ५४ से ६७.
(ख) प्रकाशक - श्रीअगरचन्द भैरोदान सेठिया - नवतत्त्व - पृ. ८१-८२

३८. श्रीमद्अभयदेवसूरि - स्थानाङ्गसूत्र - अ. १, सू. १३, पृ. १७.
आह च - 'समिई ५ गुत्ती ३ धम्मो १० अणुपेह १२ परीसह २२ चरित्तं च ५ सत्तावन्नं भेया पणतिगभेयाइं संवरणे ।। - टीका.

३९. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ. ९, सू. ४.
सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः । ४ ।

४०. उमास्वाति - समाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र (अनु. पं. खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री) -

अ. ६, सू. ४, पृ. ३८२ - भाष्य

४१. (क) भट्टाकलंकदेव- तत्त्वार्थराजवर्तिक- भाग २, अ. ६. सू. २ टीका, पृ.५६१
संसारकारणगोपनाद् गुप्तिः ।। १ ।। यतः संसारकारणात् आत्मनो गोपनं भवति सा गुप्तिः ।
(ख) श्रीसिद्धिसेनगणि - तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (स्वोपज्ञभाष्य) - भाग २, अ. ६, सू. २,
पृ. १६१ गुप्यतेऽनयेति गुप्तिः, संरक्ष्यतेऽनयेत्यर्थः । - श्रीमत्पूज्यापादाचार्य - सर्वार्थसिद्धि - अ. ६, सू. २, पृ. २३६ टीका
(ग) देवगुप्ताचार्य - नवतत्त्वप्रकरण - सू. १०, पृ. ३६.
"गुप् रक्षणे" गुप्यते रक्ष्यते याभिः संसारे पतन्प्राणी ता गुप्तयः, मनःसंवरणादिरूपाः ।

४२. आचार्य हेमचन्द्र - योगशास्त्र - प्रथम प्रकाश, पृ. १६
विमुक्तकल्पनाजालं, समत्वे सुप्रतिष्ठितम् ।
आत्मारामं मनस्तज्ज्ञैर्मनोगुप्तिरुदाहृता ।।४१।।

४३. आचार्य हेमचन्द्र - योगशास्त्र - प्रथम प्रकाश, पृ. १६
संज्ञादिपरिहारेण, यन्मौनस्यावलम्बनम् । वाग्वृत्तेः संवृतिर्वा या, सा वाग्गुप्तिरिहोच्यते ।। ४२ ।।

४४- उपसर्गप्रसङ्गेऽपि, कायोत्सर्गयुतो मुनेः ।
स्थिरीभावः शरीरस्य, कायगुप्तिर्निगद्यते ।। ४३ ।।
शयनासननिक्षेपादनचक्रमणेषु यः ।
स्थानेषु चेष्टानियमः कायगुप्तिस्तु साऽपरा ।। ४४ ।। - उपरिनिर्दिष्ट

४५. (क) कुंदकुंदाचार्य - कुंदकुंदभारती (नियमसार) - गा. ६६, पृ. २१०
जा रायादिणियत्ती भाणस्स जाणीहि तम्मणोगुत्ती । ६६ ।
(ख) क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग २, पृ. २४८
सकलमोहरागद्वेषाभावादखण्डाद्वैतपरमचिद्रूपे सम्यगवस्थितिरेव निश्चयमनोगुप्तिः।
(ग) कुंदकुंदाचार्य-कुंदकुंदभारती (नियमसार) - गा. ६६, पृ. २१०
अलियादिणियतिं वा मोणं वा होइ वइगुत्ती ।। ६६ ।।
(घ) क्षु. जिनेन्द्र वर्णी-जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग २, पृ. २४८
कायकिरियाणियत्ती --- सरीरगुत्तीत्ति णिद्दिट्ठा।

४६. उत्तराध्ययनसूत्र - अ. २६, सू. ५६,
कायगुत्तवापणं संवरं पावासवनिरोहं करेइ ।

४७. आचार्य तुलसी - मनोनुशासनम् - पृ. १२

४८. (क) भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक - भाग २, अ. ६, सू. २, पृ. ५६१
सम्यगयनं समितिः ।२। परप्राणिपीडापरिहारेच्छया सम्यगयनं समितिः । - टीका
(ख) पूज्यपादाचार्य - सर्वार्थसिद्धि - अ. ६, सू. २, पृ. २३६
(ग) देवगुप्ताचार्य - नवतत्त्वप्रकरणम् - सू. १०, पृ. ३६

सम्यगयनानि समितयः सम्यग्गतयः, सुदेवत्वसुमानुषत्वमोक्षलक्षणाः,
तद्धेतुत्वात्सर्वज्ञप्रणीतज्ञानानुसारिण्यो याश्चेष्टाः संवरभाववति, ताः समितयः ।
४६. आचार्य हेमचन्द्र-योगशास्त्र (प्रथमप्रकाश) - पृ. १६
५०. क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भा. ४, पृ. ३४०
निश्चयेन तु स्वस्वरूपे सम्यगितो गतः परिणतः समितः ।
५१. जैनाचार्य श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव - बृहद्द्रव्यसंग्रह - अ. १, गा. ३५, पृ. ८६
निश्चयेनानन्तज्ञानादिस्वभावे निजात्मनि सम् सम्यक् समस्त
रागादिविभावपरित्यागेन तल्लीनतच्चिन्तनतन्मयत्वेन अयनं गमनं परिणमनं
समितिः । - टीका
५२. क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग ४, पृ. ३४०
समितीसु य सम्यगयनादिषु अयनं समितिः ।
सम्यक्श्रुतज्ञाननिरूपितक्रमेण गमनादिषु वृत्तिः समितिः ।
५३. (क) भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक - भाग २, अ. ६, सू. ५, पृ. ५६३
ईर्याभाषेषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ।। ५ ।।
(ख) पूज्यपादाचार्य - सर्वार्थसिद्धि - अ. ६, सू. ५, पृ. २४१
(ग) उत्तराध्ययनसूत्र - अ. २४, गा. २
इरियाभासेसणादाणे उच्चारे समई इय ।।
(घ) देवगुप्ताचार्य-नवतत्त्वप्रकरणम् - सू. १०, पृ. ३६.
(च) आचार्य हेमचन्द्र-योगशास्त्र - (प्रथमप्रकाश), श्लो. ३५, पृ. ३४०
(छ) क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भा. ४, पृ. ३४०.
इरिया भासा पसण जा सा आदाण चेव णिक्खेवो ।
संजमसोहिणिमित्ते खंति जिणा पंच समिदीओ ।।
५४. आचार्य हेमचन्द्र-योगशास्त्र (प्रथमप्रकाश) - श्लो. १६, पृ. १७
लोकातिवाहिते मार्गे, चुम्बिते भास्वदंशुभिः ।
जन्तुरक्षार्थमालोक्य, गतिरीर्या मता सताम् ।। ३६ ।।
५५. (क) उत्तराध्ययनसूत्र - अ. २४, गा- ४-८,
(ख) अनु. मुकुंद गणेश मिरजकर-मनुस्मृति - अ. ६, श्लो. ६८, पृ. १८२
संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा । शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ।६८।
(ग) क्षु. जिनेन्द्र वर्णी-जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भा. ४, पृ. ३४०
फासुयमग्गेण दिवा जुगंतरप्पहेणा सकज्जेण। जंतुण परिहरति इरियासमिदी हवे गमणं।।
५६. (क) उत्तराध्ययनसूत्र-अ. २४, गा. १०
असावज्जं मियं काले भासं भासेज्ज पन्नवं।।
(ख) सिद्धसेनगणिकृत टीका-तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (स्वपोज्ञभाष्य) - भाग २, अ. ६, सू. ५, पृ. १७८

आत्मने परस्मै हितमितमुपकारकं --- भाषणं भाषासमितिः ।
(ग) भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक - भाग २, अ. ६, सू. ५, (टीका) पृ. ५६४. हितमितासन्दिग्धाभिधानं भाषासमितिः । ५ ।
(घ) अनु. जैनाचार्य श्रीआत्मारामजी म. - दशवैकालिकसूत्र - अ. ७, श्लोक ३, पृ. ३८८.
असत्यां-मृषां सत्यां च, अनवद्यामकर्कशाम् ।
समुत्प्रेक्ष्य असंदिग्धां, गिरं भाषेत प्रज्ञावान् ।। ३ ।।

५७. (क) सिद्धसेनगणिकृत टीका-तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (स्वोपज्ञभाष्य) - भाग २, अ. ६, सू. ५, पृ. १८७.
त्यक्तानृतादिदोषं सत्यमसत्यानृतं च निरवद्याम् । सूत्रानुयायि वदतो भाषासमितिर्भवति साधोः ।। १ ।।
(ख) अनु. मुकुंद गणेश मिरजकर-मनुस्मृति - अ. ४, श्लो. १३८, पृ. १२६
सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ।। १३८ ।।

५८- मनुस्मृति अ. २, श्लो. १६१, पृ. ४५.
नारुन्तुदः स्यादार्त्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः ।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ।। १६१ ।।

५९. क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भा. ४, पृ. ३४१
पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदाप्पपसंसविकहादी । वज्जित्ता सपरहिदं भासासमिदी हवे कहणं। सच्चं असच्चमोसं अलियादीदोसेवज्जमणवज्जं वदमाणस्सणुवीची भासासमिदी हवे सुद्धा ।

६०. उत्तराध्ययनसूत्र- अ. २४, गा. ९.
कोहे माणे य मायाए लोभे य उवउत्तया ।
हासे भए मोहरिए विगहासु तहेव य ।।

६१. आचार्य हेमचन्द्र-योगशास्त्र (प्रथम प्रकाश) - श्लो. ३७, पृ. १६
अवद्यात्यागतः सर्वजनीनं मितभाषणम्। प्रियां वाचायमानां, सा भाषा समितिरुच्यते।३७।

६२. (क) भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक- भा. २, अ. ९, सू. ५, टीका- पृ.५९४
अन्नाद्युद्गमादिदोषवर्जनमेषणासमितिः ।।६।।
(ख) उमास्वाति - सभाष्यतत्त्वार्थधिगमसूत्र (हिन्दी, अनु खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री)- अ. ९, सू. ५, पृ. ३८३
अन्नपानरजोहरणपात्रचीवरादीनां धर्मसाधनानामाधयस्य चोद्गमोत्पादनेषणादोषवर्जनमेषणासमितिः ।

६३. आचार्य हेमचन्द्र - योगशास्त्र (प्रथम प्रकाश) - श्लो. ३८, पृ. १७
द्विचत्वारिंशता भिक्षादोषैर्नित्यमदूषितम् ।
मुनिर्यदन्नमादत्ते, सैषणासमितिर्मता ।। ३८ ।।

६४.(क) क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग ४, पृ. ३४२
आदातव्यस्य स्थाप्यस्य वा अनालोचनं, किमत्र जन्तवः सन्ति न सन्ति वेति दुःप्रमार्जनं च आदाननिक्षेपणसमित्यतिचारः ।
(ख) उत्तराध्ययनसूत्र - अ. २४, गा. १३- १४,
ओहोवहोवग्गहियं भण्डगं दुविहं मुणी ।
गिण्हन्तो निक्खिवन्तो य पउंजेज्ज इमं विहिं ।। १३ ।।
चक्खुसा पडिलेहित्ता पमज्जेज्ज जयं जई ।
आइए निक्खिवेज्जा वा दुहओ वि ए सया ।।
(ग) भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक -भाग २, अ. ९, सू. ५, टीका- पृ.५९४
धर्मोपकरणानां ग्रहणविसर्जनं प्रति प्रयत्नमादाननिक्षेपणसमितिः ।। ७ ।।
(घ) उमास्वाति-सभाष्यतत्त्वार्थधिगमसूत्र (स्वोपज्ञभाष्य)- अ. ९, सू. ५, पृ.३८३
रजोहरणपात्रचीवरादीनां पीठफलकादीनां चावश्यकार्यं निरीक्ष्य प्रमृज्य चादाननिक्षेपौ आदाननिक्षेपणसमितिः ।

६५.आचार्य हेमचन्द्र - योगशास्त्र (प्रथमप्रकाश) - श्लो. ३९, पृ. १८
आसनादीनि संवीक्ष्य, प्रतिलिख्य च यत्नतः । गृह्णीयान्निक्षिपेद्वा यत्, सादानसमितिः स्मृता ।। ३९ ।।

६६.(क) क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भा. ४, पृ. ३४२
एगंते अच्चिते दूरे गूढे विसालमविरोहे । उच्चारादिच्चाओ पदिठावणिया हवे समिदी ।
(ख) सिद्धसेनगणिकृत टीका - तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (स्वोपज्ञभाष्य) - भाग २, अ. ९, सू. ५, पृ. १८८
स्थण्डिले स्थावरजंगमजन्तुवर्जिते निरीक्ष्य प्रमृज्य व मूत्रपुरीषादीनामुत्सर्गः उत्सर्गसमितिरिति ।। ५ ।।
(ग) भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक - अ. ९, सू. ५, पृ. ५९४ भाग २.
जीवाविरोधेनांगमलनिर्हरणमुत्सर्गसमितिः । ८ ।
(घ) आचार्य हेमचन्द्र - योगशास्त्र (प्रथमप्रकाश) - श्लो. ४०, पृ. १९
(ङ) उत्तराध्ययनसूत्र - अ. २४, भा. १५-१८.

६७.(क) क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग. ४, पृ. ३४३
सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक् ।
सम्यग्ग्रहणनिक्षेपो व्युत्सर्गः सम्यगिति समितिः ।
(ख) ता एताः पंच समितयो विदितजीवस्थानादिविधेर्मुनेः प्राणिपीडापरिहाराभ्युपाया वेदितव्याः ।

६८.उपरिनिर्दिष्ट, पृ. ३४३.
अहिंसाव्रतरक्षार्थं कर्तव्या देशतोऽपि तैः ।

६६. पउमणिपतं व जहा उदयेण ण लिप्पदि सिणेहगुणजुत्तं । तह समिदीहिं ण लिप्पइ साधू कायेस इरियंतो । - उपरिनिर्दिष्ट,

७०. उपरिनिर्दिष्ट, पृ. ३४३
प्रवर्तमानस्यासंयमपरिणामनिमित्ताकर्मास्रवात्संवरो भवति ।

७१. (क) आचार्य हेमचन्द्र - योगशास्त्र (प्रथम प्रकाश) - श्लो. ४५, पृ. २०
एताश्चारित्रगात्रस्य, जननात्परिपालनात् ।
संशोधनाच्च साधूनां, मातरोऽष्टो प्रकीर्तिताः ।। ४५।।
(ख) उत्तराध्ययनसूत्र - अ. २४, गा. १
अट्ठ पवयणमायाओ समिई गुत्ती तहेव य ।
पंचेव व समिईओ तिओ गुत्तीओ आहिया ।

७२. उत्तराध्ययन अ. २४, गा. २६
एयाओ पंच समिईओ चरणस्स य पवत्तणे ।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता असुभत्थेसु सव्वसो ।।

७३. भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक - भाग २, अ. ९, सू. ६, टीका, पृ. ५९५
आद्यां गुप्त्यादिप्रवृत्तिनिग्रहार्थम् । तत्रासमर्थानां प्रवृत्त्युपायप्रदर्शनार्थे द्वितीयमेषणादि । इदं पुनर्दशविधधर्माख्यानं प्रवर्तमानस्य प्रमादपरिहारार्थं वेदितव्यम् ।

७४. देवगुप्ताचार्य-नवतत्त्वप्रकरणम् - सू. १० भाष्य, पृ. ३६
धर्मः दुर्गतिपतज्जन्तुजातधारणादितः क्षमासेवनादिस्वभावः ।

७५. गुणभद्र - आत्मानुशासन - श्लो. १८, पृ. २०.
सुखितस्य दुःखितस्य च संसारे धर्म एव तव कार्यः ।
सुखितस्य तदभिवृद्ध्यै दुःखभुजस्तदुपघाताय ।। १८ ।।

७६. मरुधरकेसरी मुनिश्रीमिश्रीमलजीमहाराज - अभिनंदनग्रंथ, संपादक-शोभाचन्द्र भारिल्ल (पं. चैनसुखदास-धर्मतत्त्व का विश्लेषण), द्वितीय खण्ड, पृ. १०.

७७. मनुस्मृति - अ. ६, श्लो. ९२.
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।। ९२ ।।

७८. (क) भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक - भा. २, अ. ९, सू. ६, पृ. ५९५
उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ।। ६ ।।
(ख) सं. शोभाचन्द्र भारिल्ल-मरुधरकेसरी मुनिश्रीमिश्रीमलजी महाराज अभिनंदनग्रंथ (पं. चैनसुखदास-धर्मतत्त्व का विश्लेषण), द्वितीय खण्ड, पृ. ११.

७९. (क) उमास्वाति-सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र (स्वोपज्ञभाष्य) - अ-९, सू-६ (टीका), पृ. ३८४ तत्र क्षमातितिक्षासहिष्णुत्वं क्रोधनिग्रह इत्यनर्थान्तरम् ।
(ख) जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म. - जैनतत्त्वप्रकाश - पृ. २३६.

८०. भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक - भाग २, अ. ९, सू. ६, (टीका), पृ. ५९५.
क्रोधोत्पत्तिनिमित्तविषयाक्रोशादिसंभवे कालुष्योपरमः क्षमा ।। २ ।।

शरीरस्थितिहेतुमार्गनार्थं परकुलान्युपयतो भिक्षोर्दुष्टजनाक्रोशोत्प्रसहना - वज्ञानताडनशरीरव्यापादनादीनां क्रोधोत्पत्तिनिमित्तानां सन्निधाने कालुष्याभावः क्षमेत्युच्यते।

८१. जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म. - जैनतत्त्वप्रकाश - पृ. २३७

८२. (क) क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग २, पृ. १७७.
ण कुणदि किंचिवि कोहं तस्स खमा होदि धम्मोत्ति ।
(ख) पूज्यपादाचार्य-सर्वार्थसिद्धि - अ. ९, सू. ६, (टीका), पृ. २४१

८३. आत्मार्थी पं. मुनिश्रीमोहनऋषिजी म. - साहित्य सागरनां मोती - पृ. ४

८४. भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक - भा. २, अ- ९, सू. ६, (टीका)

८५. सं. कांतीलाल चोरडिया - जैन जागृति (मासिक पत्रिका) - अंक ४, दि. १ दिसम्बर, १९७६, पृ. ११

८६. महासती श्रीउज्ज्वलकुमारीजी - उज्ज्वलवाणी - भाग २, पृ. १५४.

८७. श्री. एलाचार्य-कुरलकाव्य - परिच्छेद १६, संस्कृत, पृ. १६
महान्तः सन्ति सर्वेऽपि क्षीणकायास्तपस्विनः ।
क्षमावन्तमनुख्याताः किन्तु विश्वे हि तापसाः ।

८८. संग्रहकर्ता-रमाशंकर गुप्त, सूक्तिसागर - पृ. १३९.
क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदाः क्षमा श्रुतम् ।
य एतदेवं जानाति स सर्वं क्षन्तुमर्हति - वेदव्यास (महा., वन.)

८९. उपनिर्दिष्ट क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च ।
क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत् ।। - वेदव्यास (महा-, वन-)

९०. उपनिर्दिष्ट क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम् ।
क्षमा सत्यं सत्यवतां क्षमा यज्ञः क्षमा शमः । - वेदव्यास (महा-, वन-)

९१. भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक - भाग २, अ. ९, सू. ६ (टीका)

९२. सिद्धसेनगणिकृत टीका-तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (स्वोपज्ञभाष्य) - भाग २, अ. ९, सू. ६, पृ. १९२
नीचैवृत्त्यनुत्सेको मार्दवलक्षणम् ।
अभ्युत्थानासनदानांजलिप्रग्रहयथार्हविनयकरणरूपा नीचैर्वर्तनम् ।
उत्सेकश्चित्तपरिणामो गर्वरूपस्तद्विपर्ययोऽनुत्सेकः ।

९३. (क) उमास्वाति-तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (अनु. खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री) - अ. ९, सू. ६, पृ. ३८७
मृदुभावः मृदुकर्म च मार्दवं मदनिग्रहो मानविघातश्चेत्यर्थः ।
(ख) पूज्यपादाचार्य-सर्वार्थसिद्धि - अ. ९, सू. ६, (टीका) पृ. २४१
जात्यादिमदावेशादभिमानाभावो मार्दवं माननिर्हरणम् ।

९४. जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म. - जैनतत्त्वप्रकाश - पृ. २४२
विणओ जिणसासणमूल, विणओ निव्वाससाहग्गो । विणयाओ विप्पसुक्कस्स, कुओ धम्मो कुओ तवो ?

९५. उपरिनिर्दिष्ट, पृ. २४२

विणयाओ नाण, नाणाओ दंसणं, दंसणाओ चरण, चरणाओ होई मोक्खो ।

९६. अनु. जैनाचार्य आत्मारामजी म.-दशवैकालिकसूत्र - अ. ९, उ. २, गा. २२, पृ.५५८.

विवत्ती अविणीअस्स, संपत्ती विणिअस्स अ ।

९७. महासती श्रीउज्ज्वलकुमारीजी - जीवनधर्म - पृ. १०७-१०८

९८- (क) Tryon Edwards, D.D. The New Dictionary of Thoughts, Page 282

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र - अ. १, भा. ६,

विणए ठवेज्ज अप्पाणं, इच्छन्तो हियमप्पणो ।।

९९- (क) पूज्यपादाचार्य-सर्वार्थसिद्धि - अ. ९, सू. ६ (टीका), पृ. २४१

योगस्यावक्रता आर्जवम् ।

(ख) भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक - अ. ९, सू. ६, (टीका), पृ. ५९५ भाग २ योगस्य कायवाङ्मनोलक्षणस्यावक्रता आर्जवमित्युच्यते ।

(ग) उमास्वाति-सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र (हिंदी अनु. पं. खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री)- अ. ९, सू. ६, पृ. ३८८

भावविशुद्धिरविसंवादनं --- भावदोष वर्जनमित्यर्थः ।

(घ) क्षु. जिनेन्द्र वर्णी-जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भा- १, पृ. २८५.

मोत्तण कुडिल भावं णिम्मलहिदयेण चरदि जो समणो ।

अज्जवधम्मं तइयो तस्स दु संभवदि णियमेण ।।

(च) आकृष्टान्तद्वयसूत्रवद्वक्रताभावः आर्जवमित्युच्यते ।

(छ) हृदि यत्तद्वाचि बहिः फलति तदेवार्जवं भवत्येतत् ।

(ज) धर्मो निकृतिरधर्मो द्वाविह सुरसद्मनरकपथौ ।

(झ) जो चिंतेइ ण वंकं ण कुणदि वंकं ण जंपदे वंकं । ण य गोवदि णिय दोसं अज्जव-धम्मो हवे तस्स ।।

१००- उत्तराध्ययनसूत्र - अ. ३, गा. १२.

सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।

निव्वाणं परमं जाइ घय-सित्त व्व पावए।।

१०१. (क) पूज्यपादाचार्य-सर्वार्थसिद्धि - अ. ६, सू. १२, (टीका), पृ. १९२

लोभप्रकाराणामुपरमः शौचम् ।।

(ख) उपनिर्दिष्ट अ. ९, सू. ६ (टीका), पृ. २४१

प्रकर्षप्राप्तलोभान्निवृत्तिः शौचम् ।

१०२. भट्टाकलंक-तत्त्वार्थराजवार्तिक - अ. ९, सू. ६, पृ. ५९५, भा. २

१०३. उमास्वाति-सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र (हिंदी अनु- खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री) -

अ. ९, सू. ६, पृ. ३८९.

सत्यर्थे भवं वचः सत्यं, सद्भ्यो यत् हितं सत्यम्
तदनृतमपरुषमपिशुनमनसभ्य- मचपलमनाविलमविरलमसंभ्रान्तं
मधुरमभिजातमसंदिग्धम् ।। ५ ।।

१०४. अनु.- जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म.- प्रश्नव्याकरणसूत्र, संवरद्वार, अ. २, पृ. १५३-५४
लोगंमि सारभूयं, गंभीतरं महासमुदाओ, थिरतरंग, मेरू पव्वयाओ, सोमतरं चंदमंडला, आदित्ततरं सूर मंडलाओ, विमलतरं सरयनहयलाओ, सुरहितरं गंधमायणाओ ।

१०५. भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक - भाग २, अ. ६, सू. ६, पृ. ५६६.
सत्सु साधुवचनं सत्यम् । सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधुवचनं सत्यमित्युच्यते । तादृशप्रकारं व्याख्यातम् ।

१०६. विदुषी महासती उज्ज्वलकुमारीजी - श्रावकधर्म - पृ. २६-२७

१०७. उपरिनिर्दिष्ट, उज्जवलवाणी - भाग १, पृ. ७५.

१०८. उमास्वाति - सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र (हिंदी अनु- खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री) -
अ. ९, सू. ६, पृ. ३९०

१०९. (क) क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग ४, पृ. १३६
(ख) सं. तिलकधर शास्त्री-आत्मरश्मि (मासिक पत्रिका) - अंक १, अप्रेल, १९७१, पृ. ९. (श्री मनोहर मुनिजी "कुमुद" - संयम : एक चिन्तन.)

११०. सिद्धसेनगणिकृत टीका - तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (स्वोपज्ञभाष्य) - भाग २, अ.९, सू. ६, पृ. १९९
तपतीति तपः । शरीरेन्द्रियतापनात् कर्मनिर्दहनाच्च तपः । अपर आह 'विशेषेण कायमनस्तापविशेषात् तपः' ।

१११. गीता प्रेस, गोरखपुर - शतपथ ब्राह्मण - ३/४/४/२६, पृ. २६७
तपसा वै लोकं जयन्ति ।

११२. भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक-भाग २, अ. ९, सू. ६ (टीका), पृ.५९८.
परिग्रहनिवृत्तिस्त्यागः । १८ । परिग्रहस्य चेतनाचेतनलक्षणस्य निवृत्तिस्त्याग इति निश्चीयते ।

११३. आचार्य भिक्खु-नवपदार्थ - पृ- ५१९
निर्ममत्त्वं त्यागः ।

११४. सिद्धसेनगणिकृत टीका-तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (स्वोपज्ञभाष्य)- भाग २, अ.९, सू. ६, पृ- २०७.

११५. (क) भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक-भाग २, अ.९, सू.६ (टीका),पृ.९८.
ममेदमित्यभिसन्धिनिवृत्तिरकिंचन्यम् ।
(ख) क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भा. १, पृ. २३४.

अकिंचनता सकलग्रन्थत्यागः ।

११६. क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग ३, पृ. १९९.
जीवो बंभो जीवम्मि चेव चरियाहविज्ज जा जणिदो ।
तं जाण बंभचेर विमुक्कपरदेहतित्तिरस्स ।

११७. आत्मा ब्रह्म विविक्तबोधनिलयो यत्तत्र चर्ये पर ।
स्वगात्रासंगविवर्जितैकमनसस्तद्ब्रह्मचर्यं मुनेः । उपरिनिर्दिष्ट

११८. भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक - भाग २, अ-९, सू-६, टीका, पृ-५९८
अनुभूताङ्गनास्मरणतत्कथाश्रवणस्त्रीसंसक्तशयनासनादिवर्जनाद् ब्रह्मचर्यम्। २२।
अस्वातन्त्र्यार्थं गुरोः ब्रह्मणि चर्यमिति वा ।। २३ ।।

११९. उमास्वाति-तत्त्वार्थसूत्र (अनु. पं. सुखलालजी) - पृ. ३४०

१२०. सिद्धसेनगणिकृति टीका - तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (स्वोपज्ञभाष्य) - भाग २, अ. ९, सू. ६, पृ. २०७
व्रतपरिपालनाय ज्ञानाभिवृद्धये कषायपरिपाकाय च
गुरुकुलवासो ब्रह्मचर्यम् ।।

१२१. जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म. - जैनतत्त्वप्रकाश - पृ. २५१
आयुस्तेजो बलं वीर्यं, प्रज्ञा श्रीश्च महायशः।
पुण्यं च मतिप्रियत्वं च हन्यतेऽब्रह्मचर्यया ।।

१२२. प्रश्नव्याकरणसूत्र (पण्हावागरणं)-सं. पुप्फभिक्खू -सुत्तागमे, भा. १, सं. ४, पृ. १२३२.
एक्कंमि बंभचेरे जंमि य आराहियंमि आराहियं वयमिणं सव्वं ।

१२३. आचार्य श्रीआनंदऋषि - भावनायोग : एक विश्लेषण - पृ. १२५

१२४. आचार्य श्रीआनंदऋषि - भावनायोग : एक विश्लेषण - पृ. १२४

१२५. महर्षि व्यासदेव प्रणीत भाष्य-पातंजलयोगदर्शन - द्वितीय साधनपाद, २/३८, पृ. २४३.
ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ।। ३८।।

१२६. श्रीमद्भगवद्गीता-अ. २, श्लो. ६२.
ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।

१२७. उमास्वाति-सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र (हिंदी अनु. पं. खूबचन्द्रसिद्धान्तशास्त्री) पृ. ३९३.

१२८. क्षु. जैनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भा. १, पृ. ७२-७३
(क) पकम्मणिज्जरणट्ठमट्ठि मज्जाणुगयस्स सुदणाणमस्स
परिमलणमणुपेक्खाणाम ।
(ख) सुवत्थस्स सुदाणुसारेण चिन्तणमणुपेहणं णाम ।

१२९. (क) पूज्यपादाचार्य-सर्वार्थसिद्धि, अ. ९, सू- २ (टीका), पृ. २४०
शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा ।

(ख) उपरिनिर्दिष्ट, अ. ६, सू. २५ (टीका), पृ. २५६
अधिगतार्थस्य मनसाऽऽभ्यासोऽनुप्रेक्षा ।
(ग) बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री - जैनलक्षणावली - भा. १, पृ. ७३
अनु पुनः पुनः प्रेक्षणं चिन्तनं स्मरणमनित्यादिस्वरूपाणामित्यनुप्रेक्षा, निज-निजनामानुसारेण तत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा इत्यर्थः ।

१३०. (क) उमास्वाति-तत्त्वार्थसूत्र - अ. ६, सू. ७.
(ख) देवगुप्तसूरि - नवतत्त्वप्रकरणम् - भा. ८४-८५, पृ. ३८
पढममणिच्चमसरणय संसारी एगया य अण्णत्तं ।
असुइत्तं आसव संवर य तह निज्जरा नवी ।। ८४ ।।
लोगसहावो बोही, य दुल्लहा धम्मसाहओ अरहा ।
एया उ हुंति वारस, अणुपेहाओ जिणुदिट्ठा ।। ८५ ।।
(ग) आचार्य हेमचन्द्र-योगशास्त्र- चतुर्थप्रकाश, श्लो. ५५-५६, पृ. १२७
साम्यं स्यान्निर्ममत्वेन, तत्कृते भावनाः श्रयेत् ।
अनित्यतामशरणं भवमेकत्वमन्यताम् ।। ५५ ।।

१३१. उपरिनिर्दिष्ट, श्लो. ५७, पृ. १२८
यत्प्रातस्तन्न मध्याह्ने, यन्नमध्याह्ने न तन्निशि । निरीक्ष्यते भवेऽस्मिन् हि पदानानामनित्यता ।। ५७ ।।

१३२. आचार्य हेमचन्द्र-योगशास्त्र-(चतुर्थ प्रकाश), श्लो. ५८-६०, पृ. २८-१२६-

१३३. उपरिनिर्दिष्ट, श्लो. ६४, पृ. १२६
संसारे दुःखदावाग्नि-ज्वलज्ज्वाला-करालिते ।
वने मृगार्भकस्येव शरणं नास्ति देहिनः ।। ६४ ।।

१३४. उमास्वाति-सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र (हिंदी अनु. पं. खूबचन्द्रसिद्धान्तशास्त्री) - अ. ६, सू. ७, पृ. ३६५.

१३५. पंडित कविवर श्री दौलतरामजी-छहढाला - ५ वी ढाल, पृ. १३२
बहुगति दुःख जीव भरै है, परिवर्तन पच करै है; सबविधि संसार असारा, यामें सुख नहीं लगारा ।। ५ ।।

१३६. आचार्य हेमचन्द्र - योगशास्त्र (चतुर्थ प्रकाश) - श्लो. ६६, पृ. १३०
न याति कतमां योनिं कतमां वा न मुंचति । संसारी संसारकर्मसम्बन्धादय क्रय - कुटीमिव ।। ६६ ।।

१३७- उपरिनिर्दिष्ट, श्लो. ६८, ६६. पृ. १३०

१३८. आचार्य हेमचन्द्र-योगशास्त्र (चतुर्थ प्रकाश) - श्लो. ७०, पृ. १३१
यत्रान्यत्वं शरीरस्य वैसादृश्याच्छरीरिणः ।
धनबन्धुसहायानां तत्रान्यत्वं न दुर्वचम् ।। ७० ।।

१३६- उपरिनिर्दिष्ट, श्लो. ७२-७३, पृ. १३१-३२
रसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जा शुक्रान्त्रवर्चसाम् ।
अशुचीनां पदं कायः शुचित्वं तस्य तत्कुतः ।। ७२।।

नवस्त्रोत-स्रवद्विस्त्र-रसनिःस्यन्द-पिच्छिले ।
देहेऽपि शौचसंकल्पो महन्मोहविजृम्भितम् ।। ७३।।

१४०. (क) उमास्वाति-मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) - टीकाकार पं. पन्नालालजी जैन 'वसन्त', पृ. १७५.
(ख) आचार्य हेमचन्द्र-योगशास्त्र (चतुर्थ प्रकाश) - श्लो. ७४, पृ. १३२.
मनोवाक्कायकर्माणि योगाः कर्मशुभाशुभम् । यदायान्ति जन्तूनामास्रवास्तेन कीर्तिताः ।। ७४ ।।

१४१. (क) उमास्वाति-मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) - टीकाकार पं. पन्नालालजी जैन 'वसन्त', पृ. १७५
(ख) आचार्य हेमचन्द्र-योगशास्त्र (चतुर्थ प्रकाश) - श्लो. ८५, पृ. १३५
ज्ञेया सकामा यमिनामकामा त्वन्यदेहिनाम् ।
कर्मणां फलवत्पाको यदुपायात्स्वतोऽपि ।। ८७ ।।

१४२. (क) उमास्वाति - मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र)-टीकाकार पं. पन्नालालजी जैन 'वसन्त', पृ. १७६
(ख) आचार्य हेमचन्द्र-योगशास्त्र (चतुर्थ प्रकाश) - श्लो. ८७ पृ. १३५
ज्ञेया सकामा यमिनामकामा त्वन्यदेहिनाम् ।
कर्मणां फलवत्पाको यदुपायात्स्वतोऽपि ।। ८७ ।।

१४३. उपरिनिर्दिष्ट, श्लो. १०४, १०६, पृ. १४१
लोको जगत्त्रयाकीर्णो भुवः सप्तात्र वेष्टिताः ।
घनाम्भोधि-महावात-तनुवातैर्महाबलैः ।। १०४।।
निष्पादितो न केनापि न धृतः केनचिच्च सः।
स्वयंसिद्धो निराधारो गगने किन्त्ववस्थितः ।। १०६ ।।

१४४. (क) उमास्वाति-मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) - टीकाकार पं. पन्नालालजी जैन 'वसन्त', पृ. १७६.
(ख) आचार्य हेमचन्द्र-योगशास्त्र (चतुर्थ प्रकाश) - श्लो. १०६, पृ. १४१.
प्राप्तेषु पुण्यतः श्रद्धाकथनश्रवणेष्वपि ।
तत्त्वनिश्चयरूपं सद्बोधिरत्नं सुदुर्लभम् ।। १०६ ।।

१४५. (क) उमास्वाति-मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) - टीकाकार पं. पन्नालालजी जैन 'वसन्त', पृ. १७६.
(ख) आचार्य हेमचन्द्र-योगशास्त्र (चतुर्थ प्रकाश) - श्लो. ६४, १००,१०१,१०२, पृ. १३८-१४०.
धर्मप्रभावतः कल्पद्रुमाद्या ददतीप्सितम् ।
गोचरेऽपि न ते यत्स्युरधर्माधिष्ठितात्मनाम् ।। ६४ ।।
अबन्धूनामसौ बन्धुरसखीनामसौ सखा ।
अनाथानामसौ नाथो धर्मो विश्वैकवत्सलः ।। १०० ।।
रक्षोयक्षोरगव्याघ्रव्यालानलगरलादयः ।

नामकर्तुमलं तेषां यैर्धर्मः शरणं श्रितः ।। १०१ ।।
धर्मो नरकपातालपातादवति देहिनः ।
धर्मो निरुपमं यच्छत्यपि सर्वज्ञ-वैभवम् ।। १०२ ।।

१४६. क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भा. १, पृ. ८०.
किं पलवियेण बहुणा जे सिद्धा णरवरा गये काले सेझंति य जे (भ) विया तज्जाणह तस्स माहप्पं ।

१४७. क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग १, पृ. ८०.
विध्याति कषायाग्निर्विगलति रागो विलीयते ध्वान्तम् । उन्मिषति बोधदीपो हृदि पुंसां भावनाभ्यासात् ।।

१४८. द्वादशापि सदा चिन्त्या अनुप्रेक्षा महात्मभिः ।
तद्भावना भवत्येव कर्मणः क्षयकारण् ।। - उपरिनिर्दिष्ट

१४९- उपरिनिर्दिष्ट भाग ३, पृ. ३६.
दुःखोपनिपाते संक्लेषरहिता परीषहजयः ।

१५०. सो विपरिसह-विजओ छुहादि पीडाण अइरउदाणं ।
सवणाणं च मुणीणं उवसम-भावेण जं सहणं । - उपरिनिर्दिष्ट

१५१. (क) पूज्यपादाचार्य-सर्वार्थसिद्धि- अ. ९, सू. २ (टीका), पृ. २४०
परीषहस्य जयः परीषहजयः ।
(ख) क्षुधादिवेदनोत्पत्तौ कर्मनिर्जरार्थे सहनं परीषहः । - उपरिनिर्दिष्ट
उमास्वाति-सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र (हिंदी अनु. पं. खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री)- अ. ९, सू. ८, (भाष्य), पृ. ४०५
सम्यग्दर्शनादेर्मोक्षमार्गादच्यवनार्थं कर्म निर्जरार्थं च परिषोढव्याः परीषहा इति ।

१५३- उपरिनिर्दिष्ट अ. ९, सू. ९, (भाष्य), पृ. ४०६.
क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचना-लाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ।।

१५४. (क) सं. पुप्फभिक्खू-सुत्तागमे (समवायांग) - भाग १, पृ. ३३५
बावीसं परीसहा पण्णता तं जहा - दिगिंछापरीसहे, पिवासापरीसहे, सीतपरीसहे, उसिणपरीसहे, दंसमसगपरीसहे, अचेलपरीसहे, अरइपरीसहे, इत्थीपरीसहे, चरिआपरीसहे, नीसीहिआपरीसहे, सिज्जापरीसहे, अक्कोसपरीसहे, वहपरीसहे, जायणापरीसहे, अलाभपरीसहे, रोगपरीसहे, तणफासपरीसहे, मल्लपरीसहे, सक्कारपुरक्कारपरीसहे, पण्णापरीसहे, अण्णाणपरीसहे, दंसणपरीसहे ।
(ख) उपरिनिर्दिष्ट (भगवई) - श. ८, उ. ८, पृ. ५५९.
(ग) उत्तराध्ययनसूत्र-अध्याय २.
(घ) उमास्वाति-तत्त्वार्थसूत्र - अ. ९, सू. ८-१६.

१५५. क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग ३, पृ. ३७.
मोक्तुं च प्रतपनक्षुदादिवपुषो द्वाविंशतिः, वेदना स्वस्थो यत्सहते परीषहजयः साध्यः स धीरैः परम् ।।
१५६. क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग २, पृ. २८२.
(क) चरति चर्यतेऽनेन चरणमात्रं वा चारित्रम् ।
(ख) चरति याति तेन हितप्राप्तिं अहितनिवारणं चेति चारित्रम् । चर्यते सेव्यते सज्जनैरिति वा चारित्रं सामायिकादिकम् ।
(ग) स्वस्मिन्नेव खलु ज्ञानस्वभावे निरन्तरचरणाच्चारित्रं भवति ।
(घ) स्वरूपे चरणं चारित्रं । स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः ।
१५७. कुन्दकुन्दाचार्य-प्रवचनसार - अ. १, गा. ७ पृ. ७,
चारित्तं खलु धम्मो ।
१५८. (क) उमास्वाति-सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र (हिंदी अनु पं. खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री) - अ. १, सू. १, पृ. १५.
सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।। १ ।।
(ख) पूज्यपादाचार्य-सर्वार्थसिद्धि - अ. ६, सू. १८ (टीका), पृ. २५६.
चारित्रमन्ते गृह्यते मोक्षप्राप्तेः साक्षात्कारणमिति ज्ञापनार्थम् ।
(ग) क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भा. २, पृ. २८४
चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् । सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनात्मरूपम् तत् ।
१५९. (क) उमास्वाति-सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र - अ. ६, सू. १८, पृ. ३५२.
सामायिकच्छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपराययथाख्यातानि चारित्रम् ।।१८।।
(ख) उत्तराध्ययनसूत्र - अ. २८, गा. ३२, ३३
सामाइयत्थ पढमं छेओवट्ठावणं भवे वीयं । परिहारविसुद्धीयं सुहुमं तह संपरायं च ।। अकसायं अहक्खायं छउमत्थस्स जिणस्स वा ।।
१६०. (क) प्रकाशक - सेठ वेणीचंद सुरचंद-नवतत्त्वप्रकरण (सार्थ), पृ. ११०
(ख) क्षु. जिनेन्द्र वर्णी-जिनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भा. ४, पृ. ४२०
सव्वे जीवा णाणपया जो समभाव मुणेइ । सो सामाइय जाणि फुडु जिणवर एम भणेइ । रायरोस वि परिहरिवि जो समभाउ मुणेइ ।
१६१. प्रकाशक - सेठ वेणीचंद सुरचंद-नवतत्त्वप्रकरण (सार्थ), पृ. ११०
१६२. उमास्वाति-मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) - टीकाकार-पन्नालालजी जैन 'वसन्त', अ. ६, सू. १८, पृ. १८२.
१६३. क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जिनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग २, पृ. ३०७.
प्रमादकृतानर्थप्रबन्धविलोपे सम्यक्त्वानर्थप्रबन्धविलोपे सम्यक्त्वप्रतिक्रिया छेदोपस्थापना विकल्पनिवृत्तिर्वा ।

१६४. श्रीमदमृतचन्द्रसूरि - तत्त्वार्थसार - षष्ठाधिकार, श्लो- ४६, पृ- १७३-
यत्र हिंसादिभेदेन त्यागः सावद्यकर्मणः ।
व्रतलोपे विशुद्धिर्वाछेदोपस्थापनं हि तत् ॥ ४६ ॥

१६५. (क) प्रकाशक-सेठ वेणीचंद सुरचंद - नवतत्त्वप्रकरण (सार्थ), पृ. १११-११२
(ख) उमास्वाति-मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) - टीकाकार पन्नालालजी जैन 'वसन्त', अ. ६, सू. १८, पृ. १८२
(ग) क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग ३, पृ. ३४
परिहरणं परिहारः प्राणिवधान्निवृत्तिः ।
तेन विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिंस्तत्परिहारविशुद्धिचारित्रम् ।
(घ) मिच्छादिऊ जो परिहरणु सम्मदं सण-सुद्धि ।
सो परिहारविसुद्धि मुणि लहु पावहि सिव-सिद्धि । उपरिनिर्दिष्ट
(च) मिथ्यात्वरागादिविकल्पमालानां प्रत्याख्यानेन परिहारेण विशेषेण स्वात्मनः शुद्धिर्नैर्मल्यपरिहारविशुद्धिचारित्रमिति । उपरिनिर्दिष्ट

१६६. (क) प्रकाशक-सेठ वेणीचंद सूरचंद-नवतत्त्वप्रकरण (सार्थ), पृ. ११३-११५
(ख) उमास्वाति-मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) - टीकाकार पन्नालालजी जैन 'वसन्त', अ. ६, सू. १८, पृ. १८२-१८३.
(ग) उमास्वाति-तत्त्वार्थसूत्र (पं. सुखलालजी)-अ. ६, सू. १८, पृ.३५२-५३
(घ) प्र. सेठ वेणीचंद सुरचंद-नवतत्त्वप्रकरण (सार्थ), पृ. ११३
ततश्च यथाख्यातं, ख्यातं सर्वस्मिन् जीवलोके ।
यच्चरित्वा सुविहिता गच्छन्त्यजरामरं स्थानम् ॥ ३३ ॥

१६७. गृद्धपिच्छाचार्य-तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) - मराठी अनु. श्री. ब्र. जीवराज गौतमचंद दोशी, पृ. २७५.

१६८. क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जिनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग ४, पृ. १४२.
यथा सुगुप्तसुसंवृतद्वारकपाटं पुरं सुरक्षितं दुरासदमारातिभिर्भवति, तथा सुगुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रात्मनः सुसंवृतेन्द्रियकषाययोगस्य अभिनवकर्मागमद्वारसंवरणात् संवरः ।

१६९. देवेन्द्रमुनि शास्त्री - जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण - पृ- २०६

१७०. क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग ४, पृ. १४३.

१७१. संयोजक : उदयविजयगणि - नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह (श्रीहेमचन्द्रसूरि-सप्ततत्त्वप्रकरणम्), पृ. १५.
यथा चतुष्पथस्थस्य बहुद्वारस्य वेश्मनः ।
अनावृतेषु द्वारेषु, रजः प्रविशति प्रशान्तं ध्रुवम् ॥ ११८ ॥
प्रविष्टं स्नेहयोगाच्च, तन्मयत्वेन वध्यते ।

न विशेन्न च वध्येत, द्वारेषु स्थगितेषु च ।। ११९ ।।
यथा वा सरसि क्वापि, सर्वैर्द्वारैर्विशेज्जलम् ।
तेषु तु प्रतिरुद्धेषु, प्रविशेन्न मनागपि ।। १२० ।।
यथा वा यानपात्रस्य, मध्ये रन्ध्रैर्विशेज्जलम् ।।
कृते रन्ध्रपिधाने तु, न स्तोकमपि तद्विशेत् ।। १२१ ।।
योगादिष्वाश्रवद्वारेष्वेवं रुद्धेषु सर्वतः ।
कर्मद्रव्यप्रवेशो न, जीवे संवरशालिनि ।। १२२ ।।

## सप्तम अध्याय

# निर्जरा तत्त्व

## [Exhaustion of Karma]

नव तत्त्वों में निर्जरा सातवाँ तत्त्व है। निर्जरा का तात्पर्य है - पूर्वबद्ध कर्मों का अंशतः क्षय करना। निर्जरा शब्द का अर्थ है - झड़ना या कम होना। नवीन कर्मों का आगमन रोक देना, संवर है और पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करना, निर्जरा है। इस प्रकार संवर से नये कर्मों का आगमन रुककर तथा निर्जरा के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः पूर्व कर्मों का आंशिक क्षय होता ही निर्जरा कहा जाता है। जीव अनादि काल से ८ कर्मों के वशीभूत होकर संसार में परिभ्रमण कर रहा है। कर्मों के बन्ध का हेतु आस्रव है। बँधे हुए कर्म उदय में आकर अर्थात् अपना फल देकर समाप्त हो जाते हैं।

जीवात्मा के असंख्य प्रदेश होते हैं और इन प्रदेशों के द्वारा वह कर्मों का आस्रव और बन्ध करता है। जैसे-जैसे कर्मों का क्षयोपशम होता जाता है वैसे-वैसे जीवात्मा आवरण से रहित होकर उज्ज्वल होता जाता है। जीवात्मा का कर्मों के आवरण से रहित होकर उज्ज्वल होना ही निर्जरा है। जीव का आंशिक रूप से कर्ममल से रहित होकर उज्ज्वल होना ही भगवान् महावीर के शब्दों में निर्जरा है। और जब सम्पूर्ण कर्ममल साफ हो जाता है, तब मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। मोक्ष आत्मा का सर्वोच्च लक्ष्य है और सम्पूर्ण रूप से कर्मों का क्षय हो जाने की अवस्था है।

## निर्जरा का अर्थ

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, आत्मप्रदेशों से कर्ममल का आंशिक रूप से क्षय होना निर्जरा है - 'एकदेशकर्मसंशयलक्षणा निर्जरा' (सर्वार्थसिद्धि, अध्याय १, सू. ४)।

तत्त्वार्थवृत्ति में कहा गया है कि कर्मों का आंशिक रूप से क्षय होना और आत्मा का आंशिक रूप से विशुद्ध होना ही निर्जरा है। जैन-दर्शन के अनुसार आस्रव के द्वारा कर्म आते हैं और राग-द्वेष के द्वारा बन्ध को प्राप्त होते हैं। जब तक जीवात्मा में राग-द्वेष के तत्त्व उपस्थित हैं, तब तक आस्रव और बन्ध की परम्परा चलती रहती है। यही संसार है। किन्तु जब आत्मा स्वरूप का परिज्ञान कर अपने स्वभाव में स्थित होता है अर्थात् राग-द्वेष से ऊपर उठता है अर्थात् वीतराग-अवस्था को प्राप्त करता है, तब नवीन कर्मों का आगमन अर्थात् आस्रव रुक जाता है। आस्रव का अभाव होने पर बन्ध भी नहीं होता है। आस्रव का रुक जाना ही संवर है।

संवर के द्वारा नवीन कर्मों का आगमन तो रुक जाता है किन्तु पूर्वबद्ध कर्मों की सत्ता बनी रहती है। जब तक पूर्वबद्ध कर्म नष्ट नहीं होते तब तक मुक्ति नहीं मिलती। पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट करने की यह प्रक्रिया ही निर्जरा कही जाती है। यह बात निम्नांकित उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है।

तालाब में जब तक पानी के आगमन के स्रोत खुले रहते हैं, पानी का आगमन नहीं रुकता। उन स्रोतों को बन्द कर देने पर नवीन पानी का आगमन तो रुक जाता है परन्तु जो पानी तालाब में भरा हुआ है, उसे निकाले बिना तालाब रिक्त नहीं होता। तालाब में पानी के आगमन के स्रोतों को बन्द कर देना संवर है। और उसमें भरे हुए जल को निकाल देना या सुखा देना निर्जरा है। निर्जरा के द्वारा साधक आत्मारूपी तालाब से कर्मरूपी जल को निकालकर बन्धन से मुक्त हो जाता है।

आगमों में कहा गया है कि आत्मा पर लगे हुए कर्ममल का आंशिक रूप से क्षय होना अथवा उसका आत्मप्रदेशों से अलग होना ही निर्जरा की साधना है। आगमों में तप को निर्जरा का साधन बताया गया है। तप रूपी अग्नि कर्मरूपी ईंधन को जलाकर नष्ट कर देती है। तप से पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय कर जीवात्मा सर्वदुःखों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है।[1] जिस प्रकार सूर्य की गर्मी से पूर्व में तालाब में भरा हुआ पानी सूख जाता है उसी प्रकार तप रूपी अग्नि से कर्मरूपी संचित जल सूख जाता है।

तप कर्मों को नष्ट करने की प्रक्रिया है। मिथ्यात्व, कषाय तथा राग-द्वेष का त्याग करके निष्काम भाव से तपःसाधना, आत्मविशुद्धि के लिये आवश्यक है। आसक्तिपूर्वक अंहकार से युक्त होकर भौतिक उपलब्धियों के लिये किया गया तप मात्र बाह्य तप है। उससे शरीर ही जीर्ण होता है, किन्तु मनोविकार नहीं जाते। वस्तुतः मनोविकारों को नष्ट करना ही तप का वास्तविक अर्थ है।

जिस प्रकार मक्खन से घी निकालने के लिये मक्खन को तपाना आवश्यक होता है। मक्खन को इसलिये तपाया जाता है कि उसमें जो छाछ आदि है, वह उष्णता के द्वारा नष्ट हो जाय और शुद्ध घी की प्राप्ति हो। उसी प्रकार जीवात्मा में पर के संयोग के निमित्त से जो विकारदशा प्राप्त होती है, उसे समाप्त करके शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करने के लिये ही तप किया जाता है। तप रूपी अग्नि आत्मा के विकारों को नष्ट करती है।

## निर्जरा का स्वरूप

जप, तप और ध्यान आदि के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट करना निर्जरा है। कषायों के कारण उत्पन्न दुःखों को समाप्त करना ही निर्जरा का उद्देश्य है। जीव अनादि काल से संसार रूपी समुद्र को पार करने का प्रयत्न

करता रहा है, किन्तु कर्मों की उपस्थिति के कारण वह संसार-सागर को पार करने में समर्थ नहीं हो पाता।

जीव आठ कर्मों के चक्र में इस प्रकार बँधा हुआ है कि वह अपने स्वरूप को भी विस्मृत कर चुका है। जब तक वह कर्मों से बद्ध है तब तक संसार चक्र निरन्तर चलता ही रहता है। कर्मों के इस बन्धन से कैसे छूटा जाय, इस विषय पर जब तक विचार नहीं होता तब तक इस संसारचक्र का भी निरोध नहीं होता। इसकी गति निरन्तर चलती रहती है। जिस प्रकार छिद्रयुक्त नौका से पानी को निकालने का कितना ही प्रयत्न किया जाय, नौका कभी खाली नहीं होती। अपितु जल से भरकर वह डूब ही जाती है। उसी प्रकार आत्मा में जब तक आस्रवरूपी द्वार खुले हुए हैं, नवीन कर्मों का आगमन निरन्तर जारी है, तब तक भवसागर से पार होना कठिन है। संवर के द्वारा उन छिद्रों को बन्द करके तथा तप के द्वारा नौका में स्थित जल को उलीचकर ही संसार-महासागर से पार हुआ जा सकता है। नौका में बचे हुए कर्मरूपी जल को निकालना अर्थात् आत्मा को कर्म से अलग करना ही निर्जरा है।

जब कर्मों को नष्ट करने की इच्छा होगी तभी निर्जरा के द्वारा आत्मा का कर्मरूपी मल नष्ट होगा। जिस प्रकार नौका में बैठा हुआ व्यक्ति, नौका में जल के आगमन के छिद्रों को बन्द करके तथा उसमें स्थित जल को निकालकर ही पार पहुँच सकता है; उसी प्रकार साधक संवर के द्वारा कर्मरूपी जल के आगमन को रोककर तथा निर्जरा के द्वारा पूर्व संचित कर्मरूपी जल को निकालकर ही संसार-सागर को पार कर सकता है, अर्थात् मोक्षसुख को प्राप्त कर सकता है।

जीव का कर्मों से आंशिक रूप से मुक्त होने का प्रयास निर्जरा कहा जाता है। जब जीवात्मा आंशिकरूप से अर्थात् थोड़े-थोड़े रूप से कर्मरूपी मल को क्षीण करता हुआ, इस स्थिति में पहुँचता है कि उसका सम्पूर्ण कर्मरूपी मल समाप्त हो जाता है; तब उसे पूर्ण मुक्ति की प्राप्ति होती है और वह अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त सुख रूप अनन्त चतुष्टय का अधिकारी होता है।[२]

## निर्जरा के दो प्रकार

निर्जरा दो प्रकार की कही गयी है - (१) अविपाक निर्जरा और (२) सविपाक निर्जरा। इन्हें क्रमशः औपक्रमिक निर्जरा तथा अनौपक्रमिक निर्जरा भी कहा जाता है।

कर्मों का अपनी कालमर्यादा के परिपक्व होने पर अपना फल देकर नष्ट हो जाना, सविपाक निर्जरा है। जबकि पूर्वबद्ध कर्मों को उनकी कालमर्यादा के पूर्ण होने के पूर्व ही उदय में लाकर समाप्त कर देना, अविपाक निर्जरा है। सविपाक

निर्जरा तो जीवात्मा हर समय करता ही रहता है। किन्तु इससे मुक्ति प्राप्त नहीं होती। क्योंकि नये कर्मों के आगमन की परम्परा यथावत् चलती रहती है। सविपाक और अविपाक निर्जरा को निम्नांकित उदाहरण के द्वारा भी समझाया जा सकता है। जिस प्रकार वृक्ष पर लगे हुए फल उनकी काल-सीमा के पूर्ण होने पर स्वतः ही पककर गिर जाते हैं, उसी प्रकार सविपाक निर्जरा में कर्म अपना फल देकर नष्ट होते रहते हैं। किन्तु कर्मों के इस स्वाभाविक विपाक के समय जीव राग-द्वेष के वशीभूत होकर नवीन कर्मों का बन्ध करता रहता है। इस प्रकार कर्म-परम्परा चलती रहती है। किन्तु जिस प्रकार पेड़ पर लगे हुए फलों को समय-मर्यादा के पूर्व ही तोड़कर, गर्मी आदि देकर पका लिया जाता है, उसी प्रकार कर्मों के उदय में आने के पूर्व ही तपरूपी अग्नि से उन्हें नष्ट कर देना अविपाक निर्जरा है।

सविपाक निर्जरा केवल उदयाधीन कर्मों की ही होती है, जबकि अविपाक निर्जरा उनकी भी होती है, जो कर्म अभी उदय के योग्य नहीं बने हैं। सविपाक निर्जरा संसारी जीव सदैव करता रहता है, किन्तु अविपाक निर्जरा तो सम्यक्दृष्टि-व्रतधारी जीव ही करने में समर्थ होते हैं। कर्ममल को आत्मा से अलग करना जीव का स्वभाव है किन्तु यह तब तक सम्भव नहीं होता, जब तक जीवात्मा अपने स्वरूप का बोध प्राप्त नहीं कर लेता।

नवीन कर्मों के आस्रव को रोकना और पूर्वबद्ध कर्मों को छः प्रकार के बाह्य तथा छः प्रकार के अभ्यन्तर तपों के द्वारा नष्ट करना - सम्यक्दृष्टि-जीव का प्रयत्न होता है। जब तक जीव मिथ्यात्व के वशीभूत होकर राग-द्वेष के द्वारा नये कर्मों का बन्ध करता रहता है, तब तक वह मुक्ति को प्राप्त नहीं होता।

जो जीव सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान से युक्त होकर सम्यक् चारित्र्य के द्वारा अपने विकारी भावों को आंशिक रूप से नष्ट करता है, उसके कर्मों की अविपाक निर्जरा होती है। अविपाक निर्जरा में कर्म, फल देने के पूर्व ही तप आदि के द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं। अपना फल देने के पूर्व तप आदि के द्वारा कर्मों को नष्ट कर देना, अविपाक निर्जरा है। और कर्मों का, अपने स्वाभाविक क्रम से समयमर्यादा पूर्ण होने पर फल देकर नष्ट हो जाना, सविपाक निर्जरा कहलाता है।

कर्ममल को समाप्त करने के लिए मुनिजन दुष्कर तप करते हैं। रात्रि में श्मशान आदि भयानक स्थानों पर खड़े रहकर ध्यान करते हैं। भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि अनेक प्रकार के परीषहों को सहन करते हैं। दूसरे प्राणियों के द्वारा दिये गये नानाविध कष्टों को सहते हैं। केशलोच आदि अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करते हैं। अठारह प्रकार के संयमों का पालन करते हैं। सम्पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। स्त्री-पुत्र, परिजन आदि के प्रति राग-द्वेष का त्याग करके सभी प्रकार के परिग्रह का त्याग करते हैं। यहाँ तक कि अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं रखते हैं। उग्र तपस्या आदि के द्वारा वासनाओं

का दमन करते हैं। यह सब अविपाक एवं सकाम निर्जरा कहा जाता है क्योंकि इसमें इच्छापूर्वक कर्मों का क्षय करने का प्रयत्न किया जाता है।

सकाम निर्जरा प्रयत्नपूर्वक होती है और उसमें कर्मों को उसके फल देने के पूर्व ही उदय में लाकर नष्ट कर दिया जाता है। विवशता से जीवात्मा अनेक प्रकार के कष्टों को भोगता हुआ सविपाक या अकाम निर्जरा तो हर समय करता ही रहता है; किन्तु जब स्वेच्छा से कष्टों को सहन करके आत्मपुरुषार्थ के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट किया जाता है, तभी अविपाक निर्जरा या सकाम निर्जरा होती है।[३] यही मुक्ति का मार्ग है।

## निर्जरा के बारह प्रकार

संयोगों के कारण आत्मा में आये हुए अशुद्ध भाव या विकार भाव को नष्ट करने के लिये तथा आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रकट करने के लिये तप-साधना आवश्यक है। जीवात्मा तपरूपी अग्नि में तपकर ही आत्मविशुद्धि कर सकता है। भोजन-पानी आदि का त्याग करना बाह्य तप है। किन्तु कषाय, कामना, इच्छा, आकांक्षा, ममत्व-बुद्धि और तृष्णा का त्याग करना ही वास्तविक तप है। सम्यक् तप का प्रयोजन आत्मविशुद्धि है। इसलिये मोक्ष-मार्ग की साधना में आत्मा में जो कर्मों का आगमन है, उसे समाप्त करने के लिए तप किया जाता है। यह तप ही निर्जरा है।

स्थानांगसूत्र में निर्जरा एक प्रकार की बतायी गयी है - 'एगा निज्जरा' । परन्तु अन्य स्थानों पर निर्जरा के बारह प्रकारों का भी उल्लेख हुआ है। जिस प्रकार अग्नि एक ही होती है, किन्तु तृण, काष्ठ आदि निमित्त-भेदों के कारण वह काष्ठाग्नि, तृणाग्नि आदि कही जाती है। उसी प्रकार कर्ममल को नष्ट करने रूप निर्जरा तो वस्तुतः एक ही प्रकार की है; किन्तु जिन-जिन साधनों से यह निर्जरा की जाती है, उन-उन साधनों के आधार पर उसके बारह भेद बताये गये हैं। निर्जरा के बारह प्रकार निम्नांकित हैं -

१. अनशन - भोजन आदि का त्याग करना अनशन है।
२. अवमौदर्य - आवश्यकता से कम खाना या आहार के परिमाण में कमी करना।
३. वृत्तिपरिसंख्यान - भिक्षावृत्ति करते समय वस्तु तथा उसकी मात्रा आदि में कमी करना।
४. रसपरित्याग - दूध, दही, घी-तेल, शक्कर, गुड़ आदि का त्याग करना।
५. विविक्तशय्यासन - एकान्त स्थान में रहना और अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण करना।
६. कायक्लेश - शारीरिक कष्टों को सहन करना। जैसे - भूमि पर शयन करना आदि।

७. प्रायश्चित्त - आत्मालोचनपूर्वक अपने द्वारा कृत पापों का प्रायश्चित्त करना।
८. विनय - विनम्रता धारण करना अथवा वरिष्ठजनों को सम्मान देना।
६. वैयावृत्य - ग्लान, वृद्ध एवं रोगी जनों की सेवा करना।
१०. स्वाध्याय - आत्मा के शुद्ध स्वरूप का बोध करना अथवा सद्ग्रन्थों का अध्ययन करना-कराना।
११. व्युत्सर्ग - शरीर आदि के प्रति ममत्वबुद्धि का त्याग करना।
१२. ध्यान - शारीरिक स्थिरता एवं मौनपूर्वक आत्मचिन्तन या ध्यान करना।[४]

इन बारह प्रकार के तपों में प्रथम छः बाह्य तप और अन्तिम छः अभ्यन्तर तप कहे जाते हैं।[५] जो स्वेच्छापूर्वक तपः-साधना करता है वह पूर्वबद्धसत्ता में रहे हुए कर्मों को नष्ट करके शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करता है। तप रूपी अग्नि से कर्मरूपी ईंधन जल जाने पर आत्मा कर्मों के भार से हल्का होता है। तपः साधना करते हुए उत्कृष्ट भावों के आने पर जीव तीर्थंकर नामगोत्र का भी उपार्जन कर सकता है। तप कर्मों को नष्ट करता है, संसार के परिभ्रमण को समाप्त करता है और आत्मा को मुक्ति प्रदान करता है। उसे सिद्धस्वरूप बना देता है। तप के द्वारा अनेक जन्मों के संचित कर्म भी एक क्षण में नष्ट हो जाते हैं। तपरूपी रत्न अमूल्य रत्न है। इसमें अनेक गुण हैं।

तप या निर्जरा के द्वारा जीव आत्मा को कर्मों के मल से अलग करता है। साथ ही कर्मों से निवृत्त होकर शुद्ध परमोज्ज्वल आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है।

निर्जरा मोक्ष का मार्ग है। जिस व्यक्ति में कर्म की निर्जरा की भावना होती है, उसने मोक्ष मार्ग का अवलम्बन किया है, ऐसा कहा जा सकता है।[६] तप के द्वारा संवर और निर्जरा दोनों ही होते हैं। जिस प्रकार तप इन्द्रियसंयम के रूप में संवर का उपाय है, उसी प्रकार तप कर्मों की निर्जरा का भी उपाय है। तप लौकिक और पारलौकिक सुख का साधन है। वह निःश्रेयस का मार्ग है। वस्तुतः तप तो एक ही है, परन्तु जब वह सकाम होता है तो लौकिक सुखों का साधन बनता है और जब वह निष्काम होता है तो निर्जरा या मुक्ति का साधन बनता है।[७]

सकाम तप से अभ्युदय और निष्काम तप से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार एक ही अग्नि अन्न को तपाने और जलाने दोनों का काम करती है; उसीप्रकार तप एक ओर लौकिक और पारलौकिक सुखों की प्राप्ति कराता है, तो दूसरी ओर पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट करता है अथवा जिस प्रकार किसान धान्य के लिये खेती करता है, किन्तु घास-भूसे आदि की प्राप्ति स्वाभाविक रूप से हो जाती है। उसी प्रकार तप का मुख्य लक्ष्य तो कर्मक्षय होता है, किन्तु उससे लौकिक सुखों की प्राप्ति भी आनुषंगिक रूप से हो जाती है।[८]

तप के अभ्यन्तर और बाह्य दोनों ही प्रकार वर्णित हैं। जिस तप में शारीरिक क्रिया प्रमुख होती है अथवा जो दूसरों को तप के रूप में दिखायी देता है, वह बाह्य तप कहलाता है। इसके विपरीत जो बाहर से तप के रूप में दिखायी नहीं देता और जिसमें मानसिक साधना ही प्रमुख होती है, वह अभ्यन्तर तप कहा जाता है। अग्रिम पृष्ठों में तप के उपर्युक्त बारह प्रकारों की चर्चा की जायेगी।

१. **अनशन** - मर्यादित समय के लिये या आजीवन के लिये आहार का त्याग करना अनशन कहलाता है। इसे उपवास या अनशन के रूप में जाना जाता है। वैसे तो उपवास रोगनिवृत्ति के लिये भी किये जाते हैं, परन्तु जो उपवास आध्यात्मिक विशुद्धि के लिये किया जाता है, वही वास्तविक उपवास है। अनशन का उद्देश्य, संयम का रक्षण और कर्मों की निर्जरा दोनों ही हैं।[९]

संक्षेप में संयम की साधना, देह के प्रति राग भाव का विनाश, ध्यान-साधना अथवा ज्ञानसाधना के लिये अनशन की आवश्यकता होती है। साथ ही इससे जिनशासन की प्रभावना भी होती है।[१०]

**अनशन के प्रकार** - अनशन दो प्रकार के होते हैं -

(क) इत्वरिक और (ख) यावज्जीवन ।

(क) इत्वरिक - एक निर्धारित समय के लिये जो अनशन किया जाता है, वह इत्वरिक अनशन कहलाता है। इसमें निर्धारित कालमर्यादा के समाप्त होने पर भोजन की आकांक्षा बनी रहती है।

(ख) यावज्जीवन - जीवनभर के लिये भोजन का और भोजन की आकांक्षा का त्याग कर देना, यावज्जीवन अनशन कहलाता है।

इत्वरिक अनशन के संक्षेप में छः प्रकार बताये गये हैं - (१) श्रेणीतप, (२) प्रतरतप, (३) घनतप, (४) वर्गतप, (५) वर्गवर्गतप और (६) प्रकीर्णतप। विशिष्ट कालमर्यादा को लेकर जो इत्वरिक अनशन तप किये जाते हैं, वे मनुष्य की इच्छानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के फल देने की सामर्थ्य रखते हैं।

शारीरिक स्थिति के आधार पर मृत्युपर्यन्त जो अनशन किया जाता है, वह दो प्रकार का है - (१) सविचार अर्थात् जिसमें शारीरिक गतिविधियाँ की जा सकती हैं। (२) अविचार[११] - जिसमें हलन-चलन आदि शारीरिक क्रियाएँ नहीं की जा सकती हैं। सभी तपों में अनशन तप को इसलिये प्रथम स्थान दिया जाता है कि यह तप अत्यधिक कठोर और दुर्धर होता है। अनशन तप के द्वारा क्षुधा पर विजय प्राप्त की जाती है। और संसार में क्षुधा पर विजय प्राप्त करना सर्वाधिक कठिन कार्य है। कहा जाता है कि भूखा व्यक्ति कौन-सा पाप नहीं करता है। इस क्षुधा पर नियन्त्रण करना ही अनशन तप की साधना है।

२. **ऊनोदरी या अवमौदर्य** - ऊनोदरी यह तप का दूसरा प्रकार है। 'ऊन' का अर्थ न्यून या कम होता है। उदर (पेट) की आवश्यकता से कम

खाना या उसके कुछ भाग को खाली रखना अवमौदर्य तप कहा जाता है।[92] इसे अवमौदरिका[93] अथवा ऊनोदरिका[94] भी कहा जाता है।

संक्षेप में ऊनोदरी तप का तात्पर्य आहार के परिमाण में कमी करना अथवा अपेक्षित आहार से कम आहार ग्रहण करना है। कषाओं में कमी करना, ऊनोदरी तप का भावपक्ष है। यह एक प्रकार से अपनी क्षुधा पर नियन्त्रण करने का प्रयास है।

**ऊनोदरी के प्रकार** - आगम साहित्य में ऊनोदरी तप के एक अपेक्षा से दो प्रकार और अन्य अपेक्षा से पाँच प्रकार कहे गये हैं। ऊनोदरी तप के द्विविध वर्गीकरण में द्रव्य ऊनोदरी और भाव ऊनोदरी - ये दो प्रकार माने गये हैं। जबकि इस तप के पञ्चविध वर्गीकरण में द्रव्य ऊनोदरी, क्षेत्र ऊनोदरी, काल ऊनोदरी, भाव ऊनोदरी एवं पर्याय ऊनोदरी - ये पाँच प्रकार बताये गये हैं।[95] यहाँ इनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है।

१. द्रव्य ऊनोदरी - द्रव्य शब्द वस्तु का सूचक है। आवश्यकता की अपेक्षा आहार के परिमाण को कम करना अथवा वस्त्रादि के परिमाण को कम करना, द्रव्य ऊनोदरी तप कहा जाता है।
२. क्षेत्र ऊनोदरी - भिक्षाचर्या के लिये सीमित क्षेत्र का निर्धारण करके, उस क्षेत्र में उपलब्ध भिक्षा से ही अपनी क्षुधा शान्त करना, क्षेत्र ऊनोदरी तप है।
३. काल ऊनोदरी - भिक्षाचर्या के लिये एक समय-मर्यादा निश्चित करके, उस समय में उपलब्ध भिक्षा से ही अपनी क्षुधा को शान्त करना, काल ऊनोदरी तप कहा जाता है।
४. भाव ऊनोदरी - भिक्षा ग्रहण करने के लिये विशिष्ट प्रकार के अभिग्रह करना, भाव ऊनोदरी तप है। जैसे - पति-पत्नी युगल रूप से भिक्षा के लिये निवेदन करेंगे, तो ही भिक्षा लूँगा आदि।
५. पर्याय ऊनोदरी - विशिष्ट प्रकार से आचरण करना, पर्याय ऊनोदरी तप है।

स्थानांगसूत्र में ऊनोदरी तप के तीन प्रकारों का उल्लेख हुआ है - (१) उपकरण ऊनोदरी, (२) भक्तपान ऊनोदरी तथा (३) भाव ऊनोदरी ।

१. उपकरण ऊनोदरी - संयमी जीवन के लिये जो अपेक्षित वस्त्र पात्रादि उपकरण होते हैं, उनमें कमी करना उपकरण ऊनोदरी तप है।
२. भक्तपान ऊनोदरी - भोजन-पानी आदि की मात्रा को सीमित एवं अल्प करना, भक्तपान ऊनोदरी तप कहा जाता है। शरीर के लिये अपेक्षित आहार ग्रहण करना ही स्वास्थ्य का साधक होता है। मात्रा से अधिक आहार ग्रहण करना, रोग का कारण होता है और वह शारीरिक शक्ति को भी क्षीण करता है। इसलिए खान-पान की मर्यादाएँ स्वीकार करना ही ऊनोदरी तप का उद्देश्य है।

३. भाव ऊनोदरी - भाव अर्थात् मनोवृत्ति। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय हमारी मनोवृत्ति के ही अंग हैं। इन कषायों को क्षीण करना या नष्ट करना, भाव ऊनोदरी तप है।[१६] भाव ऊनोदरी तप दाता और ग्रहीता की अपेक्षा से दो प्रकार का है।

## ३. वृत्तिपरिसंख्यान (भिक्षाचर्या) -

विविध वस्तुओं की लालसा को कम करना या भोगाकांक्षा पर अंकुश लगाना वृत्तिपरिसंख्यान तप कहा जाता है। वृत्ति का अर्थ भिक्षावृत्ति भी है। भिक्षावृत्ति के लिये विविध प्रकार की मर्यादाओं को स्वीकार करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है। जैसे - दो या तीन घरों से ही भिक्षा ग्रहण करूँगा, अथवा एक या दो बार में पात्र में जो आहार आयेगा उसी से संतुष्ट रहूँगा। यही वृत्तिपरिसंख्यान है।[१७]

जैन-परम्परा में भिक्षाचर्या को गोचरी या मधुकरी भी कहा जाता है। जैसे - गाय घास को ऊपर-ऊपर से ग्रहण करके अपनी क्षुधा तृप्त कर लेती है और जैसे भौंरा थोड़ा-थोड़ा ऊपर से रस ग्रहण करके क्षुधा शान्त कर लेता है। उसी प्रकार मुनि भी ग्रहस्थों के घर से थोड़ी-थोड़ी भिक्षा ग्रहण करके अपनी क्षुधा की निवृत्ति कर लेता है। वस्तुतः यह दृष्टिकोण न केवल जैन-परम्परा का है, अपितु बौद्ध तथा वैदिक दर्शन में भी भिक्षा-ग्रहण करने की यही विधि मानी गयी है। भिक्षावृत्ति को विविध प्रकार से मर्यादित करना ही वृत्तिसंक्षेप तप कहलाता है।[१८]

भिक्षाचर्या का शाब्दिक अर्थ याचना है। यहाँ यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि याचना और तप का क्या संबंध है? क्या केवल याचना करने से ही कोई क्रिया तप हो सकती है? नहीं। याचना करने से तप नहीं होता। अपितु तप तभी होता है जब नियमपूर्वक शास्त्र के अनुसार वस्तु की याचना की जाती है। दीनता से भिखारी के समान भीख माँगना तप नहीं है, वह तो पाप है।[१९] उस तप को भिक्षाचरी तप नहीं कहा जाता। इस तप का अन्य नाम 'वृत्तिसंक्षेप' भी है।[२०]

आगम-साहित्य में कहीं-कहीं गोयरग्ग ,गोचराग्र और गोयर शब्दों का भी प्रयोग किया गया है।[२१] जिसका अर्थ है, गाय के समान चरना या भिक्षाटन करना।[२२] गाय जिस प्रकार घास के अच्छी होने या बुरी होने का विचार न करके, एक जगह से दूसरी जगह चरते-चरते जाती है, वह किसी भी प्रकार की घास पर आसक्त न होते हुए केवल उतनी ही घास खाती है जितनी पेट के लिए आवश्यक है। इस पूरी प्रक्रिया में गाय घास खाती है, परन्तु पूरी घास एक साथ नहीं खाती, और न मूल के साथ उसे उखाड़ती है। केवल थोड़ा-थोड़ा खाती हुई आगे बढ़ती है। जंगल की सारी हरियाली नष्ट नहीं करती। उसी प्रकार साधक भी सरस या रसहीन आहार का विचार न करते हुए भिक्षा के लिए जाता है। तात्पर्य यह है कि चाहे अमीर का घर हो या गरीब का, वह सभी घरों से भिक्षा ग्रहण करता

है। वह स्वादिष्ट आहार मिलने पर भी अनासक्त रहता है तथा उच्च, मध्यम और निर्धन लोगों के घरों से सम भाव से थोड़ी-थोड़ी भिक्षा ग्रहण करता है।[२३]

## भिक्षा के भेद

भिक्षा का वर्गीकरण तीन प्रकार से किया गया है - दीनवृत्ति पौरुषघ्नी और सर्वसंपत्करी। दरिद्र तथा संकट से ग्रस्त व्यक्ति दीनतापूर्वक याचना करके पेट भरता है उसकी भिक्षा को 'दीनवृत्ति भिक्षा' कहते हैं,। तो हृष्ट-पुष्ट होकर भी हर समय हाथ फैलाते हैं, कमाई की सामर्थ्य होने पर भी भीख माँगते हैं, उनकी भिक्षा को 'पौरुषघ्नी भिक्षा' कहते हैं। जो त्यागी तथा संतोषी व्यक्ति अपने उदर-निर्वाह के लिए गृहस्थों के घरों से थोड़ी-थोड़ी निर्दोष भिक्षा ग्रहण करता है, उस व्यक्ति की भिक्षा 'सर्वसंपत्करी भिक्षा' है। इस भिक्षा की अवस्था में देने वाला और लेने वाला दोनों ही सद्‌गति के अधिकारी होते हैं।[२४] यही भिक्षा वास्तविक भिक्षाचर्या-तप है।

**श्रमण की मधुकरवृत्ति** : श्रमण को मधुकर की उपमा दी गई है। जिस प्रकार भ्रमर फूलों पर घूमते समय थोड़ा-थोड़ा मधु पीकर सन्तुष्ट हो जाता है, और फूलों को भी किसी प्रकार से हानि नहीं पहुँचने देता, उसी प्रकार मुनि भोजन के लालच से रहित होकर, समभाव से गृहस्थों के घर जाकर सहज भाव से बनाये गये भोजन (आहार) में से थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करते हैं। इससे गृहस्थ को कोई तकलीफ नहीं होती।[२५]

भगवतीसूत्र और औपपातिक सूत्र में इस भिक्षाचरी के तीस भेदों का प्रतिपादन किया गया है। स्थानांगसूत्र में इन तीस भेदों के अतिरिक्त दो अन्य भेदों का भी उल्लेख है। संक्षेप में - इस तप से साधक अपनी इच्छाओं का निग्रह करता है, जो मिल जाये उसी में संतुष्ट रहता है। साथ ही मन के अनुकूल आहार न मिलने पर भी जो नीरस आहार मिल जाये उसी से सन्तुष्ट होकर आत्म-साधना के मार्ग पर निर्द्वन्द्व भाव से अग्रसर होता है।

## (४) रस-परित्याग :-

रस-परित्याग एक प्रकार का आस्वाद-व्रत है। इसमें स्वाद पर विजय प्राप्त करने की साधना की जाती है। घी आदि से निर्मित अति गरिष्ठ आहार शरीर में शीघ्र ही मद (विकार) उत्पन्न करता है, जिससे मन चंचल होता है, इन्द्रियाँ उत्तेजित होती हैं तथा संयम के बंधन टूटते हैं।

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए 'रसत्याग' आस्वाद-व्रत अतीव आवश्यक है। रसयुक्त भोजन तो साधक के लिए विष के समान माना गया है। दूध, दही, घी, तेल, मधु, मक्खन आदि विकारी रसों का त्याग करना - 'रसपरित्याग' कहलाता है। इस तप से इन्द्रियों तथा निद्रा पर विजय प्राप्त होती है। स्वाध्याय आदि की

सिद्धि होती है। जितेन्द्रियत्व, तेजोवृद्धि और संयम-बाधा-निवृत्ति आदि के लिए घी, दही, गुड़ और तेल आदि का त्याग करना 'रसपरित्याग' है।[२६]

## (५) विविक्तशय्यासन (प्रतिसंलीनता) तप :-

ब्रह्मचर्य-पालन, जीव-संरक्षण, ध्यानसिद्धि तथा स्वाध्याय आदि के लिए एकान्त जगह रहना, सोना या आसन लगाना 'विविक्तशय्यासन' कहलाता है।[२७]

विविक्त-शय्यासन का दूसरा नाम प्रतिसंलीनता भी है। आत्मा में लीन होना ही प्रतिसंलीनतातप है। पर भावों में लीन आत्मा को स्वभाव में लीन करना तथा इन्द्रिय, कषाय, मन, वचन और काय-योगों को बाहर से हटाकर आत्मा में लीन करना 'प्रतिसंलीनता' है।

प्रतिसंलीनतातप के चार भेद हैं - (१) इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता, (२) कषाय-प्रतिसंलीनता, (३) योग-प्रतिसंलीनता और (४) विविक्तशयनासन-सेवना। इनका विवेचन इस प्रकार किया गया है-

*(१) इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता* : इसमें ये विशेषताएँ हैं - (क) इन्द्रियों को विषय से परावृत्त करना और (ख) सहज रूप से इन्द्रियों से संबंधित विषयों में राग-द्वेष रूप विकल्प न रखना।

*(२) कषाय-प्रतिसंलीनता* : कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया तथा लोभ - इन विकारों को न आने देना और आये हुए विकारों को दूर करना।

*(३) योग-प्रतिसंलीनता* : योग के तीन भेद हैं - (क) मनोयोग, (ख) वचनयोग और (ग) काययोग। मन, वचन एवं काया को अशुभ प्रवृत्तियों से परावृत्त कर, शुभ प्रवृत्तियों की ओर आकृष्ट करना- 'योग-प्रतिसंलीनता' कहलाता है।

*(४) विविक्तशयनासन-सेवना* : ब्रह्मचर्य की साधना करना और साधक का स्वावलम्बन, कष्टसहिष्णुता तथा निर्भयता और निर्ममत्व भाव में अग्रसर रहना।[२८]

## (६) कायक्लेश :-

शरीर को कष्ट देना, उसका दमन करना, इन्द्रियों का निग्रह करना - इन शब्द-प्रणालियों के पीछे एक आध्यात्मिक चिन्तन है। यह भारतीय अध्यात्म-दर्शन की पृष्टभूमि है।

समस्त दुःख एवं कष्ट शरीर को होते हैं। आत्मा को नहीं होते। कष्टों के कारण शरीर को ही पीड़ा होती है। वध करने से शरीर का नाश होता है, परन्तु आत्मा का नाश नहीं होता - नत्थि जीवस्स नासुत्ति - उत्तराध्ययनसूत्र २/२७ ।

आत्मा का स्वरूप ज्ञान, दर्शन और चिन्मयरूप है। आत्मा को कभी कोई भी शक्ति नष्ट नहीं कर सकती और उसका कभी नाश भी नहीं हो सकता। यही आत्मा का स्वरूप है। किन्तु शरीर भौतिक है तथा नाशवान् है।

कायक्लेश तप का व्यावहारिक जीवन में भी बहुत महत्त्व है। मनुष्य को कोई भी महान् कार्य सिद्ध करने के लिए कष्ट सहन करने पड़ते हैं। किसी भी अच्छे काम में अनेक संकट आते रहते हैं - *'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'*। परंतु इन संकटों को पार करने के लिए साहस और सहिष्णुता रूपी नौका की आवश्यकता है। साथ ही आत्म-बल और मनोबल की आवश्यकता होती है। सुकुमार और कोमल लोग साधना नहीं कर सकते। सुकुमारता का त्याग कर शरीर को आतापना से तपाना चाहिए - 'आयावयाहि चय सोगमल्लं' - दशवैकालिक २/५ ।

कायक्लेश-तप हमारे जीवन को सुवर्ण के समान उज्ज्वल बनाता है। यद्यपि साधु को दृष्टि में रखकर या लक्ष्य करके यह तप बताया गया है। परन्तु सामान्य मनुष्य भी यह तप कर सकता है। आसन लगाकर ध्यान करना, उपवासों का संकल्प करना, शरीर और शिष्य के प्रति प्रेम को कम करना, शरीर की आदतों को मर्यादित करना, इस प्रकार की सम्पूर्ण साधना ही कायक्लेश तप की आराधना है।

अनेक प्रकार के प्रतिमायोग धारण करना, मौन रखना, आतापना लेना, वृक्ष के नीचे निवास करना आदि से शरीर को कष्ट देना भी कायक्लेश है।

वास्तविक कायक्लेश-तप का उद्देश्य एक ही है और वह है शरीर के प्रति आकर्षण को कम करना अर्थात् शरीर के मोह को छोड़ देना। इस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए जो साधन उपयोग में लाये जाते हैं, वे सब कायक्लेश-तप कहलाते हैं।[२९]

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश - ये छह बाह्य तप हैं। इन तपों का सम्बन्ध बाह्य वर्तन, उदाहरणार्थ खाना-पीना आदि शारीरिक क्रियाओं से है। यह अन्य लोगों की दृष्टि में आ सकता है। जैसे - उपवास के कारण शरीर का कृश होना या कायक्लेश से शारीरिक दुर्बलता आना आदि।

जिस प्रकार अग्नि संचित तृण आदि ईंधन को भस्म करती है, उसी तरह अनशन आदि तप अर्जित मिथ्यादर्शन आदि कर्मों का दाह करते हैं और देह तथा इन्द्रियों की विषय-प्रवृत्ति को रोककर देह आदि को तपाते हैं, इसलिए इन्हें 'तप' कहते हैं। इससे इन्द्रिय-निग्रह सहज होता है।

ऊपर बाह्य-तप के जो छह भेद बताए गये हैं, उनमें से प्रत्येक तप का फल संगत्याग, शरीर-लाघव, इन्द्रिय-विजय, संयम-रक्षण और कर्म-निर्जरा है। अर्थात् इन तपों का आचरण करने से शरीर का मोह (आसक्ति) दूर होता है, अन्तर्बाह्य समस्त परिग्रह छूट जाते हैं तथा निर्ममत्व एवं निरहंकाररूपत्व की सिद्धि होती है। ऐसे तप करने से शरीर को लघुता प्राप्त होती है, प्रत्येक कार्य निर्दोष होता है, संयम होता है और कर्म की निर्जरा होती है।[३०]

यहाँ तक बाह्य तप के संबंध में विचार किया गया है। अब अभ्यंतर तप का विवेचन किया जायेगा।

जैन-धर्म की तप-विधि बाह्य से अंतर की ओर प्रगति करती है। जैन-दर्शन में तपों का क्रम इस प्रकार योजनाबद्ध है कि साधक हमेशा अपने तपश्चरण में आगे की ओर प्रगति करता जाता है।

अभ्यन्तर तप में मन की विशुद्धि, सरलता और एकाग्रता की विशेष साधना होती है। बाह्य तपों की साधना से साधक अपने शरीर को जीतता है और शरीर का संशोधन करता है। बाह्य तप के समान ही अभ्यंतर तप के भी छह सोपान हैं। उनके नाम हैं - (१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) व्युत्सर्ग और (६) ध्यान। ये तप बाह्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं रखते। ये अंतःकरण के व्यापार से होते हैं इसलिए इन्हें अभ्यन्तर तप कहते हैं।[३१]

## (७) प्रायश्चित्त :-

धारण किए हुए व्रतों में प्रमाद के कारण लगे दोषों की शुद्धि करना प्रायश्चित्त तप कहलाता है। जिससे पाप का नाश होता है अथवा जो बहुधा चित्त की विशुद्धि करता है, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं।

दोष-शुद्धि के लिए उचित प्रायश्चित्त लेकर सम्यक् प्रकार से दोषों का निराकरण करना 'प्रायश्चित्त' तप है।[३२]

राजकीय नियमों में जिस प्रकार अपराध के लिए दण्ड की व्यवस्था की गई है, उसी प्रकार धार्मिक नियमों में दोष के लिए प्रायश्चित्त की व्यवस्था की गई है। प्रायश्चित्त दोष की विशुद्धता के लिए होता है। 'प्रायश्चित्त' शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है - प्रायः और चित्त। प्रायः का अर्थ है - पाप और चित्त का अर्थ है - उस पाप का विशोधन करना। अर्थात् पाप को शुद्ध करने की क्रिया का नाम ही 'प्रायश्चित्त' है।[३३]

अकलंकदेव के मतानुसार प्रायः शब्द अपराध के लिए उपयोग में लाया जाता है और चित्त का अर्थ शोधन है। अतः जिस क्रिया से अपराध की शुद्धि होती है, वही प्रायश्चित्त है।[३४]

प्राकृत भाषा में प्रायश्चित्त को पायच्छित्त कहा जाता है। पायच्छित्त शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए आचार्य कहते हैं - 'पाय अर्थात् पाप और छित्त अर्थात् छेदन करना'। जो क्रिया पाप का छेदन करती है, अर्थात् पाप को दूर करती है, उसे 'पायच्छित्त' कहते हैं-

**'पावं छिंदइ जम्हा पायच्छित्तं भण्णइ तेण'।**

**पंचाषक, सटीक विवरण, १६/३**

प्रायश्चित्त शब्द की इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि पाप या दोष की विशुद्धि के लिए जो क्रियाएँ की जाती हैं, उन्हें प्रायश्चित्त कहा जाता है। मनुष्य प्रमाद में अनुचित कार्य करता है, दोषों का सेवन करता है, अनेक अपराध करता है, परन्तु जिसकी आत्मा जागरूक रहती है वह धर्म अधर्म का विचार करता है। जिसके मन में,'परलोक में अच्छी गति प्राप्त हो' ऐसी भावना रहती है वह उस

अनुचित आचरण के लिए मन में पश्चात्ताप करने लगता है। ये दोष काँटे के समान उसके हृदय में चुभते रहते हैं। और जल्दी से जल्दी वह उन दोषों को निकाल देने का प्रयत्न करता है। वह स्वयं के लिए प्रायश्चित्त की माँग करता है और गुरुजन उसे उचित प्रायश्चित्त बता देते हैं कि 'तू इस दोष की विशुद्धि के लिए इस प्रकार के तप का आचरण कर'। सारांश में यही प्रायश्चित्त की प्रक्रिया है।

प्रायश्चित्त तप सिद्ध करता है कि प्रत्येक आत्मा अपने दोषों का प्रक्षालन कर सकता है। इसके लिए कहीं भी जाने की जरूरत नहीं है। केवल हृदय को शुद्ध करने की आवश्यकता होती है। वैदिक ग्रंथों में पाप-मुक्ति के लिए जहाँ ईश्वर के चरणों में सब कुछ अर्पित करने की सुविधा है, वहीं जैन-धर्म में हृदय को अतीव सरल बनाकर गुरुजनों के समक्ष पाप को प्रकट कर, उसके लिए तप-साधना करने की विधि है। क्योंकि कुछ दोष केवल पश्चात्ताप से ही दूर हो सकते हैं। इसी दृष्टि से प्रायश्चित्त को तप मानकर उसका विस्तृत वर्णन जैन-शास्त्रों में किया गया है और मुक्ति (मोक्ष) का मार्ग बताया गया है।[३५]

## (८) विनय तप :-

अभ्यन्तर तप का दूसरा भेद विनय तप है। विनय का संबंध हृदय से है। यह आत्मिक गुण है। जिसका हृदय कोमल है, वही विनय-तप का आचरण कर सकता है।

विनय एक प्रचलित शब्द है। इसलिए इसका अर्थ बताने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति समझता है कि विनय के द्वारा नम्रता और शिष्टाचार की शिक्षा दी जाती है, परन्तु वास्तविकता यह है कि विनय शब्द का अर्थ व्यापक है। विनय में अनेक प्रकार की भावनाओं का मिश्रण है। आचार्यों ने विवेचन एवं व्युत्पत्ति के द्वारा इसके विभिन्न गूढ़ अर्थों को ध्वनित करने का प्रयत्न किया है। 'विनय' का अर्थ है-मन तथा आत्मा का अनुशासन।

विनयशील व्यक्ति पाप एवं असत् आचरण से डरता है। 'विनीत' की व्याख्या करते हुए कहा गया है- *'हिरिमं पडिसंलीणे सुविणीएति वुच्चइ'* (उत्तराध्यन ११/१३)। जो लज्जाशील है और इन्द्रियों का दमन करने वाला है, उसे सुविनीत कहते हैं।

दुःशील और असदाचारी व्यक्ति, सड़े हुए कानवाली कुतिया की तरह हर समय तिरस्कृत और अपमानित होता है। लोग उससे घृणा करते हैं।[३६] इसलिए दुःशील को बुरे परिणाम को ध्यान में रखकर सुशील का आचरण कारना चाहिए। विनय की उपासना करनी चाहिए। गुरुजनों के समक्ष आसन पर स्थिर होकर सभ्यतापूर्वक बैठना, उनके उपदेशों से क्रोधित न होना, कम बोलना, पूछने से पहले न बोलना, उन्हें प्रसन्न करके विद्याभ्यास में तल्लीन रहना - इसी में समस्त शील और सदाचार निहित है, जो कि विनय का ही एक भाग है।

जिससे आठ कर्मों का वि-नय (दूर होना) होता है, उसे विनय कहते हैं। अर्थात् विनय आठ कर्मों को दूर करता है और उससे चार गतियों का अंत करने वाले मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसीलिए सर्वज्ञ भगवान् ने उसे 'विनय' कहा है। उनका अभिप्राय यह है कि कर्मों का नाश करने को विनय कहते हैं। प्रवचन-सारोद्धार ग्रंथ में भी इसी प्रकार की व्याख्या उपलब्ध होती है - 'विनयति क्लेशकारकमष्टप्रकारं कर्म इति विनयः' अर्थात् क्लेशकारक जो आठ कर्म हैं, उन्हें जो दूर करता है, वह विनय है।

विनय शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है-

(१) अनुशासन,[३७]

(२) आत्म-संयम तथा शील (सदाचार)[३८] तथा

(३) नम्रता और सद्व्यवहार[३९] ।

जैन-दर्शन में विनय को इतना व्यापक रूप दिया गया है कि जीवन के सारे क्षेत्र विनय से युक्त हैं। संपूर्ण जीवन को विनय की सुगंध ने सुगंधित किया गया है। विनय के अनेक भेद-प्रभेद हैं। भगवतीसूत्र में विनय के सात भेद बताये गये हैं। वे इस प्रकार हैं - (१) ज्ञान-विनय, (२) दर्शन-विनय (३) चारित्र्य-विनय, (४) मन-विनय, (५) वचन-विनय, (६) काय-विनय एवं (७) लोकोपचार-विनय।

इन सात विनय-भेदों का अर्थ इस प्रकार बताया गया है-

(१) ज्ञान-विनय : ज्ञानी लोगों के साथ विनयपूर्ण व्यहार करना।

(२) दर्शन-विनय : सम्यक्त्व का आदर करना और सम्यक् दृष्टि रखना। साथ ही गुरुजनों का सम्मान करना तथा उनकी सेवा करना।

(३) चारित्र्य-विनय : चारित्र्यसंपन्न व्यक्तियों के साथ विनयपूर्ण व्यवहार करना।

(४) मन-विनय : मन पर अनुशासन रखना।

(५) वचन-वनय : सुंदर, सौम्य और सर्वजन-सुखकारी वचन बोलना।

(६) काय-विनय : उपयोगपूर्वक चलना, रुकना, उठना और बैठना अर्थात् यत्नपूर्वक इंद्रियों की हलचल करना।

(७) लोकोपचार-विनय : इसे 'लोकव्यहार' भी कहते हैं। सत्य, मधुर और प्रिय भाषा बोलना। साथ ही किसी के भी साथ द्वेषपूर्ण व्यवहार न करना।[४०]

विनय का उक्त स्वरूप मुख्यतः मन के अहंकार और दुर्भाव को दूर करने के लिए बताया गया है, क्योंकि अहंकार मोक्ष-प्राप्ति में बाधक होता है। इसलिए विनय का आचरण करना चाहिए। विनय का फल मोक्ष है।

आगमकारों ने भी उद्घोषित किया है कि जिस प्रकार वृक्ष का उद्गम मूल से होता है और उसका अन्तिम फल रस होता है, उसी प्रकार धर्म रूपी वृक्ष का मूल विनय है और उसका अन्तिम फल रस अर्थात् मोक्ष है -

*एवं धम्मस्स विणओ मूलं परमो से मुक्खो* - दशवैकालिक ९/२/२ ।

एक प्राचीन आचार्य ने विनय का जीवनव्यापी प्रभाव बताते हुए कहा है कि जिस प्रकार सुगंध के कारण चन्दन की महिमा है, सौम्यता के कारण चन्द्रमा

का गौरव है, मधुरता के कारण अमृत जगत्प्रिय है, उसी प्रकार विनय के कारण मनुष्य संपूर्ण विश्व में प्रिय और आदरणीय होता है। जैन-धर्म में विनय का उपदेश आत्म-विकास के लिए, ज्ञान-प्राप्ति के लिए और गुरुजनों की सेवा द्वारा कर्म-निर्जरा के लिए दिया गया है।

इस दृष्टि से विनय तप जीवन में इहलोक और परलोक के लिये लाभकारी है। विनय से लोकप्रियता और आदर बढ़ता है, साथ ही आत्मा सरल, शुद्ध और निर्मल बनता है।[४१]

(६) वैयावृत्य तप :-

यह अभ्यन्तर तप का तीसरा भेद है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहता है। उसे दूसरे के सहयोग की अपेक्षा होती है। सुख-दुःख के समय,संकट के समय तथा रोग-ग्रस्त होने पर उसे अन्य किसी के सहयोग की अपेक्षा होती है।

वस्तुतः प्राणिमात्र में परस्पर उपकार की भावना होती है। आचार्य उमास्वाति ने जीव का लक्षण बताते हुए कहा है -

*परस्परोपग्रहं जीवानाम्* - तत्त्वार्थसूत्र ५/२१

जीव में परस्पर सहयोग और उपकार करने की वृत्ति होती है। भगवद्गीता में भी परस्पर सहयोग के संबंध में कहा गया है -

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ - भगवद्गीता ३/११ ।

परस्पर उपकार की यह वृत्ति छोटे-बड़े सब जीवों में मिलती है। उदाहरणार्थ- चींटी, मधुमक्खी, हाथी, हिरन, गाय आदि पशु-पक्षी समूह में रहकर एक दूसरे को सहयोग देते हैं।

मनुष्य तो अत्यन्त विकसित प्राणी है। वह दूसरे की सेवा करता है और कराता है। उसमें सहयोग, सेवा और वैयावृत्य का उच्च संकल्प होता है।

जैन-दर्शन में परस्परोपग्रह की भावना पर जोर दिया गया है। वैयावृत्य के सेवा, शुश्रूषा, पर्युपासना, धार्मिक वात्सल्य आदि नाम हैं और जीवन के साथ उनका घनिष्ठ संबंध जोड़ा गया है। एक-दूसरे के जीवन में, धर्म की साधना में, आत्म-विकास में, साथ ही जीवन में और जीवन-विकास में सहयोग करना ही वैयावृत्य तपश्चरण है।[४२]

एक बार गणधर गौतम ने पूछा - "भगवन्! आपने सेवा वैयावृत्य का विशेष महत्त्व बताया है, वैयावृत्य करने का भी बहुत उपदेश दिया है, परन्तु वैयावृत्य के द्वारा आत्मा को फल की प्राप्ति कैसे होती है?"

भगवान् ने उत्तर दिया-"वैयावृत्य करने से आत्मा तीर्थंकर-नाम-गोत्र कर्म का उपार्जन करता है। यही वैयावृत्य का महान् फल है। उसके आचरण से आत्मा विश्व के सर्वोत्कृष्ट पद की प्राप्ति कर सकता है।"[४३]

जिस किसी के पास आश्रय नहीं है उसे सहायता, सहयोग और आश्रय देने के लिए सदैव तत्पर रहने की जरूरत है। इसीलिए कहा गया है -

*असंगिहीय परिजणस्स संगिण्हणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ।*

रुग्ण अवस्था में तथा संकट के समय मनुष्य बेचैन हो जाता है। उसका चित्त क्षुब्ध और व्याकुल होता है। ऐसी अवस्था में वह धर्म से और सत्कर्म से भ्रष्ट भी हो सकता है। अपनी मर्यादा को छोड़कर असंयमी बन सकता है और दुराचार में प्रवृत्त हो सकता है। इससे पतित होकर वह विनाश के मार्ग पर जा सकता है। मनुष्य को संकट के समय और दुःख के समय जो धीरज बँधाता है, मदद करता है, उसे आश्रय देता है और उसे असंयम तथा अधःपतन से बचाता है, वह उस पर महान् उपकार करता है। एक प्रकार से उसे जीवन प्रदान करता है और उसकी आत्मा को सच्चे सुख की ओर ले जाता है। इस प्रकार 'सेवा' संकट के समय मनुष्य के धर्म की रक्षा कर सकती है।

## वैयावृत्य के दस भेद हैं -

(१) आयरिय वेयावच्चे - आचार्यों की सेवा करना।
(२) उवज्झाय वेयावच्चे - उपाध्यायों की सेवा करना।
(३) थेर वेयावच्चे - सब दृष्टियों से श्रेष्ठ लोगों की सेवाकरना।
(४) तवस्सि वेयावच्चे - तपस्वियों की सेवा करना।
(५) गिलाण वेयावच्चे - रोगियों की सेवा करना।
(६) सेह वेयावच्चे - नव-दीक्षित मुनियों की सेवा करना।
(७) कुल वेयावच्चे - कुल की सेवा करना।
(८) गण वेयावच्चे - गण की सेवा करना।
(९) संघ वेयावच्चे - संघ की सेवा करना।
(१०) साहम्मिय वेयावच्चे - सहधार्मिक की सेवा करना।[64]

इन दस भेदों में साधु-जीवन से संबंधित समस्त समूह आ गया है। इन दस साधकों की सेवा करना, उनकी परिचर्या करना और उन्हें सुख-शान्ति प्राप्त हो ऐसा आचरण करना ही वैयावृत्य है। सेवा या वैयावृत्य वास्तव में परम धर्म, सर्वोत्तम तप और मोक्ष-मार्ग का उत्कृष्ट सोपान है।

## (१०) स्वाध्याय तप :-

यह अभ्यन्तर तप का चौथा भेद है। पूर्व में बताया है कि तप का उद्देश्य केवल शरीर को क्षीण करना ही नहीं है, अपितु तप का मूल उद्देश्य है- अन्तर्विकार को क्षीण करके मन को निर्मल एवं स्थिर बनाना और आत्मा का स्वरूप प्रकट करना ।

मानसिक शुद्धि के लिए तप के विविध स्वरूपों का वर्णन जैन-शास्त्रों में किया गया है। उनमें स्वाध्याय और ध्यान ये दो तप प्रमुख हैं। स्वाध्याय मन को शुद्ध करने की प्रक्रिया है और ध्यान मन को स्थिर करने की। शुद्ध मन ही स्थिर

हो सकता है, इसलिये पहले मनःशुद्धि कैसे की जाय, किन-किन साधनों से और किन-किन प्रक्रियाओं से मन को निर्मल व निर्दोष बनाया जाय, इसका विचार करना चाहिये।

*'सुष्ठु आ मर्यादया अधीयते इति स्वाध्यायः'* यह व्याख्या आचार्य अभयदेव ने स्थानांग टीका (५/३/४६५) में की है। सत् शास्त्र का मर्यादापूर्वक वाचन करना तथा अच्छे ग्रंथों का ठीक प्रकार से अध्ययन करना ही 'स्वाध्याय' है।

आलस्य का त्याग कर ज्ञान-अध्ययन में लीन होना अथवा विविध प्रकार का अभ्यास करना भी स्वाध्याय है। स्वाध्याय के कारण ज्ञान का प्रतिबिम्ब हृदय पर पड़ता है। जिस प्रकार दीवार को बार-बार घिसने पर वह चमकने लगती है और दीवार के सामने जो वस्तु आती है, उसका प्रतिबिम्ब दीवार पर दिखाई देने लगता है। उसी प्रकार स्वाध्याय के कारण मन इतना निर्मल और पारदर्शक बनता है कि शास्त्र का रहस्य उसमें प्रतिबिम्बित होने लगता है। इसलिए स्वाध्याय एक अभूतपूर्व तप है।

'स्वाध्याय' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए विद्वानों ने कहा है - *'स्वस्य स्वस्मिन् अध्यायः अध्ययनं स्वाध्यायः'*। स्वयं अध्ययन करना अर्थात् आत्मचिन्तन-मनन करना ही स्वाध्याय कहलाता है।

**स्वाध्याय का महत्त्व** :- जिस प्रकार शरीर के विकास के लिए व्यायाम और भोजन की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार बुद्धि के विकास के लिए स्वाध्याय की आवश्यकता होती है।

स्वाध्याय का जीवन में कितना महत्त्व है इसे मानव अनुभव से ही समझ सकता है। मनुष्य के विकास के लिए सत्संगति की बड़ी महिमा बतायी जाती है परन्तु सत् शास्त्र का महत्त्व सत्संगति से भी अधिक है। सत्संगति हर बार नहीं मिल सकती। साधुजनों का परिचय और सहवास कहीं मिलता है और कहीं नहीं मिलता लेकिन सत् शास्त्र हर समय मनुष्य के साथ रहता है। अँग्रेजी का प्रसिद्ध विद्वान् टपर कहता है -

'Books are our best friends' अर्थात् ग्रंथ हमारे सर्वश्रेष्ठ मित्र हैं।

एक विवेचक ने कहा है -'ग्रन्थ ज्ञानी लोगों की जीवन्त समाधि हैं'। कुछ ग्रन्थों में ऋषभदेव, अरिष्टनेमि और महावीर हैं, तो कुछ ग्रन्थों में राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, वाल्मीकि, सूरदास, तुलसीदास और कबीर आदि हैं। जब हम ग्रन्थ खोलते हैं, तब लगता है कि महापुरुष मानो उठकर हमारे साथ बोलने लगते हैं और हमारा मार्गदर्शन करते हैं।

मनुष्य को सर्वप्रथम रोटी की आवश्यकता होती है। वह जीवन देती है। परन्तु सत् शास्त्र की, उससे भी अधिक आवश्यकता है। क्योंकि सत् शास्त्र जीवन की कला सिखाता है। इस संदर्भ में लोकमान्य तिलक ने कहा है - 'मैं नरक में

भी उन सत् शास्त्रों का स्वागत करूँगा, क्योंकि सत्-शास्त्र एक अद्‌भुत शक्ति है। वह जहाँ होगी वहाँ अपने आप ही स्वर्ग बन जायेगा, इसलिए सत् शास्त्र का अध्ययन जीवन में अत्यंत आवश्यक है। यही कारण है कि सत् शास्त्र को 'तीसरा नेत्र' *('शास्त्रं तृतीयं लोचनम्')* कहा गया है। *'सर्वस्य लोचनं शास्त्रं'* ऐसा भी एक उल्लेख मिलता है। व्यावहारिक जीवन में सत् शास्त्र के अध्ययन का यह महत्त्व है। आध्यात्मिक दृष्टि से शास्त्र-स्वाध्याय का इससे भी अधिक महत्त्व है।

भगवान् महावीर ने अपने अन्तिम उपदेश में कहा है - स्वाध्याय के सातत्य से समस्त दुःखों से मुक्ति मिलती है'।[४५] अनेक जन्मों में संचित अनेक प्रकार के कर्म स्वाध्याय से क्षीण होते हैं - *बहुमवे संचियं खलु सज्झाएण खणे खवइ'* (चंद्रप्रज्ञप्ति ९१)। स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय होता है।[४६]

स्वाध्याय एक बड़ी तपश्चर्या है इसलिए आचार्यों ने कहा है -

*'न वि अत्थि न वि अ होही सज्झाय समं तवोकम्मं।'*

- बृहत्कल्पभाष्य ११६९ और चन्द्रप्रज्ञप्तिसूत्र ८९ ।

वैदिक ग्रन्थों में भी, जैन-दर्शन के समान, स्वाध्याय को तप माना गया है। 'तपो हि स्वाध्यायः' (तैत्तिरीय आरण्यक २/१४) स्वाध्याय स्वयं ही एक तप है। 'स्वाध्यायान् मा प्रमदः' (तैत्तिरीयोपनिषद् १/११/१) अर्थात् स्वाध्याय से कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

योगदर्शनकार पतञ्जलि ने कहा है - 'स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः' अर्थात् स्वाध्याय से इष्ट देव का साक्षात्कार होने लगता है।

जैन-आगम में स्वाध्याय के पाँच भेद बताये गये हैं। जैन-शास्त्र में केवल शास्त्रों का अध्ययन करना ही स्वाध्याय नहीं, वरन् उस पर विचार करना, चिंतन करना भी स्वाध्याय है। स्वाध्याय के पाँच भेद हैं - (१) वाचना, (२) पृच्छना, (३) परिवर्तना, (४) अनुप्रेक्षा और (५) धर्मकथा। इनका विवेचन इस प्रकार किया गया है -

(१) वाचना - सद्‌ग्रन्थों का वाचन करना और दूसरों को सिखाना।

(२) पृच्छना - मन में शंका उत्पन्न होने पर गुरुजनों से पूछना और ज्ञान को बढ़ाना। पृच्छना का अर्थ है - जिज्ञासा और जिज्ञासा ही ज्ञान की कुञ्जी है।

(३) परिवर्तना - जो ज्ञान प्राप्त किया है उसकी आवृत्ति करते रहना। इससे ज्ञान में स्थिरता आती है और ज्ञान दृढ़ बनता है।

(४) धर्म-अनुप्रेक्षा - तत्त्व के अर्थ और रहस्य पर विस्तारपूर्वक और गहराई में जाकर चिन्तन करना।

(५) धर्मकथा - धर्मोपदेश स्वयं सुनना और लोक-कल्याण की भावना से दूसरों को धर्म का उपदेश देना।[४७]

इस प्रकार स्वाध्याय के पाँच भेद बताये गये हैं, और इनके भी अनेक उपभेद जैनशास्त्रों (भगवती, ठाणांग आदि) में कहे गये हैं। इनके आधार पर

साधक को अपना जीवन ज्यादा से ज्यादा स्वाध्याय-तप में लगाकर शास्त्र की आराधना करनी चाहिए और ज्ञान की उपासना कर उसके दिव्य प्रकाश से जीवन को उज्ज्वल बनाना चाहिए।

## (११) व्युत्सर्ग-तप :-

अभ्यन्तर तप का यह पाँचवां भेद है। व्युत्सर्ग शब्द 'वि' और 'उत्सर्ग' इन दो पदों से मिलकर बना है। 'वि' का अर्थ है - विशिष्ट और उत्सर्ग का अर्थ है - त्याग। विशिष्ट त्याग अर्थात् त्याग करने की विशिष्ट पद्धति ही 'व्युत्सर्ग' है।

आशा और ममत्व जीवन के बड़े बंधन हैं। ये बंधन चाहे सम्पत्ति के हों, परिवार के हों, शिष्यों के हों, भोजन-रस के हों या स्वयं के शरीर के हों, हैं तो बंधन या मोह ही। जब तक ये बन्धन नहीं छूटते तब तक मुक्ति नहीं मिल सकती। व्युत्सर्ग-तप में इन समस्त पदार्थों का और मोह का त्याग किया जाता है। शरीर और प्राणों की भी परवाह नहीं की जाती। सदा-सर्वकाल निर्ममत्व भाव आत्मा को बलिदान के लिए तैयार रखता है।

दिगम्बर आचार्य अकलंक ने व्युत्सर्ग की व्याख्या इस प्रकार की है - निःसंगता, अनासक्ति, निर्भयता और जीवन की लालसा का त्याग व्युत्सर्ग के आधार हैं। धर्म के लिए तथा आत्म-साधना के लिए स्वयं का उत्सर्ग करने की पद्धति ही 'व्युत्सर्ग' है।[४८]

इस तप का आराधक इतना मोहरहित हो जाता है कि उसे अपने शरीर का भी भान नहीं रहता, इसलिए व्युत्सर्ग को कहीं-कहीं 'कायोत्सर्ग' भी कहा गया है।

साधक व्युत्सर्ग-तप में पाषाण की प्रतिमा के समान स्थिर होकर दंशमशक आदि परीषह आने पर भी और दुष्ट लोगों के द्वारा प्रहार किये जाने पर भी निराकुल भाव से आत्मस्थ रहता है और साधना में दृढ़ता के बढ़ने से, परम सहिष्णुता प्राप्त करता है।

अहंभाव, परिग्रह और ममत्व-भाव के त्याग को 'व्युत्सर्ग-तप' कहते हैं। व्युत्सर्ग का अर्थ है - छोड़ देना या त्याग देना। बाह्य पदार्थों का त्याग 'बाह्य उपाधि' व्युत्सर्ग है। क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, हास्य, रति, अरति, भय, जुगुप्सा आदि अभ्यन्तर दोषों की निवृत्ति 'अभ्यन्तर उपाधि' व्युत्सर्ग है।

'आवश्यकनिर्युक्ति' में व्युत्सर्ग के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि व्युत्सर्ग मोक्षपथदर्शक है। व्युत्सर्ग पारलौकिक फलसिद्धि और स्वर्ग है।[४९]

कायोत्सर्ग पद में काय का अर्थ है शरीर और उत्सर्ग का अर्थ है परित्याग। इसमें कुछ समय के लिए शारीरिक हलचलों का त्याग करके मानसिक चिन्तन किया जाता है। जैन-साधना में इस तप को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है और उसे आत्मशुद्धि के प्रत्येक अनुष्ठान के प्रारम्भ में आवश्यक माना गया है।

मानसिक चिन्तन चाहे किसी प्रतिज्ञा के रूप में हो या संभावित दोषों की प्रत्यालोचना के रूप में हो, यह साधना को हृदय तक पहुँचाता है।[४०]

व्युत्सर्ग-तप के दो भेद हैं - (१) द्रव्य-व्युत्सर्ग और (२) भाव-व्युत्सर्ग।

द्रव्य-व्युत्सर्ग के चार उपभेद हैं - (१) गण-व्युत्सर्ग, (२) शरीर-व्युत्सर्ग, (३) उपधि-व्युत्सर्ग एवं (४) भुक्तपान-व्युत्सर्ग।

भाव-व्युत्सर्ग के तीन प्रकार हैं - (१) कषाय-व्युत्सर्ग, (२) संसार-व्युत्सर्ग और (३) कर्म-व्युत्सर्ग।[४१]

द्रव्य-व्युत्सर्ग के चार प्रकारों का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है -

(१) गण-व्युत्सर्ग - गण (समूह) का त्याग करना। श्रुतज्ञान और चारित्र्य की विशेष आराधना के लिए गण का त्याग कर अन्य गण में जाना अथवा एकाकी रहना।

(२) शरीर-व्युत्सर्ग - शरीर का त्याग करना। इसी का दूसरा नाम कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग का मुख्य उद्देश्य दोष की विशुद्धि करना है। इस अवस्था में *'अन्नं इमं सरीरं अन्नो जीवुत्ति'* अर्थात् शरीर अन्य है तथा जीवात्मा अन्य है ऐसा अनुभव होना चाहिए।

(३) उपधि-व्युत्सर्ग - संयम-साधना में मर्यादापूर्वक रखे हुए वस्त्र, पात्र आदि का त्याग करते जाना और अंत में अचेल अवस्था को प्राप्त करना।

(४) भुक्तपान-व्युत्सर्ग - खाने-पीने का त्याग करना। धीरे-धीरे उनका त्याग करते-करते ठीक समय पर सब खाने-पीने का त्याग करना - भुक्तपान-व्युत्सर्ग की साधना है।

भाव-व्युत्सर्ग के तीन प्रकारों का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है -

(क) कषाय-व्युत्सर्ग - इसका अर्थ है क्रोध, मान, माया और लोभ इन कषायों को क्षीण करना और अन्त में समस्त कषायों का क्षय करना।

(ख) संसार-व्युत्सर्ग - इसका अर्थ है नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन गतियों का त्याग करना। अर्थात् इन चार गतियों के जो सोलह कारण हैं, उनका भी त्याग करना 'संसार-व्युत्सर्ग' है। इन चार गतियों के कारण ही संसार में परिभ्रमण होता रहता है, इसलिए उनका त्याग बताया गया है।

(ग) कर्म-व्युत्सर्ग - कर्मों का त्याग करना। (१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयुष्य, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अन्तराय - इन आठ कर्मों को नष्ट करने के अनेक उपाय शास्त्रों में बताये गये हैं। उन उपायों को आचरण में लाने पर कर्म-व्युत्सर्ग की साधना होती है।[४२]

इस प्रकार द्रव्य-व्युत्सर्ग और भाव व्युत्सर्ग का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। साधक प्रथमतः द्रव्य-व्युत्सर्ग की साधना करता है। आहार, वस्त्र, पात्र आदि का ममत्व कम करता जाता है। बाद में शरीर पर होने वाले मोह को कम

करता है तथा ध्यान, समाधि आदि में लीन होकर शरीर का त्याग करने के लिए तैयार होता है।

व्युत्सर्ग-तप में सब से प्रधान तप कायोत्सर्ग है। शास्त्रों में भी कायोत्सर्ग को ही व्युत्सर्ग कहा गया है। जो साधक कायोत्सर्ग में सिद्ध हो जाता है, वह संपूर्ण व्युत्सर्ग-तप में सिद्ध हो जाता है, ऐसा समझना चाहिए।

## (१२) ध्यान-तप :-

अभ्यन्तर तप का यह छटा अत्यंत महत्त्वपूर्ण भेद है। मन को एक विषय पर एकाग्र करना अर्थात् केन्द्रित करना 'ध्यान' है। वह गतिशील है। मन कभी शुभ विचार करता है, तो कभी अशुभ विचार करता है। मन के इस प्रकार के प्रवाह को अशुभ विचारों से परावृत्त करके, शुभ विचार पर केन्द्रित करना 'ध्यान' कहलाता है। ध्यान से आत्मबल बढ़ता है और मन समाधिस्थ होता है।

चित्त-विक्षेप का त्याग करके आत्म-स्वरूप में लीन होना 'ध्यान' कहलाता है। ध्यान के विषय में कहा गया है कि मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों का निरोध करना, भी 'ध्यान' है। ध्यान के चार प्रकार हैं - (१) आर्तध्यान, (२) रौद्रध्यान, (३) धर्मध्यान और (४) शुक्लध्यान।

अनात्माभिमुख एकाग्रता आर्त और रौद्र ध्यान है और आत्माभिमुख एकाग्रता धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान है। आर्त और रौद्र ध्यान संसार के कारण हैं इसलिए वे हेय (त्याज्य) हैं किन्तु धर्म और शुक्ल ध्यान मोक्ष के कारण हैं इसलिए वे उपादेय (ग्राह्य) हैं।[४३]

जो कोई सिद्ध हुए हैं, सिद्ध हो रहे हैं और सिद्ध होंगे, उनकी सिद्धि का कारण शुभ ध्यान ही है।[४४]

मन की एकाग्र अवस्था ध्यान है। विचारकों ने मन के निम्नांकित भेद बताये हैं- (१) विक्षिप्त मन, (२) यातायात मन, (३) श्लिष्ट मन और (४) सुलीन मन।

*(१) विक्षिप्त मन* - कुछ लोगों का मन पागलों के समान यहाँ-वहाँ भटकता रहता है, उसे विक्षिप्त मन कहते हैं।

*(२) यातायात मन* - कुछ लोगों का मन विषय की आसक्ति के कारण, यहाँ-वहाँ, दौड़ते समय कभी स्थिर होता है, तो कभी चंचल होता है। उसे 'यातायात मन' कहते हैं।

*(३) श्लिष्ट मन* - विषय से परावृत्त होकर मन कभी-कभी थोड़ा स्थिर हो भी जाता है, परन्तु उसमें शान्ति नहीं होती। यह 'श्लिष्ट मन' है।

*(४) सुलीन मन* - जो मन परमात्मा की भक्ति में, आत्म-चिन्तन में और सत् शास्त्रों के साध्याय-मनन में निर्मल और स्थिर बनता है, वह 'सुलीन मन' है। ऐसा मन ही वास्तव में ध्यान का अधिकारी बन सकता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है - 'अपने विषय (ध्येय) में मन का एकाग्र होना ध्यान है'।[५५]

आचार्य भद्रबाहु ने भी कहा है - *'चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं'* (आवश्यक-निर्युक्ति, १४५६) । चित्त को किसी भी विषय पर स्थिर करना अर्थात् एकाग्र करना 'ध्यान' है। मन जहाँ, जिस विषय में लगा हुआ है, वहाँ वह जब तक स्थिर रहता है, तब तक उस विषय का ध्यान होता है। इसलिए 'ध्यान' का प्रथम अर्थ है - 'मन का एक विषय में स्थिर रहना'।

आचार्य सिद्धसेन ने ध्यान की व्याख्या इस प्रकार की है - *'शुभैकप्रत्ययो ध्यानम्'* (द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका १८/११) अर्थात् शुभ और पवित्र आलंबन (अवयव) पर मन का एकाग्र होना 'ध्यान' है। आचार्यों ने ध्यान के दो भेद किये हैं - (१) शुभ ध्यान और (२) अशुभ ध्यान।

जिस प्रकार गाय का दूध और 'थूहर' (एक विषैली वनस्पति) का दूध - दोनों दूध ही हैं, और उन्हें दूध कहा भी जाता है, परन्तु दोनों में महान् भेद है। एक अमृत है तो दूसरा विष है। गाय का अमृतमय दूध मनुष्य के जीवन को शक्ति देता है। लेकिन थूहर का विषमय दूध मनुष्य को मार डालता है। इसी तरह ध्यान-ध्यान में भी अन्तर है। एक शुभ ध्यान है, तो दूसरा अशुभ ध्यान। शुभ ध्यान मोक्ष का हेतु है, तो अशुभ ध्यान नरक का हेतु है।

चित्तरूपी नदी की दो धाराएँ हैं - *चित्तनाम नदी उभयतो वाहिनी, वहति कल्याणाय पापाय च* अर्थात् चित्तरूपी नदी दोनों ओर से बहती है, कभी कल्याण के मार्ग से और कभी पाप के मार्ग से। चित्त की इसी उभयमुखी गति के कारण ध्यान के दो भेद किये गये हैं - (१) शुभप्रशस्त ध्यान और (२) अशुभप्रशस्त ध्यान। शुभ ध्यान दो प्रकार का है और अशुभ ध्यान भी दो प्रकार का है। इस प्रकार ध्यान के कुल मिलाकर चार भेद होते हैं। वे हैं - (१) आर्तध्यान, (२) रौद्र ध्यान, (३) धर्म ध्यान और (४) शुक्ल ध्यान।[५६]

**(१) आर्त ध्यान** - आर्त ध्यान अशुभ माना गया है। दु:ख, पीड़ा, चिन्ता, शोक आदि से संबंधित भावना 'आर्त' है। जब भावना में दीनता, मन में उदासीनता, निराशा और रोग आदि के कारण व्याकुलता; अप्रिय वस्तुओं के योग से आनन्द, तथा प्रिय वस्तुओं के वियोग से दु:ख आदि संकल्प मन में होते हैं; तब मन की स्थिति बड़ी दयनीय और अशुभ होती है। इस प्रकार के विचार जब मन में जमा होते हैं और मन चिन्ता तथा शोकरूपी सागर में डूब जाता है, तब वह आर्तध्यान की कोटि में पहुँचता है। ऐसे विचार अनेक कारणों से उत्पन्न होते हैं। उन कारणों का वर्गीकरण करते समय आर्त ध्यान के चार कारण और चार लक्षण बताये गये हैं।

### आर्त-ध्यान के चार कारण :-

(१) अमण्णुन्न संपओग - अप्रिय बातों से संबंध होने पर उन बातों का संबंध छूट जाने की चिन्ता।

(२) मणुन्न संपओग - प्रिय वस्तुओं के वियोग से उत्पन्न होने वाली चिन्ता।
(३) आयंक संपओग - रोग एवं व्याधि के कारण उत्पन्न चिन्ता।
(४) परिजुसिय काम-भोग संपओग - काम, भोग आदि सुख के साधन सुरक्षित रखने की चिन्ता।

ऊपर के चार भेदों को अनुक्रम से अमनोज्ञ संप्रयोग, मनोज्ञ संप्रयोग, आतंक संप्रयोग, प्राप्त काम-भोग संप्रयोग भी कहा गया है।

## आर्त-ध्यान के चार लक्षण :-

(१) क्रंदनता - रोना, विलाप करना तथा चिल्लाना ही क्रन्दनता है।
(२) शोचनता - शोक करना तथा चिन्ता करना ही शोचनता है।
(३) तिप्पणता - आँसू बहाना ही तिप्पणता है।
(४) परिदेवना - हृदय पर आघात होगा, ऐसा शोक करना।

अतीव उदासीनता, व्याकुलता और दुःख से पीड़ित होकर सिर, छाती आदि पीटना ही परिदेवना है।

ये चार लक्षण मन की दुःखित और व्यथित दशा के सूचक हैं। इन लक्षणों से यह पहचाना जा सकता है कि कौन व्यक्ति दुःखी, आर्त और चिन्ताग्रस्त है।[४७]

रानी श्रीदेवी के उदाहरण से आर्त ध्यान की कल्पना को सुस्पष्ट किया जा सकता है । सम्राट् चक्रवर्ती की रानी श्रीदेवी चक्रवर्ती की मृत्यु के बाद छह महीने तक लगातार रोती है और शोक करती है। और अन्ततः आर्त ध्यान के प्रभाव से, मरकर छठे नरक में जाती हैं।[४८]

**(२) रौद्र ध्यान** - आर्त ध्यान में दीनता, हीनता और शोक की प्रबलता होती है। रौद्र ध्यान में क्रूरता और हिंसक भाव मुख्य रूप से होता है। आर्त ध्यान बहुत आत्मघाती होता है। रौद्रध्यान आत्मघात के साथ पराघात भी करता है दुःखी व्यक्ति जब अपना दुःख दूर होते नहीं देखता और दूसरों से सहानुभूति और सहयोग के विपरीत उसे अपमान और तिरस्कार मिलता है, तब वह व्यक्ति प्रायः आक्रामक और असहाय हो जाता है। पराभूत मनुष्य किसी भी मार्ग के द्वारा अपना क्रोध प्रकट करता है। उसके क्रोध में दीनता के स्थान पर क्रूरता और हिंसक आक्रमण की भावनाएँ भड़क उठती हैं। यह आक्रामक भावना जब तक भावना के रूप रहती है अर्थात् चिन्तन में रहती है तब तक वह 'रौद्र ध्यान' होती है। और जब यह आक्रामक भावना आचरण में परिणत हो जाती है । तब वह व्यक्ति को रौद्र आचरण कराने वाली बनाती है। रौद्र ध्यान के चार कारण और चार लक्षण बताये गये हैं।

## रौद्र ध्यान के चार कारण :-

(१) हिसाणुबंधी (हिसानुबंधी) - किसी को पीटने सताने या उसके संबंध में कारनामे करने संबंधी विचार करते रहना ही हिसाणुबंधी कारण है।

(२) मोसाणुबंधी (मृषानुबंधी) - दूसरे को फँसाने तथा विश्वासघात करने के संबंध में विचार करते रहना मोसाणुबंधी कारण है।
(३) तेयाणुबंधी (स्तेयानुबंधी) - चोरी, लूटपाट आदि के संबंध में विचार करते रहना तेयाणुबंधी कारण है।
(४) सारक्खणाणुबंधी (संरक्षणानुबंधी) -धन, दौलत, अधिकार, प्रतिष्ठा, भोग-विलास के साधन आदि के रक्षण के संबंध में विचार करते रहना सारक्खणाणुबंधी कारण है।

**रौद्र ध्यान के चार लक्षण :-**

(१) ओसन्नदोसे-हिंसाचार, असत्य-भाषण आदि पाप-कर्मों का अत्यंत आसक्तिपूर्वक विचार करना।
(२) बहुलदोसे-भिन्न भिन्न प्रकार के पापी तथा दुष्ट विचारों में मग्न रहना।
(३) अण्णाणदोसे-हिंसा आदि अधर्म के कार्यों में धर्मबुद्धि रखकर अज्ञान में आसक्ति रखना।
(४) आमरणांतदोसे-स्वयं के पापाचरण के लिए पश्चात्ताप न करके मृत्युपर्यन्त क्रूरता और द्वेष से भरा होना। [५६]

रौद्र ध्यान से युक्त व्यक्ति दूसरे को तकलीफ और पीड़ा देने में मग्न रहता है। परन्तु आर्त ध्यान से युक्त व्यक्ति अपनी अग्नि से अपना ही घर जलाता है। इसी तरह रौद्र-ध्यानयुक्त व्यक्ति अपना घर तो जलाता ही है, दूसरे के घर को जलाकर भी प्रसन्न होता है। मृत्यु के बाद इन दोनों ध्यानों से नरक और तिर्यंच गति मिलती हैं।

रौद्र और आर्त ध्यान को केवल इसीलिए ध्यान कहा गया है क्योंकि इनमें चिन्तन की एकाग्रता होती है। इस चिन्तन के अशुभ और पतनकारक होने पर भी इसमें एकाग्रता होती है।

आर्त और रौद्र ध्यान के संदर्भ में भगवान् महावीर ने कहा है- '*अट्ट रूद्दाणि वज्जिता झाएज्जा सुसमाहिए । धम्म सुक्काइं झाणाइं झाणं तं तु बुहा वए।।*' (दशवैकालिक, अ० १, वृत्ति)। समाधि और शांति की कामना करने वाले को, आर्त और रौद्र ध्यान का त्याग करके, धर्म और शुक्ल ध्यान का चिन्तन करना चाहिए। ये दोनों ही 'ध्यानतप' हैं।

सारांश यह है कि ध्यान चार प्रकार का होने पर भी, चारों ध्यान तप नहीं हैं। ध्यापतप की कोटि में तो केवल दो ही ध्यान आते हैं धर्मध्यान और शुक्लध्यान।

जैन-शास्त्रों में रौद्र ध्यान को स्पष्ट करने के लिए एक तन्दुल मत्स्य का दृष्टान्त दिया गया है। तन्दुल मत्स्य एक छोटे से चावल के दाने के बराबर होता है। परन्तु वह पंचेन्द्रिय और मन से युक्त होता है। वह मगरमच्छ की भौं पर बैठा रहता है। सागर में अनेक मछलियाँ उस मगरमच्छ के नजदीक से

आती-जाती हैं, परन्तु मगरमच्छ उन्हें नहीं खाता है । तब उस तंदुलमत्स्य को लगता है कि यह मगरमच्छ बड़ा आलसी तथा बेफिक्र है। यह सब मछलियों को नहीं खाता है, और वैसे ही जाने देता है। अगर मुझे इतना बड़ा शरीर प्राप्त हो जाये तो मैं एक भी मछली को नहीं जाने दूँगा, सभी मछलियों को खा जाऊँगा। वस्तुतः तन्दुलमत्स्य एक भी मछली को नहीं खा सकता, खून की एक बूँद भी नहीं गिरा सकता। परन्तु क्रूर भाव, रौद्र परिणाम और रौद्र ध्यान के कारण वह तन्दुलमत्स्य मरकर सातवें नरक में जाता है। तथा वहाँ अनन्त वेदनाएँ भोगता है। यह है- रौद्र ध्यान का दुष्परिणाम। [६०]

**(३) धर्म ध्यान**– आत्मा को पवित्र बनाने वाला तत्त्व धर्म है जिस आचरण से आत्मा विशुद्ध होता है, उसे धर्म कहा गया है। उन धार्मिक विचारों में और आत्मशुद्धि के साधनों में मन को एकाग्र करना तथा पवित्र विचारों में मन को स्थिर करना ही धर्म ध्यान है। वस्तुतः धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान आत्म-ध्यान हैं। षट्खण्डागम में कहा गया है-धर्म और शुक्ल ध्यान 'आत्म ध्यान' है। ये ही परम तप हैं। शेष समस्त तप ध्यान के साधन मात्र हैं।

धर्म ध्यान की दृढ़ता के लिए आनन्द श्रमणोपासक के समान ही अर्हन्नक श्रावक का दृष्टान्त दिया गया है। अर्हन्नक श्रावक बड़ा ही धार्मिक था। एक देवता ने उसे धर्म ध्यान से विचलित करने का प्रयत्न किया, परन्तु उसने धर्म ध्यान का त्याग नहीं किया। देवता ने अर्हन्नक श्रावक के मित्र-परिवार को भी विचलित करने की कोशिश की, परन्तु वह सफल नहीं हुआ । अर्हन्नक ने अपने मित्र-परिवार को उपदेश देकर धर्म ध्यान की उनकी निष्ठा को भी दृढ़ किया। अन्ततः हार मानकर और अर्हन्नक के समक्ष नतमस्तक होकर देवता को निकल जाना पड़ा।[६१]

आगम में धर्म ध्यान के चार भेद बताये गये हैं। वे इस प्रकार हैं -

**(१) आज्ञाविचय**– 'विचय' का अर्थ है - निर्णय या विचार। आज्ञा के संबंध में चिन्तन करना 'आज्ञाविचय' है। प्रश्न उठता है कि 'आज्ञा किसकी? इसका उत्तर यह है कि जो हमारा श्रद्धेय और परमपूज्य हो, उसीकी आज्ञा मानी जाती है। साथ ही जो स्वामी और वीतराग हो, उसी की आज्ञा मानना वास्तविक धर्म है। क्योंकि 'आणाए मामगं धम्मं' (आचारांग ६/२)। सम्बोधसत्तरि (३२) में कहा गया है कि आज्ञा में तप और संयम है- 'आणा तवो आणाइ संजमो'।

**(२) अपायविचय**– 'अपाय' का अर्थ है दोष या दुर्गुण। आत्मा में अनादि काल से मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय और योग (अशुभ योग) ये पाँच सुप्त दोष हैं। इन दोषों के कारण ही आत्मा जन्म-मरण के चक्र में भटकता रहता है इसीलिए उसे दुःख, वेदनाएँ और कष्ट भोगने पड़ते हैं। इन दोषों के स्वरूप का विचार करना इनसे मुक्ति कैसे मिल सकती है, किस प्रकार इन्हें कम किया जा सकता

है, साथ ही किन और कैसे साधनों से इन दोषों की शुद्धि हो सकती है, इन विषयों पर चिन्तन करना ही 'अपायविचय' है। 'अपायविचय' धर्म-ध्यान का दूसरा भेद है।

**(३) विपाक-विचय-** आसक्ति, अज्ञान और मोहवश कर्म जब विपाक अवस्था में आते (फल देते) हैं तब उनके भोग अत्यंत कष्टप्रद लगते हैं - 'जं से पुणो होइ दुहं विवागे' (उत्तराध्ययन ३२/४६)।

सुख के हृदयाह्लादक परिणाम पर और दुःख के विपाक-दायक परिणाम पर चिन्तन करने से पाप के संबंध में भय, तिरस्कार और आकर्षण कम होता है। और आत्मा में पाप से छूटने का संकल्प जाग्रत होता है। इस प्रकार पाप के बुरे परिणाम पर और शुभ फल पर जो चिन्तन किया जाता है, उसे धर्म-ध्यान में 'विपाकविचय' कहते हैं।

**(३) संस्थान-विचय-** संस्थान का अर्थ है- आकार। विश्व के आकार और स्वरूप के विषय में चिन्तन करना, विश्व का स्वरूप क्या है, नरक और स्वर्ग कहाँ हैं, आत्मा किन-किन कारणों से भटकता है, किन-किन योनियों में कौन-से दुःख और वेदनाएँ हैं आदि-विश्व-संबंधी विषयों के साथ आत्म-संबंध जोड़कर उनका आत्माभिमुख चिन्तन करना 'संस्थान विचय' है।[६२]

धर्म-ध्यान के चार लक्षण इस प्रकार हैं -

(१) आज्ञारुचि - रुचि का अर्थ है विश्वास। जिनेश्वर देवों की और सद्गुरुओं की आज्ञा पर विश्वास रखकर आचरण करना।

(२) निसर्गरुचि - धर्म में, सर्वज्ञ-भाषित तत्त्वों में और सत्य-दर्शन में सहज रुचि होना ही 'निसर्गरुचि' है।

(३) सूत्ररुचि - 'सूत्र' का अर्थ है भगवत्-वाणी रूप आगम। इन आगमों को सुनने पर जो रुचि उत्पन्न होती है, उसे 'सूत्ररुचि' कहते हैं।

(४) अवगाढरुचि - अवगाहन अर्थात् गहराई में जाकर चिन्तन करना। जो शास्त्र के वचनों पर गहराई में जाकर चिंतन-मनन करने को उत्सुक रहता है, उसकी उत्सुकता को 'अवगाढरुचि' कहते हैं।

इन चार लक्षणों से धर्मध्यानी आत्मा पहचानी जाती है। धर्मध्यान को स्थिर रखने के लिए और उस चिन्तन-प्रवाह को अधिक स्थिर रखने के लिए धर्मध्यान के चार आलम्बन बताए गए हैं। वे इस प्रकार हैं -

(१) वाचना - धार्मिक ग्रंथों का वाचन करना।

(२) पृच्छना - मन में शंका उत्पन्न होने पर सद्गुरु से पूछना।

(३) परिवर्तना - अभ्यास द्वारा प्राप्त ज्ञान का बार-बार स्मरण करना।

(४) धर्मकथा - धर्मोपदेश स्वयं सुनना और दूसरों को देना।

मन को धर्म-ध्यान में लीन करने के लिए जो चिन्तन किया जाता है उसे 'अनुप्रेक्षा' कहते हैं। अनुप्रेक्षा, भावना को भी कहते हैं।

धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ निम्नांकित हैं -

(१) एकत्यानुप्रेक्षा - आत्मा के अकेलेपन का चिन्तन करना।
(२) अनित्यानुप्रेक्षा- वस्तु की अनित्यता का चिन्तन करना।
(३) अशरणानुप्रेक्षा-संसार में कोई किसी की शरण नहीं है ऐसा चिन्तन करना।
(४) संसारानुप्रेक्षा -संसार के स्वरूप का चिन्तन करना।

इन चार अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) का चिन्तन करने से वैराग्य-भावना प्रकट होती है। मन शान्त होता है। आत्मशान्ति प्राप्त होती है। मन को निर्मोही बनाने में इन भावनाओं का अत्यंत महत्त्व है।[६३]

**(३) शुक्ल ध्यान** – शुक्ल ध्यान, ध्यान की सबसे अधिक निर्मल और परम उज्ज्वल अवस्था है। मन जब विषय-कषाय से परावृत्त होता है, तब उसकी मलिनता अपने आप कम होती जाती है। मन निर्मल और उज्ज्वल होते-होते जब शुभ वस्त्र के समान पूर्णतः मलरहित हो जाता है, तब उसे शुक्लता या निर्मलता प्राप्त होती है। उस निर्मल मन की एकाग्रता और पूर्ण स्थिरता 'शुक्लध्यान' कही जाती है।

आचार्यों ने शुक्ल ध्यान का वर्णन करते हुए कहा है कि जिस ध्यान में बाह्य विषयों से संबंध होने पर भी मन उनकी ओर आकृष्ट नहीं होता। पूर्ण वैराग्य-अवस्था में रमण करता है। जिस ध्यान की स्थिति में साधक के शरीर पर प्रहार करने पर या छेदन-भेदन करने पर भी उसके मन को कष्ट नहीं होता। शरीर को तकलीफ होने पर भी उस तकलीफ की अनुभूति मन का स्पर्श नहीं कर सकती। भयंकर वेदनाएँ और उपसर्ग भी मन को चंचल नहीं बना सकते। साधक का चिन्तन बाह्य से अन्तर की ओर जाता है, चित्त की निर्मलता और स्थिरता प्राप्त होती है, देह होने पर भी वह स्वयं को देहमुक्त समझता है। उस अवस्था को जैन-परिभाषा में 'शुक्ल ध्यान' कहते हैं और उसीको वैदिक-परिभाषा में 'समाधि' कहते हैं।

शुक्लध्यान जीव के सर्वोच्च आनंद का शिखर है। वहाँ पहुँचने पर आत्मा अपने स्वरूप की तंद्रा में तन्मय होकर अपने ज्ञान के साथ एकात्म हो जाता है। शुक्ल ध्यान सिद्ध होने पर ध्याता, ध्येय और ध्यान - इन तीनों में तादात्म्य स्थापित हो जाता है। इस संबंध में 'वल्लभ-प्रवचन' में कहा गया है कि ध्याता, ध्यान और ध्येय - ये तीनों जब एकरूप होते हैं, तब उस विशुद्ध आत्मा के समस्त दुःखों का क्षय होता है।[६४]

शुक्लध्यान के दो भेद हैं - (१) शुक्ल और (२) परम शुक्ल।
(१) शुक्ल - चतुर्दशपूर्वधारी तक का ध्यान 'शुक्ल ध्यान' है।
(२) परम शुक्ल - केवली भगवान् का ध्यान 'परम शुक्ल ध्यान' है।

ये दोनों भेद ध्यान की शुद्धता तथा अधिक स्थिरता की दृष्टि से किये गये हैं।

स्वरूप की दृष्टि से शुक्ल ध्यान के चार भेद होते हैं -

**(१) पृथक्त्व-वितर्क-सविचार** : पृथक्त्व अर्थात् भेद एवं वितर्क अर्थात् तर्कप्रधान चिन्तन। इस ध्यान में वस्तु के विविध प्रकारों पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन किया जाता है।

**(२) एकत्व-वितर्क-सविचार** : जब भेदप्रधान चिन्तन में मन स्थिर हो जाता है, तब अभेदप्रधान चिन्तन में स्वयंस्थिरत्व प्राप्त हो जाता है। इस ध्यान में वस्तु के एक रूप को ही ध्येय बनाया जाता है। यह ध्यान सर्वथा निर्विचार ध्यान नहीं है।

**(३) सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति** : यह ध्यान अत्यन्त सूक्ष्म क्रिया पर किया जाता है। इस ध्यान की स्थिति प्राप्त होने पर योगी पुनः ध्यान से विचलित नहीं होता। इसलिए इस ध्यान को सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति कहा गया है। जैनागम में कहा गया है कि यह ध्यान केवली-वीतराग आत्मा को ही होता है।

**(४) समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति** : इस ध्यान में आत्मा सब योगों का निरोध करता है। आत्मप्रदेश निष्कंप बनते हैं। संपूर्ण योग-चंचलता समाप्त हो जाती है। आत्मा अयोग केवली बनता है। यह अनिवृत्ति शुक्ल ध्यान है।[६५] इस ध्यान के प्रभाव से आत्मा में बचे हुए शेष चार कर्म भी शीघ्र क्षीण हो जाते हैं और अरिहन्त भगवान् वीतराग आत्मा सिद्ध दशा प्राप्त करते हैं।[६६]

शुक्ल ध्यान के चार लिंग (लक्षण) हैं। वे इस प्रकार हैं -

(१) अव्यथ - अत्यन्त कठिन उपसर्ग में भी व्यथित (चलित) न होना।

(२) असम्मोह - सूक्ष्म तात्त्विक विषयों से अथवा देवादिकृत माया से सम्मोहित न होना तथा अचल श्रद्धा रखना।

(३) विवेक - आत्मा और देह के पृथक्त्व का वास्तविक ज्ञान होना तथा कर्तव्य-अकर्तव्य का संपूर्ण विवेक जाग्रत होना।

(४) व्युत्सर्ग - सब आसक्तियों से आत्मा का मुक्त हो जाना।

इन चार लिंगों (चिन्हों या लक्षणों) से युक्त आत्मा शुक्ल-ध्यानी समझा जाता है।

शुक्ल-ध्यानरूप महल में प्रवेश करने के लिए चार आलम्बन (सोपान) शास्त्रों में बताये गये हैं जो निम्नलिखित हैं -

(१) क्षमा - क्रोध को शान्त करना।

(२) मार्दव - मानी वृत्ति न रखना।

(३) आर्जव - माया-वृत्ति को छोड़कर हृदय को विनम्र बनाना।

(४) मुक्ति - सब प्रकार से लोभ पर विजय प्राप्त करना।

शुक्ल ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ ये हैं[६७] -

(१) अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा - अनन्त भव-परम्परा के संबंध में चिन्तन करना।

(२) विपरिणामानुप्रेक्षा - वस्तु परिवर्तनशील है ऐसा विचार करके उसके प्रति आसक्ति और राग-द्वेष कम करना।
(३) अशुभानुप्रेक्षा - संसार के अशुभ स्वरूप पर विचार करना।
(४) अपायानुप्रेक्षा - क्रोधादि दोष और उसके कटु फल का विचार करना। ध्यान करने वाले साधु की बुद्धिपूर्वक आसक्ति समाप्त होने पर जो निर्विकल्प समाधि प्रकट होती है, उसे शुक्ल ध्यान या रूपातीत ध्यान कहा जाता है। इसकी भी उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होने वाली चार श्रेणियाँ हैं-

प्रथम श्रेणी में अबुद्धिपूर्वक ही ज्ञान में ज्ञेय पदार्थों का और योग-प्रवृत्तियों का संक्रमण होता रहता है। द्वितीय श्रेणी में यह स्थिति नहीं रहती। तृतीय श्रेणी में रत्नदीप की ज्योति के समान निष्कम्पता रहती है। चौथी श्रेणी में श्वास-निरोध नहीं करना पड़ता, बल्कि वह अपने आप होता है और इस ध्यान से ही प्रत्यक्ष मोक्ष की प्राप्ति होती है।

जिसका शुचि गुण से संबंध है वह शुक्ल ध्यान है। जिस प्रकार वस्त्र की मलिनता दूर होने पर वह स्वच्छ होता है, उसी प्रकार निर्मलगुणयुक्त आत्म-परिणति भी शुक्ल है। कषाय-मालिन्य दूर हो जाने से इसे शुक्लता प्राप्त होती है।

जहाँ गुण अत्यंत विशुद्ध हो जाते हैं, जहाँ कर्म का क्षय और उपशम होता है और जहाँ लेश्या (भाव या परिणाम) भी शुक्ल होती है, उसे शुक्ल ध्यान कहते हैं।

आत्मा के शुचि-गुण के कारण इस ध्यान का नाम शुक्ल ध्यान पड़ा है। आगम-शास्त्र में राग आदि विकल्प से रहित स्वसंवेदनयुक्त ज्ञान को शुक्ल ध्यान कहा गया है।[६८]

जैन-दर्शन मे ध्यान का विस्तृत चिन्तन किया गया है। पहले दो ध्यान अशुभ होने से त्याज्य हैं। धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान आत्मा के लिये हितकारक हैं और कर्ममुक्त करने वाले हैं। इसीलिए वे शुभ तथा ग्राह्य हैं।

इन चार (आर्त, रौद्र, धर्म तथा शुक्ल) ध्यानों[६९] का विस्तृत विवेचन पूर्व में हो चुका है। इन चारों ध्यानों का सारांश यहाँ प्रस्तुत है-
(१) आर्तध्यान : दुख, शोक, पीड़ा और चिन्ता से उत्पन्न हुआ वृत्तिप्रवाह।
(२) रौद्रध्यान : हिंसा, असत्य, चोरी आदि पापजनक परिणामों से उत्पन्न होने वाला दुःखसंकल्प।
(३) धर्म ध्यान : अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रहमचर्य, अपरिग्रह आदि शुभ भावनाओं तथा आत्मस्वरूप और आत्म-दर्शन की उत्कण्ठा से युक्त चित्तवृत्ति ।
(४) शुक्लध्यान : कषायरहित एवं निर्मल आत्म-दर्शन से उत्पन्न तथा सर्वथा परम विशुद्ध आत्मवृत्ति। ध्यान-साधना का मुख्य तत्त्व है 'समता'। मन जितना समभावी होगा, उतना ही स्थिर होगा। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं-

*न सात्येन विना ध्यानं न ध्यानेन विना च तत्।*

समभाव के अभ्यास के बिना ध्यान नहीं हो सकता और न मन ही स्थिर हो सकता है। मन के स्थिर हुए बिना समाधि एवं शान्ति प्राप्त नहीं होती। जब मन समतामय होता है, तभी अनासक्ति, वीतरागता तथा निर्ममत्व की उपलब्धि होती है और विषमता दूर होती है। जिसकी विषमता दूर हो जाती है वह संकटों पर विजय प्राप्त करके मन को ध्यानस्थ और समाधिस्थ बनाता है। वस्तुतः मन की स्थिरता और समाधि ही सच्चा तप है।

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ध्यान का महत्त्व बताते हुए कहा है- "हे अर्जुन! निःसंशय मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है। परन्तु अभ्यास से और वैराग्य से इसका निग्रह किया जा सकता है।"

अभ्यास का अर्थ है - एकाग्रता की साधना और वैराग्य का आशय है - विषय से विरक्ति । एकाग्रता के अभ्यास और विषय से विरक्ति की सहायता से मन को वश में किया जा सकता है।

(विरक्ति और अभ्यास के अभाव में) जिसका अन्तःकरण स्वाधीन नहीं हैं, उसे योग का प्राप्त होना अति कठिन है । लेकिन जिसका अन्तःकरण स्वाधीन है, वह यदि (ऊपर निर्दिष्ट) उपायों से प्रयत्न करे तो उसे योग प्राप्त हो सकता है।[७०]

अनशन से लेकर ध्यान तक बारह तपों का एक अस्खलित क्रम है। तपरूपी धारा का यह एक निर्मल प्रवाह है। यह हमेशा विकसित ही होता जाता है। इस प्रकार जैन-धर्म का तप केवल कायदण्डरूप ही नहीं है, वरन् उससे मानसिक शुद्धि भी होती है, यह स्पष्ट हो जाता है।

## बाह्य और अभ्यन्तर तपों का समन्वय

बाह्य और अभ्यन्तर तप के भेदों और उपभेदों का विवचेन किया जा चुका है। दोनों का ही समान स्थान है। कारण यह है कि आत्मशुद्धि के लिए जिस प्रकार उपवास स्वादवर्जन तथा कष्ट-सहिष्णुता की जरूरत है उसी प्रकार विनय, सेवा, स्वाध्याय और ध्यान की भी साधना आवश्यक है। बाह्य और अभ्यन्तर तप का अस्तित्त्व एक-दूसरे पर आधारित है, साथ ही एक-दूसरे का पूरक है। बाह्य तप से अभ्यन्तर तप पुष्ट बनता है और अभ्यंतर तप से अनशन, ऊनोदरि बाह्य तपों की साधना सहजता से होती है।

तपरूपी रथ के बाह्य और अभ्यंतर ये दो पहिये हैं। इन दो पहियों पर ही रथ आधारित है। रथ कभी एक पहिये से नहीं चल सकता। उसके लिए दो पहिये चाहिए। बाह्य तप को यदि अभ्यंतर तप का सहयोग न मिले, तो वह सफल नहीं हो सकता।

बाह्य तप क्रिया-योग का प्रतीक है, तो अभ्यंतर तप ज्ञान योग का । ज्ञान और क्रिया इन दोनों के समन्वय से ही जीवनसाफल्य होता है - *ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः।*

इस प्रकार जैन-धर्म में ज्ञान और क्रिया का समान महत्त्व है। ज्ञान के बिना क्रिया अंधी है और क्रिया के बिना ज्ञान पंगु है। इस प्रकार बाह्य और अभ्यन्तर इन दोनों तपों के समन्वय से ही मोक्षप्राप्ति होती है। तप के समस्त भेदों को निम्नांकित भेदवृक्ष से भी स्पष्ट किया जा सकता है -

### तप के भेद[७१]

**बाह्य तप**

१-अनशन २-अवमोदर्य ३-वृत्तिपरिसंख्यान
४-रसपरित्याग ५-विविक्तशय्यासन ६-कायक्लेश

**अभ्यन्तर तप**

| प्रायश्चित्त | विनय | वैयावृत्य | स्वाध्याय | व्युत्सर्ग | ध्यान |
|---|---|---|---|---|---|
| ५ | ४ | १० | ५ | २ | |
| आलोचना | ज्ञानविनय | आचार्य वैयावृत्य | वाचना | बाह्योपधि त्याग | |
| प्रतिक्रमण | दर्शनविनय | उपाध्याय वैयावृत्य | पृच्छना | अभ्यंतरोपधि त्याग | |
| तदुभय | चारित्रविनय | तपस्वी वैयावृत्य | अनुप्रेक्षा | | |
| विवेक | उपचारविनय | शैक्ष वैयावृत्य | आम्नाय | | |
| व्युत्सर्ग | | ग्लान वैयावृत्य | धर्मोपदेश | | |
| | | गण वैयावृत्य | | | |
| | | कुल वैयावृत्य | | | |
| | | संघ वैयावृत्य | | | |
| | | साधु वैयावृत्य | | | |
| | | मनोज्ञ वैयावृत्य | | | |

**ध्यान**

| १ आर्तध्यान | २ रौद्रध्यान | ३ धर्मध्यान | ४ शुक्लध्यान |
|---|---|---|---|
| ४ | ४ | ४ | ४ |
| अनिष्टसंयोगज | हिंसानुबन्धी | आज्ञाविचय | पृथक्त्ववितर्क |
| इष्टवियोगज | मृषानुबन्धी | अपायविचय | एकत्ववितर्क |
| वेदनाजनित | चौर्यानुबन्धी | विपाकविचय | सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति |
| निदानजनित | परिग्रहानुबन्धी | संस्थानविचय | समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति |

## विज्ञानयुग में ध्यान का महत्त्व

आज का युग विज्ञान और प्रगति का युग है। इसलिए यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि एक ऐसे द्रुतगति वाले युग में क्या ध्यान-साधन की कोई सार्थकता और उपयोगिता हो सकती है? ध्यान का बोध हमारी वैज्ञानिक प्रगति

की घुड़दौड़ को कहीं रोक तो नहीं लेगा ? हमारी क्रियाशीलता को कुंठित तो नहीं कर देगा? हमारे संस्कारों को जड़ और विचारों को स्थितिशील तो नहीं कर देगा? ऊपर से शंका सत्य लगती है, मगर वस्तुतः यह सत्य नहीं हैं। ध्यान-साधना निष्क्रियता का या जड़ता का कारक नहीं है। अपितु समता, क्षमता अखण्ड शक्ति और शान्ति का विधायक तत्त्व है।

एक कालखण्ड ऐसा था जब मोक्षार्थी लोगों के लिए ध्यान निर्वाण-प्राप्ति का साधन था। वे मुक्ति मे लिए ध्यान में तल्लीन रहते थे। आध्यात्मिक दृष्टि से यह आज भी समीचीन माना जाता है। साथ ही वैज्ञानिक प्रगति और मानसिक बोध के विकास ने ध्यान-साधना की सामाजिक और व्यावहारिक उपयोगिता को और भी स्पष्ट किया है। क्योंकि आज विदेशों में ध्यान भौतिक वैभव से सुसम्पन्न लोगों के आकर्षण का केन्द्र बनता जा रहा है।

## ध्यान और चेतना :

ध्यान का संबंध चेतना से है। मनोवैज्ञानिकों ने चेतना के मुख्य तीन भेद बताये हैं - जानना अर्थात् ज्ञान (Cognition), अनुभव अर्थात् अनुभूति (feeling), और प्रयत्न अर्थात् मानसिक सक्रियता (Conation)। ये तीनों बातें मन के विकास से परस्पर संबंधित हैं। ध्यान यह एक प्रकार की मानसिक क्रिया है। ध्यान मन को किसी एक वस्तु पर या संवेदना पर केन्द्रित करने में सक्रिया रहता है। परंतु भगवान् महावीर ने और अनेक आध्यात्मिक पुरुषों ने इससे आगे ध्यान को चित्तवृत्ति का निरोध करके आत्म-स्वरूप में रममाण होने की प्रक्रिया कहा है।

## ध्यान के विषय में पश्चिम के लोगों का आकर्षण :

ध्यान के प्रति पश्चिम के लोगों का जो आकर्षक बढ़ रहा है वह भोग के अतिरेक की प्रतिक्रिया की परिणति है। आत्मा के स्वभाव सें रम जाने की सहज प्रवृत्तियाँ उनमें नहीं हैं। भौतिक ऐश्वर्य में डूबे हुए पाश्चात्यों के लिए ध्यान, भौतिक यंत्रणा ये मुक्ति प्राप्त करने का एक साधन है। इन्द्रिय-भोग के अतिरेक से उत्पन्न थकान के लिए विश्राम है। ध्यान मानसिक तनाव और दैनिक जीवन की उथल-पुथल से दूर रहने का एक मार्ग है। ध्यान के प्रति उनका आकर्षक भौतिक पदार्थों से होने वाली अतृप्ति तथा तकलीफ का परिणाम है। उनका उद्देश्य प्राचीन ऋषियों के समान मुक्ति या निर्वाण-प्राप्ति नहीं है। ध्यान को वे शारीरिक और मानसिक स्तर तक ही जान सकते हैं। उसके आगे आत्मिक स्तर तक वे नहीं पँहुचे हैं। वस्तुतः ध्यान-योग की साधना भोग की प्रतिक्रिया का फल नहीं है, उसका उद्देश्य महान् है। उसके द्वारा आत्मा के स्वभाव का परिचय प्राप्त करके उसका स्मरण करने की रुचि जाग्रत की जाती है। चित्तवृत्तियों का निरोध किया

जाता है। ध्यानावस्था साधक को जड़ नहीं बनाती, वह उसे सूक्ष्म से शून्य अवस्था तक पहुँचाती है तथा अनन्त शक्ति और प्रसन्नता से ओतप्रोत करती है।

ध्यान-साधना आध्यात्मिक ऊर्जा का स्रोत तो है ही सामाजिक शालीनता और विश्व-बंधुत्व की भावना की वृद्धि में भी उससे मदद मिलती है। ध्यान, जीवन से पलायन नहीं है। जीवन के साथ सदाचारनिष्ट, कलात्मक और अनुशासनबद्ध रहने का महत्त्वपूर्ण साधन है। ध्यान एक ऐसा संगम-स्थान है जहाँ विभिन्न धर्म जाति और संस्कृति के लोग एक साथ बैठकर परम सत्य का साक्षात्कार करते हैं। परिणामतः उन्हें आत्मशान्ति प्राप्त होती है। ध्यान के विषय में विशेष विवेचन 'जिनवाणी' में भी मिलता है।[७२]

## तप का माहात्म्य :

'तप' चिन्तामणि रत्न के समान चिन्ताओं को दूर करने वाला है। दुःखरूपी अन्धकार हटाने के लिए तप साक्षात् सूर्य के समान है। कर्मरूपी पर्वतों का नाश करने के लिए यह वज्र के समान उपयोगी है। इसमें समस्त प्रकार की अर्थसिद्धि समाविष्ट है।

सभी मनुष्यों के कर्मों को तप ही नष्ट करता है। तप संसाररूपी समुद्र को पार करवाता है। इसलिए तप की शुद्ध भावना से आराधना करनी चाहिए।

तप का तेज सूर्य से ज्यादा प्रखर है। मुक्ति और अध्यात्म के लिए सभी धर्मों में तप को महत्त्व दिया गया है।[७३]

जैन-दर्शन का तप-साधना का मार्ग हठयोग का मार्ग नहीं है। शरीर और मन पर किसी भी प्रकार का बलात्कार यहाँ दिखाई नहीं देता। मन की प्रसन्नता के उपरान्त ही शरीर के द्वारा तप हो सकता है। जैन-धर्म की तप-साधना में एक विशेषता यह भी है कि दुर्बल से दुर्बल साथ ही महान् से महान् शक्तिशाली पुरुष भी अपनी शक्ति के अनुसार इस तपोमार्ग की आराधना कर सकता है। छोटे से छोटा व्रत - एक पोरुषी (केवल ढाई-तीन घण्टों के लिए आहार का त्याग) करके भी इस तप की आराधना का प्रारंभ किया जा सकता है। ऊनोदरी तो रोगी, भोगी, योगी कोई भी कर सकता है। इस प्रकार तप की आसान साधना भी इसमें बताई गयी है। धीरे-धीरे शरीर और मन दृढ़ होने पर कठोर, दीर्घ उपवास, ध्यान और कायोत्सर्ग तक की साधनाओं द्वारा साधक तप के उच्चतम शिखर पर पहुँच सकता है।

वास्तव में तप अध्यात्म-साधना का प्राण है। भारतीय धर्मों में और विशेष रूप से जैन-धर्म में तप के विविध भेदों पर संपूर्ण विचार, चिन्तन और मनन किया गया है। जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति तपोमय होनी चाहिए, ऐसी जैन-धर्म की जीवनदृष्टि है। तप जीवन की ऊर्जा है। सृष्टि का मूलचक्र है। तप ही जीवन है। तप दमन नहीं शमन है। निग्रह नहीं है, अभिग्रह है। केवल भोजन-निरोध ही नहीं, वासना-निरोध भी है। तप जीवन को सौम्य, स्वच्छ, सात्विक और सर्वांगपूर्ण

बनाने की दिव्य साधना है। यह एक ऐसी अद्भुत साधना है जिससे आध्यात्मिक परिपूर्णता प्राप्त होती है, और अन्त में साधक जन्म, जरा एवं मृत्यु के चक्र से विमुक्त होकर परमात्म-पद तक पहुँचता है। तप जल के बिना ही होने वाला अन्तरंग स्नान है। यह जीवन के विकारों का सम्पूर्ण मल धोकर स्वच्छता लाता है।

इस प्रकार जैन-धर्म के तप के महत्त्व को समझ लेने पर स्पष्ट हो जाता है कि जैन-धर्म एक वैज्ञानिक धर्म है।

## सन्दर्भ

१. (क) उत्तराध्ययनसूत्र - अ. २८, गा. ३६.
खवेत्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य ।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा पक्कमन्ति महेसिणो ।।
(ख) पं- विजयमुनि शास्त्री - समयसारप्रवचन - पृ. ८१-८२
(ग) उत्तराध्ययनसूत्र - अ. ३०, गा. ५, ६.
जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे ।
उस्सिचिंणाए तवणात् कमेणं सोसणा भवे ।। ५ ।।
एवं तु संजयस्सावि पावकम्मनिरासवे
भवकोडीसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जई ।। ६ ।।

२. वाचस्पति गैरोला - संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास - पृ. २१६.

३. (क) श्रीसिद्धसेनगणि - तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (स्वोपज्ञभाष्य) - भा. २, अ. ८, सू. २४, पृ. १७३
सा च निर्जरा द्विविधा-विपाकजा अविपाकजा च ।
(ख) श्रीसिद्धसेनगणि-तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (स्वोपज्ञभाष्य) - भा. २, अ. ८, सू. २४, पृ. १७३-१७४.
तत्राद्या संसारोदधौ परिप्लवमानस्यात्मनः शुभाशुभस्य कर्मणो विपाककालाप्राप्तस्य यथायथमुदयावलिकात्तोतसि पतितस्य फलोपभोगादुपजातिस्थितिक्षये या निवृत्तिः सा विपाकजा निर्जरा । यत् पुनः कर्माप्राप्तविपाककालमौपक्रमिकक्रियाविशेष-सामर्थ्यादनुत्तीर्णं बलादुदीर्योदयावलिकामनुप्रवेश्य वेद्यते पनसतिन्दुकाम्रकलपाकवत् सा त्वविपाकजा निर्जरा ।

४. (क) उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ. ९, सू. १९, २०.
अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यंतपः ।। १९ ।।
प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ।। २० ।।
(ख) उत्तराध्ययनसूत्र - अ. ३०, सू. ८, ३०.
(ग) भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक-भाग २, अ. ९, सू. १९, २०, पृ. ६१८

५. उत्तराध्ययनसूत्र - अ. ३०, सू. ७.
सो तवो दुविहो वुत्तो बाहिरब्भन्तरो तहा ।

बाहिरो छव्विहो वुत्तो एवमब्भन्तरो तवो ।।
६. (क) आचार्य भिक्खू - नवपदार्थ - पृ. ६६१
(ख) उत्तराध्ययनसूत्र - अ. ३०, सू. ६
(ग) उत्तराध्ययनसूत्र - अ. ६, सू. २२
७. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ. ६, सू. ३, 'तपसा निर्जरा च' ।
८. (क) उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ. ६, सू. ३
(ख) भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक - अ. ६, सू. ३, पृ. ५६३, भा. २
तपसोऽभ्युदयहेतुत्वानिर्जराङ्गत्वाभाव इति चेत् -------तपोऽभ्युदयकर्मक्षयहेतुः ।
६. उमास्वाति - सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र - अ. ६, सू. १६, पृ. ४१२
(हिन्दी अनु. - पं. खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री) संयमरक्षणार्थे कर्मनिर्जरार्थे च चतुर्थषष्ठाष्टमादि सम्यगनशनं तपः ।
१०. भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक - भाग २, अ. ६, सू. १६, पृ. ६१८
संयमप्रसिद्धिरागोच्छेदकर्मविनाशध्यानागमावाप्त्यर्थमनशनवचनम् ।
११. उत्तराध्ययनसूत्र - अ. ३०, गा. ६-१३.
१२. उत्तराध्ययनसूत्र - अ. ३०, गा. १४-२३
१३. सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (भगवई) - भाग १, स. २५, उ. ७, पृ. ८६३
१४. सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (समवाइय) - भाग १, स. ६, पृ. ३२०
१५. उत्तराध्ययनसूत्र - अ. ३०, सू. १४
ओमोचरणं पंचहा समासेण वियाहियं ।
दव्वओ खेतकालेणं भावेणं पज्जवेहि य ।।
१६. सं- पुप्फभिक्खू-सुत्तागमे (ओववाइयसुतं) - भाग २, पृ. ६
दुविहा पण्णत्ता, तं जहा दव्वोमोयरिया व भावमोयरिया य ------------ अणेगविहा पण्णत्ता, तं जहा अप्पकोहे अप्पमाणे अप्पमाए अप्पलोहे अप्पसदे अप्पसंत्रे, से तं ओमोयरिया ।
१७. भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक - भाग २, अ. ६, सू. १६, पृ. ६१८
भिक्षार्थिनो मुनेरेकागारादिविषयः संकल्पश्चित्तावरोधः वृत्तिः
परिसंख्यानमाशानिवृत्त्यर्थम- वगन्तव्यम् ।
१८. दशवैकालिकासूत्र - अ. १, गा. २
१६. सं-पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (सूयगडं) - सू. १, अ. १०, पृ. १२४
आदीणवित्ति व करइ पावं ।। ६ ।।
२०. (क) सं- पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (समवाए) - भा. १, स. ६, पृ. ३२०
(ख) उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र, अ. ६, सू. १६
२१. (क) उत्तराध्ययनसूत्र - अ. ३०, गा. २५
(ख) दशवैकालिकसूत्र - अ. ५, उ. १, गा. २.
२२. सं. डॉ. नरेन्द्र भानावत - जिनवाणी (मासिक पत्रिका-अक्टूबर, १६७४)-पृ.२४
श्री रमेश मुनिशास्त्री-तप : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन, पादटिप्पणी सं. (४)

(क) गौरिव चरणं गोचरः- उत्तमाधममध्यमकुलेष्वरक्ताद्विष्टस्य भिक्षाटनं - हरिभद्रीयटीका, पत्र १६३
(ख) गोरिव चरणं गोयरो - तहा सद्धादिसु अमुच्छिओ ।
- अगस्त्यसिंहचूर्णि ।

२३. पृ. २५ - उच्चनीयमज्झिम कुलाइं अडमाडे - अन्तगढदशावर्ग ६/१५

२४. दशवैकालिकसूत्र - अ. ५, उ. १, गा. १००
दोवि गच्छन्ति सुग्गइं ।

२५. दशवैकालिकसूत्र - अ. १, गा. २
जहा दुमस्त पुप्फेसु, भमरो अवियइ रसं।
ण य पुप्फं किलामेइ सो य पीणेइ अप्पयं।।

२६- (क) उत्तराध्ययनसूत्र - अ. ३०, गा, २६
खीरदाहिसप्पिमाई पणीयं पाणभोयणं।
परिवज्जणं रसाणं तु भणिय रसविवज्जणं।
(ख) भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक - भा. २, अ. ६, सू. १६,पृ. ६१८
जितेन्द्रियत्वतेजोऽहानिसंयमोपरोधव्यावृत्त्याद्यर्थं घृतादिरसत्यजनं रसपरित्यागः ।। ५।।

२७- भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक, अ. ९, सू. १९, पृ. ६१९, भाग २
आबाधात्ययब्रह्मचर्यस्वाध्यायध्यानादिप्रसिद्धयर्थे विविक्तशय्यासनम्।। १२।।

२८- सं पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (भगवई) - भा. १. स. २४, उ. ७, पृ. ८६४
(क) पडिंसलीयणा चउव्विहा पन्नता तं जहा इंदियपडिसंलीणया कसायपडिसंलीणया जोगपडिसंलीणया विवित्तसजयासणेसेवणया।
(ख) इंदियपडिसंलीणया पंचविहा पन्ना तं जहा सोइंदिय----------- विवित्तसयणासणसेवणया, से तं पडिसंलीणया, से तं बाहिरए तवे ।। १।। - पृ. ८६४-६४

२९- (क) मरुधरकेसरी प्रवर्तक मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज - जैनधर्म में तप - पृ. २८८, २९०, २९२, २९५, ३०२.
(ख) भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक - अ. ९, सू. १९- पृ. ६२९, भाग २
स्थानमौनातपनादिरनेकधा ।। १३।। नानाविधप्रतिमास्थानं वाचंयमत्वम् आतापनम् वृक्षमूल (वासः) इत्येवमादिना शरीरपरिखेदः कायक्लेश इत्युच्यते।

३०. उमास्वाति - सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र (हिंदी अनु- पं. खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री) - अ. ९, सू. १९, पृ. ४१४ अस्मात् षड्विधादपि बाह्यात्तपसः सङ्गत्यागशरीरलाघवेन्द्रियविजयसंयमरक्षणकर्मनिर्जरा भवन्ति ।। ६।।

३१. (क) उत्तराध्ययनसूत्र - अ. ३०, गा. ३०
पायच्छितं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं च विउस्सग्गो एसो अब्भिन्तरो तवो ।।
(ख) भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक - भा. २, अ. ९, सू. २०, पृ. ६२०

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्यभ्यन्तरम् ।। २० ।।

३२. मरुधरकेसरी, प्रवर्तक, मुनिश्री मिश्रीमलजी म. - जैन धर्म में तप - पृ. ३६०-३६१

पापं छिनत्ति यस्मात् प्रायश्चित्तमिति भाष्यते तस्मात् ।
प्रायेण वापि चित्तं विशोधयति तेन प्रायश्चित्तम् ।।

३३. मरुधरकेसरी, प्रवर्तक, मुनिश्री मिश्रीमलजी म. - जैन धर्म में तप - पृ. ३६१

प्रायः पापं विनिर्दिष्टं चित्तं तस्य विशोधनम् । - धर्मसंग्रह, अधिकार ३

३४. भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक - अ. ६, सू. २२, पृ. ६२०, भाग २

अपराधो वा प्रायः चित्तं शुद्धिः प्रायस्य चित्तं प्रायश्चित्तम् अपराधविशुद्धिः ।

३५. मरुधरकेसरी, प्रवर्तक, मुनिश्री मिश्रीमलजी म.-जैन धर्म में तप-पृ. ३६०-३६२

३६. उत्तराध्ययनसूत्र - अ. १, गा. ४,

जहा सुणी पुइ-कण्णी, निक्कसिज्जइ सव्वसो । एवं दुस्सील-पडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जइ ।।

३७. (क) उत्तराध्ययनसूत्र - अ. १, गा. २६-फरुसं पि अणुसासणं ।

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र - अ. १, गा. ६-अणुसासिओ न कुप्पिज्जा ।

(ग) उत्तराध्ययनसूत्र - अ. १, गा. २७-जं मे बुद्धाणुसासन्ति सीएण फरुसेण वा।

३८. (क) उत्तराध्ययनसूत्र - अ. १, गा. १५ - अप्पा चेव दमेयव्वो ।

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र - अ.१, गा. १६- वरं मे अप्पा दन्तो, संजमेण तवेण य।

(ग) उत्तराध्ययनसूत्र - अ. १, गा. ७ - तम्हा विणयमेसिज्जा, सीलं पडि-लभेज्जओ ।

३६. (क) उत्तराध्ययनसूत्र - अ. १, गा. २२ - पुच्छेज्जा पंजलीउडो ।

(ख) दशवैकालिकसूत्र - अ. ८, गा. ४१ - रायणिएसु विणयं पउंजे ।

(ग) उत्तराध्ययनसूत्र - अ. ६, उ. २, गा. २२

विवत्ती अविणीयस्स संपत्ती विणियस्स य ।

४०. (क) सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (भगवई) - भाग १, स. २५, उ. ७, पृ.८६५

विणए सत्तविहे पण्णत्ते तं जहा -
णाणविणए, दंसणविणए, चरित्तविणए, मणविणए,
वइविणइ, कायविणए, लोगोवयारविणए ।

(ख) सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (ठाणे) - भाग १, अ. ७, पृ. २८४

४१. मरुधरकेसरी, प्रवर्तक, मुनिश्री मिश्रीमलजी म. - जैन धर्म में तप - पृ. ४३६

विणएण णरो गंधेण चंदणं सोमयाइ रयणियरो ।
महुररसेण अमयं जणपियत्तं लहइ भुवणे । - धर्मरत्नप्रकरण १

४२. मरुधरकेसरी, प्रवर्तक, मुनिश्री मिश्रीमलजी म. - जैन धर्म में तप - पृ. ४४२

वैयावृत्यं भक्तादिभिः धर्मोपग्रहकारित्वं वस्तुभिरुपग्रहकरणे ।

४३. उत्तराध्ययनसूत्र - अ. २६, सू. ४४.

वैयावच्चेणं भन्ते जीवे किं जणयइ ?
वैयावच्चेणं तित्थयरनामगोत्तं कम्मं निबन्धइ ।।

४४. (क) सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (ठाणे) - भाग १, अ. १०, अ. १०, पृ.३०४
दसविहे वेयावच्चे पण्णता तं जहा - आयरियवेयावच्चे उवज्झायवेयावच्चे थेरवेयावच्चे तवस्सि वेयावच्चे, गिलाण वेयावच्चे, सेह वेयावच्चे, कुल वेयावच्चे, गण वेयावच्चे, संघवेयावच्चे साहम्मियवेयावच्चे ।
(ख) सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (भगवई) - स. २५, उ. ७, पृ. ८६६
वेयावच्चे दसविहे पण्णता तं जहा - आयरियवेयावच्चे --------- संघवेयावच्चे साहम्मियवेयावच्चे ।। ८०१ ।।

४५. उत्तराध्ययनसूत्र - अ. २६, गा- १०
सज्झाए वा निउत्तेणं सव्वदुक्खविमोक्खणे ।।

४६. उत्तराध्ययनसूत्र - अ. २६, गा. १६
सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ।।

४७. (क) सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (भगवई) - भाग १, स. २५, उ. ७, पृ. ८६६
सज्झाए पंचविहे पन्नते तं जहा - वायणा पडिपुच्छणा परियट्टणा अणुप्पेहा धम्मकहा, से तं सज्झाए ।। ८०१ ।।
(ख) सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (ओववाइयसुत्तं) - भाग २, पृ. ११

४८. तत्त्वार्थराजवार्तिक - भट्टाकलंकदेव - भाग २, अ. ६, सू. २७, पृ. ६२५
निःसंगनिर्भयत्वजीविताशाव्युदासाद्यर्थो व्युत्सर्गः ।। १० ।। - तत्त्वार्थटीका ।

४९. डॉ- मोहनलाल मेहता- जैन साहित्य का बृहद् इतिहास - भाग ३, पृ. ६३-६४

५०. डॉ. इन्द्रचन्द्र शास्त्री - जैनदृष्टि - पृ. ८१-८२

५१. सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (भगवई) - भा.१, स. २५, उ. ७, पृ. ८६७
विउसग्गे दुविहे पन्नता तं जहा - दव्वविउसग्गे व भावविउसग्गे य, से किं तं दव्वविउसग्गे ? दव्वविउसग्गे चउव्विहे पन्नता तं जहा - गणविउसग्गे सरीरविउसग्गे उवहिविउसग्गे भतपाणविउसग्गे, से तं दव्वविउसग्गे, से किं तं भावविउसग्गे ? भावविउसग्गे तिविहे पन्नता तं जहा - कसायविउसग्गे संसारविउसग्गे कम्मविउसग्गे ।। ८०३ ।।

५२. सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (भगवई) - भा. १, स. २५, उ. ७, पृ. ८६७
कसायविउसग्गे चउव्विहे पन्नता तं जहा - कोहविउसग्गे -------- अंतराइयकम्मविउसग्गे, से तं कम्मविउसग्गे, से तं भावविउसग्गे ।। ८०३ ।।

५३. मुनिश्री नथमल - जीव-अजीव - पृ १८२

५४. लेखक व संकलनकार - विश्वशान्तिचाहक - योगदर्शन अने योगसमाधि (गुजराती अनु-), पृ. ३५३
सिद्धाः सिद्धयन्ति सेत्स्यन्ति, यावन्तः केऽपिमानवाः । ध्यानतपोबलेनैव, ते सर्वेऽपि शुभाशयाः ।।

५५. मरुधरकेसरी, प्रवर्तक, मुनिश्री मिश्रीमलजी म. - जैनधर्म में तप - पृ. ४७०

ध्यानं तु विषये तस्मिन्नेकप्रत्ययसंततिः । - अभिधानचिन्तामणिकोश १/८४

५६. (क) मरुधरकेसरी, प्रवर्तक, मुनिश्री मिश्रीमलजी म.- जैनधर्म में तप. पृ. ४७१-४७२

(ख) सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (ठाणे) - अ. ४, उ. १, पृ. २२४

चत्तारि झाणा पन्नता तं जहा अट्टे झाणे, रोद्दे झाणे, धम्मे झाणे, सुक्के झाणे ।।३०८।।

५७. (क) सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (ठाणे) - भा. १, अ. ४, उ. १, पृ. २२४

अट्टे झाणे चउव्विहे पन्नता तं जहा - अमणुन्नसंपओगसंपउत्ते तस्स विप्पओगसति समण्णगए यावि भवइ, मणुन्नसंपओगसंपउत्ते तस्स अविप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवइ, आयंकसंपओगसंपउत्ते तस्स विप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवइ, परिजुसीयकामभोगसंपओगसंपउत्ते तस्स अविप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवइ, अट्टस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पन्नता तं जहा - कंदणया, सोयणया, तिप्पणया परिदेवणया ।। ३०८ ।।

(ख) सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (भगवई) - भा. १, अ. २५, उ. ८, पृ.८६६

५८. आचार्य वल्लभसूरिजी म. - वल्लभप्रवचन - भा. १, पृ. ४०६

५९. (क) सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (ठाणे) - भा. १, अ. ४, उ. १, पृ. २२४

रोद्दे झाणे चउव्विहे पन्नता तं जहा हिंसाणुबंधि, मोसाणुबंधि तेणाणुबंधि संरक्खणाणुबंधि। रोद्दस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पन्नता तं जहा ओसन्नदोसे, बहुलदोसे, अन्नाणदोसे आमरणंतदोसे, ।। ३०८ ।।

(ख) सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (भगवई) - भा. १, स. २५, उ. ७, पृ. ८६६

६०. आचार्यश्री विजयवल्लभसूरिजी म. - वल्लभप्रवचन, भाग १, पृ. ४११

६१. आचार्यश्री विजयवल्लभसूरिजी म. - वल्लभप्रवचन, भाग १, पृ. ४१३

६२. सं. पुप्फभिक्खू-सुत्तागमे (ठाणे) - भा. १, अ. ४, उ. १, पृ. २२४

धम्मे झाणे चउव्विहे पण्णता तं जहा - आणा विजए, अवाय विजए, विवाग विजए, संठाण विजए ।। ३०८ ।।

६३. (क) सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (ठाणे) - भा. १, अ. ४, उ. १, पृ. २२४

(ख) सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (भगवई) - भा. १, स. २५, उ. ७, पृ.८६६

६४. आचार्यश्री विजयवल्लभसूरिजी म. - वल्लभप्रवचन भाग १, पृ. ४१४

ध्याता ध्यानं तथा ध्येयमेकतावगतं त्रयम् ।
तस्य ह्यनन्यचित्तस्य सर्वदुःखक्षयो भवेत् ।।

६५. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ. ९, सू. ३९-४०

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः । ३९ । परे केवलिनः । ४० ।

६६. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ. ९, सू. ४१

पृथकत्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृत्तीनि ।। ४१ ।।

६७. (क) सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (ठाणे) - भा. १, अ. ४, उ. १, पृ. २२४

सुक्केझाणे चउव्विहे पण्णता तं जहा - पुहुत्तवियक्केसवियारी, एगत्तवियक्के अवियारी, ------ अणंतवत्तियाणुप्पेहा, विपरिणामाणुप्पेहा, असुभाणुप्पेहा, अवायाणुप्पेहा ।। ३०८ ।।

(ख) सं. पुप्फभिक्खू-सुत्तागमे (भगवई) - भा. १, सं. २५, उ. ७, पृ. ८६६-८६७

६८. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश - भाग ४, पृ. ३१-३२

६९. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ. ९, सू. २९

आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि ।। २९ ।।

७०. श्रीमद्भगवद्गीता - अ. ६, श्लो. ३५-३६

(क) असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।। ३५ ।।

(ख) असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ।। ३६ ।।

७१. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) - पृ. २७६
(मराठी अनु. श्री. ब्र. जीवराज गौतमचंद दोशी)

७२. (क) सं. मुनिश्री नेमिचन्द्रजी - श्रीअमरभारती (भगवान् महावीर-निर्वाण-विशेषांक १९७४ - डॉ. नरेन्द्र भानावत - ध्यानसाधना वर्तमान संदर्भ में) - पृ. ११० -----

(ख) सं. डॉ. नरेन्द्र भानावत - जिनवाणी (नवम्बर १९७२)

७३. सं. फतहसिंह कोठारी - ओसवाल-हितैषी (मासिक पत्रिका) - अगस्त १९७५, अंक ८, पृ. ४-५

(क) चिन्तामणेस्तुल्यमशेषदायि,
दुःखाऽन्धकारप्रतिरोधि सूर्यः ।
कर्मादिभेदे कुलिशोपमं च,
सर्वार्थसिद्धिस्तपसि प्रतिष्ठा ।।

(ख) वज्राणि कर्माणि तपो हि यस्मात्,
भस्मीप्रकुर्यात् सकलं जनानाम् ।
संसारसिंधुं नयतीह पार-
माराधयन्तु प्रविशुद्धभावात् ।।

(ग) सूर्योऽतिशायि प्रखरं तु तेजो,
मुक्त्यर्थमध्यात्मगोपियत्नैः ।
लब्धेर्निधानं सुखशान्तिधाम
सर्वेषु धर्मेषु तपः प्रधानम् ।।

# अष्टम अध्याय
# बंध तत्त्व

दूध में जैसे जल, धातु में जैसु मृत्तिका, पुष्प में जैसी सुगंध, तिल में जैसे तेल, लौहे के गोले में जैसे अग्नि, उसी प्रकार आत्मप्रदेशों में कर्म-पुद्गल का समावेश होता है। यही "बंध" है। दो पदार्थों के विशिष्ट संबंध को 'बंध' कहते हैं। जीव कषाय युक्त होकर कर्म योग्य ऐसे पुद्गल ग्रहण करता है। यही बंध है। इसका अर्थ यह है कि कर्मयोग्य पुद्गलों का और जीव का अग्नि और लौहपिण्ड के समान जो संबंध है, वही बंध है।[1]

बंध दो प्रकार का होता है। पुण्य-कर्म का बंध और पाप-कर्म का बंध। पुण्यबंध के उदय से जीव को सुख प्राप्त होता है और पापबंध के उदय से अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। जब तक बंध का विपाक नहीं होता, तब तक जीव को किंचित् भी सुख-दुःख नहीं होता।

जब तक आस्रवों का द्वार खुला रहता है, तब तक बंध होता ही रहेगा। जहाँ-जहाँ आस्रव है, वहाँ-वहाँ बंध है ही। आगम शास्त्र में अन्य पदार्थों के समान बंध को भी सत्, तत्त्व, तथ्य आदि संज्ञाओं से संबोधित किया गया है। उसमें कहा है - ऐसा मत समझिए कि बंध और मोक्ष नहीं हैं, परंतु ऐसा समझिए कि बंध और मोक्ष हैं।[2]

### "बंध" की व्याख्याएँ :

जिससे कर्म बांधा जाता है, उसे 'बंथ' कहते है। जो बंधता है या जिसके द्वारा बांधा जाता है अथवा जो बंधन रूप है, वह बंध है। बंध करण या साधन है। क्योंकि अध्यात्म मार्ग में जिसके द्वारा कर्म बांधा जाता है वह बंध है। इष्ट स्थान अर्थात मुक्ति जाने में जो बाधक कारण है उसे बंध कहते हैं। कर्म-प्रदेशों का आत्म-प्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाही होना बंध है। आत्मद्रव्य का कर्म द्रव्य के साथ संयोग और समवाय संबंध होता है, उसे ही बंध कहते हैं।[3]

वस्तुतः जीव और कर्म के मिश्रण को ही बंध कहते हैं। जीव अपनी प्रवृत्तियों से कर्मयोग्य पुद्गल को ग्रहण करता है। इन ग्रहण किए हुए कर्म-पुद्गलों का जीव-प्रदेशों के साथ संयोग 'बंध' हैं।[4]

### बंध का स्वरूप :

आचार्य शीलांक ने सूत्रकृतांग की टीका में कहा है कि आरंभ और कषाय आत्मा के परिग्रह हैं। मिथ्यात्व और अज्ञान आत्मा के बंधन हैं। जब तक इनका अस्तित्व रहेगा, तब तक आत्मा बंधन से मुक्त नहीं होगा। पूर्वबद्ध कर्म ठीक समय पर फल देकर अवश्य ही अलग होगे, परंतु उससे नए कर्म का बंध होता रहेगा और बंध की परंपरा जारी रहेगी। इसलिए बंध का स्वरूप और उसके

कारणों का ज्ञान कर लेना आवश्यक है। उससे ही आत्मा बंधन का त्याग कर मुक्त हो सकेगा।

वस्तुतः बंध भी आत्मा की पर्याय है और मोक्ष भी आत्मा की पर्याय है, परंतु दोनों पर्यायों में बहुत बड़ा अंतर हैं मोक्ष यह आत्मा की विशुद्ध पर्याय है तो बंध अशुद्ध पर्याय है। जब तक मोह और अज्ञान रहेगा; राग, द्वेष और मिथ्यात्व रहेंगे, तब तक बंध की पर्याय या अशुद्ध पर्याय रहेगी ही।

स्व-स्वरूप में स्थित होना ही बंधन से मुक्त होना है और परभाव में, भौतिक वस्तुओं में या पर-पदार्थों में रम जाना ही यही बंधन है।[५] जब तक बंधन का स्वरूप समझा नहीं जाएगा, तब तक मोक्ष का स्वरूप भी समझा नहीं जाएगा। बंधन का स्वरूप समझने के बाद ही उसे नष्ट करने को प्रयत्न किया जा सकेगा।[६]

## बंधन कब से ? :

संसार का प्रत्येक प्राणी कर्मों के बंधन से बद्ध है। वह कब से बद्ध है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार बंधन का प्रारम्भिक समय निश्चित न होने पर भी इतना तो निश्चित है कि वह कर्म से बद्ध है। जब सुवर्ण को खान में से निकाला जाता है, तब वह मृत्तिका से लिपटा हुआ रहता है। वह कब से मिट्टी से लिपटा हुआ है, यह हम नहीं बता सकते। परंतु वह जब तक सुवर्ण खान में रहता है, तब तक मृत्तिका के साथ ही रहता है। लेकिन खान में से निकाला जाने पर रासायनिक प्रक्रिया द्वारा उसे शुद्ध बनाया जा सकता है। मृत्तिका को अलग और सुवर्ण को अलग किया जाता है। उसी प्रकार साधना की प्रक्रिया द्वारा आत्मा को भी कर्मों के बंधन से मुक्त किया जाता है।[७]

**बंधन के कारण** : मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग- ये पाँच बंध के कारण हैं।

| | | |
|---|---|---|
| १) मिथ्यादर्शन | : | जीवादि तत्त्वों पर जो श्रद्धा होती है, उसे सम्यक् दर्शन कहते है। इसके विपरीत उन तत्त्वों पर श्रद्धा न होना मिथ्यादर्शन है। |
| २) अविरति | : | दोषों से पराङ्मुख न होना, षट्काय जीवों की हिंसा करना और पाँच इन्द्रियों तथा मन को नियंत्रण में नहीं रखना अविरति है। |
| ३) प्रमाद | : | आत्मविस्मरण, पुण्य-कार्यों या शुभ कर्मों के विषय में अनादर भाव, कर्तव्य-अकर्तव्य का स्मरण न रखना और शुद्ध आचार के संबंध में सावधानी न रखना ये- प्रमाद हैं। |

४) कषाय : कर्म या संसार को 'कष' कहते हैं। और 'आय' अर्थात प्राप्ति। जिसके कारण कर्म या संसार की प्राप्ति होती है, उसे 'कषाय' कहते हैं। उदाहरणार्थ, क्रोध, मान, माया और लोभ - ये चार कषाय हैं।

५) योग : मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों को योग कहते हैं।[८]

आस्रव से कर्म आत्म-प्रदेश की ओर आते हैं। बंध से कर्म आत्म-प्रदेश के साथ संश्लिष्ट होते हैं। संवर से नए कर्मों का प्रवेश रूकता है, यानी नए कर्मों का बंध नहीं होता। आत्मा और कर्मपुद्गलों का जो पुनः वियोग होता है, उस वियोग की प्रक्रिया को निर्जरा और संपूर्ण वियोग को मोक्ष कहते हैं।

बंध यह आस्रव और निर्जरा के बीच की स्थिति है। आस्रव के द्वारा कर्म-पुद्गल आत्म-प्रदेशों में आते हैं, निर्जरा द्वारा कर्म पुद्गल आत्म-प्रदेशों से बाहर निकलते हैं। कर्म-परमाणुओं का आत्म-प्रदेश में आना अर्थात् आस्रव और उनका अलग होना अर्थात् निर्जरा तथा उन दोनों के बीच की स्थिति (अवस्था) को 'बंध' कहते हैं।

प्रथमतः कर्म का आगमन आत्मा में होता है। बाद में बंध होता है। कर्म का आगमन आस्रव के बिना नहीं होता। इसलिए 'बंध' का मूलाधार या कारण आस्रव तत्त्व है। मिथ्यात्व आदि हेतुओं के अभाव में कर्म-पुद्गलों का आत्मा में प्रवेश नहीं होता, इसलिए आस्रव ही बंधोत्पत्ति का कारण है।[९]

आगमों में बंध के कारण यानी बंध-हेतु दो प्रकार के बताए गए हैं - १) राग और २) द्वेष। राग और द्वेष ये कर्म के बीज हैं। जो कोई पाप-कर्म हैं, वे राग और द्वेष से ही होते हैं।[१०] टीकाकारों ने राग को माया और लोभ कहा है और द्वेष को क्रोध और मान कहा है। आगम में यह भी कहा है कि जीव इन चार कषायों के द्वारा वर्तमान में आठ कर्मों को बाँधता है, भूतकाल में उसने आठ कर्म बांधे हैं और भविष्यकाल में वह बांधेगा। वे चार कषाय हैं - १) क्रोध, २) मान, ३) माया और ४) लोभ।[११]

एक बार गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा - "जीव द्वारा कर्म कैसे बांधा जाता है?" भगवान ने उत्तर दिया - "गौतम! जीव दो स्थानों से कर्म-बंध करता है- १) राग से और २) द्वेष से। राग दो प्रकार का है - १)माया और २) लोभ। द्वेष भी दो प्रकार का है - १) क्रोध, और २) मान ।[१२]

क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों का नाम कषाय है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कषाय ही कर्म-बंध के हेतु हैं।

दूसरा मत ऐसा है कि योग प्रकृति-बंध का और प्रदेश-बंध का हेतु है और कषाय स्थिति-बंध और अनुभाग-बंध का हेतु है। इस प्रकार से योग और कषाय ये दो बंध-हेतु है।[१३]

तीसरा मत ऐसा है कि मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये बंध-हेतु हैं। इन चार बंध-हेतुओं के सत्तावन भेद होते हैं।[१४] उपर्युक्त बंध-हेतुओं में प्रमाद का उल्लेख नहीं है। आगम में प्रमाद को भी बंध-हेतु कहा है। (भगवती १/२) उमास्वाति ने भी प्रमाद को भी बंध-हेतु माना हैं। कर्मबंध के भिन्न-भिन्न हेतुओं का समावेश मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग - इन पाँच बंध-हेतुओं में होता हैं। आत्मा को कर्म-बंध से दूर रहने के लिए ही कर्मों के बंध के भिन्न-भिन्न हेतु ऊपर बताए गए हैं।

**बंध के कारण जीव की पराधीनता** : जीव और कर्म के प्रदेशों के एक दूसरे में अनुस्यूत होने को 'बंध' कहते हैं।[१५]

जिस प्रकार मिश्रित दूध और पानी में पानी कहाँ है और दूध कहाँ है, यह दिखाया नहीं जा सकता, वे केवल एक ही रूप दिखाई देते हैं, उसी प्रकार बंध दशा में जीव और कर्म इतने एकरूप हुए होते हैं कि किस अंश में जीव है और किस अंश में कर्म-पुद्गल है, यह बताया नहीं जा सकता। आत्मा के समस्त प्रदेश कर्म प्रदेशों से आवरित रहते है। उसके आठ रूचक प्रदेश को छोड़कर उसका एक भी अंश कर्म से मुक्त नहीं रहता।

कर्मरहित जीव में अर्थात् मुक्त जीव में अनेक स्वाभाविक शक्तियाँ होती हैं, परंतु संसारी जीव अनन्त काल से कर्म से बद्ध होने से उन शक्तियों को प्रकट नहीं कर पाता है। जीव के साथ कर्म का बंध होने से जीव के सारे स्वाभाविक गुण आवरित हो जाते हैं। इससे आत्मा पराधीन हो जाता है। उसकी दृष्टि विशुद्ध नहीं होती और उसका ज्ञान पूर्ण नहीं होता। वह पूर्णतः चारित्रवान भी नहीं हो सकता। उसे अनेक प्रकार के सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं। उसे निश्चित काल तक शरीर में रहना पड़ता है। तथा अनेक शरीर धारण करने पड़ते हैं। अनेक गतियों में भटकना पड़ता है। नीच और उच्च कुलों में जन्म लेना पड़ता है। उसकी अनंत शक्ति कुंठित हो जाती है। इस प्रकार कर्म के बंधन से जकड़ा हुआ जीव अनेक प्रकार से पराधीन होता है। निःसत्त्व बनता है और उसका कुछ भी वश नहीं चलता। जीव कषाय के कारण कर्मयोग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, यही बंध है और यही जीव की परतंत्रता का कारण है।[१६]

**द्रव्यबंध और भावबंध :**

दो पदार्थों के विशिष्ट संबंध को बंध कहा जाता है। बंध के दो भेद हैं- १) द्रव्यबंध और २) भावबंध।

१) द्रव्यबंध : कर्मपुद्गल का (कर्म-समूह का) आत्म-प्रदेशों के साथ जो संबंध बनता है, उसे 'द्रव्यबंध' कहते हैं। द्रव्यबंध में आत्मा और कर्म पुद्गलों का संयोग होता है। परंतु ये दो द्रव्य एक नहीं होते, उनकी स्वतंत्र सत्ता बनी रहती है।

२) भावबंध : जिन राग, द्वेष और मोह आदि विकारी भावों से कर्मों का बंध होता है, उसे भावबंध कहते हैं, अर्थात जिन चैतन्य परिणामों से कर्म बांधे जाते हैं वह भावबंध है।

कर्म और आत्मा के प्रदेश का अन्योन्य प्रवेश या एक दूसरे में अनुस्यूत होना या एक क्षेत्रावगाही होना, द्रव्यबंध है।[१७] बेड़ियों का (बाह्य) बंधन द्रव्यबंध है और राग आदि विभावों का बंधन भावबंध है।[१८]

जिस प्रकार तिल और तेल एक रूप होते हैं उसी प्रकार जीव और कर्म एक रूप होते हैं। जिस प्रकार दूध में घी अनुस्यूत होता है, उसी प्रकार बंध में जीव और कर्म परस्पर अनुस्यूत होते हैं। जिस प्रकार धातु और अग्नि में तादात्म्य हो जाता है उसी प्रकार बंध में जीव और कर्म में तादात्म्य हो जाता है, जीव और कर्म का यह पारस्परिक बंध प्रवाह की अपेक्षा से अनादि हैं।[१९]

जब मनुष्य किसी वस्तु को देखता है, तब उसके मन में विचार आता है कि यह वस्तु कितनी सुन्दर है ! वह उसे प्राप्त करना चाहता है। उसे प्राप्त करने के लिए अपनी संपूर्ण शक्ति खर्च करता है। इस भावना को 'राग' कहते हैं। प्रत्येक संसारी मनुष्य में चाहे वह राजा हो या रंक, राग भाव होता ही है। स्वर्ग के देवताओं में भी राग-भाव होता है।

कोई वस्तु मनुष्य को प्रिय नहीं होती, उसके लिए उसके मन में घृणा और तिरस्कार की भावना जागृत होती है, वह उस वस्तु की तरफ देखना भी नहीं चाहता, इसी भावना को 'द्वेष' भाव कहते हैं।

'राग' भाव अनुकूल पदार्थ को अपनी तरफ खींचता है और 'द्वेष' भाव प्रतिकूल पदार्थ को दूर रखता हैं। परंतु ये दोनों दशाएँ आत्मा की विभावदशाएँ हैं, स्वभावदशाएँ नहीं हैं। स्वभाव दशा में पर-पदार्थ के प्रति स्नेहभाव या द्वेषभाव नहीं होता, राग और द्वेष आत्मा का शुद्ध स्वभाव नहीं है। इस प्रकार आत्मा में राग, द्वेष, मोह आदि विभाव दशा के सूचक है, ये ही बंध हेतु हैं। कर्म-पुद्गलों का आत्मा के साथ जो बंध होता है, वह द्रव्यबंध है। राग, द्वेष, मोह आदि भावबंध के समाप्त होने पर द्रव्यबंध अपने आप नष्ट हो जाता है।

राग, द्वेष, मोह और कषाय आदि विकारी भावों से कर्म-पुद्गलों का बंध होता है, उस विभाव दशा (विकृत भाव दशा) को भावबंध कहते हैं। उस विभाव

दशा के कारण कर्म-पुद्गलों के आत्मा के साथ होने वाले संबंध को 'द्रव्यबंध' कहते हैं।[२०]

## 'बंध' के चार भेद :

कर्म-पुद्गल जीव द्वारा ग्रहण किए जाने पर कर्मरूप परिणमन अर्थात् रूपान्तर को प्राप्त होते हैं। उसी समय उनमें चार स्थितियाँ निर्मित होती हैं। ये स्थितियाँ ही बंध के भेद हैं। जैसे बकरी, गाय, भैंस आदि द्वारा खाए गए घास आदि का जब दूध में रूपांतर होता हैं, तब उसमें मधुरता के स्वभाव का निर्माण होता है। वह स्वभाव कुछ निश्चित काल तक उसी रूप में टिकेगा ऐसी काल-मर्यादा भी निश्चित होती हैं। इस मधुरता के तीव्रता, मन्दता आदि के विशेष गुण भी होते हैं और इस दूध का पौद्गलिक परिमाण भी होता है।

इसी प्रकार जीव द्वारा ग्रहण किये जाने पर तथा उसके आत्म प्रदेश में संश्लेष को प्राप्त होने पर कर्म पुद्गलों की भी चार स्थितियाँ होती हैं। ये हैं- प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश। ये चार स्थितियाँ बंध के भेद हैं - १) प्रकृतिबंध २) स्थितिबंध ३) अनुभाग बंध ४) प्रदेशबंध।[२१]

**१) प्रकृति बंध** – प्रकृति अर्थात् स्वभाव। "प्रकृतिः स्वभावः प्रोक्तः।" पयडी एत्थ सहावो। जिस प्रकार नीम का स्वभाव कड़वापन और गुड़ का स्वभाव मीठापन होता है, उसी प्रकार कर्म में भी आठ प्रकार के स्वभाव होते हैं। इन्हें प्रकृतिबंध कहते हैं। आठ प्रकार के कर्म ये हैं - १) ज्ञानावरणीय, २) दर्शनावरणीय, ३) वेदनीय, ४) मोहनीय, ५) आयु, ६) नाम, ७) गोत्र और ८) अंतराय।[२२]

ज्ञानावरण का स्वभाव ज्ञान को आवरित कर देना है। दर्शनावरण का स्वभाव दर्शन को (सामान्य प्रतिभासरूप शक्ति को) ढक देना है। वेदनीय का स्वभाव जीव को इष्ट और अनिष्ट पदार्थों के संयोग और वियोग में सुख-दुःखों का वेदन या अनुभवन कराने का है। मोहनीय में से दर्शनमोहनीय का स्वभाव तत्त्वार्थ श्रद्धान न होने देने का और चारित्र मोहनीय का स्वभाव संयम भाव में बाधक होने का और राग, द्वेष आदि उत्पन्न करने का है। आयुकर्म का स्वभाव जीव को किसी शरीर में स्थित रखने का है। नाम कर्म का स्वभाव जीव के लिए अनेक प्रकार के शरीर आदि बनाने का है। गोत्र का स्वभाव उच्च या नीच कुलों में जीव को उत्पन्न करना है। अन्तराय का स्वभाव दानादि कार्यों में विघ्न उत्पन्न करना है।

कर्म में इस प्रकार का स्वभाव निर्माण होना यह प्रकृतिबंध है।[२३] आठ कर्मों का विस्तृत विवेचन बाद में आएगा ही।

जिसके द्वारा आत्मा को अज्ञानादि रूप फल मिलता है, वह प्रकृति है। यह 'प्रकृति' शब्द की व्युत्पत्ति है।[२४]

कर्म जब आत्मा द्वारा ग्रहण किए जाते हैं, तब उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार के जो स्वभाव उत्पन्न होते हैं। उसे ही प्रकृतिबंध कहते है। प्रत्येक कर्म की प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है। प्रकृतिबंध कर्म के स्वभाव के अनुसार होता है। प्रकृति जैसी बांधी जाती है, वैसी ही उदय में आती है। उदय में आनेवाला कर्म ज्ञानावरणीय आदि किस स्वभाव का होगा, यह दिखाना ही प्रकृतिबंध है।

सामान्य रूप से ग्रहण किए गए कर्म-पुद्गल का जो स्वभाव होता है उसे ही प्रकृतिबंध कहते हैं। वैसे तो प्रकृतिबंध की अनेक व्याख्याएँ हैं, परंतु उन सब का भावार्थ एक ही है।[२५]

**२) स्थितिबंध** : प्रत्येक प्रकृति की अवस्थिति काल द्वारा नापी जाती है। प्रत्येक प्रकृति एक विशिष्ट काल तक रहती है और बाद में विलीन होती है। इस प्रकार स्थितिबंध कर्म-प्रकृति के कालमान को निश्चित करता है। स्वभाव बनने पर उस स्वभाव की विशिष्ट समय तक रहने की जो मर्यादा होती है, उसे 'स्थितिबंध' कहते हैं।

सामान्यतया कर्म विशेष की आत्मा के साथ रहने की जो अवधि होती है, उसे 'स्थितिबंध' कहते हैं।[२६] ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का आत्म-प्रदेशों के साथ बंध होने पर जब तक वे अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते और कर्म रूप रहते हैं, उस काल-मर्यादा को भी 'स्थितिबंध' कहते है।[२७]

अवस्थान-काल का नाम स्थिति है। गति से विपरीत स्थिति होती है। जितने समय तक वस्तु रहती है, वह स्थिति है। जिसका जो स्वभाव है, उससे न बदलना 'स्थिति' है। जिस प्रकार बकरी, गाय और भैंस आदि पशुओं के दूध का अपने माधुर्य-स्वभाव से च्युत न होना 'स्थिति' है, उसी प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्मों का अपने स्वभाव से च्युत न होना 'स्थिति' हैं।[२८] योग के कारण से, कर्म रूप में परिणत हुए पुद्गल-स्कंध का जीव में एक रूप से रहने के काल मर्यादा को 'स्थिति' कहते हैं।[२९]

ऊपर की व्याख्याएँ अलग-अलग ग्रंथों में अलग-अलग रूप में दी हुई हैं, परंतु उस सब का भावार्थ एक ही है। वह है - कर्म की आत्मा के साथ रहने की अवधि 'स्थितिबंध' है।

**३) अनुभाग बंध** : ज्ञानावरणादि कर्म के शुभ-अशुभ रस को 'अनुभाग बंध' कहते हैं। विपाक के समय कर्म जिस प्रकार का रस देगा, उसे अनुभाग बंध कहते है। यह बंध प्रत्येक प्रकृति का अपना अपना होता है। जैसे रस को जीव बाँधता है, वैसा ही उदय में आता है। वस्तुतः स्वभाव-निर्मिति के साथ ही उसमें तीव्रता,

मन्दता आदि रूपों से फलानुभव कराने वाली विशेषता भी निर्मित होती है। उस विशेषता को ही 'अनुभागबंध' कहते हैं।[३०] कर्म का रस शुभ है या अशुभ है, तीव्र है या मन्द है, यह दिखाना 'अनुभाग बंध' का कार्य है।

जिस प्रकार बकरी, गाय और भैंस आदि के दूध में तीव्र, मंद और मध्यम रूप में रस-विशेष होता है, उसी प्रकार कर्म-पुद्गल की तीव्र या मंद फलदान शक्ति ही 'अनुभाग बंध' हैं।[३१]

रस, अनुभाग, अनुभाव और फल ये समानार्थी शब्द है। कर्म के विपाक को 'अनुभाव बंध' भी कहते हैं। विपाक दो प्रकार का होता है - १) तीव्र परिणाम से बाँधे हुए कर्म का विपाक तीव्र होता है और २) मन्द परिणाम से बाँधे हुए कर्म का विपाक मंद होता है। कर्म जड़ होने पर भी पथ्य और अपथ्य आहार के समान जीव को अपनी क्रिया के अनुसार फल की प्राप्ति होती है।[३२]

विविध प्रकार के फल देने की शक्ति को अनुभाव कहते हैं। कर्मानुरूप ही उसका फल मिलता है। ज्ञानावरणादि कर्मों का जो कषायादि परिणामजनित शुभ या अशुभ रस है, वह 'अनुभावबंध' हैं अथवा आठ कर्म और आत्म प्रदेशों के परस्पर एकरूपता के कारणभूत परिणाम को अनुभाग कहते हैं अथवा शुभाशुभ कर्म की निर्जरा के समय सुख-दुःख रूप फल देनेवाली शक्ति को 'अनुभागबंध' कहते हैं। अनुभाव (अनुभाग) बंध के चौदह प्रकार हैं, यथा सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव आदि अब इन चौदह प्रकारों की अपेक्षा से अनुभाग बंध का वर्णन आगे किया जावेगा।[३३] संक्षेप बद्ध कर्म की फल देने की शक्ति के तारतम्य को ही अनुभागबंध कहते हैं।[३४]

**४) प्रदेशबंध :** प्रदेशबंध कर्म पुद्गलों का समूह हैं। प्रदेशबंध भी प्रकृतिबंध से ही होता है। प्रत्येक प्रकृति के अनन्त प्रदेश होते हैं। आठ कर्मों की प्रकृति भिन्न-भिन्न है। प्रत्येक कर्म प्रकृति के अनन्त प्रदेश होते हैं और वे जीव के प्रत्येक प्रदेश के साथ विशेष रूप से संयुक्त होते हैं। कर्मराशि का ग्रहण होने पर भिन्न-भिन्न स्वभाव में रूपांतरित होने वाली यह कर्मराशि स्वभाव के अनुसार विशिष्ट परिमाण में विभक्त होती है। यह परिमाण विभाग अर्थात् मात्रा ही 'प्रदेशबंध' है।[३५] जो पुद्गल स्कंध कर्मरूप से परिणत हुए है, उनका परमाणु रूप से परिमाण निर्धारित करना कि 'इतने परमाणु बांधे गए' यह 'प्रदेशबंध' हैं।[३६] दूसरे शब्दों में कर्मवर्गणा की अथवा कर्म परमाणुओं की हीनाधिकता को 'प्रदेशबंध' कहते हैं।[३७] कर्मवर्गणा के पुद्गल-दलिक जिस परिमाण में बंधते हैं, उसे परिमाण को 'प्रदेशबंध' कहते हैं[३८] अथवा कर्म के दल संचय (कर्मपुद्गल के परिमाण) अथवा कर्म और आत्मा के संश्लेष को 'प्रदेशबंध' कहते हैं।[३९]

आत्मा के असंख्य प्रदेश होते हैं। इन असंख्य प्रदेशों में से एक-एक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म-वर्गणाओं का संग्रह होना 'प्रदेशबंध' है। जीव के प्रदेशों और पुद्गल के प्रदेशों का एक क्षेत्रावगाही होकर स्थित होना 'प्रदेशबंध' है।[४०]

जो घनांगुल के असंख्यातवें भाग के समान एक क्षेत्र में स्थित हैं, जिनकी एक, दो, तीन आदि समय से लेकर असंख्यात समय की स्थिति है, जो उष्ण और शीत तथा रुक्ष और स्निग्ध स्पर्श से सहित है, समस्त वर्ण और रसरहित है, सभी कर्म-प्रकृतियों के योग्य है, पुण्य-पाप के भेद से दो प्रकार के है, सूक्ष्म है, जो समस्त आत्म-प्रदेशों में अनंतानंत प्रदेशों सहित है, ऐसे स्कंध रूप या पुद्गल, कार्मणवर्गणाओं के परमाणु समूह को यह जीव जो अपने अधीन करता है, वह 'प्रदेशबंध' हैं।[४१]

चारों प्रकार के बंध को संक्षेप में इस प्रकार कह सकते है - कर्म के स्वभाव को 'प्रकृतिबंध' कहते हैं। ज्ञानावरणादि कर्मों का काल विशेष तक अपने स्वभाव से च्युत न होना 'स्थितिबंध' है। ज्ञानावरणादि कर्मरूप होने वाले पुद्गल स्कंध की परमाणु संख्या को 'प्रदेशबंध' कहते हैं, और उनके रस की तीव्रता या मंदता अनुभाग बंध हैं। इन चार प्रकार के बंधों में प्रकृति और प्रदेशबंध योग के निमत्त से होते हैं तथा स्थिति और अनुभाग बंध कषाय के निमित्त से होते हैं।[४२] योग और कषाय के तर-तम भावों से बंध भी में तर-तमता आती है।[४३]

ये चारों बंध सूंठ, मेथी आदि वस्तुएँ एकत्रित ृरके उनसे बनाए हुए लड्डू के दृष्टान्त से भी समझाये जाते हैं। ये लड्डू खाने से वात आदि विकार दूर हो जाते हैं, यह उनकी प्रकृति या स्वभाव हुआ। ये लड्डू जितने दिन टिकते हैं, उतनी उनकी कालमर्यादा है। यह स्थिति है। ये लड्डू कड़वे, मीठे होते हैं, यह उनका रस (स्वाद) अनुभाग हुआ। कुछ लड्डू बड़े, कुछ छोटे होते हैं, यह उनका परिमाण, मात्रा या प्रदेश है। लड्डू में जैसी ये चार बातें बताई हैं, उस प्रकार कर्मों के बंध में भी ये चार बातें होती है। इसे ही चार प्रकार का बंध कहते हैं। वे हैं - १) प्रकृति-अर्थात् कर्म का स्वभाव २) स्थिति अर्थात् कर्म की काल मर्यादा ३) अनुभाग अर्थात् कर्म का रस या तीव्रता-मंदता और ४) प्रदेश अर्थात् कर्म का परिमाण।[४४]

**प्रकृति-बंध के (कर्म के) आठ भेद :** कर्म प्रकृति-बंध के निम्नलिखित आठ भेद हैं - १) ज्ञानावरणीय, २) दर्शनावरणीय, ३) वेदनीय, ४) मोहनीय, ५) आयुष्य, ६) नाम, ७) गोत्र और ८) अंतराय।[४५]

प्रत्येक कर्म कैसे बांधा जाता है, उसका फल कैसे भोगना पड़ता है और उस कर्म का क्षय कैसे होता है, यह सब जान लेने पर हमें मुक्ति-मार्ग का बोध होता है।

ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, वेदनीय कर्म और अंतराय कर्म ये चार कर्म जीव को - जैसे बाँधे गए होंगे, वैसे ही भोगने पड़ते हैं। कर्म का उदय होने पर जीव को सुख या दुःख होता है। कर्म के उदय के विना सुख या दुःख नहीं होता। जो कर्म शुभ परिणाम से बांधा होगा, वह शुभ रूप से उदय में आएगा।

**१) ज्ञानावरणीय कर्म :** ज्ञानरूपी गुण को ढकनेवाला कर्म ज्ञानावरण अथवा ज्ञानावरणीय है। जो कर्म ज्ञान नहीं होने देता, उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। जिस प्रकार आँखों पर पट्टी बांधने से वस्तु दिखाई नहीं देती, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान को आवरित करता है, ज्ञान नहीं होने देता।[४६]

ज्ञानावरणीय कर्म निम्न छह प्रकार से बांधा जाता है -

१) ज्ञान और ज्ञानी व्यक्ति की निन्दा करने से,
२) ज्ञान का निह्नव (अपलाप) करने से,
३) ज्ञान अथवा ज्ञानी व्यक्ति की आसातना (अविनय) करने से,
४) ज्ञान-प्राप्ति में विघ्न डालने से,
५) ज्ञान अथवा ज्ञानी व्यक्ति के प्रति द्वेषभाव रखने से,
६) ज्ञानी व्यक्ति के साथ विसंवाद यानी झगड़ा करने से,

इन छह प्रकारों से बांधे हुए ज्ञानावरण कर्म का फल दस प्रकारों से भोगा जाता है। वे ऐसे -

१) मतिज्ञानावरण : निर्मल मतिज्ञान की प्राप्ति न होना।
२) श्रुतज्ञानावरण : श्रुतज्ञान की प्राप्ति न होना।
३) अवधिज्ञानावरण : अवधि ज्ञान की प्राप्ति न होना।
४) मनपर्याय ज्ञानावरणः मनःपर्याय ज्ञान की प्राप्ति न होना।[४७]
५) केवलज्ञानावरण : केवलज्ञान की प्राप्ति न होना।[४८]
६) बहरा हो जाना,
७) अंधा हो जाना,
८) सूंघने की शक्ति प्राप्त न होना,
९) गूँगा होना
१०) स्पर्शेन्द्रिय की शक्ति न होना।

**२) दर्शनावरणीय कर्म :** आत्मा के दर्शन गुण को रोकने वाला कर्म 'दर्शनावरणीय कर्म' है। जो दर्शन अर्थात अनुभूति में बाधक बनता है, वह दर्शनावरणीय कर्म है।[४९] जिस प्रकार द्वारपाल राजा का दर्शन नहीं होने देता, उसी प्रकार यह कर्म सामान्य बोध नहीं होने देता। यह कर्म भी ज्ञानावरण कर्म के समान छह प्रकारों से बांधा जाता है। ज्ञानावरण कर्म के बंध में ज्ञान और

ज्ञानेच्छुकों का कथन होता है और दर्शनावरण के बंध में दर्शन और दर्शनेच्छुकों का कथन होता है।
जैसे दर्शन और दर्शनेच्छुकों की निन्दा करना, आदि।
दर्शनावरणीय कर्म नौ प्रकारों से भोगा जाता है -

१) चक्षुदर्शनावरणीय कर्म,
२) अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म,
३) अवधिदर्शनावरणीय कर्म,
४) केवलदर्शनावरणीय कर्म,
५) निद्रा (सहज आनेवाली नींद)
६) प्रचला (बैठे-बैठे आनेवाली नींद)
७) प्रचला-प्रचला (चलते-चलते आने वाली नींद)
८) निद्रा-निद्रा (कष्ट से खुलनेवाली निद्रा)
९) स्त्यानगृद्धि (दिन में सोचा हुआ कार्य नींद में करना। ऐसे समय मृत्यु आने पर नरक-गति प्राप्त होती हैं।)[५०]

**३) वेदनीय कर्म :**[५१] जिससे सुख-दुःख का अनुभव आता है, वह वेदनीय कर्म है। वेदनीय कर्म का स्वभाव मधु से लिपटी हुई तेज तलवार के समान है। जिस प्रकार मधु से लिपटी हुई तलवार को चाटने पर वह मीठी तो लगती है, लेकिन जिव्हा को काटती भी है, उसी प्रकार वेदनीय कर्म सुख-दुःख का अनुभव देता है। इसके दो भेद हैं - १) सातावेदनीय कर्म और २) असातावेदनीय कर्म। यह दस प्रकारों से बांधा जाता है-

१) प्राणानुकम्पा : दो इन्द्रियों, तीन इन्द्रियों या चार इन्द्रियाँ होने वाले जीवों पर दया या अनुकम्पा करने से।
२) भूतानुकम्पा : वनस्पतिकाय के जीवों पर दया या अनुकम्पा करने से होने वाली।
३) जीवानुकम्पा : पंचेद्रिय जीवों की हिंसा न करने से, उनके दुःखों को दूर करने से, उन्हें सुख देने से।
४) सत्वानुकम्पा : पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय, जीवों का रक्षण करने से।
५) प्राणी, जीव, सत्व और भूतों को दुःख न देने से।
६) उन्हें शोक न देने से।
७) उन्हें तकलीफ न देने से।
८) अन्य जीवों को नहीं रुलाने से।
९) नहीं मारने से।

१०) परिताप नहीं देने से।

ऊपर लिखे दस कारणों से बंधे हुए सातावेदनीय कर्मों का शुभ फल इस प्रकार मिलता है -

मनोज्ञ शब्द, मनोज्ञ रूप, मनोज्ञ गंध, मनोज्ञ स्पर्श की प्राप्ति होना, मन में खुशी होना, वाणी मधुर होना, काया निरोगी और सुंदर प्राप्त होना- ऐसे शुभ फल मिलते हैं।

असातावेदनीय कर्म का बंध बारह प्रकारों से होता है -

१) परदुक्खणाए, २) परसोयणयाए, ३) परझूरणाए, ४) परतिप्पणयाए, ५) परपिट्टणयाए, ६) परपरियावणयाए, ७) बहूणं पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं दुक्खणयाए, ८) सोयणयाए, ९) झूरणयाए, १०) तिप्पणयाए, ११) पिट्टणयाए, १२) परियावणयाए अर्थात प्राणी, भूत जीव और सत्व को दुःख देना, उन्हें शोक उत्पन्न करना, रूलाना, झुराना, परिताप देना, मारना- ये छह कार्य सामान्य रूप से किए हों और ये ही छह कार्य विशेष रूप से किए हो तो इन बारह प्रकारों से असातावेदनीय कर्मों का बंध होता है।

असातावेदनीय कर्मों के अशुभ फल आठ प्रकार से भोगे जाते हैं। उसमें ये परिणाम प्राप्त होते हैं -

१) अमनोज्ञ शब्द, २) अमनोज्ञ रूप, ३) अमनोज्ञ गंध, ४) अमनोज्ञ रस, ५) अमनोज्ञ स्पर्श, ६) मन का उदास रहना, ७) वचन का कर्कश होना, ८) शरीर रोगी और कुरूप होना - ये आठ प्रकार सातावेदनीय के उदय के विपरीत हैं।[८२]

**४) मोहनीय कर्म** : सम्यक्त्व और चारित्र गुणों का घात करने वाला कर्म 'मोहनीय कर्म' है। मोहनीय का स्वभाव मदिरा जैसा है। जिस प्रकार मदिरा जीव को बेमान कर देती है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म जीव के विवेक को नष्ट कर देता है। मोहनीय कर्म निम्न छह कारणों से बांधा जाता है -

१) तीव्र क्रोध, २) तीव्र मान, ३) तीव्र माया, ४) तीव्र लोभ, ५) तीव्र दर्शनमोहनीय - धर्म के नाम पर अधर्म का आचरण करना और ६) तीव्र चारित्रमोहनीय - चारित्रवान के जैसा वेश धारण करके चारित्रहीन के समान आचरण करना।

मोहनीय कर्म पाँच प्रकारों से भोगा जाता है :

१) सम्यक्त्वमोहनीय अर्थात् सम्यक्त्व की मलिनता होना,

२) मिथ्यात्व की तीव्रता होना,

३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि) प्राप्त होना,

४) कषाय वेदनीय (कषाय चारित्रमोहनीय) अर्थात क्रोध आदि चार कषाययुक्त होना या अंनतानुबंधी आदि सोलह कषायों से युक्त होना।

५) नोकषाय वेदनीय (नोकषाय चारित्रमोहनीय) अर्थात् हास्य आदि नौ नोकषाययुक्त होना।

इस प्रकार पाँच प्रकार से अथवा विस्तार से कहने पर तीन दर्शन-मोहनीय, नौ नोकषायमोहनीय और सोलह कषाय-मोहनीय, इस प्रकार अट्ठाईस प्रकार से मोहनीय कर्म का फल भोगा जाता हैं।[५४]

**५) आयुकर्म** : जो कर्म जीव को किसी गति विशेष में शरीर विशेष से बांधे रखता है, उसे आयु कर्म कहते हैं। जिससे भव धारणा होती है अर्थात् जन्म होता है, वह आयु कर्म है। आयु कर्म का स्वभाव हथकड़ी के समान है। जिस प्रकार हथकड़ियाँ सजा की अवधि तक बांधे हुए रखती है, उसी प्रकार आयु कर्म भी आयु की समाप्ति तक जीव को शरीर विशेष से बांध कर रखता है।[५५]

**आयु कर्म के चार भेद हैं** – १) नरकायु, २) तिर्यचायु, ३) मनुष्यायु और, ४) देवायु।[५६]

इनमें से नरकायु कर्म का बंध निम्नलिखित चार कारणों से होता है -

१) महारंभ करने से अर्थात् जिसमें षट्काय जीवों की हमेशा हिंसा होती है ऐसा कार्य करने से,

२) महा-परिग्रह अर्थात् प्रबल लालसा अथवा तृष्णा रखने से,

३) मद्य-मांस का सेवन करने से,

४) पंचेन्द्रिय जीवों का घात करने से।

**तिर्यचायु कर्म का बंध इन चार कारणों से होता है –**

१) कपटसहित झूठ बोलने से।

२) अति दगाबाजी करने से।

३) असत्य भाषण करने से।

४) झूठा नाप तौल करने से।

मनुष्य की आयु चार कारणों से बांधी जाती है -

१) स्वभाव की सरलता, निष्कपटता, ऋजुता होना।

२) स्वभाव में विनयशीलता होना,

३) जीवदया करना।

४) ईर्ष्या, द्वेष आदि से रहित होना।

देवों की आयु भी चार कारणों से बांधी जाती है -

१) संयम का पालन करना, परंतु शरीर और शिष्य के प्रति ममत्व रखना।

२) श्रावक के व्रतों का पालन करना।

३) बालतप अर्थात् ज्ञानहीन तप करना।

४) अकाम-निर्जरा अर्थात् परवश होकर दुःख सहन करना, परंतु समभाव रखना।

इस प्रकार सोलह कारणों से चार आयुओं का बंध होता है। उसका फल है उन आयुओं की प्राप्ति होना है।[५७]

**६) नामकर्म** : जिस कर्म से जीव के शरीर की निर्मिति होती है, वह 'नाम-कर्म' है। जिससे विशिष्ट गति, जाति आदि की प्राप्ति होती है, उसे 'नाम-कर्म' कहते हैं। नाम-कर्म का स्वभाव चित्रकार जैसा है। जिस प्रकार चित्रकार अनेक आकार बनाता है, उसी प्रकार यह कर्म मनुष्य, तिर्यंच आदि के शरीर बनाता है।

नाम-कर्म के दो भेद हैं - १) शुभ नामकर्म और २) अशुभ नामकर्म

**१) शुभ नामकर्म** : शुभ नामकर्म का बंध चार प्रकार से होता है -

१) काया की सरलता स

२) भाषा की सरलता से

३) मन की सरलता से

४) विसंवाद - झगड़े से दूर रहकर प्रवृत्ति करने से

शुभ नाम कर्म का फल निम्नलिखित चौदह प्रकार से मिलता है।

१) इष्ट शब्द, २) इष्ट रूप, ३) इष्ट गंध, ४) इष्ट रस, ५) इष्ट स्पर्श, ६) मनोज्ञ गति, ७) सुखद आयुष्य, ८) मनोज्ञ लावण्य-सौंदर्य, ९) इष्ट यशोकीर्ति, १०) इष्ट उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम - (किसी भी वस्तु को प्राप्त करने के लिए तत्पर होना उत्थान है। उसे लेने के लिए जाना कर्म है। उस वस्तु को लेना बल है। उसे लेकर ठीक तरह से धारण करना यह वीर्य है। उसे योग्य स्थान पर पहुँचाना यह पराक्रम है, पुरुषार्थ है।), ११) मधुर स्वर, १२) वल्लभ-कान्त स्वर, १३) प्रिय स्वर और १४) मनोज्ञ स्वर।

इस प्रकार शुभ नाम कर्म के उदय से जीव को इन चौदह प्रकार के फलों की प्राप्ति होती है।[५८]

**२) अशुभ नामकर्म** : यह कर्म चार प्रकार से बांधा जाता है -

| | | |
|---|---|---|
| १) काया की वक्रता | - | शरीर द्वारा किसी का बुरा करना। |
| २) भाषा की वक्रता | - | वचन द्वारा किसी का बुरा करना। |
| ३) मन की वक्रता | - | मन द्वारा किसी का बुरा चिन्तन करना। |
| ४) विसंवाद करने से | - | झगड़ा करने से। |

अशुभ नाम-कर्म का फल नीचे लिखे चौदह प्रकारों से भोगना पड़ता है।

१) अनिष्ट शब्द, २) अनिष्ट रूप, ३) अनिष्ट गंध, ४) अनिष्ट रस, ५) अनिष्ट स्पर्श, ६) अनिष्ट गति-चाल, ७) अनिष्ट स्थिति, ८) अनिष्ट लावण्य-कुरूपता, ९)

अपयश-अपकीर्ति, १०) अनिष्ट उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरूषार्थ, पराक्रम, ११) हीन स्वर, १२) दीन स्वर, १३) अनिष्ट स्वर और १४) अकान्त स्वर-अप्रिय शब्द।[६०]

### ७) गोत्र कर्म :

जिस कर्म के उदय से प्रतिष्ठित या अप्रतिष्ठित कुल में जन्म होता है, वह गोत्र कर्म है अथवा जिससे उच्च-नीच अवस्था प्राप्त होती है, उसे 'गोत्र कर्म' कहते हैं।[६१] गोत्र कर्म का स्वभाव कुम्हार के समान है। जिस प्रकार कुंभकार छोटे बड़े अनेक प्रकार के कुंभ बनाता है, उसी प्रकार यह कर्म उच्च-नीच परिवेश प्राप्त करा देता हैं।[६२]

गोत्र कर्म दो प्रकार का है -

१. उच्च गोत्र और २. नीच गोत्र[६३]

१. उच्च गोत्र : इस गोत्र का बंध निम्नलिखित आठ बातों का अभिमान नहीं करने से होता है। (१) जाति, (२) कुल, (३) बल, (४) रूप, (५) तपस्या, (६) श्रुतज्ञान, (७) लाभ और (८) ऐश्वर्य।

उच्च गोत्र का फल नीचे लिखे आठ प्रकार से मिलता है।

(१) उत्तम जाति प्राप्त होना, (२) उत्तम कुल प्राप्त होना, (३) विशिष्ट बल की प्राप्ति होना, (४) विशिष्ट रूप की प्राप्ति होना, (५) तप में शूर-वीरता आना, (६) श्रुति में विद्वान् होना, (७) इच्छित वस्तु का लाभ होना और (८) विशिष्ट ऐश्वर्य की प्राप्ति होना।

२. नीच गोत्र : यह गोत्र कर्म आठ प्रकार से बांधा जाता है। उच्च गोत्र के बंध के कारणों के विपरीत आठ प्रकार का अभिमान करने से नीच गोत्र का बंध होता है अर्थात् तप, ज्ञानादि आठ बातों का अभिमान करने से नीच गोत्र का बंध होता है। इनका फल भी उच्च गोत्र के विपरीत आठ प्रकार से भोगा जाता है। उच्च गोत्र के फलस्वरूप जो जाति, कुल बल आदि की उच्चता प्राप्त होती है, उनकी ही हीनता नीच गोत्र के फलस्वरूप प्राप्त होती है।[६४]

### ८) अन्तराय कर्म :

दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न पैदा करने वाला कर्म 'अंतराय कर्म' है। जो दान, लाभ आदि में अंतराय (विघ्न) डालता है, उसे अंतराय कर्म कहते हैं।[६६]

अन्तराय कर्म का स्वभाव राजा के खजांची के समान है। जिस प्रकार राजा की इच्छा के बिना राजा का खजांची दान नहीं कर सकता, उसी प्रकार अन्तराय कर्म दान आदि देने नहीं देता।

अन्तराय कर्म पाँच प्रकार से बांधा जाता है-

१. कोई दान देता हो, तो उसे देने न देना,
२. किसी के लाभ में विघ्न पैदा करना,
३. खाने-पीने आदि वस्तुओं के भोग में विघ्न पैदा करना,
४. वस्त्र-आभूषण आदि वस्तुओं के उपभोग में विघ्न पैदा करना,
५. वीर्यान्तराय - किसी को धर्मध्यान न करने देना अथवा संयम न लेने देना।

इन पाँच कारणों से बंधे हुए अन्तराय कर्म का अशुभ फल उनके बंध के अनुसार ही पाँच प्रकार से भोगना पड़ता है। यथा -

१. दानान्तराय - दान देने में विघ्न उपस्थित करने पर दान नहीं दिया जा सकता।
२. लाभान्तराय - लाभ में विघ्न करने से लाभ की प्राप्ति नहीं हो पाती।
३. भोगान्तराय - भोग में विघ्न लाने से भोग की प्राप्ति नहीं होने पाती।
४. उपभोगान्तराय - उपभोग में विघ्न लाने से उपभोग की प्राप्ति नहीं होने पाती।
५. वीर्यान्तराय - धर्मध्यान, तप आदि में विघ्न डालने से उनमें बाधा आती है।[६७]

ज्ञानावरण के पाँच, दर्शनावरण के नौ, वेदनीय के दो, मोहनीय के अट्ठाईस, आयु-कर्म के चार, नाम-कर्म के बयालीस, गोत्र के दो, और अन्तराय के पाँच ऐसे इनके उत्तरभेद हैं।[६८]

इस प्रकार आठ प्रकार के कर्मों के बंध के कारण का और उनके फल का विवेचन हुआ। इनका विवेकपूर्वक विचार करके, कर्म का बंध नहीं हो इस रीति से व्यवहार करना चाहिए। जिस व्यक्ति में इतनी शक्ति नहीं उसे कम से कम अशुभ कर्म से तो दूर रहना चाहिए।[६९]

ये बांधे हुए कर्म निश्चित रूप से उदय में आते हैं। वे उदय में आए बिना नहीं रह सकते, और उनका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं होता। उदय में आकर फल देने के बाद कर्म निर्जीण होकर अपने आप आत्म-प्रदेश से दूर हो जाते है। जब तक फल देने का काल नहीं आता, तब तक बांधे हुए कर्म के फल का अनुभव नहीं होता है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण के परिणामस्वरूप मोह होता है, दूसरे मोह का कारण सुखद-दुःखद संवेदन भी है। इसलिए वे मोहनीय के पूर्व रखे गये। उसके बाद आयुष्य कर्म आता है। आयुष्य कर्म शरीर के सिवाय भोगा

नहीं जा सकता, इसलिए आयुष्य कर्म के बाद नाम कर्म रखा गया है। नाम कर्म का उदय होने पर उसके साथ ही उच्च नीच गोत्र का उदय होता ही है। इसलिए नाम-कर्म के बाद गोत्र-कर्म का स्थान है। या उच्च गोत्र का उदय होने पर अनुक्रम से दान, लाभ आदि अन्तरायों का उदय और विनाश होता है। इसलिए गोत्र कर्म के बाद अन्तराय कर्म आता है।[७३]

**कर्म :**

कर्म शब्द के अनेक अर्थ हैं। कारण, क्रिया और जीव से बद्ध ऐसे विशिष्ट जाति के पुद्‌गल स्कंध। कारक यह शब्द सुप्रसिद्ध है, क्रियाओं के भी अनेक प्रकार हैं, परन्तु तीसरे प्रकार का पुद्‌गल कर्म विशेष प्रसिद्ध नहीं है। केवल जैन सिद्धान्त ही उसका विशेष प्रकार से विवेचन करता है। वस्तुतः कर्म का मौलिक अर्थ तो क्रिया ही है। जीव मन, वचन और काया के द्वारा कुछ न कुछ करता रहता है। उसकी सभी क्रियाएँ कर्म हैं; मन, वचन और काया - ये उसके तीन द्वार हैं। इसे ही जीवकर्म या भावकर्म कहते हैं।

इसी भावकर्म से प्रभावित होकर कुछ सूक्ष्म जड़ पुद्‌गल स्कंध जीव के आत्म प्रदेशों में प्रवेश करते हैं। उससे बद्ध होते हैं। यह बात केवल जैन आगम ही कहते हैं। इन सूक्ष्म स्कंधों को अजीव कर्म या द्रव्यकर्म कहते हैं। जैसे जैसे जीवकर्म करते रहते हैं, वैसे वैसे स्वभाव के द्रव्यकर्म के साथ बंध जाते हैं और जो कुछ काल पश्चात् परिपक्व दशा को प्राप्त होकर उदय में आते हैं।[७४]

**'कर्म' शब्द की व्युत्पत्तियाँ :**

संस्कृत में 'कर्म' शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ बताई गई हैं। कहा गया है "जीव परतंत्रीकुर्वन्ति -इति कर्माणि। अर्थात् जीव को जो परतंत्र करता है, वह कर्म। या "जीवेन मिथ्यादर्शनादिपरिणामैः क्रियन्ते -इति कर्माणि" अर्थात् मिथ्यादर्शन आदि रूप परिणामों से युक्त होकर जीव द्वारा जो किया जाता है वह कर्म है।

प्राकृत भाषा में कर्म की इस प्रकार की व्युत्पत्ति बताई गई है - 'कीरइ जीवेण जेण हेउहिं तं आ भण्णए कम्मं' - अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति आदि हेतुओं से जीव द्वारा जो किया जाता है और जिससे कार्मण वर्गणा के पुद्‌गल आत्मा के साथ मिल जाते हैं, वही कर्म है।

ऊपर की व्युत्पत्तिओं के अलावा भी कर्म शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ हैं। परंतु उनसे मौलिक अर्थ नहीं निकलता। ऊपर जो दो प्रकार की व्युत्पत्तियाँ कही गई हैं; उनसे निम्नलिखित दो बातें समझ में आती हैं -

१. पहली व्युत्पत्ति से यह प्रतीत होता है कि कर्म में जीव को परतंत्र बनाने का स्वभाव है।

२. दूसरी व्युत्पत्ति से यह प्रतीत होता है कि जीव का स्वभाव मिथ्यात्व आदि से युक्त होकर परतंत्र होने का है।

मनुष्य को उन्मत्त बनाना यह मदिरा का स्वभाव है और मदिरा से उन्मत्त बनना यह मनुष्य का स्वभाव है। उसी प्रकार जीव को राग-द्वेष आदि रूपों में परिणत करा देना यह कर्म का स्वभाव है और राग, द्वेष आदि रूपों में परिणत होना यह जीव का स्वभाव है। कर्म और जीव का जब तक संबंध रहेगा तब तक जीव विभावरूप में परिणति करेगा।[७५]

## 'कर्म' शब्द के विविध अर्थ :

'कर्म' यह शब्द लोक व्यवहार और शास्त्रीय इन दोनों अर्थों से प्रसिद्ध है। उसके अनेक अर्थ होते हैं। सामान्य लोग अपने व्यवहार में 'काम-धंधा' या 'व्यवसाय' इस अर्थ से 'कर्म' शब्द का प्रयोग करते हैं। शास्त्र में उसका एक ही अर्थ नहीं है। खाना, पीना, चलना आदि किसी भी हलचल के लिए -फिर वह जीव की हो या अजीव की -'कर्म' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

कर्मकाण्डी मीमांसक यज्ञ- याग आदि क्रियाओं के अर्थ में कर्म शब्द का व्यवहार करते हैं। स्मार्त विद्वान ब्राह्मण आदि चार वर्णों और ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमों के नियम या कर्तव्यों के इस अर्थ में पौराणिक लोग व्रत- नियम आदि धार्मिक क्रियाओं के अर्थ में और वैशेषिक उत्क्षेपण आदि पाँच कर्मों के अर्थ में 'कर्म' शब्द का व्यवहार करते हैं।

जैन दर्शन में 'कर्म' शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है, उसी अर्थ के या उससे मिलने वाले अर्थ के कुछ शब्द जैनेतर दर्शनों में भी मिलते है, यथा माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्म-अधर्म, अदृष्ट, दैव, संस्कार, भाग्य आदि।

माया, अविद्या और प्रकृति ये तीन शब्द वेदान्त दर्शन में मिलते हैं। इनका मूल अर्थ करीब करीब वही है, जिसे जैन दर्शन में 'भाव-कर्म' कहते हैं। 'अपूर्व' यह शब्द मीमांसा दर्शन में मिलता है। 'वासना' यह शब्द बौद्ध दर्शन में तो प्रसिद्ध है ही परंतु योग दर्शन में भी उसका उपयोग दिखाई देता है। 'आशय' यह शब्द विशेषतः योग और सांख्य दर्शन में मिलता है। धर्म-अधर्म, अदृष्ट और संसार इनका प्रयोग न्याय, वैशेषिक दर्शनों के समान ही अन्य दर्शनों में भी मिलता है।

दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि कुछ ऐसे शब्द हैं जो सब दर्शनों में मिलते हैं। जो दर्शन आत्मवादी हैं और पुनर्जन्म मानते हैं, उन्हें पुनर्जन्म की सिद्धि या उपपत्ति के लिए कर्म मानना ही पड़ता है। उन दर्शनों की भिन्न-भिन्न अवधारणाओं के कारण या वैचारिक मतभेद के कारण, कर्म का स्वरूप

अलग-अलग दिखाई देने पर भी सारे आत्मवादियों ने किसी न किसी नाम से कर्म को स्वीकार अवश्य किया है, इसमें कोई शंका नहीं है।[७६]

**कर्म-सिद्धान्त :**

जैन दर्शन को समझने के लिये उसके "कर्म-सिद्धान्त" को समझना आवश्यक है। यह सुनिश्चित है कि सब दर्शन और तत्त्वज्ञानों का आधार आत्मा है और आत्मा की अलग-अलग स्थितियाँ, उसके स्वरूप के वैशिष्ट्य और उसकी परिवर्तनशील अवस्थाओं के रहस्यों का दिग्दर्शन "कर्म-सिद्धान्त" कराता है, इसलिए जैन दर्शन का सम्यक् आकलन करने के लिए "कर्म-सिद्धान्त" को समझना आवश्यक है।

जैन दर्शन के संपूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा सर्वतंत्र स्वतंत्र शक्ति है। अपने भविष्य का निर्माता भी वही है और उसका फल भोगनेवाला भी वही है और अमूर्त तथा परमविशुद्ध है, परन्तु वह शरीर के साथ मूर्त बनकर अशुद्ध अवस्था में संसार में परिभ्रमण कर रहा है। स्वयं परमानन्दस्वरूप होकर भी सुख-दुःख के चक्र में धूम रहा है। अजर-अमर होकर भी जन्म-मृत्यु के प्रवाह में बह रहा है। सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि जो आत्मा परम शक्ति संपन्न है, वही दीन, हीन, दुःखी और दरिद्र बनकर संसार में यातना और कष्ट भोग रहा है। ऐसा क्यों?

जैन दर्शन इस कारण का विवेचन करते हुए कहता है कि आत्मा को संसार में भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है। 'कम्मं च जाई मरणस्स मूलं' भगवान महावीर का यह कथन पूर्णतः सत्य और यथार्थ है। कर्मों के कारण ही यह जीव विश्व के रंगमंच पर विविध एवं विचित्र अभिनय करता रहा है। ईश्वरवादी दर्शनों ने इस विश्व-वैचित्र्य का और सुख-दुःख का कारण ईश्वर को माना है, किन्तु जैन दर्शन ने विश्व-वैचित्र्य का कारण मूलतः जीव और उसके "कर्म" को माना है। कर्म स्वतंत्र शक्ति नहीं है, वह स्वयं पुद्गल है जड़ है। परन्तु राग-द्वेष के कारण आत्मा जो कर्म करता है, वे इतने बलवान और शक्ति सम्पन्न बनते हैं कि कर्ता को भी अपने बंधन में बांध लेते हैं। मालिक को भी नौकर के समान नचाते हैं। यह कर्म की बड़ी विचित्र शक्ति है। जीवन और जगत के समस्त परिवर्तनों का मुख्य कारण क्या है? उनका वास्तविक स्वरूप क्या है? कर्म के विविध परिणाम कैसे होते हैं, यह सभी बड़े गम्भीर प्रश्न है।[७७]

जीव कर्म द्वारा अज्ञानी बनता है और कर्म से ही ज्ञानी बनता है। कर्म से ही सुलाया जाता है, और कर्म से ही जागृत किया जाता है। कर्म से ही सुखी होता है और कर्म से ही दुःखी होता है। जो कुछ होता है, वह सब कर्म से ही

होता है। कर्म के कारण मिथ्यात्व और असंयम प्राप्त होता है एवं उनके निमित्त से ही जीव त्रिलोक में परिभ्रमण भी करता है।[७८]

पं. बलदेव उपाध्याय लिखते हैं - विश्व की नैतिक सुव्यवस्था का मूल कारण कर्म-सिद्धान्त है, यह बात हरेक दर्शन मानता है। जो कुछ कार्य हम अपने प्रयत्नों से करते हैं, उसका फल अवश्य मिलता है। उसका नाश किसी भी तरह से नहीं होता। जिसका फल हम अभी भोगते हैं, वह पूर्वजन्म में किए हुए कर्म का ही फल है। वह कारण के बिना उत्पन्न नहीं होता।

कर्म-सिद्धान्त का यही तात्पर्य है कि इस विश्व में अपनी इच्छा के अनुसार कुछ नहीं होता। सब ओर नैतिक सुव्यवस्था का साम्राज्य है। कर्म-सिद्धान्त को अंगीकार करने पर ही मनुष्य की आंतरिक शक्ति का विकास हो सकता है।

**कर्म-संक्रमण** : एक प्रकार के कर्म परमाणुओं की स्थिति आदि का दूसरे प्रकार के कर्म-परमाणुओं की स्थिति आदि में परिवर्तन या परिणमन होना ही "कर्म-संक्रमण" है। दूसरे शब्दों में शुभ कर्मों का अशुभ कर्म में और अशुभ कर्म का शुभ कर्म में परिवर्तन होना ही 'कर्म-संक्रमण' है। भाव शुद्धि के कारण अशुभ कर्मों का संक्रमण शुभ कर्मों में हो सकता है। संक्रमण के चार भेद हैं -

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. | प्रकृति संक्रमण | २. | स्थिति संक्रमण |
| ३. | अनुभाग संक्रमण | ४. | प्रदेश संक्रमण |

यह संक्रमण अष्ट मूल प्रकृतियों की उत्तर प्रकृतियों में ही होता है, मूल प्रकृतियों में नहीं होता। संक्रमण सजातीय प्रकृतियों में होता है, विजातीय प्रकृतियों में नहीं होता। सजातीय प्रकृति के संक्रमण में भी कुछ अपवाद हैं। जैसे आयुष्य कर्म की नरकायु आदि चारों आयुओं में परस्पर संक्रमण नहीं होता और इसी प्रकार दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय में भी परस्पर संक्रमण नहीं होता।[७९]

## कर्मबंध प्रक्रिया

जैन दर्शन में कर्मबंध प्रक्रिया का सुव्यवस्थित वर्णन किया गया है। योग और कषाय के कारण कर्मबंध होता है। योग अर्थात् मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति। कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मानसिक आवेग। यहीं से कर्मबंध की प्रक्रिया शुरू होती है। त्रिलोक में ऐसा एक भी स्थान नहीं जहाँ कर्मयोग्य पुद्गलपरमाणु विद्यमान नहीं हो।

जब प्राणी अपने मन, वचन या काया की प्रवृत्तियों के द्वारा किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति करता है, तब चारों तरफ से कर्मयोग्य पुद्गल-परमाणु आकृष्ट होते हैं। जितने क्षेत्र में उसके आत्म प्रदेश विद्यमान रहते हैं, उतने प्रदेश में

विद्यमान कर्म परमाणु उसके द्वारा उस समय ग्रहण किए जाते हैं। प्रवृत्ति की तर-तमता के अनुसार संख्या में भी तारतम्य दिखाई देता है। प्रवृत्ति में परिमाण में आधिक्य होने पर परमाणुओं की संख्या में भी अधिकता होती है। उसी तरह प्रवृत्ति के परिमाण में न्यूनता होने पर उनकी संख्या में भी न्यूनता होती है। गृहीत पुद्गल-परमाणुओं के समूह का कर्मरूप से आत्मा के साथ बद्ध होना इसे जैन कर्मवाद की परिभाषा में 'प्रदेश बंध' कहा जाता है। इन्हीं परमाणुओं की ज्ञानावरण (जिन कर्मों से आत्मा की ज्ञान-शक्ति आवरित होती है) आदि अनेक रूपों में परिणति होती है। इसे 'प्रकृति बंध' कहा जाता है।

प्रदेश-बंध में कर्म-परमाणुओं का परिमाण अभिप्रेत होता है। प्रकृति-बंध में कर्म-परमाणुओं के स्वभाव पर विचार किया जाता है। भिन्न-भिन्न स्वभाव के कर्मों की भिन्न-भिन्न परमाणु संख्या होती है। दूसरे शब्दों में ऐसा कहा जाएगा कि विभिन्न कर्म-प्रकृतियों के विभिन्न कर्म-प्रदेश होते हैं।

जैन कर्म-शास्त्र में इस प्रश्न पर भी काफी प्रकाश डाला गया है कि कर्म-प्रकृतियों के कितने प्रदेश होते हैं और उनका तुलनात्मक मूल्यमापन क्या है? कर्मरूप से गृहीत पुद्गलपरमाणुओं के कर्म-फल का काल और विपाक की तीव्रता-मन्दता इनका निश्चय आत्मा के अध्यवसाय अर्थात् कषाय की तीव्रता और मन्दता के अनुसार होता है। कर्मविपाक का काल तथा विपाक की तीव्रता और मन्दता के निश्चय को क्रमशः स्थितिबंध और अनुभागबंध कहते हैं। कषाय के अभाव में कर्म-परमाणु आत्मा के साथ संबद्ध नहीं रह सकते।

जिस प्रकार सूखे वस्त्र पर धूल चिपकती नहीं, केवल स्पर्श करके अलग होती है, उसी प्रकार आत्मा में कषाय की आर्द्रता न होने पर कर्म-परमाणु उससे संबद्ध नहीं होते, केवल स्पर्श करके अलग हो जाते हैं। इस प्रकार का निर्बल कर्म-बंध असांपरायिक बंध हैं। सकषाय कर्म-बंध को सांपरायिक बंध कहते हैं। असांपरायिक बंध संसार-भ्रमण का कारण नहीं है, परन्तु सांपरायिक बंध के कारण जीव को संसार परिभ्रमण करना पड़ता है।

कहीं-कहीं मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, इन्हें कर्म-बंध का कारण माना गया है। अन्यत्र राग, द्वेष, मोह को भी कर्म-बंध का कारण माना है।

संपूर्ण संसार कर्म-परमाणुओं से व्याप्त है। जिस प्रकार तप्त लोह पिण्ड अपने चारों ओर से पानी को आकर्षित करता है अथवा लोह चुंबक लोहे के कणों को आकर्षित करता है, उसी तरह से जीव चारों तरफ से कर्म को आकर्षित कर लेता है।[१०]

## कर्म और अकर्म :

भगवद्‌गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्म के विषय में समझाते हुए कहते है कि - 'कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इस संबंध में बुद्धिमान पुरूषों को भी भ्रम होता रहता है।' कर्म क्या है? यह मैं तुम्हें बताता हूँ। इसे समझने पर तू समस्त दोषों से मुक्त हो जायेगा। मनुष्य को 'कर्म' क्या है और अकर्म क्या है? यह समझना चाहिए। क्योंकि कर्म के रहस्य को समझना अतीव कठिन हैं।

उचित मार्ग कौन-सा है, यह साधारणतया स्पष्ट नहीं होता। परंपरा रूढ़ि और अन्तरात्मा की आवाज अलग-अलग बात कहती है और हमें भ्रान्ति हो जाती है। इन सब में ज्ञानी मनुष्य ही शाश्वत सत्य के आधार पर अपने उच्चतम विवेक के द्वारा मार्ग को ढूंढ पाता है। जो मनुष्य कर्म में अकर्म देखता है और अकर्म में कर्म देखता है, वही मनुष्यों में ज्ञानी मनुष्य है और वही योगी भी है।

जब तक हम अनासक्त भावना से कर्म करते हैं तब तक हमारा मानसिक सन्तुलन विचलित नहीं होता है। क्यों कि जो कर्म इच्छा से उत्पन्न होते हैं, उन कर्मों से हम विरक्त रहते हैं और परमात्मा के साथ एकात्म होकर मात्र अपना कर्त्तव्य करते रहते हैं। यही कर्म में सच्ची अक्रियता है। ऐसा कर्म अकर्म होता है। फल की आसक्ति से रहित कर्म ही 'अकर्म' है। 'अकर्म' का अर्थ है - कर्म परिणामस्वरूप होने वाले बंधन का अभाव, क्योंकि ऐसा कर्म फल की आसक्ति न रखते हुए किया जाता है। जो व्यक्ति अनासक्त होकर कर्म करता है, वह बंधन में नहीं पड़ता है। उसका कर्म ही 'अकर्म' बन जाता है। अकर्म का अर्थ कर्म का अभाव नही है। जब हम शान्त बैठते हैं और किसी भी बाह्यय कर्म को नहीं करते, तब भी हम मानसिक कर्म तो करते ही हैं।

अष्टावक्र गीता में कहा गया है कि मूर्ख लोग दुराग्रह और अज्ञान के कारण 'कर्म' से विमुख होते हैं। उनका यह विमुख होना भी कर्म ही है। ज्ञानी लोगों का कर्म अर्थात् निष्काम कर्म वही फल प्रदान करता है, जो निवृत्ति से मिलता है।[८१]

गीता ने 'कर्म' शब्द को केवल श्रौत अथवा स्मार्त कर्म, इतने संकुचित अर्थ में न लेते हुए उसे व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। मनुष्य जो जो कुछ करता है, वे सारे कर्म ही हैं। (अ. ५-८,९) फिर ये कर्म कायिक, वाचिक अथवा मानसिक किसी भी प्रकार के हों।[८२]

## शुभ और अशुभ कर्म :

कर्म दो प्रकार के हैं - १) शुभ और २) अशुभ। शुभ कर्म पुण्य है और अशुभ कर्म पाप है। आत्म-प्रदेशों के साथ शुभ और अशुभ कर्मों का संश्लेष होता है, इसलिए बंध भी शुभ और अशुभ ऐसा दो प्रकार का होता है। शुभ बंध

को 'पुण्य बंध' और अशुभ बंध को 'पाप बंध' कहते हैं। पाप बंध से अनेक प्रकार के दुःखों की प्राप्ति होती है, और पुण्य बंध से अनेक प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती है। जब आत्मा पूर्व कर्मोदय से होने वाले शुभ-अशुभ भाव में बद्ध होता है, उसी समय वह अनेक प्रकार के पौद्गलिक कर्मों के द्वारा बांधा जाता है।[८३] जिस समय जीव जैसे भाव करता है, उस समय उसे वैसे ही शुभ, अशुभ कर्मों का बंध होता है।[८४] मैं जीवों को दुःखी और सुखी करता हूँ, यह जो बुद्धि है, वह मूढ़ बुद्धि है। यह मूढ़ बुद्धि ही शुभ और अशुभ कर्मों को बांधती है।[८५]

इस संसार में राग-द्वेष से युक्त प्रत्येक क्षण परिस्पंदन रूप जो क्रियाएँ होती रहती हैं, उनका मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पाँच प्रकारों में वर्गीकरण किया जाता है। उनके निमित्त से आत्मा के साथ एक प्रकार का अचेतन द्रव्य संश्लिष्ट होता है और वह राग-द्वेष के निमित्त को प्राप्त करके आत्मा के साथ बंध जाता है। अपने विपाक के समय पर वह द्रव्य सुख-दुःख रूप फल देने लगता है। उसे 'कर्म' कहते हैं। दूसरे शब्दों में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से जीव द्वारा जो किए जाते हैं, उन्हें 'कर्म' कहते हैं।[८६]

## द्रव्य कर्म और भाव कर्म :

कर्म के दो भेद हैं : १) द्रव्यकर्म और २) भावकर्म ।

जीव के राग-द्वेष रूपी जिन भावों के निमित्त से अचेतन कर्मद्रव्य आत्मा की ओर आकृष्ट होता है, उन्हीं भावों का नाम 'भावकर्म' है और जो अचेतन कर्मद्रव्य आत्मा के साथ संबद्ध होता है, उसे द्रव्यकर्म कहा जाता है।

जैन दर्शन में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच कर्मबंध के कारण बताए गए हैं। उन पाँचों कारणों का भी कषाय और योग में समावेश हो जाता है।

इन दो कारणों को भी अधिक संक्षिप्त किया जाये तो मात्र कषाय ही कर्म-बंध का कारण है, परन्तु कषाय के विकारी रूप अनेक हैं। उन सबको अध्यात्मवादियों ने राग और द्वेष इन दो भेदों में वर्गीकृत किया हैं। क्यों कि कोई भी मानसिक विचार होगा तो वह या तो राग (आसक्ति) रूप या द्वेष (घृणा) रूप होगा। अनुभव से भी यही सिद्ध होता है कि साधारण प्राणियों की प्रवृत्ति बाह्यतः कैसी भी हो, परन्तु वह राग या द्वेषमूलक ही होती है। इस प्रकार की प्रवृत्ति विविध वासनाओं के जन्म का कारण होती है। प्राणियों की समझ में आए या न आए, परन्तु उनकी वासनात्मक प्रवृत्तियों का मूल कारण उनका राग-द्वेष ही होता है।

मकड़ी जिस प्रकार उसी के बनाए हुए जाल में फंस जाती है, उसी प्रकार जीव भी स्वयं की प्रवृत्ति से अज्ञान और मोहवशात् कर्म के जाल में फँस

जाता है। अज्ञान, मिथ्याज्ञान आदि जो कर्म के कारण बनाए जाते हैं, वे भी राग-द्वेष के संबंध से ही है। राग या द्वेष की उपस्थिति में ज्ञान विकारी बन जाता है।

शब्द भेद होने पर भी कर्मबंध के कारणों के संबंध में अन्य किसी भी आस्तिक दर्शन के साथ जैन दर्शन का मतभेद नहीं है। न्याय वैशेषिक दर्शन में मिथ्या-ज्ञान को योग दर्शन में प्रकृति और पुरुष के तादात्म्य को और वेदान्त आदि दर्शनों में अविद्या को तथा जैन दर्शन में मिथ्यात्व को कर्मबंध का कारण कहा गया है। परन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हम किसी को भी कर्म-बंध का कारण माने, कर्मबंध तो राग-द्वेष के कारण ही होगा। राग-द्वेष का अभाव होते ही अज्ञान (मिथ्यात्व) समाप्त हो जाता है और फिर कर्मबंध संभव नहीं होता।

महाभारत के शांतिपर्व के 'कर्मणाबध्यते जंतु' इस कथन में भी 'कर्म' शब्द का अर्थ राग-द्वेष ही है। उन्हें मिथ्यात्व आदि किसी भी नाम से पुकारा जाये मूल में राग-द्वेष ही है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राग-द्वेष जनित शारीरिक मानसिक प्रवृत्ति से कर्मबंध होता है। वैसे देखा जाए तो प्रत्येक क्रिया कर्मोपार्जन का कारण होती है, परन्तु जो क्रिया कषायजनित होती है, उससे होने वाला कर्मबंध विशेष बलवान होता है और जो क्रिया कषायजनित नहीं होती, उस क्रिया से होने वाला कर्मबंध निर्बल और अल्पायु होता है। उसे नष्ट करने में कम शक्ति और कम समय लगता है।[८७]

कर्म का सर्वसामान्य अर्थ 'क्रिया' ऐसा है और वेदों से लेकर ब्राह्मण काल तक वैदिक परंपरा में कर्म का यही अर्थ दिखाई देता है। वैदिक परंपरा में यज्ञ-याग आदि भौतिक क्रियाओं को 'कर्म' कहा है। इस कर्म का आचरण देवता को प्रसन्न करने के लिए किया जाता था और देवता ऐसा कर्म करने वाले की मनोकामना पूर्ण करते हैं ऐसा माना जाता था।

जैन परंपरा को कर्म का क्रियारूप अर्थ स्वीकार्य तो है लेकिन जैन परंपरा कर्म का केवल इतना ही अर्थ नहीं मानती। संसारी जीव की प्रत्येक क्रिया या प्रवृत्ति 'कर्म' है। जैन परिभाषा में इसे 'भावकर्म' कहते हैं। इस भावकर्म से जो अजीव पुद्गल द्रव्य आत्मा के संसर्ग में आकर उसे बंधन में डाल देता है उसे 'द्रव्य कर्म' कहते हैं। जीव की क्रिया 'भावकर्म' है और उसका फल 'द्रव्यकर्म' है। इन दोनों में कार्यकारण भाव है। भावकर्म कारण है और द्रव्यकर्म कार्य है। यह कार्यकारण भाव भी मुर्गी और उसके अण्डे के कार्यकारण भाव जैसा ही है। मुर्गी से अण्डा प्राप्त होता है, इसलिए मुर्गी कारण है और अण्डा कार्य है। किन्तु किसी ने यह प्रश्न किया कि पहले मुर्गी या पहले अण्डा? तो इसका उत्तर देना कठिन

है। यह सत्य है कि अण्डा मुर्गी से मिलता है, परन्तु मुर्गी भी अण्डे से ही उत्पन्न हुई है। इसलिए दोनों में परस्पर कार्यकारण भाव है। अतः दोनों में पहले कौन यह नहीं कहा जा सकता।[८८] संतति की अपेक्षा से इसका परस्पर कार्यकारण भाव अनादि है। भावकर्म से द्रव्य कर्म उत्पन्न होता है, इसलिए भावकर्म को कारण और द्रव्यकर्म को कार्य माना जाता है, परन्तु द्रव्यकर्म के अभाव में भावकर्म की भी निष्पत्ति नहीं होती, इसलिए द्रव्यकर्म भी भावकर्म का कारण है। इस प्रकार मुर्गी और अण्डे के समान भावकर्म और द्रव्यकर्म का परस्पर कार्यकारण भाव है। पूर्वापर भाव के अभाव के कारण दोनों अनादि हैं।[८९]

मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणों से जीव द्वारा जो किया जाता है, वही कर्म है। कर्म का यह लक्षण भावकर्म और द्रव्यकर्म इन दोनों में मिलता है। भाव कर्म यह आत्मा का वैभाविक परिणाम है, इसलिए उसका उपादान रूपकर्ता जीव ही है। द्रव्यकर्म कार्मण जाति के सूक्ष्म पुद्गलों का विकार है उसका भी कर्ता निमित्त रूप से तो जीव ही है। भावकर्म होने के लिए द्रव्यकर्म निमित्त है और द्रव्यकर्म होने के लिए भावकर्म निमित्त है। इस प्रकार इन दोनों का परस्पर बीजांकुर के समान कार्यकारण संबंध है।[९०]

**कर्मवाद :**

भारतीय तत्त्व-चिन्तन में कर्मवाद को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। चार्वाक के अलावा भारत के सभी चिन्तक कर्मवाद को स्वीकार करते हैं। भारतीय दर्शन, धर्म, साहित्य, कला आदि पर कर्मवाद का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। सुख, दुःख और सांसारिक वैचित्र्य का कारण ढूंढते समय भारतीय चिन्तकों ने कर्म के अद्भुत सिद्धान्त का अन्वेषण किया है। भारत के सर्व साधारण लोगों का भी यही मत है कि प्राणियों को प्राप्त होने वाला सुख या दुःख उनके स्वयं के किए हुए कर्म के फल के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जीव अनादि काल से कर्म के अधीन बनकर संसार में परिभ्रमण कर रहा है। जन्म या मृत्यु का मूल कारण ही कर्म है। जन्म और मृत्यु ये ही सबसे बड़े दुःख हैं। जीव अपने शुभ और अशुभ कर्म के कारण ही परलोक में जाता है। जो जैसा कर्म करता है, उसको उसका उसी प्रकार का फल भोगना पड़ता है।

एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का अधिकारी नहीं हो सकता। हरेक का कर्म स्वसंबद्ध होता है, परसंबद्ध नहीं। कर्मवाद की स्थापना के विषय में भारत की सब दार्शनिक परम्पराओं ने अपना योगदान दिया है फिर भी जैन परंपरा में कर्मवाद का जो सुविकसित रूप दृष्टिगोचर होता है, वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है। जैन आचार्यों ने जिस प्रकार कर्मवाद का सुव्यवस्थित, सुसंबद्ध और सर्वांगपूर्ण निरूपण किया है, वैसा अन्यत्र मिलना केवल दुर्लभ ही नहीं असंभव भी है।

कर्मवाद यह जैन विचार और आचार परंपरा का एक अविभाज्य अंग बन गया है। जैन दर्शन और जैन आचार की सब महत्त्वपूर्ण मान्यताएँ और धारणाएँ कर्मवाद पर आधारित है।[51]

## कर्म की अवस्थाएँ :

जैन दर्शन में कर्म का लक्षण, उसके भेद, उपभेद आदि का विवेचन हैं। प्रत्येक कर्म की बंध, सत्ता और उदय ये तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं। जैनेतर दर्शनों में भी कर्म की इन तीन अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। उसमें बंध को क्रियमाण, सत्ता को संचित और उदय को प्रारब्ध कहा गया है। परंतु जैन दर्शन में ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म और उनके भेद, उपभेदों द्वारा संसारी आत्मा की अनुभवगम्य विभिन्न अवस्थाओं का जैसा स्पष्ट विवेचन किया गया है, वैसा अन्य दर्शनों में दिखाई नहीं देता। पातंजल योगदर्शन में भी कर्म के जाति, आयु और भोग ये तीन प्रकार के विपाक कहे गए हैं। परन्तु जैन दर्शन में कर्मसंबंधी विचार के सामने वह वर्णन अस्पष्टसा लगता है।

जैन दर्शन में आत्मा और कर्म के लक्षण स्पष्ट करते समय आत्मा के साथ कर्म का संबंध कैसे होता है, उसके कारण क्या हैं, किस प्रकार से कर्म में कैसी शक्ति उत्पन्न होती है, आत्मा के साथ कर्म का संबंध कितने काल तक रहता है, उनकी कम से कम और अधिकाधिक काल-मर्यादा कितनी है, कर्म कितने काल तक फल देने में असमर्थ रहता है, कर्म का विपाक समय बदला जा सकता है या नहीं, अगर बदला जा सकता होगा तो उसके लिए आत्मा के कैसे परिणाम आवश्यक हैं, कर्म की तीव्र शक्ति को मन्द शक्ति में और मन्द शक्ति को तीव्र शक्ति में रूपांतरित करने के लिए कौन से आत्मपरिणाम होते हैं, स्वभावतः शुद्ध आत्मा भी कर्म के प्रभाव से मलिन कैसे बनता है और कर्म के आवरण से आवृत्त होने पर आत्मा अपने स्वभाव को क्यों नहीं छोड़ता?.... आदि कर्म बंध, सत्ता और उदय की अपेक्षा से उत्पन्न होने वाले अनेक प्रश्नों का युक्तिपूर्वक विशद और विस्तृत स्पष्टीकरण जैन कर्म साहित्य में किया गया है।

जैन कर्मशास्त्र में कर्म की जो विविध अवस्थाएँ हैं, उनका सामान्यतया इस प्रकार वर्गीकरण किया जाता है-

१) बन्धन करण, २) निधत्त करण, ३) निकाचना करण, ४) उदवर्तना करण, ५) अपवर्तना करण, ६) संक्रमण करण, ७) उदीरणा करण और ८) उपशमन करण।

इस वर्गीकरण में कर्मों की शक्ति के साथ आत्मा की क्षमता का भी स्पष्टीकरण किया गया है।

आधुनिक मनोविज्ञान ने भी प्रकारान्तर से कर्म का अस्तित्व स्वीकार लिया है। प्राणियों के शरीर, मन और जीवन की समस्त स्थितियों के कारण उनके ही अंतःस्तल में छिपे हुए है। भावना के अनुसार ही क्रिया होती है। हृदय में भय का भाव उत्पन्न होते ही शरीर में रोमांच होता हैं। ग्रन्थियों के कार्य प्रभावित होते है। इसी कारण से जंगल में शेर को सामने देखते ही घबराहट होती है। क्रोध उत्पन्न होने पर खून उबलने लगता है और शरीर की उष्णता तथा रक्तदाब बढ़ने लगता है।

अभिमान का मद चढ़ने पर व्यक्ति को अपनी यथार्थ स्थिति का विस्मरण होता है। व्यक्ति अपना बड़प्पन दिखाने के लिए असीम खर्च करने लगता है और ऐसा आचरण करता है जो स्वयं के लिए घातक सिद्ध होता है।

चिन्ता से हृदयरोग अल्सर, रक्तदाब, अशक्तता, विक्षिप्तता आदि विकृतियाँ होती हैं। ये सभी मनोभावों के शारीरिक संचालन की क्रिया पर हुए परिणाम हैं।

इससे भी अधिक आश्चर्यकारक जो बात आधुनिक वैज्ञानिकों ने बताई है, वह यह है कि भावना का प्रभाव केवल शरीर के श्वसन, पचन, रक्ताभिसरण आदि पर ही नहीं, शरीर के प्रत्येक अंग पर भी होता है। शरीर के आकार-प्रकार की निर्मिति के साथ ही जिन तत्त्वों से यह शरीर बना है, उन तत्वों में भी भावना के साथ रासायनिक परिवर्तन होता रहता है।

जिस समय व्यक्ति की भावना में परिवर्तन होता है, उस समय उतने ही परिमाण में उन तत्त्वों में भी रासायनिक परिवर्तन होता है, जिनसे सिर, खून, बाल आदि की निर्मिति होती है।

रूस के एक विशेषज्ञ मृत व्यक्ति के सिर की हड्डियाँ देखकर उसकी संपूर्ण जीवनकथा कह देते हैं। साथ ही वह व्यक्ति किस प्रकार मरा और मरते समय उस व्यक्ति की क्या भावनाएँ थीं, यह भी बता देते है।

आज भी वैज्ञानिक मनुष्य के बालों का रासायनिक विश्लेषण कर उस पर से उस व्यक्ति का स्वभाव, उसकी अपराध भावना उसकी वृत्ति आदि बातें कह सकते हैं। विज्ञान ने आज इतनी प्रगति कर ली है।

हड्डियाँ और बाल ये दोनों शरीर के सब से अधिक मजबूत और सब से कम संवेदनशील अंग है। जब उनके आकार, प्रकार और संरचना का भी मानव की प्रवृत्ति और प्रकृति के साथ इतना संबंध है, तो मानव के श्वसन, पचन आदि का भावना से अति घनिष्ठ संबंध हो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

वर्तमान काल में ऐसी एक मशीन का भी अविष्कार हुआ है जिसे किसी मनुष्य के मस्तक पर लगाया जाए, वह मनुष्य सत्य बोल रहा है या झूठ यह भी वह मशीन बता सकती है। इस प्रकार शरीर और मन का घनिष्ठ संबंध है।

प्रख्यात आधुनिक मनोवैज्ञानिक चार्लस् युंग के मतानुसार मनुष्य अज्ञात मन की शक्तियों की जितनी गहराई से जान सकता है और उन पर नियंत्रण रख सकता है, उतनी सीमा तक वह अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है। उस अज्ञात मन में भौतिक साधनों की मदद के बिना दूर की घटनाएँ देखने का सामर्थ्य होता है। वह मन भूतकाल में घटी घटनाओं को भी जान सकता है और भविष्य का भी अनुमान कर सकता है।

तात्पर्य यह है कि हमारे भावों और प्रवृत्तियों के द्वारा ही हमारे व्यक्तित्व का निर्माण होता है। अपनी प्रकृति से ही कर्म निर्मित होते हैं और कर्म की प्रकृति के अनुसार शरीर की और जीवन की प्रत्येक घटना घटित होती है। सुख-दुःख, जय-पराजय आदि सारी बातें हमारे कर्म का ही परिणाम होती हैं। अपना वर्तमानकालीन जीवन यह अपने पूर्व कर्मों का ही परिणाम होता है। अपने सुख-दुःख के लिए हम ही जिम्मेदार होते हैं। कर्मफल का दूसरा नाम भाग्य है। हम ही अपने भाग्यविधाता होते हैं। अपनी आत्मा ही अपने भावों की निर्माता है। भाग्य को अंकित करने वाले हम ही हैं। हमारी आत्मा ही हमारा भाग्यलेखक है, अन्य कोई नहीं।

**भाग्य-परिवर्तन की प्रक्रिया :**

जिस प्रकार बंधा हुआ कर्म फल दिए बिना कभी छूटता नहीं है, यह सत्य है, उसी प्रकार पूर्व बद्ध कर्म में परिवर्तन किया जाता है, यह भी सत्य है। इस व्यवस्था को कर्मशास्त्र मे 'करण' कहा है। 'करण' एक प्रकार की भाग्य-परिवर्तन की प्रक्रिया है। 'करण' के आठ भेद हैं-

**१) बंधन करण :** जिस कारण से आत्मा कर्म को ग्रहण कर बंधन को प्राप्त होगा, वह बंधन करण है। जिस प्रकार शरीर द्वारा ग्रहण किए हुए पदार्थ शरीर के हित-अहित के कारणरूप ठहरते हैं, उसी तरह आत्मा द्वारा ग्रहण किए हुए शुभ-अशुभ कर्म आत्मा के लिए सौभाग्य, दुर्भाग्य कारणरूप बनते हैं। इसलिए जो दुर्भाग्य को दूर रखना चाहता है, उसे अशुभ (पाप-प्रवृत्तियों) से दूर रहना चाहिए। जो अच्छे फल की इच्छा करते हैं, उन्हें सेवा, परोपकार, वात्सल्य-भाव आदि शुभ प्रवृत्तियों को करना चाहिए।

**२ ) निधत्त करण :** जिस क्रिया के कारण पूर्व में बंधे हुए कर्म दृढ़ होते हैं, उसे निधत्त करण कहते हैं। जिस प्रकार किसी को बुखार होने पर उस अवस्था में उसने घी, तेल जैसे घातक पदार्थों का सेवन किया तो उसका बुखार

अधिक कष्ट देने वाला होता है। यदि किसी को गांजा पीने की और अफीम खाने की आदत है, तो पुनः पुनः गांजा पीने या अफीम खाने से उसकी वह आदत दृढ़ होती है। व्यसन हमेशा के लिए छूट पाना कठिन हो जाता है। प्रतिदिन नियत समय पर उन नशीले द्रव्यों का सेवन करना ही पड़ता है।

इसी प्रकार किसी कर्म-प्रकृति का बंध शिथिल हो और उसे अन्य कर्म प्रकृति का निमित्त मिला, तो वह दृढ़ हो जाता है। प्रयत्नों से कुछ अन्तर आ सकता है, परंतु उसका रूपान्तर होना या नष्ट होना यह संभव नहीं होता। कर्म की ऐसी अवस्था को 'निधत्त करण' कहा जाता है। इसलिए ज्ञानी जनों का यह कर्तव्य है कि अशुभ प्रवृत्तियों को बल देने वाली अधार्मिक प्रवृत्ति से दूर रहें।

**३) निकाचनाकरण** : जिस क्रिया के कारण कर्मों का बन्ध इतना दृढ़ हो जाये उनमें किसी भी तरह और कुछ भी परिवर्तन नहीं हो, उस क्रिया को निकाचनाकरण कहा जाता है।

कोई साधारण या केन्सर जैसी कष्टसाध्य बीमारी अपनी वृद्धि के अनुकूल साधन प्राप्त कर असाध्य रोग का रूप धारण करती है। बाद में उस पर औषधोपचार नहीं चलता। वह उसे भोगना ही पड़ता है। उसी प्रकार कर्म भी कषाय की प्रबलता से दृढ़तम बंध को प्राप्त होते हैं। कर्मों का आत्मा के साथ इतना दृढ़ बंध होता हैं कि वे उसे भोगने ही पड़ते हैं। बंध के इस निकाचन स्वरूप को देखकर ज्ञानी जनों को उनसे दूर रहना चाहिए।

**४) उदवर्तनाकरण** : जिन कारणों से कर्म की स्थिति और रस में वृद्धि होती है, उसे उद्‌वर्तनाकरण कहा जाता है। जिस प्रकार घी, तेल से खांसी बढ़ती है, और अधिक समय तक कष्ट देती है, उसी प्रकार किसी प्रवृत्ति में अतीव रस लेने से उस प्रवृत्ति से संबंधित प्रकृति में अधिक फलदान करने की और अधिक काल तक टिकने की शक्ति आ जाती है। इसलिए ऐसी प्रवृत्ति से दूर रहना चाहिए।

**५) अपवर्तनाकरण** : जिससे कर्म की स्थिति और रस कम हो जाता है, उसे अपवर्तनाकरण कहते हैं। जिस प्रकार पित्त की बीमारी नींबू आदि के सेवन से कम होती है, तीव्र क्रोध का वेग पानी पीने से कम हो जाता है, उसी प्रकार किए हुए दुष्कर्म की तीव्रता पश्चाताप और प्रायश्चित्त आदि से कम हो जाती हैं। इसलिए अविरति का त्याग कर विरति को स्वीकार करना चाहिए।

**६) संक्रमणकरण** : जिस करण से पूर्व में बंधी हुई कर्म की प्रकृति अपनी सजातीय प्रकृति में रूपान्तरित होती है, उसे संक्रमण करण कहते हैं। जिस प्रकार विकारग्रस्त हृदय, नेत्र आदि को दूर कर उसके स्थान पर निरोगी हृदय, नेत्र को स्थापित करने से रोगी को द्विविध लाभ होता है, (एक तो रोग की पीड़ा से बचना

और दूसरा निरोगी अंग-उपांग का प्राप्त करना ) उसी प्रकार अशुभ कर्म-प्रकृति अपनी सजातीय शुभ कर्म-प्रकृति में बदली जा सकती है। आधुनिक मनोविज्ञान में इसे मार्गांतरीकरण (Sublimation of Mental Energy) हो जाता है। कुत्सित प्रकृति का उदात्त प्रकृति में मार्गांतरीकरण या रूपान्तरीकरण को आधुनिक मानसशास्त्र ने उदात्तीकरण कहा है। अपराधी या दोषी मनोवृत्ति के जो लोग होते हैं, उन्हें सुधारने के लिए इसका उपयोग किया जाता है। आज मार्गांतरीकरण या उदात्तीकरण यह मनोविज्ञान की महत्त्वपूर्ण विधि बन गई है। उसके अलग-अलग रूप बताए गए हैं। उदाहरणार्थ विध्वंसक वृत्ति वाले अशिष्ट विद्यार्थी की मनोवृत्ति को बदल कर उसे रचनात्मक कार्य की ओर मोड़ा जा सकता है।

कुत्सित प्रकृति का सत् प्रकृति में संक्रमण करण या उदात्तीकरण करने के लिए प्रथमतः व्यक्ति के मन में क्षणभंगुर सुख के स्थान पर चिरकालीन सुख की भावना जागृत करना आवश्यक है। चिरकालीन भावी सुख के लिए तात्कालिक क्षणिक सुख का त्याग करने की प्रेरणा व्यक्ति में निर्मित होनी चाहिए। इस प्रकार आरंभ में स्वार्थकेंद्रित आत्मसंयम की योग्यता का निर्माण होता है और बाद में दूसरे के सुख के लिए अपने सुख का त्याग करने की पात्रता आती है। इससे चिरकालीन सुख या समाधान का अनुभव होता है। यही चिरकालीन सुख या समाधान सर्व हितकारी प्रवृत्ति अर्थात लोक कल्याण का रूपधारण करता है।

जिस प्रकार मनोविज्ञान में मार्गांतरी करण या उदात्तीकरण केवल सजातीय प्रकृति में संभव है, विजातीय प्रकृति में नहीं, उसी प्रकार कर्मविज्ञान में संक्रमण भी केवल सजातीय प्रकृति में ही संभव है, विजातीय प्रकृति में नहीं। यह आश्चर्यजनक समानता है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि उदात्तीकरण यह शारीरिक और मानसिक रोगों के उपचार में और जीवन उत्थान में अत्यंत उपयोगी है। मानसशास्त्री प्रयोगशालाओं में असाध्य रोग भी उदात्तीकरण से ठीक किये जाते हैं।

जिस प्रकार अशुभ प्रवृत्ति का शुभ प्रवृत्ति में होने वाला रूपान्तर जीवन के उत्थान के लिए उपयोगी है, उसी प्रकार शुभ प्रवृत्तियों का अशुभ प्रवृत्तियों में रूपान्तर होना, यह जीवन के अधःपतन का कारण है।

जिस प्रकार मनोविज्ञान में मार्गान्तरीकरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है, उसी प्रकार कर्मविज्ञान में संक्रमणकरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उद्वर्तन, अपवर्तन आदि भी संक्रमण करण का ही अंग हैं।

सारांश यह है कि संक्रमण के सिद्धान्त का अनुसरण कर मानव पतन से बच सकता है और अपनी इच्छा के अनुसार अपने भविष्य का निर्माण कर सकता है।

**७) उदीरणाकरण** : कर्म का स्वाभाविक उदय होने से पहले प्रयत्न या पुरुषार्थ से उसका उदय कराके उसके कुल को प्राप्त करना, इसे 'उदीरणा करण' कहते हैं। जिस प्रकार शरीर में होने वाले कुछ विकार कालान्तर में रोग के रूप में फल देते हैं, उसका प्रतिबंध करने के लिए इनाक्युलेशन लेकर या औषधियों का उपयोग करके रोग से शीघ्र मुक्ति मिल सकती है, उसी प्रकार कर्मग्रंथियों को उनके नैसर्गिक उदय से पहले प्रयत्नों द्वारा उदित किया जा सकता है और उनका फल भोगा जा सकता है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि मानव के बहुत से रोग मानव के अज्ञात मन में छिपी ग्रंथियों के कारण ही हैं, जिनका संचय पूर्वजीवन में हुआ होता है। इसलिए अगर ये ग्रंथियाँ बाहर प्रकट होकर नष्ट हो जाती है तो उनसे संबंधित भावी रोग भी नष्ट हो जाते हैं। वर्तमान में इस मानसिक चिकित्सा पद्धति का महत्वपूर्ण स्थान है।

व्यक्ति द्वारा किए गए पाप को या दोषों को गुरू के समक्ष प्रकट करना यह उदीरणा या मनोविश्लेषण पद्धति का ही रूप है। इससे साधारण दोष नष्ट हो जाते हैं। विशेष दोषों को नष्ट करने के लिए प्रायश्चित्त लिया जाता है।

**८) उपशमनाकरण** : कर्म का उदय होने न देना इसे 'उपशमनाकरण' कहते हैं। जिस प्रकार शरीर में घाव या ऑपरेशन आदि से पीड़ाएँ उत्पन्न होती हैं, कष्ट का अनुभव होता है, उन कष्टों का या पीड़ाओं का इंजेक्शन या औषधि-उपचार से शमन किया जाता है, रोग विद्यमान होने पर भी रोगी उसके परिणामों से बचता है। उसी प्रकार ज्ञान और भोगने योग्य कर्म प्रकृति के सत्ता में होने पर भी उसके परिणामों से बचना यह उपशमन है।

**करण ज्ञान की उपयोगिता :**

जिसकी सहायता से क्रिया या कार्य होता है, उसे 'करण' कहते हैं अर्थात् जो क्रिया का या कार्य का कारण है, हेतु है, वह 'करण' है। ऊपर लिखे आठ प्रकार से कर्म में क्रिया होती रहती है। इसलिए उन्हें 'करण' कहते हैं। ये भाग्य-परिवर्तन के हेतु भी हैं।

कर्म या भावी के विर्माण के नियमों का ज्ञान आवश्यक हैं। इन नियमों के अनुसार आचरण किया तो अभीष्ट भावी का निर्माण किया जा सकता है। इन करणों के ज्ञान की उपयोगिता अशुभ कर्म न बांधते हुए शुभ कर्म बांधना यह है, या कर्मबंधन से दूर रहना यह है।

निधत्तिकरण की उपयोगिता यह है कि जिससे कर्म दृढ़ होते हैं ऐसी प्रवृत्तियों या भावों से दूर रहना है। निकाचना करण की उपयोगिता यह है कि

जिन तीव्र कषायों से कर्म बांधे जाते हैं, वे अवश्य ही भोगने ही पड़ते हैं, अतः ऐसी प्रवृत्तियों से दूर रहना चाहिए।

उद्वर्तना और अपवर्तना करण की उपयोगिता यह है कि जीव को इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ करना चाहिए कि जिनसे दुष्कर्म कम हो और शुभ कर्मों की वृद्धि हो।

'संक्रमण करण' की उपयोगिता पाप-प्रकृति का पुण्य-प्रकृति में रूपान्तर करने की क्षमता में हैं। 'उदीरणा करण' का लाभ कर्म को प्रयत्नों द्वारा नैसर्गिक समय से पहले उदय में लाकर उनका फल भोगकर क्षय करने में है। उपशमना करण का लाभ प्रयत्नों द्वारा कर्म के उदय को निष्फल करना यह हैं।

इस प्रकार कर्म-विज्ञान का ज्ञान या करण ज्ञान है कर्म या भाग्य के निर्माण परिवर्तन, परिवर्धन, परिशमन, परिशोधन, रचना और संक्रमण करने की कला का ज्ञान है।[६२]

इस प्रकार कर्म की ये विविध अवस्थाएँ हमें यह बताती है कि आत्मा को अशुभ कर्म से दूर रहकर शुभ कर्म की ओर प्रवृत्ति करनी चाहिए। इससे ही जन्म-मरण का चक्र समाप्त होगा और आत्मा मोक्ष प्राप्त कर सकेगा।

**कर्म–चर्चा :**

कर्म विचार भारतीय दर्शन का प्राणतत्व है। वैदिक परंपरा में कर्म के संबंध में अनेक विचार मिलते हैं। वेदों में भी दैव या यदृच्छा मानी गई है।[६३]

श्वेताश्वरोपनिषद् में कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद आदि की चर्चा मिलती है। इन सब दर्शनों ने प्रजापति को सृष्टिकर्ता के रूप में माना है, फिर भी उसे कर्म के अनुसार ही फल देने वाला माना है।[६४]

न्याय, वैशेषिक और सांख्य दर्शनों में यही मान्यता किसी न किसी रूप में प्रचलित है। अपूर्व, अदृष्ट, भाग्य, दैव, नसीब, तकदीर आदि शब्द किसी न किसी रूप में कर्म के ही सूचक है।

जैन दर्शन प्राचीन काल से कर्मवादी है। कर्म सिद्धान्त उल्लेख जैसा जैन दर्शन में मिलता है, वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। जैनागमों और भाष्य-ग्रंथों में कर्मवाद के विभिन्न दृष्टिकोणों का सविस्तार विवेचन मिलता है।

विशेषावश्यक भाष्य के गणधरवाद में कर्मवाद का विवेचन अधिक स्पष्ट और व्यवस्थित है। द्वितीय गणधर के वाद में कर्म के अस्तित्व की सिद्धि की गई है। (विशेषावश्यक १६०६-१६४२) इसमें कर्म को संसार का आधार और उसके उच्छेद को ही 'मुक्ति' कहा गया है।

छठे गणधर की चर्चा में बंध-मोक्ष का स्वरूप, कर्म और जीव के सादि-अनादि संबंध और नौवें गणधर की चर्चा में से कर्म की शुभाशुभ प्रकृतियाँ

आदि की जानकारी मिलती है और अंतिम गणधर में निर्वाण की चर्चा के अंतर्गत कर्म के मूर्त-अमूर्त आकार का विवेचन है।

कर्मफल निष्पत्ति में बौद्ध, सांख्य और जैन दार्शनिक ईश्वर को कारण नहीं मानते। वे जीव के राग, द्वेष, मोह आदि भावों को तथा मन, वचन एवं काय योग की प्रवृत्ति को ही कर्म और कर्मफल निष्पत्ति का हेतु मानते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि इस दुनिया का वैचित्र्य कर्मकृत है और संसार में जीव का आवागमन भी कर्मकृत है। इस प्रकार भारतीय दर्शनों में चार्वाक के अलावा अन्य सब दार्शनिकों ने किसी न किसी स्वरूप में कर्म के अस्तित्व को स्वीकार किया है, ऐसा दिखाई देता है।

जैन दर्शन में कहा है कि विश्व की सारी आत्माएँ समान हैं। यह समानता आत्मस्वरूप की समानता के कारण है।

पूर्णतः कर्म-मुक्त सिद्धात्मा की विशुद्ध आत्मज्योति हो, या निगोद के अनन्त अंधःकार में भटकने वाली आत्मा की मंद आत्मज्योति हो, दोनों के आत्मस्वरूप में कुछ भी फर्क नहीं है।

आत्मा की जो अनंत शक्ति सिद्ध व्यक्ति में है, वही अनंत शक्ति संसार में परिभ्रमण करने वाली आत्मा में भी है। सब आत्माएँ अनंत-शक्ति से युक्त हैं। आन्तरिक दृष्टि से उनमें कुछ भी फर्क नहीं है। अन्तर उस शक्ति की अभिव्यक्ति के कारण है।

अब प्रश्न यह है कि अगर आत्मा में समानता और एकरूपता है, तो उसमें विषमता और अनेकरूपता क्यों दिखाई देती है? सिद्ध और संसारी आत्मा के विकास में इतना अन्तर क्यों? सिद्ध की बात छोड़ भी दें तो मानव-मानव में भी बहुत अंतर नजर आता है। मनुष्य और पशु-पक्षियों के जीवन में भी अंतर दिखाई देता है। कुछ व्यक्ति विकास के अत्युच्च शिखर तक पहुँचते हैं, तो कुछ व्यक्ति पतन के महागर्त में भयंकर वेदना सहन करते हुए दिखाई देते हैं। दो व्यक्तियों के जीवन में इतना अन्तर क्यों हैं? इसका मूल कारण कर्म ही है। आत्मशक्ति सब में एक जैसी है, परन्तु कर्म के आवरण के कारण प्रत्येक आत्मा के विकास में अन्तर है।[६५]

व्यक्ति जो कुछ करता है, उसका फल उसे निश्चित मिलता है। कर्म करने के संबंध में व्यक्ति स्वतंत्र है, उसकी इच्छा हो तो वह उससे बच भी सकता है, परन्तु कर्म से बद्ध होने पर कर्म के फल से बचना संभव नहीं। किए हुए कर्म का फल तो निश्चित भोगना ही पड़ता है। कर्म का फल जल्दी या देरी से, मिले बिना नहीं रहता। कभी इस जन्म में नहीं तो दूसरे किसी जन्म में भी फल भोगना पड़ता है।

**बंध मोक्ष चर्चा :**

भारतीय दर्शनों में केवल चार्वाक दर्शन ही ऐसा है जिसने बंध-मोक्ष को स्वीकार नहीं किया है। अन्य सब दर्शनों ने बंध-मोक्ष को स्वीकार किया गया है। सांख्य दर्शन ने बंध-मोक्ष को तो माना ही है, परन्तु पुरुष के स्थान पर उन्होंने बंधमोक्ष को प्रकृति में माना है। यह केवल परिभाषा का फर्क है। क्योंकि सांख्यमत मानता है कि पुरुष और प्रकृति का विवेक होना ही मोक्ष है।

जीव के बंधन और मोक्ष के संबंध में उपनिषदों में बहुत लिखा गया है। उपनिषदों के अनुसार बंध का कारण अविद्या और मोक्ष का कारण विद्या है। अविद्या में नित्य और अनित्य ऐसा फर्क नहीं है। उसमें अहंकार होता है। विषयी और विषय के भेद का जो बौद्धिक ज्ञान है वह देश, काल और कार्यकारण संबंधी ज्ञान है।

अविद्या के कारण जन्म-मरण होता है। अविद्या के कारण ही जीव को दुःख और क्लेश होते हैं। इस संसार की एकता में जो अनेकता दिखाई देता है, उसका मूल कारण अविद्या और माया ही है।

उपनिषदों के अनुसार यह दृश्यमान समग्र प्रपंच अविद्या तथा माया से ही उत्पन्न हुआ है। जब तक माया और अविद्या है, तब तक यह जगत् और संसार हैं और तब तक ही दुःख और क्लेश भी हैं। अविद्या के कारण ही अहंकार होता है। वास्तव में यह अहंकार ही बंधन का कारण है। इस अहंकार के कारण ही जीव इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और शरीर के साथ अपना तादात्म्य मानने लगा है।

इसके विरुद्ध उपनिषदों में मोक्ष का कारण विद्या माना गया है। अहंकार से छूटकर विद्या द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप को जानकर आत्मा में लीन होना ही सब बंधनों से मुक्ति है।

उपनिषदों में कहा है कि ब्रह्मज्ञान से मोक्ष मिलता है। ब्रह्मज्ञान का अर्थ है ब्रह्मभावना। ब्रह्म अर्थात् विशुद्ध आत्मस्वरूप का चिन्तन अर्थात् प्रत्येक प्राणी में आत्मा देखना, सबमें ब्रह्म देखना, स्वयं को सबमें देखना। इसका अर्थ यह कि सब में एक आत्मा देखना। उपनिषदों के अनुसार एकात्म दर्शन ही सर्वात्मदर्शन है।

इस स्थिति में जीवात्मा का परमात्मा के साथ एकत्व निर्माण होता है। जीव की इस स्थिति को आत्मक्रीड़ा, आत्मरति और आत्ममैथुन कहा जाता है। उपनिषदों के अनुसार यही परमपद है यही अमृतपद है और यही मोक्ष है।

आत्मलाभ के लिए (Self-realization) पराविद्या आवश्यक है। इस पराविद्या से ही ब्रह्म साक्षात्कार या आत्म साक्षात्कार होता है। उपनिषदों में अविद्या

को और माया को बंध का कारण माना है और कहा है कि अविद्या और माया तभी दूर होगी जब ब्रह्म का अर्थात् शुद्धात्मा का साक्षात्कार होगा।

बौद्ध दर्शन के अनुसार वासना या तृष्णा यह जन्म-मरणरूप संसार का मूल कारण है। विवेक और वैराग्य से वासना और तृष्णा का क्षय करके निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है।

वैशेषिक दर्शन और न्याय दर्शन में संसार का कारण अज्ञान माना गया है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार सात पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने से और न्याय दर्शन के अनुसार षोडश पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने से जीव को निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष या मुक्ति।

योगशास्त्र के अनुसार चित्तवृत्ति ही संसार का मूल कारण है। उस चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा जाता है। ध्यान और समाधि से जीव सब प्रकार के बंधन से मुक्त हो सकता है। मुक्तात्मा ही योगदर्शन के अनुसार ईश्वर है। थोड़े बहुत अन्तर से सभी भारतीय दर्शनों में यह एक ही बात कही गई है - बंधन है और बंधन का कारण है साथ ही बंधन से मुक्ति का उपाय भी है। साधक अपनी साधना द्वारा साध्य तक पहुँचकर सिद्धि प्राप्त कर सकता है। यही भारतीय दर्शन की मूल आत्मा है।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा और कर्म का संयोग यह संसार का मूल कारण है। यह संयोग जब तक रहेगा, तब तक आत्मा में रागात्मक और द्वेषात्मक वृत्ति रहेगी। क्योंकि राग और द्वेष ही संसार का कारण है। राग, द्वेष नष्ट होते ही संसार के क्लेश भी नष्ट होंगे और मुक्ति मिलेगी।

इस प्रकार राग का परिणाम अर्थात् भाव ही बंध का कारण है यह जानकर साधक राग-द्वेष आदि विकल्पों का त्याग करें और विशुद्ध ज्ञान-दर्शन यह जिसका स्वभाव है, ऐसे निजात्म स्वरूप में निरन्तर रमण करें।

यह आत्मा अनन्त काल से बंधनों से बद्ध है। ये बंधन भी अनंतानंत हैं। हम आसक्ति और वासना की अनेकों बेड़ियों से जकड़े हुए है। आत्मा चुपचाप इन बंधनों स्वीकार नहीं करती हैं वरन् वह उन्हें तोड़ने का भी प्रयत्न करती रहती है। उन्हें भोगकर उन्हें तोड़ने का उसका प्रयत्न चलता रहता है। किन्तु नवीन-नवीन बंध से यह प्रक्रिया चलती रहती है।

प्रश्न यह है कि ये बंधन आत्मा पर कहाँ से आए? यह शरीर, यह परिवार, यह ऐश्वर्य आदि सब कहाँ से एकत्रित हुए? इन बाह्य उपाधियों ने ही तो आत्मा को बद्ध तो नहीं किया? काम-क्रोध जैसे आंतरिक शत्रुओं ने उसे किस प्रकार घेर लिया है? इस सबका स्वरूप समझे बिना आत्मा की मुक्ति सम्भव नहीं

है। जब तक बंधन के स्वरूप का आकलन नहीं होगा, तब तक मोक्ष का स्वरूप भी समझ में नहीं आयेगा।

बंधन के संबंध में ही बोलना है तो यह समझ लेना चाहिए कि बंधन शरीर के कारण नहीं है, इंद्रियों के कारण भी नहीं है और अन्य किसी बाह्य पदार्थ के कारण भी नहीं है। ये सब तो जड़ हैं। बंधन में डालना या मोक्ष देना यह जड़ का कार्य नहीं है। बंधन तो आत्मा के स्वयं के विचारों में और भावनाओं में होता है। जीव अपने भावों से ही बंधन में आता है और भावों से ही मुक्ति भी प्राप्त होती है। 'मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयो' - यह सुभाषित सत्य ही है।

मन ही बंधन और मुक्ति का कारण है। बंधन यह शरीर के कारण नहीं होता। शरीर के निमित्त से मन में जो राग, द्वेष के परिणाम होते हैं और जो विकल्प होते हैं, उन परिणामों से और विकल्पों से बंधन होता है और इनके नष्ट होने पर मुक्ति मिलती है।[६६]

## बंधन से मुक्ति :

जीव का लक्ष्य है कर्मों से मुक्ति प्राप्त करना। मुक्ति प्राप्त करने के लिए, साधक और बाधक कारणों का ज्ञान होना आवश्यक है। जैन दर्शन में नव-तत्त्वों की विवेचना के द्वारा इन साधक और बाधक तत्त्वों को समझाया गया हैं। जीव को लक्ष्य करके कहा गया है - 'जीव' मुख्य तत्त्व है। इसके अतिरिक्त अन्य सब पदार्थ तो जड़ हैं, अजीव है। लोक-व्यवस्था में जीव और अजीव ये दो मुख्य तत्त्व हैं। जीव का स्वरूप ज्ञानानंदमय होने पर भी राग-द्वेष और मोह के कारण वह जड़ पदार्थ की ओर आकर्षित होता है, जीव उन्हें अपना समझता है, उनसे अपना संबंध जोड़ता है। पर-पदार्थ की ओर आकृष्ट होना 'आस्रव' है और उससे संबंध जोड़ना 'बंध' है। ये ही आस्रव और बंध जीव को संसार में जन्म-मरणरूप वेदना का अनुभव कराते हैं।

कभी कर्म का फल शुभ रूप में (पुण्य रूप में ) और कभी अशुभ (पाप) रूप में प्राप्त होता है। जीव को संसार से मुक्ति नहीं मिलती। परन्तु जब जीव स्वरूप-प्राप्ति की ओर प्रयाण करता है, तब कर्म-बंधन से छुटकारा प्राप्त करने के लिए वह दो प्रकार से प्रयत्न करता है - १) नवीन कर्मों के आगमन को रोकना और २) पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करना। नवीन कर्मों को रोकना ही 'संवर' है और पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करना ही 'निर्जरा' है।

संवर द्वारा नए कर्मों का आगमन रुकता है और निर्जरा से पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय होता है, इस प्रकार के पुरुषार्थ की पूर्णता से मोक्ष की प्राप्ति होती है, जो संपूर्ण कर्मों के क्षय की अवस्था है। आत्मा जब आत्मा में लीन होता है,

तब कुछ भी करना बाकी नहीं रहता। संक्षेप में 'बंधप्पमोक्खो'- कर्मबंधन से मुक्त होना यही नवतत्त्वों से बोध का उद्देश्य है।[५७]

संवर द्वारा नवीन कर्मों का आगमन रुक जाने पर और निर्जरा द्वारा पूर्वबद्ध सब कर्मों के क्षीण हो जाने पर आत्मा को पूर्ण निष्कर्म दशा प्राप्त होती है। जब कर्म नहीं रहते है, तब कर्म के निमित्त से होने वाली व्याधि और उपाधि भी नहीं रहती और जीव अपने विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यही जैन धर्म सम्मत 'मोक्ष' है।

मुक्त दशा में आत्मा अशरीर, अतीन्द्रिय, अनन्त, चैतन्ययुक्त, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और अनंत आत्मिक वीर्य से समृद्ध होता है।

विकार ही विकार को उत्पन्न करते हैं। जो आत्मा सर्वथा निर्विकार हो जाती है, वह पुनः कभी विकारमय नहीं होती। वह आस्रव और बंध के कारणों से हमेशा के लिए मुक्त हो जाती है। इसी कारण से मुक्त दशा शाश्वत है। मुक्तात्मा पुनः कभी संसार में अवतीर्ण नहीं होती। वह जन्म-मरण से पूर्णतः निवृत्त होती है।[५८]

बंध तत्त्व के चार प्रकारों को और कर्मबंध के स्वरूप को समझकर आत्मा को विचार करना चाहिए कि इन चार प्रकारों के कर्मबंध के कारण मैं अनादि काल से इस संसार में परिभ्रमण कर रहा हूँ और अनेक कष्ट सहन किए हैं। अब भी यदि कर्म-बंधन का त्याग नहीं किया, तो भविष्य में भी संसार में परिभ्रमण करना पड़ेगा।

बंध चार प्रकार के हैं - प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध। यही दुःख का मूल कारण है। यही जीव और कर्म का संबंध स्थापित कर जीव को संसार में परिभ्रमण कराने वाला है और उसके ज्ञानादि गुणों को आवृत्त करने वाला है। आत्मा के अनंत गुण प्रकट करने के लिए और कर्मों को नष्ट करने के लिए कर्मबंधन के जो कारण हैं, उनका त्याग करना चाहिए।

बंध का स्वरूप और आत्मा का स्वरूप अलग-अलग हैं। सारे कर्मों को नष्ट करके मोक्ष पद प्राप्त करना है, इसीलिए बंध तत्त्व का यथार्थ स्वरूप जानना चाहिए।

जैन सिद्धान्त के अनुसार आत्मा पर से कर्मों का आवरण दूर होने पर ही उसे सिद्धावस्था प्राप्त होती है और जन्म-मृत्यु के बंधन से मुक्ति मिलती है।

## सन्दर्भ सूची

१. क) उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ. ८, सूत्र, ३
सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते ।२।
स बन्धः ।३।
ख) श्रीमदमृतचंद्रसूरि - तत्त्वार्थसार (सं. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य) -श्लो. १३, पृ. १४२
यज्जीवः सकषयत्वोत्कर्मणो योग्यपुद्गलन् ।
आदत्ते सर्वतो योगात् स बन्धः कथितो जिनैः ।।१३।।

२. अनु.जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म. सूयगडांगसूत्र-श्रु.२, गा.१५ पृ. ४६८
णत्थि बंधे मोक्खे वा । णेवं सन्नं निवेसए ।।
अत्थि बंधे मोक्खे वा । एवं सन्नं निवेसए ।।१५।।

३. क्षु. जिनेद्रवर्णी - जैनेद्रसिद्धांतकोश - भाग ३, पृ. १६९, १७०
क) बध्दतेऽनेन बंधनमात्रं वा बंधः ।
ख) वध इव बंधः ।
ग) बध्नाति, बध्यतेऽसो, बध्यतेऽनेन बन्धनमात्रं वा बन्धः ।
घ) करणादिसाधनेष्ययं बन्धशब्दो द्रष्टव्यः ।
तत्र कारणसाधनस्तावत् -बध्यतेऽ नेनात्मेति बन्धः ।
च) अभिमतदेशगतिनिरोधहेतु बन्धः ।
छ) आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रवेशानुसारप्रवेशलक्षणो बंधः ।
ज) दव्वस्स दव्वेण दव-भावाणं वा जो संजोगो समवाओ वा सो बंधोणां।

४. क) अनु. जैनाचार्य घासीलालजी म. उत्तराध्ययन-सूत्र अ. २८, गा. १४ (टीका), पृ. १५३.
बन्धश्च जीवकर्मणोरत्यन्तंसश्लेषः ।
ख) ननु बन्धो जीवकर्मणोः संयोगोऽ भिप्रेतः ।
आचार्य भिक्षु - नवपदार्थ, पृ. ७०७

५. विजयमुनि शास्त्री - अध्यात्मसाधना - पृ. ३७, ३८

६. उपाध्याय अमरमुनि - चिन्तन की मनोभूमि - पृ. ६१
बुझिज्जति तुट्टिज्जा बन्धनं परिजाणिया ।

७. विजयमुनिशास्त्री - अध्यात्मसाधना - पृ. ३६, ३७

८. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ. ८, सू. १,
मिथ्यादर्शननाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ।१।

९. आचार्य भिक्षु-नव पदार्थ -(अनु. श्रीचन्द रामपुरिया)- पृ. ७१४-७१५

१०. क) सं पुप्फभिक्षु - सुत्तागमे (ठाणे) भाग १, ठा. २, उ. ४, पृ. २००.

जीवाणं दोहिं ठाणेहिं पावकम्मं बंधन्ति तं जहा रागेण चेव, दोसेण चेव।
ख) उत्तराध्ययनसूत्र - अ. ३२, गा. ७. रागो य दोसो वि य कम्मबीयं।
ग) सं. पुप्फभिक्खु-सुत्तागमे (समवाए) भाग १, स. २, पृ. ३१७
दुविहे बंधणे पन्नते, तं जहा - रागबंधणे चेव, दोसबंधणे चेव।
घ) उत्तराध्ययनसूत्र - अ. ३० गा. १

११. क) अभयदेवसूरि टीका - स्थानांगसूत्र - स्था. २, उ. ४, पृ. ८३
रागो मायालोभकषायलक्षणः, द्वेषस्तु क्रोधमानकषायलक्षणः,
यदाह -माया लोभकषायश्चेत्येतद् रागसंज्ञितं द्वंद्वम् ।
क्रोधो मानश्च पुनर्द्वेष इति समासनिर्दिष्ट ।।१।।
ख) उ. नि. स्था. ४, उ. १, पृ. १८३
जीवा णं चउहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ चिणिंसु,
तं जहा कोहेणं माणेणं मायाए लोभेणं ।

१२. सं. पुप्फभिक्खु-सुत्तागमे(पण्णवणासुत्तं) भाग २, प. २३, उ. १, पृ.४८६
जीवे णं भंते। कम्मं कइहिं ठाणेहिं बंधई?
गोयमा। दोहिं ठाणेहिं, तं जहा - रागेण य दोसेण य।
रागे दुविहे पन्नत्ते तंजहा - माया य लोभे य।
दोसे दुविहे पन्नत्ते। तंजहा - कोहे य माणे य।

१३. क) अभयदेवसूरि टीका - स्थानांगसूत्र स्था. २, उ. ४, पृ.८३
जोगा पयडिपदेसं ठितिअणुभागं कसायओ मुणइ।
ख) उ. नि. ननु मिथ्यात्वाविरतिकषययोगा बन्धहेतवः।

१४. संयोजक-उदयविजयगणि नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह (देवगुप्तसूरिनवतत्त्व प्रकरणम्)
गा. १२, भाष्य, पृ. २७.
मिच्छत्तमविरई तह, कसायजोगा य बंधहेउत्ति।
एवं चउरी मूले, भेएण उ सत्तवण्णत्ति।। १००।।

१५. पूज्यपादाचार्य - सर्वार्थसिद्धि - अ.१, सू. ४, पृ. ५.
आत्मकर्मणोरन्यो ऽन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बन्धः।

१६. संयोजृ-उदयविजयगणि-नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह (हेमचंद्रसूरिसप्ततत्त्व- प्रकरण्)
श्लो. १३३, पृ. १७
सकषायतया जीवः, कर्मयोग्यांवस्तु पुद्गलान्।
यदादत्ते स बन्धः स्याज्जीवास्वातन्त्रयकारणम्।

१७. क) जैनाचार्य श्रीनेमिचंद्रसिध्दान्तिदेव-बृहद्द्रव्यसंग्रह-अ.२, गा.३२, पृ.८१
बज्झादि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो ।। ३२।।

ख) विद्यानंदस्वामि - आप्तपरीक्षा, कारिका २, पृ. ४.
बन्धो हि संक्षेपतो द्वेधा, भावबन्धो द्रव्यवन्धश्चेति।

१८. अभयदेवसूरि - स्थानांगसूत्र - स्था. १. पृ. १४
द्रव्यतो बन्धो निगडादिर्भावतः कर्म्मणा।

१९. क) उ. नि. स्था. १, पृ. १५
अथादिरहितो जीवकर्मयोग इति पक्षः।
ख) उ. नि. स्था. १, पृ. १४ 'एगे बंधे'

२०. कुंदकुंदाचार्य-प्रवचनसार-(ज्ञेयाधिकार) अ.२, गा.८३, ८४, पृ. २१७-२१८
उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि।
पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं सवंधो।।८३।।
भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसये।
रज्जदि तेणेव पुणो वज्झदि कम्मं त्ति उवदेसो।।८४।।

२१. क) उमास्वाति-तत्त्वार्थसूत्र (विवेचनकर्ता-पं. सुखलालजी) पृ. ३१५-३१६
ख) हरिभद्रसूरि - षडदर्शनसमुच्चय - का. ५१, पृ. २७७.
ग) अमृतचंद्रसूरि - तत्त्वार्थसार (सं. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य) पंचमाधिकार, श्लो. २१, पृ. १४५
प्रकृतिस्थितिबन्धो द्वौ बन्धश्चानुभवाभिधः।
तथा प्रदेशबन्धश्च ज्ञेयो बन्धंश्चतुर्विधः।।२१।।
घ) उमास्वाति - तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (अनु. धीरजलाल के. तुरखिया) अ. ८, सू. ४, पृ. ३७
प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः ।।४।।

२२. क) जिनेंद्रवर्णी - जैनेंद्रसिध्दांतकोश - भाग ३, पृ. ८७
ज्ञानावरणादयाष्टविधकर्माणां तत्त्वयोग्यपुद्गलद्रव्यस्स्वीकारः प्रकृतिबन्धैः।
ख) उ. नि. कम्मपयडी णाम सा कम्मपयडी चेदि।

२३. क) उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) (अनु. जीवराज गौतमचंद दोशी), अ. ८, पू. २१८
ख) आचार्य श्री तुलसी-जैनसिध्दान्तदीपिका-अ. ४, पृ.६६
कर्मणामष्टो मूलप्रकृतयः सन्ति। तं ज्ञानदर्शनयोरावरणम् ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च। सुखदुःखहेतुः वेदनीयम्। दर्शनचारित्रघातात् मोहयति आत्मनिर्मित मोहननीयम् एतिभवस्थितिं जीवो येन इति आयुः। अन्तरायः।

२४. क्षु. जिनेंद्रवर्णी - जैनेंद्रसिध्दांतकोश - भाग ३, पृ. ८७

प्रक्रियते अज्ञानादिकं फलमनया आत्मनः इति प्रकृतिशब्दव्युत्पतेः।
२५. आचार्य श्री तुलसी-जैनसिध्दांत दीपिका (चतुर्थप्रकाश), श्लो.७ पृ. ६६
सामान्योपात्तकर्मणां स्वभावः प्रकृति ।।७।। श्लो. १०, पृ. ६८.
२६. उ. नि. कालावधारणं स्थितिः ।।१०।।
२७. उमास्वामि-तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) (अनु. जीवराज गौतमचंद दोशी) अ. ८, पृ. २१६
२८. पूज्यपादाचार्य - सर्वार्थसिद्धि अ. ८, सू. ३. पृ. २२३
तत्स्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः। यथा-अजागोमहिष्यादि क्षीरणां माधुर्यस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः। तथा
ज्ञानावरणादी नामर्थानवमादिस्वभावदप्रच्युतिः स्थितिः। तथा टीका.
२९. क्षु. जिनेद्रवर्णी - जैनेंदसिद्धांतकोश - भाग ४, पृ. ४५७.
जोगवसेण कम्मरसरूवेण परिणदाणं पोग्गलसंधानं कसायवसेण जीवे एगसरूवेणावट्ठाणकालो ट्ठिदी णाम।
३०. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र (अनु. पं सुखलालजी), पृ. ३१६
३१. भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक-भाग २, अ.८, सू.३ (टीका) पृ. ५६७
तद्रसविशेषोऽनुभवः ।६। यथा अजागोमहिष्याविक्षीराणां
तीव्रमन्दादिभावेन रसविशेषः तथा कर्मपुद्गलाना स्वगत
सामर्थ्यविशेषोऽनुभव इति कथ्यते।
३२. आचार्य तुलसी-जैनसिद्धान्तदीपिका-(चतुर्थ प्रकाश), पृ. ६८
विपाकोऽनुभागः ।।११।। रसोऽनुभागोऽनुभावः कल्पनीयः।
३३. क्षु. जिनेद्रवर्णी - जैनेंदसिद्धांतकोश - भाग १ - पृ. ६०
क) विपाकोऽनुभवः। स यथा नाम।
ख) कम्माणं जो तु रसो अज्झवसाणजणिद सुहो असुहो वा।
बंधो सो अणुभागो पदेसबंधो इमो होइ।
ग) अट्ठण्णं वि कम्माणं जीवपदेसाणं अण्णोण्णाणुगमणहेदुपरिणामो।
घ) शुभाशुभकर्मणां निर्जरासमये सुखदुःखसफलदान-
शक्तियुक्तोह्यनुभागवबन्धः।
च) सादि अणादिय अट्ठ य पसत्थिरपरूवणातहासणं।
पच्चय विवाय देसा सामित्तेणाह अणुभागो।
३४. उमास्वाति - सभाष्य तत्त्वर्थाधिगमसूत्र - (हिंदी अनु. पं. खूबचंद्रजी सिद्धान्तशास्त्री), पृ. ३५५
३५. क) संयोजक - उदयविजयगणि - नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह (देवेन्द्रसूरि) (नवतत्वप्रकरणम्) - गा. ७१ वृत्ति, पृ. ४७

प्रकृतिः समुदायः स्यात् स्थितिः कालावधारणम्।
अनुभागो रसो ज्ञेय, प्रदेशो बलसंचयः।।
ख) उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र (विवेचनकर्ता - पं सुखलाजी पु. ३१६
३६. उमास्वामि-तत्त्वार्थसूत्र (मराठी अनु. जीवराज गौतमचंद दोशी) अ.८, पृ. २१८
३७. उमास्वाति -सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम (हिंदी अनु. पं खूबचंद्रजी सिद्धान्तशास्त्री) पृ. ३५५
३८. जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म. जैनतत्त्वप्रकाश, पृ. ३७२
३९. आचार्य तुलसी - जैनसिद्धान्तदीपिका - पृ. ७०
दलसंचयः कर्मात्मनोरेक्यं वा प्रदेशः।।१२।।
(दलसंचयः - कर्मपुद्गलानामियत्तावधारणम्।)
४०. आचार्य भिक्षु - नवपदार्थ - पृ. ७१८
४१. अमृतचंद्रसूरि - तत्त्वार्थसार (पंचमाधिकार) - पृ. १५८, श्लो. ४७-५० (सं. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य)
४२. उमास्वामी - मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) टीकाकार - पं. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, पृ. १४५-१४६
४३. गृद्धापिच्छाचार्य - तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) (मराठी अनु. जीवराज गौतमचंद दोशी) पृ. २१६
४४. जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म. जैनतत्त्वप्रकाश - पृ. ३७३.
४५. क) उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ. ८, सू. ५.
आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनामगोत्रान्तरायाः ।
ख) मलयगिरिकृत - टीका - कर्मप्रकृति - पृ. २.
ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनामगोत्रान्तरायरूपं ।१।
ग) अमृतचंद्रसूरि - तत्त्वार्थसार - (सं. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य) श्लो. २२, पृ. १४५.
ज्ञानदर्शनयोरोधो वेदयं मोहायुषी तथा ।
नामगोत्रान्तरायाश्च मूलप्रकृतयः स्मृताः ।।२२।।
४६. मलयगिरिकृत - टीका - कर्मप्रकृति - पृ. २
सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोधो ज्ञानं,
तदाभियते आच्छाद्यतेऽ नेनेति ज्ञानावरणं ।
४७. भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक-भाग १-अ., सू. ९, (टीका) पृ. ४४
मनः प्रतीत्य प्रतिसंधाय वा ज्ञानं मनःपर्ययः ।४।

४८. क) उ. नि. भाग २, अ. ८, सू. ६, पृ. ५७०
मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलनाम् ।।६।।
ख) जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म. – जैनतत्त्वप्रकाश – पृ. ३६५
४९. मलयगिरिकृत टीका – कर्मप्रकृति – पृ. २
सामान्यग्रहणात्मो बोधो दर्शन, तदाव्रियतेऽनेनेति दर्शनावरणं ।
५०. क) भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक-भा. २, अ. ८, सू. ७, पृ. ५७२
चक्षुरचक्षुरवधिकेवलनां निद्रानिद्रानिद्राप्रचला-
प्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ।।७।।
ख) उत्तराध्ययनसूत्र – अ. ३३, गा. ५-६
ग) जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म. जैनतत्त्वप्रकाश, पृ. ३६५-३६६
५१. क) मलयगिरिकृत – टीका – कर्मप्रकृति पृ. २
वेद्यते आह्लादादिरूपेण यतद्वेदनीयं । यद्यपि सर्वकर्म वेद्यति.
तथापि पंकजादिपदवद्वेदनीयपदस्य रूढिविषयत्वात्साता सातरूपमेव कर्म
वेदनीमुच्यते ।
ख) भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक-भाग २-अ. ८, सू. ८, पृ. ५७३
सदसद्वेध्ये ।।८।।
ग) उत्तराध्ययनसूत्र – अ. ३३ गा. ७.
वेदणीय पि य दुविहं सायमसायं च आहियं ।
सायस्स उ बहु भेया एमेव असायस्स वि ।।
५२. मलयगिरिकृत टीका – कर्मप्रकृति – पृ. २.
मोहयति सदसद्विवेकविकलं करोत्यात्मानमिति मोहनीयं ।
५३. जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म. जैनतत्त्वप्रकाश – पृ. ३६६ – ३६७.
५४. क) उत्तराध्ययनसूत्र – अ. ३३, गाथा ८, ९, १०, ११.
ख) जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म. – जैनतत्त्वप्रकाश – पृ. ३६७.
ग) उमास्वाति – तत्त्वार्थसूत्र – अ. ८, सू. १०.
दर्शनचारित्रमोहनीयकषायनोकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विषोडशनवभेदाः
..... हास्यरत्यारतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाः ।।१०।।
५५. क) मलयगिरिकृत टीका – कर्मप्रकृति – पृ. २
कृद्बहुलामिति कर्तयनीयः । एत्यागच्छति प्रतिबन्धकतां
कुगतिनिर्यियासोजन्तोरित्यायुः ।
ख) उ. नि. यद्वासमन्तादेति गच्छाति भवान्तरसङ्कान्तो जन्तूनां
विपाकोदयमित्यायुः ।

५६. क) भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक - अ. ८, सू. १०, पृ. ५७५
नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ।।१०।।
५७. जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म. जैनतत्त्वप्रकाश, पृ. ३६७-३६८
५८. मलयगिरिकृत टीका - कर्मप्रकृति - पृ. २
उभयत्राप्योणादिक उस् प्रत्ययः । नामयति गत्यादिपर्यायानुभवनं प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम।
५९. जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म. - जैनतत्त्वप्रकाश - पृ. ३६८
६०. जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म. - जैनतत्त्वप्रकाश - पृ. ३६८-३६९
६१. मलयगिरिकृत टीका-कर्मप्रकृति-पृ. २.
गूयते शब्दयते उच्चावचै, शब्दैर्यत्तगोत्रं उच्चनीचकुलोत्पत्यभिव्यंग्यः पर्यायविशेषः, तद्विपाकवेदकं कर्मापि गोत्रं।
६२. जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म. - जैनतत्त्वप्रकाश - पृ. ३६९
६३. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ. ८, सू. १३ उच्चैनीचेश्च ।१३।
६४. जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म. - जैनतत्त्वप्रकाश - पृ. ३६९
६५. क) मलयगिरिकृत टीका - कर्मप्रकृति - पृ. २.
जीवं दानादिकं चान्तरा व्यवधानापादनायैति गच्छतीत्यन्तरायं।
ख) उमास्वाति-तत्त्वार्थसूत्र-अ. ८, सू. १४ दानादीनाम् ।१४।
ग) उ. नि. अ. ६, सू. २६. विघ्नकरणमन्तरायस्य ।।२६।।
६६. क) जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म. - जैनतत्त्वप्रकाश, पृ. ३६९
ख) उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ. २, सू. ४.
ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ।४।
ग) विजयानंदसूरि - जैनतत्त्वादर्श - भाग १, पृ. ६.
अन्तराया दानालाभवीर्यभोगोपभोगगाः ।
घ) पूज्यपादाचार्य - सर्वार्थसिद्धिः अ. ८, सू. १३, पृ. २३१
दानलाभभोगोपभोगवीर्याणम् ।। १३ ।।
इत्यादिदानादिपरिणामव्याघातहेतुत्त्वाद्व्यप्रदेशः ।।
६७. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र अ. ८, सू. ५
आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनामगोत्रान्तरायाः ।।५।।
६८. जैनाचार्य अमोलकऋषिजी म. - जैनतत्त्वप्रकाश - पृ. ३७०
६९. आचार्य भिक्षु - नवपदार्थ (अनु. श्रीचंद रामपुरिया), पृ
Mohanlal Mehta – Jaina Psychology – pp. 1 - 30
७१. क) देवेन्द्रमुनिशास्त्री-जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण - पृ. ४६०

ख) उमास्वाति- तत्त्वार्थसूत्र - अ. १०, सू. १
मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।
७२. विजयलक्ष्मणसूरीश्वरजी म. - आत्मतत्त्वविचार - पृ. ३०८ - ३०९
७३. क्षु. जिनेंद्र वर्णी - जैनेंद्रसिद्धांतकोश - भाग २, पृ. २५
७४. जैनदिवाकर पं. मुनिश्री चौथमलजी महाराज (अनु.) निर्ग्रन्थप्रवचन- पृ. ८०-८१
७५. व्याख्याकार मरुधर केसरी प्रवर्तक मुनिश्री मिश्रीमलजी कर्म ग्रन्थ (जैन कर्मशास्त्र का सर्वांग विवेचन) स. श्रीचंद सुराना 'सरस' आणि देवकुमार जैन - भाग १ (प्रस्तावना), पृ. २२-२४
७६. व्याख्याकार मरुधर केसरी प्रवर्तक मुनिश्री मिश्रीमलजी म.-कर्मग्रंथ भाग ४ (आमुख), पृ. ५
७७. कुंदकुंदाचार्य-कुंदकुंदभारती(समयसार), गा.३३२, ३३३, ३३४ पृ. १०१
कम्मेहि दु अण्णाण्णो किज्जइ णाणी तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहिं सुवाविज्जइ जग्गाविज्जइ तहेव कम्मेहिं ।।३२३।।
कम्मेहिं सुहाविज्जइ दुक्खाविज्जइ तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहिं य मिच्छतं णिज्जइ णिज्जइ असंजमं चेव ।।३३३।।
कम्मेहि भमाडिज्जइ उड्ढमहो चावि तिरियलोयं य ।
कम्मेहि चेव किज्जइ सुहासुहं जिवियं किंचि ।।३३४।।
७८. पं. बलदेव उपाध्याय - भारतीयदर्शन - पृ. २२-२३
७९. देवेन्द्रमुनिशास्त्री - धर्म और दर्शन - पृ. ६७
८०. क) डॉ. मोहनलाल मेहता व प्रो. हीरालाल र. कापडिया, जैन साहित्य का बृहद इतिहास - भाग ४, पृ. १४-१५
ख) उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ. ८, सू. १
८१. डॉ. राधाकृष्णन् भगवद्गीता - पृ. १६४-१६५
किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तंसे कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।१६।।
कर्मणो ह्यपि बौद्धव्यं बौद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बौद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।१७।।
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धीमान्मनुष्येषु स युक्त कृत्स्नकर्मकृत् ।।१८।।
८२. सं. पं. महादेवशास्त्री जोशी-भारतीय संस्कृतिकोश, खं. २, पृ. १३४
८४. क) कुंदकुंदाचार्य - प्रवचनसार (ज्ञेयाधिकार) गा. ८९, पु. २२२
सुहपरिणामो पुण्ण असुहो पाव त्ति भणियमण्णेसु।

परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खकारणं समये।।८६।।
ख) कुंदकुंदाचार्य - पंचास्तिकाय - गा. १४७, पृ. २१३
ज सुहमसुहमुदिण्णं भावं रत्तो करेदि जदि अप्पा।
सो तेण हवदि चंधो पोग्गलकम्मेण विविहेण।।१४७।।

८५. सर्व सेवा-संघ-प्रकाशन, राजघाट, वाराणसीः समणसुत्तं, पृ. २०
यं यं समयं जीवः अविशति येन येन भावेन।
सः तस्मिन् समये, शुभारंभ बध्नाति कर्म ।२।
संस्कृत-छाया - पं. बेचरदासजी दोशी

८६. कुंदकुंदाचार्य-कुन्दकुन्द-भारती (समयसार) गा. २५६, पृ. ८५
एसा दु जा मई दुखिदेसुहिदे करेमि सत्तेत्ति।
एसा दे मूढमई सुहासुहं बंधए कम्मं ।।२५६।।

८७. व्याख्याकार - मरुधर केसरी प्रवर्तक मुनश्री मिश्रीमिलजी म. कर्मग्रन्थ, भाग १, गा. १, पृ. १

८८. क) समणसुत्तं, पृ. २० सर्वसेवासंघ-प्रकाशन, राजघाट, वाराणसीः कर्मत्वेन
एकं, द्रव्यं भावं इति भवितं द्विविधं तु।
पुद्गलपिण्डी द्रव्यं, तच्छक्ति भावकर्म तु।।७।।
संस्कृत-छाया-पं. बेचरदासजी दोशी.
ख) व्याख्याकार - मरुधर केसरी प्रवर्तक मुनिश्री मिश्रीमलजी म. कर्मग्रन्थ, भाग १, पृ. ५५-५६

८९. क) मरुधर केसरी प्रवर्तक मुनिश्री मिश्रीमलजी म. कर्मग्रन्थ - भाग १, पृ. ५५-५६
ख) पं. दलसुखभाई मालवणिया-गणधरवाद की अप्रकाशित प्रस्तावना-पृ. ८१

९०. उ. नि. पृ. ८१

९१. अनु. पं. सुखलालजी-कर्मविपाक अर्थात् कर्मग्रंथ-प्रथम भाग, पृ. १९-२०

९२. डॉ. मोहनलाल मेहता व हीरालाल र. कापडिया - जैन साहित्य का बृहद् इतिहास - भाग ४, पृ. ५

९३. क) मरुधर केसरी प्रवर्तक मुनिश्री मिश्रीमलजी म. - कर्मग्रंथ-भाग २ (प्रस्तावना), पृ. २१-२२
ख) सं. श्रीचंद सुराना 'सरस' आचार्यप्रवर श्री आनंदऋषि म. अभिनंदन ग्रंथ (कन्हैयालाल लोढा - कर्मसिद्धांत भाग्य निर्माण की कला) - पृ. ३८५-३८६

९४. सं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर - ऋग्वेद - संहिता - मं ७, सू. ८६, मं ६, पृ. ४४६ - न स स्वो दक्षो वरूण धृतिः सा।

६५. श्वेताश्वतरोपनिषद-(गीता प्रेस, गोरखपुर)-अ. १, श्लो. २, पृ. ७१ कालः स्वभावोनियतिर्यदृच्छाभूतानि योनिः पुरूष इति चिन्त्या । संयोग एषा न त्यात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ।।२।।

६६. सं. दलसुखभाई मालवणिया - गणधरवाद (गुजराती अनुवाद)

६७. क) पं. विजयमुनि शास्त्री-विश्वदर्शनकी रूपरेखा-भाग १, पृ. ११३-११४

ख) क्षु. जिनेंद्रवर्णी - जैनेंद्रसिद्धांतकोश - भाग ३, पृ. १७८ एवं रागपरिणाम एवं बन्धनकारणं ज्ञात्वा समस्तरागादि विकल्पजाल त्यागेन। विशुद्धज्ञानदर्शस्वभावनिजात्मतत्वे निरन्तरं भावना कर्तव्येति।

ग) उपाध्याय अमरमुनि - चिन्तन की मनोभूमि - पृ. ६१-६३

६८. आचार्य श्री आनंदऋषिजी - जैनधर्म के नवत्तत्व - पृ. २८

६९. मुनिश्री सुशीलककुमारजी शास्त्री - जैनधर्म : जीवनधर्म - पृ. ११३

❋

# नवम अध्याय
# मोक्ष तत्त्व

मोक्ष नवतत्त्वों में अन्तिम व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। नवतत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना मोक्षप्राप्ति के लिए अत्यावश्यक है। प्राणिमात्र का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष ही है और उसी के लिए उनके सब प्रयत्न चलते हैं; परन्तु मोक्ष कैसे प्राप्त होता है इसका ज्ञान सब को होता ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, इसीलिए मोक्ष मार्ग का विवेचन आवश्यक है।

मोक्ष का अर्थ कर्म के बंधन से मुक्ति प्राप्त करना है। आत्मा का विशुद्ध स्वरूप ही मोक्ष है। इस प्रकार की विशुद्ध दशा में आत्मा या जीव कर्मसंयोग से संपूर्णतः मुक्त हुआ होता है। इसीलिए कहा गया है कि जीव और कर्म का संपूर्ण वियोग ही मोक्ष है अर्थात् संपूर्ण कर्म का क्षय होना ही मोक्ष है।[1]

मोक्ष तत्त्व यह बंध तत्त्व के पूर्णतया विपरित है। जिस प्रकार कारागृह के संदर्भ में ही स्वतंत्रता का अर्थ ध्यान में आता है उसी प्रकार बंध के संदर्भ में ही उसके प्रतिपक्षी मोक्ष का अर्थ स्पष्ट होता है। मिथ्यादर्शन आदि बंध के कारण हैं। उनका निरोध (संवर) करने पर नए कर्मों के बंध का अभाव होकर निर्जरा के द्वारा पूर्वोपार्जित कर्मों का विनाश होता है, तब सब प्रकार के कर्मों से हमेशा के लिए आत्यन्तिक या पूर्ण मुक्ति प्राप्त होती है। यही मोक्ष है। बंध के कारणों का अभाव होने पर एवं निर्जरा के द्वारा कर्मों का क्षय होना ही मोक्ष है - बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् । (तत्त्वार्थसूत्र १०/२)

जैन दर्शन में मोक्ष के दो कारण माने गए हैं, वे हैं- संवर और निर्जरा। संवर से आस्रव अर्थात् कर्म का आगमन रुक जाता है, अर्थात् नए कर्मों का बंध नहीं होता तथा निर्जरा से पूर्व बद्ध कर्म नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार कर्मों के बंधन से मुक्त होना यही मोक्ष है।[2]

आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को ही मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण या परमशांति कहते हैं। अतः आत्मा का शुद्ध स्वरूप ही मोक्ष है। बंध का अभाव और घाति कर्म के क्षय से केवलज्ञान उत्पन्न होने पर और शेष सब कर्मों का क्षय होने पर मोक्ष प्राप्त होता है।[3] बंध का वियोग ही मोक्ष है[4]। दूसरे शब्दों में कर्मों का अभाव ही मोक्ष है।[5] शुद्ध आत्म-स्वरूप में स्थिर होने की अवस्था ही मोक्ष की अवस्था है। परंतु संसार की स्थिति इससे भिन्न है। जीव जब तक बाह्य पदार्थों की आसक्ति का त्याग नहीं करता है, तब तक आत्मा अपना शुद्ध स्वरूप प्रकट नहीं कर सकता अर्थात् आत्मा बंधन से मुक्त नहीं हो सकता ।[6]

जैन दर्शन आत्मा रूपी दीपक के बुझने को मोक्ष नहीं मानता, वरन् आत्मा में जो राग-द्वेष के विकार आते हैं उन्हें दूर करके शुद्ध आत्म स्वरूप को प्रकट करना ही 'मोक्ष' है, ऐसा मानता है। क्योंकि जैन दर्शन के अनुसार मुक्तावस्था में आत्मा की ज्ञानज्योति प्रज्वलिल रहती है। जैन दर्शन में विशेष करके 'मोक्ष' अथवा 'मुक्ति' शब्द का प्रयोग दिखाई देता है और उसका अर्थ कर्मबंधन से छूटना या मुक्त होना है। अनादि काल से आत्मा जिस कर्मबंधन से बद्ध है, उसे छोड़कर संपूर्णतया स्वतंत्र होना ही मोक्ष है। राग-द्वेष से मुक्त होना ही, संसार के कर्मबंधन से मुक्त होना है, इसी का अर्थ मोक्ष और सिद्धत्व की प्राप्ति है। यह आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था है।

मोक्ष का सुख अनन्त और अलौकिक है। नवतत्त्वों में 'मोक्ष' तत्त्व सबसे श्रेष्ठ तत्त्व है। मोक्ष का अर्थ है कर्मों से मुक्ति। मोक्ष का सुख शाश्वत है। उसके सुखों का कभी अन्त नहीं होता । देवों के सुख अगणित हैं, परन्तु देवों का यह त्रैकालिक सुख भी एक सिद्ध आत्मा के सुख के अनंतवें भाग की भी बराबरी नहीं कर सकता।[७]

## मोक्ष का स्वरूप

मोक्ष ही जीवमात्र का परम और चरम लक्ष्य है। जिसने सारे कर्मों का नाश करके अपना साध्य प्राप्त कर लिया, उसने पूर्ण सुख प्राप्त किया। कर्मबंधन से मुक्ति प्राप्त होने पर जन्म-मरणरूपी दुःख के चक्र की गति रुक जाती है और सच्चिदानन्द स्वरूप की प्राप्ति होती है।

बंधन की मुक्ति को 'मोक्ष' कहते हैं। मोक्ष में आत्मा की वैभाविक दशा समाप्त हो जाती हैं । मिथ्यादर्शन सम्यग्दर्शन हो जाता है, अज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है, अचारित्र सम्यक्चारित्र हो जाता है, आत्मा निर्मल और निश्चल हो जाती है; शान्त एवं गंभीर सागर के समान चेतना निर्विकल्प हो जाती है। मोक्ष दशा में आत्मा का अभाव नहीं होता और वह अचेतन भी नहीं रहता। आत्मा एक स्वतंत्र द्रव्य है। उसके अभाव और नाश की कल्पना करना मिथ्यात्व है। कितना भी परिवर्तन हुआ हो तो भी आत्म द्रव्य का नाश नहीं हो सकता। कर्मों से मुक्ति राग-द्वेष का संपूर्ण क्षय होने पर होती है। वस्तुतः बंध के कारणों का और पूर्व संचित कर्मों का पूर्ण रूप से क्षय होना ही मोक्ष है। इस तात्त्विक भूमिका में आत्मा का अपने शुद्ध स्वरूप में चिरकाल के लिए स्थिर होना ही मोक्ष या मुक्ति है।[८]

मनुष्य- तिर्यंच, छोटा-बड़ा, अमीर-गरीब, स्त्री-पुरुष आदि भेद कर्मों के कारण होते हैं। जब कर्मों का पूर्ण रूप से क्षय हो जाता है, तब ये भेद नहीं रहते। फिर भी जैन दर्शन में मुक्त जीव के भेद की जो कल्पना की गई है, वह

लोक-व्यवहार की दृष्टि से की गई है। (सिद्धों के पंद्रह भेद मुक्त होने की पूर्वस्थिति के सूचक है। पूर्वावस्था को ध्यान में रखकर ही ये भेद बताए गए हैं।) वस्तुतः मुक्त जीवों में छोटा-बड़ा आदि किसी भी प्रकार का कोई भेद नहीं है।

मुक्त जीव आध्यात्मिक समता और समानता के साम्राज्य में रम जाते हैं। मोक्ष या मुक्ति यह कोई स्थान विशेष नहीं है। आत्मा के शुद्ध, चिन्मय स्वरूप की प्राप्ति ही मोक्ष (मुक्ति) है। कर्म से मुक्त होने पर अर्थात् आत्मा के सारे बंधन नष्ट हो जाने पर मुक्त आत्मा लोकाग्र भाग पर स्थित होता है। इस लोकाग्र को व्यवहार भाषा में सिद्धशिला (सिद्ध के रहने का स्थान) कहते हैं।

जीव एक द्रव्य है और यह द्रव्य 'लोक' के ऊर्ध्व, मध्य और अधोभाग में जन्म मरण करता रहता है। जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगामी होने से मुक्त अवस्था में लोकाग्र पर स्वयं पहुँच जाता है। दीपक की ज्योति की प्रवृत्ति ऊपर की ओर यानी ऊर्ध्वगामी है। कर्म के कारण उसमें जड़ता आती है। परन्तु कर्ममुक्त होते ही स्वाभाविक रूप से आत्मा की ऊर्ध्वगति होती है।

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्या लोकान्तात् । तत्त्वार्थसूत्र १०/५

जब तक कर्म पूर्णतः नष्ट नहीं होते तब तक आत्मा का स्वभाव शुद्ध नहीं होता। जिस प्रकार बादल दूर होते ही सूर्य पुनः अपने प्रकाश से चमकने लगता है, उसी प्रकार आत्मा से कर्म दूर होते ही आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव से पुनः चमकने लगता है। परन्तु यहाँ इतना ध्यान में रखना चाहिए कि सूर्य पर फिर कभी बादल आ सकते हैं, परन्तु आत्मा एक बार कर्म मुक्त होने पर वह फिर कभी कर्म से युक्त नहीं हो सकता। मुक्ति, निर्वाण, अपवर्ग, सिद्धि आदि मोक्ष के ही विविध नाम हैं।

## मोक्ष-प्राप्ति के उपाय

आगम में मोक्ष प्राप्ति के चार उपाय हैं - (१) ज्ञान (२) दर्शन (३) चारित्र और (४) तप । ज्ञान से तत्त्व का आकलन होता है, दर्शन से तत्त्व पर श्रद्धा होती है। चारित्र से आने वाले कर्म को रोका जाता है और तप के द्वारा बंधे हुए कर्मों का क्षय होता है। इन चार उपायों से कोई भी जीव मोक्षप्राप्ति कर सकता है। इस साधना के लिए जाति, कुल, वेष आदि कोई भी बाधक नहीं है। वस्तुतः जिसने कर्म रूपी बंधन को तोड़कर आत्मगुण को प्रकट किया है, वही मोक्ष-प्राप्ति का सच्चा अधिकारी है।

## मोक्ष के लक्षण

जब आत्मा कर्ममल (अष्टकर्म) एवं तज्जन्य विकारों (राग, द्वेष, मोह) और शरीर को नष्ट कर देता है, तब उसके स्वाभाविक ज्ञानादि गुण प्रकट हो

जाते है और वह अव्यावाध सुखरूप सर्वथा विलक्षण स्वरूप को प्राप्त होता है। इसे ही मोक्ष कहते हैं।

सब कर्मों के आत्यन्तिक उच्छेद को 'मोक्ष' कहते हैं। मोक्ष शब्द 'मोक्षणं मोक्षः' इस प्रकार क्रियाप्रधान है। मोक्ष 'असने' धातु से बना हुआ है। जिससे कर्मों का मूल से उच्छेद होता है और कर्म से संपूर्णतः मुक्ति होती है, वही मोक्ष है। जिस प्रकार बंधन में पड़े प्राणी की बेड़ियाँ खोलने पर वह स्वतंत्र होकर, यथेच्छ गमन कर सुखी होता है, उसी प्रकार कर्म बंधन का वियोग होने पर आत्मा स्वाधीन होकर अनन्त ज्ञान-दर्शन रूप अनुपम सुख का अनुभव करता है।[१०]

आत्म-स्वभाव की घातक मूल और उत्तर कर्म प्रकृतियों के संचय से छुटकारा प्राप्त कर लेना, यही मोक्ष है और यह अनिर्वचनीय है। आत्मा और कर्म को अलग-अलग करने को ही 'मोक्ष' कहते हैं।[११] बंध के कारणों का अभाव और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना यही 'मोक्ष' है।[१२]

## मोक्ष का विवेचन

जैन दर्शन ईश्वरवादी नहीं, आत्मवादी दर्शन है। आत्मा ही परमात्मा बन सकता है। यह बात जैन धर्म में विशेष रूप से कही गयी है। जैन धर्म का शाश्वत सिद्धान्त है कि सुख यह आत्मा का स्वभाव है। शुभ कर्म से सुख और अशुभ कर्म से दुःख प्राप्त होता है।

यदि सिद्धात्मा के सारे गुणों को एकत्रित करके उसका अनन्तवाँ हिस्सा बनाया जाय वे भी इस लोक में साथ ही अलोक में फैले हुए अनंत आकाश में नहीं समा सकेंगे। योगशास्त्र में भी कहा गया है कि स्वर्गलोक, मृत्युलोक एवं पाताललोक में सुरेन्द्र, नरेन्द्र और असुरेन्द्र को जो सुख मिलता है, वह सब सुख मिलकर भी मोक्षसुख के अनन्तवें भाग (हिस्से) की बराबरी नहीं कर सकता।

मोक्ष का सुख स्वाभाविक है। इन्द्रिय की अपेक्षा न रखने से वह अतीन्द्रिय है, नित्य है। इसलिए मोक्ष को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थ में 'परम पुरुषार्थ' या 'चतुर्वर्ग शिरोमणि' कहा गया है।[१३]

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा को बद्ध करने वाले आठों प्रकार के कर्मों का क्षय होना ही 'मोक्ष' है। संवर और निर्जरा ये मोक्ष के साधन हैं। संवर यानी "कर्म आने के द्वार को बंद करना" और निर्जरा यानी "पूर्व में आत्मा के साथ बंधे हुए कर्म का क्षय करना"।

जैन दर्शन के अनुसार मोक्ष का सरल अर्थ "समस्त कर्मों से मुक्ति" यह है। इसमें अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के कर्म आते हैं। कारण जिस प्रकार बेड़ियाँ चाहे वे सोने की हो या लोहे की, मनुष्य को बांधकर ही रखती हैं, उसी

प्रकार जीव को उसके शुभ और अशुभ ऐसे दोनों प्रकार के कर्मों के द्वारा बंधन में रखा जाता है। दूसरे शब्दों में मोक्ष का अर्थ है- ''राग और द्वेष का पूर्ण क्षय''। वस्तुतः कर्म-बंधन से छुटकारा और पूर्व में संचित कर्मों का पूर्ण रूप से क्षय होना ही 'मोक्ष' है। तात्त्विक दृष्टि से ऐसा कहा जा सकता है कि आत्मा का अपने शुद्ध स्वरूप में चिर काल स्थिर रहना यही मोक्ष या मुक्ति है।

मोक्ष आत्मविकास की पूर्ण अवस्था है और पूर्णत्व में किसी प्रकार का भेद नहीं होता। मोक्ष या मुक्ति यह कोई स्थान-विशेष नहीं, वरन वह आत्मा के पूर्ण शुद्ध और चिन्मय स्वरूप की प्राप्ति है। इस अवस्था को वैदिक दर्शन में ''सच्चिदानंद'' अवस्था कहा है और जैन दर्शन में ''सिद्धावस्था'' कहा है।

जब तक कर्म का पूर्णतया क्षय नहीं होता, तब तक आत्मा का शुद्ध स्वभाव आवरित रहता है। जैन दार्शनिकों की दृष्टि से मुक्त जीव अनंतचतुष्टय– अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख एवं अनंतवीर्य का साक्षात्कार कर लेता है। जैन दार्शनिक ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास नहीं रखते, इसलिए उनके मतानुसार जीव स्वयं ही अपने प्रयत्नों से मोक्ष प्राप्त करता है। इसी प्रकार विश्व की उत्पत्ति का मूल कारण भी ईश्वर नहीं है। आत्मा स्वयं ही अपने संसार का कर्ता और भोक्ता है।

जैन दर्शन का प्रमुख उद्देश्य यह है कि, आत्मा दुःखों से मुक्त होकर अनंत सुख की ओर जाए। जीव और पुद्गल इन दोनों का संबंध अनंतकाल से चल रहा है। पुद्गल के बाह्य संयोग से ही जीव विविध प्रकार के दुःखों का अनुभव करता है। जब तक जीव और पुद्गल इन दोनों का संबंध नष्ट नहीं होता, तब तक आध्यात्मिक सुख संभव नहीं होगा। मोक्ष के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही श्रेष्ठ मार्ग बताया है। अहिंसा और अनेकान्त ये जैन दर्शन के मुख्य सिद्धान्त हैं। विचारों में अनेकान्त और व्यवहार में अहिंसा आने पर जीवन सुखी और शान्त होता है। आत्मवाद, कर्मवाद और अनेकान्तवाद, सप्तभंगी आदि जैन दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त हैं।

मुक्तात्मा कर्म-शरीर, इन्द्रियाँ, मन और तज्जन्य विकल्प से रहित होकर अनंतवीर्य, अनंतज्ञान, अनंतदर्शन और अनंतसुख में मग्न होता है। मुक्तात्मा निद्रा, तंद्रा, भय, भ्रान्ति, राग, द्वेष, पीड़ा, शोक, मोह, जन्म, जरा, मरण, क्षुधा, तृष्णा, मत्सर, रति, अरति, शीत, उष्ण, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि सब विकारों से रहित होता है। मोक्ष यह आत्म-विकास की पूर्ण अवस्था है। प्रत्येक आत्मा ज्ञान, दर्शन आदि अनंत गुणों से परिपूर्ण है। उन्हीं गुणों के प्रकटन और विकास का नाम 'मोक्ष' है।

## विभिन्न दर्शनों में मोक्ष

अलग-अलग दर्शनों में 'मोक्ष' के लिए निर्वाण, मोक्ष, मुक्ति, निवृत्ति, कैवल्य आदि शब्दों का उपयोग हुआ है। इसका मुख्य अर्थ शांति या दुःखनिवृत्ति है। चार्वाक के अलावा प्रायः सारे भारतीय दर्शनों में अविद्या या अज्ञान के संपूर्ण नाश को 'मोक्ष' कहा है।

## सांख्य दर्शन

सांख्य दर्शन के अनुसार मोक्ष का साधन ज्ञान है और अविद्या या अज्ञान का विनाश ही मोक्ष है। धर्माचरण से ब्रह्म, सौम्य आदि उच्च देव योनियों में जन्म मिलता है। अधर्म के आचरण से पशु आदि नीच योनियों में जन्म मिलता है। प्रकृति और पुरुष में विवेक ज्ञान के कारण मोक्ष प्राप्त होता है। उसी तरह प्रकृति और पुरुष विषयक विपर्यय ज्ञान से बन्ध होता है। जब तक पुरुष को बुद्धि, अहंकार, पाँच तन्मात्राएँ, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द, अहंकार जन्य पाँच ज्ञान-इन्द्रियाँ, पाँच कर्म इन्द्रियाँ तथा भौतिक शरीर आदि अनात्म पदार्थों में 'मैं सुनता हूँ, मैं देखता हूँ' ऐसा भ्रम होता है, और वह शरीर को ही आत्मा मानता है, तब तक उसे इस विपर्यय ज्ञान से बन्ध होता है। लेकिन जब उसे प्रकृति और पुरुष का भेद ध्यान में आता है, तब वह पुरुष के अलावा यह सब वस्तुओं को प्रकृतिकृत और त्रिगुणात्मक मानकर उनसे विरक्त होता है और उसे 'मैं नहीं, यह मेरा नहीं' ऐसा विवेक जाग्रत होता है, तब ऐसे सम्यग्ज्ञान से उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन त्रिविध दुःखों की प्राप्ति का कारण अविद्या है। अविद्या का विनाश विवेक से होता है। उपरोक्त के त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक हानि ही मोक्ष है। सांख्य कारिका में दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को ही "कैवल्य" कहा है। कैवल्य की प्राप्ति तत्त्वज्ञान होने पर ही संभव होती है। कैवल्य प्राप्ति के बाद सारे संशय दूर हो जाते हैं और हृदय की सारी ग्रंथियाँ नष्ट हो जाती हैं। तात्पर्य यह है कि सांख्य दर्शन में विपर्यय को बंध और ज्ञान को मोक्ष माना गया है। उसमें अज्ञान का नाश ही मोक्ष है।[५१]

## मीमांसा दर्शन

इस दर्शन के अनुसार आत्मा से भिन्न विजातीय वस्तुओं के साथ संबंध होना यह बन्ध है। मीमांसा दर्शन तीन बन्धन मानता है - (१) भोक्ता शरीर, (२) भोग के साधन और (३) भोग विषय (सब जागतिक पदार्थ)।

आत्मा अनादि काल से इन तीन बंधनों में पड़ा है और अनेक प्रकार के कष्ट सहन कर रहा है। इन बंधनों के कारण आत्मा सुख और दुःख भोगता है।

इसे ही भवबन्ध कहा गया है। भवबन्ध के कारण ही मनुष्य जन्म-मरण के चक्र में घूमता है। इसलिए मानव ऐसे सांसारिक बंधनों से मुक्ति की इच्छा करता है। इनसे मुक्ति प्राप्त होना यही 'मोक्ष' है। 'शास्त्रदीपिका' में कहा है - त्रिविधस्यापि बन्धनस्यात्यन्तिको विलयो मोक्षः।'[१६]

## न्याय-वैशेषिक दर्शन :

इस दर्शन ने दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को 'मोक्ष' माना है, तथापि उसने शरीर-विच्छेद को मोक्ष नहीं माना है। उनके मत में भी तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का कारण है। इस दर्शन में अष्टांगयोग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) के अनुष्ठान से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति मानी गई है। अष्टांगयोग द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त होने पर आत्मा का साक्षात्कार होता है और आत्मसाक्षात्कार ही मोक्ष का कारण है।

'आत्मसाक्षात्कारो मोक्षहेतुः। अमरभारती -पृ. १००'

धर्म और अधर्म इनकी ओर अनुक्रम से इच्छा और द्वेष के कारण प्रवृत्ति होती है। उससे सुखरूपी और दुःखरूपी संसार प्राप्त होता है। जिस पुरुष को तत्त्वज्ञान प्राप्त बोता है, उसमें इच्छा, द्वेष आदि भाव नहीं रहते। वे न रहने से धर्म-अधर्म नहीं हेता, परिणामतः शरीर और मन का संयोग नहीं होता, जन्म-मरण नहीं होता और संचित कर्म का निरोध होने पर मोक्ष प्राप्त होता है।

जिस प्रकार दीपक बुझने पर अंधेरा हो जाता है, उसी प्रकार धर्म-अधर्म के बंधन नष्ट होने पर जन्म-मरण का संसार चक्र नष्ट हो जाता है इसलिए षट् पदार्थों का ज्ञान होने से अनागत धर्म और अधर्म की उत्पत्ति नहीं हो सकती और संचित धर्म-अधर्म का उपभोग और ज्ञानाग्नि से विनाश होने पर मोक्ष प्राप्त होता है।

तात्पर्य यह है कि विपर्यय यह बन्ध का कारण है और तत्त्वज्ञान यह मोक्ष का कारण है। तत्त्वज्ञान से भ्रम का निरास होने पर जन्म-मरण और दुःखों का नष्ट हो जाना, इसे ही मोक्ष कहते हैं। आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति को ही नैयायिक मोक्ष कहते हैं।

वैशेषिकसूत्र में कणादऋषि ने कहा है कि 'धर्म ऐसा पदार्थ है कि उससे सांसारिक उत्थान और पारमार्थिक निःश्रेयस ये दोनों प्राप्त होते हैं।'[१७]

## बौद्ध दर्शन :

इस दर्शन के अनुसार दुःख निरोध को ही 'निर्वाण' कहा है। सब दुःखों के कारणों का विनाश ही निर्वाण या मोक्ष है। बौद्ध-दर्शन में भी निर्वाण के संबंध में 'दुःखनिरोध' की व्याख्या 'दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति' ऐसी दी हुई है। बौद्ध अविद्या को बंध और विद्या को मोक्ष मानते हैं।

बौद्ध मत के अनुसार निर्वाण या मोक्ष जीवनकाल में ही प्राप्त हो सकता है। इसे जीवनमुक्त कहते हैं। जीवनमुक्त अवस्था में व्यक्ति राग-द्वेष आदि पर विजय प्राप्त कर अपने कर्मबंध का विनाश करने में समर्थ बनता है। जिस प्रकार बीज जल जाने पर अंकुर का निर्माण नहीं होता, उसी प्रकार कर्मासक्ति के अभाव में पुनर्जन्म की प्राप्ति नहीं होती ।

बौद्ध दर्शन में कहा है कि – दीपक बुझने पर उसकी ज्योति जमीन की ओर नहीं जाती और आकाश की ओर भी नहीं जाती, दिशा और विदिशाओं में भी नहीं फैलती, तेल समाप्त होने पर ज्योति शांत होती है, उसी प्रकार जीव जब निर्वाण प्राप्त करता है, तब वह भी पृथ्वी, आकाश या किसी भी दिशा की ओर नहीं जाता, परन्तु क्लेशक्षय होने से शांत हो जाता है।

निर्वाण के संबंध में भगवान बुद्ध कहतें हैं – भिक्षुओ। अ-जाति, अ-भूत, अ-कृत (असंस्कृत) इन निषेधात्मक विशेषणों की सहायता से भी किसी भावात्मक निर्वाण को तभी सिद्ध किया जा सकता है, जब उस आनन्द को भोगनेवाला कोई एक नित्य ध्रुवात्मा होगा। किन्तु ऐसा नित्य ध्रुवात्मा नहीं है, जिस अवस्था में तृष्णा क्षीण हो जाती है। आस्रव-चित्तमल (भोग, जन्मांतर और विशेष मतवाद की तृष्णा) नहीं रहते है। उस अवस्था को निर्वाण कहा गया है।

बौद्ध मत के अनुसार अर्हत् अनासक्त बनकर कर्म करते रहते हैं, इसलिए वे कर्मबंधन में नहीं फंसते। भगवद्‌गीता में भी "मा ते संगोऽसक्तस्त्यकर्माणि" इस वाक्य मे यही कहा गया है। बौद्ध मतानुसार मुक्त पुरुष दो प्रकार के हैं – १) जीवनमुक्त जीवन को धारण करके रहते हैं। २) दूसरे वे जिनका सांसारिक जीवन समाप्त हो गया है और जिन्होंने षडायतन-शरीर का परित्याग कर दिया हैं।[१८]

## वेदान्त दर्शन :

इस दर्शन के अनुसार जीव और ब्रह्म का तादात्म्य यही 'मुक्ति' है। चित्सुखाचार्य के अनुसार "परमानन्द का साक्षात्कार" यही मोक्ष है। पद्मपादाचार्य मिथ्याज्ञान के अभाव को मोक्ष मानते हैं। सांख्य और जैनदर्शन के समान वेदान्त दर्शन ने भी जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति के रूप में मुक्ति के दो भेद माने है। उनका कहना है कि – "तत्त्वमसि" वाक्य के द्वारा जीव और ब्रह्म की एकता का ज्ञान होने से जब परब्रह्म का साक्षात्कार होता है तब अज्ञान और उसके कार्य का विनाश होने पर संशय, विपर्यय और संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं। इस अवस्था में ब्रह्मवेत्ता जीवित रहते हुए भी सब सांसारिक बंधनों से मुक्त होता है।

इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ पुरुष को 'जीवनमुक्त' कहते हैं। जीवनमुक्त पुरुष का शरीर नष्ट होने पर उसे 'विदेहमुक्त' कहते हैं। विदेहमुक्त को 'परममुक्त' भी

कहते हैं। विदेहमुक्ति या परममुक्ति होने पर व्यक्ति की जन्म-मरणरूप सांसारिक बंधन से आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।[१९]

जब योगी दीपक के समान (प्रकाशस्वरूप) आत्मभाव के योग से ब्रह्मतत्त्व को अच्छी तरह से प्रत्यक्ष देखता है, तब वह उस अजन्मा निश्चल सब तत्त्वों से विशुद्ध, परमदेव परमात्मा को जानकर सब बंधनों से चिरकाल के लिए मुक्त हो जाता है।[२०]

मनुस्मृति में भी यही कहा है कि जिसने सम्यक् दृष्टि (आत्मदर्शन, तत्त्वज्ञान) प्राप्त की, वह आत्मा कर्मबद्ध नहीं होता अर्थात् आत्मा यानि कर्ममय दुनिया के बंधन में वह बांधा नहीं जाता। परन्तु जिसे सम्यक् दृष्टि प्राप्त नहीं हुई, वह बार-बार इस संसार में जन्म-मरण के चक्र में पड़ता है।[२१]

शिवगीता में लिखा है कि मोक्ष किसी भी जगह रखा हुआ नहीं मिलता। उसे ढूंढने के लिए किसी दूसरे गांव नहीं जाना पड़ता, परन्तु हृदय की अज्ञान ग्रंथि नष्ट होने को ही मोक्ष कहते हैं।[२२]

महर्षि वेदव्यास ने संसार और मोक्ष की परिभाषा बड़ी सुदंर रीति से की है। वे महाभारत में लिखते हैं कि ममता से प्राणी बंधन में पड़ता है और ममतारहित होने पर बंधन रहित होता है।[२३]

## जैनदर्शन :

सुप्रसिद्ध जैन आचार्य उमास्वाति ने अपने 'तत्त्वार्थसूत्र' अथवा मोक्ष शास्त्र के दसवें अध्याय में मोक्ष का वर्णन किया है और पहले नौ अध्यायों में जीव, अजीव, आस्त्रव, बंध, संवर और निर्जरा तत्त्वों का वर्णन किया है।

आत्मा अनादि काल से कर्म के संबंध से परतंत्र है। जैन दर्शन में मिथ्या दृष्टि को ही बंध का कारण माना है। आस्त्रव का संवर करने पर यानी अवरोध करने पर नवीन कर्मों के बंध का अभाव होने से और निर्जरा यानी तपादि द्वारा संचित कर्मों का पूर्ण क्षय होने से समस्त कर्मों से जो आत्यन्तिक मुक्ति होती है, उसे ही 'मोक्ष' या 'निर्वाण' कहा है।

साधना की चौदह भूमिकाओं में से तेरहवीं और चौदहवीं भूमिका पर पहुँचने पर जीव को मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति होती है। साधना की इन भूमिकाओं को ही 'गुणस्थान' कहते हैं। बारहवीं भूमिका के प्रारम्भ में साधक के मोह का क्षय हो जाता है और उसके अन्त में ज्ञानादि निरोधक अन्य कर्म भी क्षीण हो जाते हैं। तेरहवीं भूमिका में आत्मा में विशुद्ध ज्ञान-ज्योति प्रकट होती है। आत्मा की इस अवस्था का नाम सयोगी केवली है। विशुद्ध ज्ञानी होकर भी शारीरिक प्रवृत्तियों से युक्त व्यक्ति को सयोगी केवली कहा जाता है। सयोगी केवली सदेहमुक्त है।

सयोगीकेवली जब स्वदेह से मुक्ति प्राप्त करने के लिए विशुद्ध ध्यान का आश्रय लेकर मानसिक वाचिक और कायिक व्यापारों को रोकता है, तब वह आध्यात्मिक विकास की अन्तिम चौदहवीं अवस्था में पहुँचता है। इस भूमिका को अयोगीकेवली कहा जाता है। इसमें आत्मा उत्कृष्टतम शुक्लध्यान द्वारा सुमेरू पर्वत के समान निष्कंप स्थिति प्राप्त कर, अंत में देहत्यागपूर्वक सिद्धावस्था को पहुँचता है। इसी सिद्धावस्था का नाम परमात्मपद, स्वरूपसिद्धि, मुक्ति, मोक्ष या निर्वाण है। यह आत्मा की सर्वांगीण पूर्णता, पूर्ण कृतकृत्यता और परमपुरुषार्थ की सूचक है। इस स्थिति में आत्मा की आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति होती है और उसे अनंत, अव्याबाध, अलौकिक सुख प्राप्त होता है।

इस प्रकार मोक्ष या निर्वाण की अवस्था में सारे बंधन नष्ट हो जाते हैं। दैहिक, वाचिक और मानसिक सारे दोष निःशेष हो जाते हैं। समग्र वासनाओं और क्लेशों की निरवशेष शान्ति ही निर्वाण का परम लक्ष्य है।[२४] मोक्ष या 'निर्वाण' श्रमण संस्कृति का अद्भुत और अनुपम आविष्कार है। भारतीय महर्षियों ने साधना के इस चरम विन्दु को 'निर्वाण' या मुक्ति के रूप में अभिव्यक्त किया है।

जैन दर्शन के अनुसार लोकाग्र पर एक ऐसा ध्रुवस्थान है, जहाँ जरा-मृत्यु, आधि-व्याधि और वेदना आदि कुछ नहीं है। उसके निर्वाण, अव्याबाध, सिद्धपद, लोकाग्र, क्षेम, शिव और अनाबाध जैसे अनेक नाम हैं। ऐसा स्थान प्राप्त करने के लिए साधक साधना करते हैं।[२५] जन्म मरण का अन्त करने वाले मुनि जिस 'मोक्ष' स्थान को प्राप्त कर शोक-चिन्ता से मुक्त होते हैं ऐसा 'मोक्षस्थान' लोकाग्र पर स्थित है। साधना के बिना वहाँ पहुँचना अत्यन्त कठिन है।[२६] सब दुःखों से मुक्त होने के लिए साधक संयम और तप द्वारा पूर्व कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करते हैं।[२७]

## मोक्ष-मीमांसा

विविध दार्शनिक ग्रंथों और शास्त्रों में निर्वाण को ही मुक्ति, मोक्ष, सिद्धि, परमात्मलीनता, अनंत की प्राप्ति, अहंशून्यता आदि विविध नामों से निर्देशित किया गया है।

'निर्वाण' का शब्दशः अर्थ जिसमें से वायु (वात) निकल गई है।[२८] जिस प्रकार आक्सीजन नामक वायु के अभाव में दीप का बुझ जाना यानी दीप का निर्वाण है, उसी प्रकार आत्मा के विकारों का समाप्त हो जाना ही आत्मा का निर्वाण है। अगर दीप पर किसी ने फूंक मारी, तो दीप की ज्योति बुझ जाती है? वह कहाँ जाती है? वस्तुतः वह ज्योति विराट में से आई थी और विराट में ही विलीन हो गई।

जैन दर्शन में कहना है कि[२९] दीप का बुझ जाना उसकी ज्योति का नष्ट होना नहीं है, परन्तु उसका रूपान्तर या परिणामान्तर होना है। क्योंकि जो है वह नष्ट नहीं हो सकता। इसी प्रकार जीव का निर्वाण होना, उसका अस्तित्वहीन होना नहीं हैं, परंतु अव्याबाध स्वभाव-परिणति को प्राप्त करना है। वैदिक परिभाषा में ऐसा कहा जाएगा कि- आत्मा का अहं, ममत्व, देह आदि सब छोड़कर विराट में यानी परमात्मा में मिल जाना ही उसका निर्वाण है।

जब आत्मा विराट में मिल जाता है, तब जीवन में कोई भी शेष विकार नहीं रहते। ऐसे विलीन होने को नाश नहीं कहा जा सकता, यह तो आत्मा का अपने विराट शुद्ध स्वरूप में लीन होना है।[३०]

आचारांगसूत्र में निर्वाण का अर्थ 'स्वस्वरूप में स्थित होना' ऐसा है।[३१] इसके लिए आत्मा का विकार, आवरण और उपाधि इनसे रहित होना अत्यफत आवश्यक है। जैन दर्शन में निर्वाण का यही अर्थ किया गया है।[३२] सब कर्मविकारों से रहित होना।[३३] सब संतापों से रहित होकर आत्यंतिक सुख प्राप्त करना[३४], सब द्वंद्वों से रहित होना, यही निर्वाण है; क्योंकि जब तक आत्मा में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहंकार, माया आदि विकार हैं, तब तक निर्वाण प्राप्त नहीं होता। निर्वाण के लिए जैन दर्शन की पहली शर्त है- सब कर्मों का क्षय होना।[३५] राग, द्वेषादि से क्षय से कर्मों का क्षय होता है। सब कर्मों का क्षय होने पर[३६] आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित होता है[३७] और परम शांति प्राप्त करता है।[३८] पुनः पुनर्जन्म नहीं होता। नाम, रूप, आकार, साथ ही शरीरजनित सुख-दुःख, राग, द्वेष, मोह, अहंकार, जन्म-मरण, जरा, व्याधि, भूख, प्यास, निद्रा, ठंड, उष्णता आदि भी नहीं होते।

जब शरीर हमेशा के लिए नष्ट होता है, तब शरीर के कारण होने वाले[३९], मैं, मेरा, रागद्वेष, आदि विकार अपने आप क्षय हो जाते हैं। सभी व्याधियाँ शरीर के 'मैं' के निकट जमा होती हैं, इसलिए जो सर्वथा अशरीरी होता है, वह सब व्याधियों से मुक्त हो जाता हैं।[४०] जहाँ जन्म-मरण नहीं होता, वहाँ आवागमन भी नहीं होता।[४१] इसलिए वीतराग पुरुष राग-द्वेष को ही समाप्त करके परमात्म पद की प्राप्ति करते हैं और निर्वाण को प्राप्त होते हैं। "सिद्धगति" नामक स्थान में अपने आत्मस्वरूप में हमेशा के लिए स्थित होते हैं। वहाँ से वापिस आना नहीं होता[४२] , वहाँ की स्थिति शिव[४३] (निरूपद्रव), अचल, अनंत, अक्षय, अव्याबाध और अपुनरावृत्ति की है। निरूपद्रव इसलिए कहा है कि शरीर के कारण ही सब उपद्रव होते हैं। शरीर ही वहाँ नहीं इसलिए उपद्रव भी नहीं, अचल-अवस्था यह मौन और शांति की सूचक है। जहाँ शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि होते हैं, वहाँ हलचल होती है, संघर्ष होता है। जहाँ ये सारे मूर्त पदार्थ नहीं हैं,

वहाँ शून्य, मौन भाव और अखंड शांति होगी। वहाँ किसी भी प्रकार के विकल्प नहीं उठेंगे और आत्मा स्व-स्वरूप में पूर्णतः स्थिर होगा। इस निष्कर्ष अवस्था को जैन दर्शन ने "शैलेषी अवस्था"[४४] कहा है। यहाँ केवल ज्ञान ही शेष रहता है।[४५]

'केवल ज्ञान' यानी जहाँ ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थ रूप भेद ज्ञान नहीं, वरन् केवल ज्ञान ही होता है। वह अनंत ज्ञान ही दर्शन और चारित्र को अपने में समाविष्ट कर लेता है। निर्वाण प्राप्त हुआ व्यक्ति सर्वज्ञ और निःसंशय तो पहले से ही होता है। फिर सिर्फ केवलज्ञान, केवल दर्शन, केवल सौख्य और केवल वीर्य (शक्ति) विद्यमान रहते हैं, और इसे ही 'अनन्त चतुष्टय' कहते हैं।[४६] बाकी बचे अस्तित्व, अमूर्तत्व और सप्रदेशत्व आदि जो गुण हैं, वे भी आत्मा के निजगुण हैं। ये ही बातें 'धम्मद' में दिखाई हैं।[४७]

जैन दर्शन में, मोक्ष में आत्मा की स्थिति अव्याबाध[४८] बताई गई है। तात्पर्य यह है कि निर्वाण होने पर सब बाधाओं का अभाव होता है। क्योंकि आत्मा के निजगुण वहाँ पूर्णरूप से प्रकट होते हैं। 'निर्वाण' आत्मा की परिपूर्ण विकसित दशा है। परंतु उसका[४९] कथन शब्दों द्वारा किया नहीं जा सकता। इन्द्रियों द्वारा वह ग्रहण भी नहीं किया जा सकता[५०]। इसलिए विविध दर्शन उसे अनिर्वचनीय[५१], अव्याकृत, अव्याख्येय और अमूर्त होने से अग्राह्य कहते हैं।

निर्वाण होने पर जो स्थान आत्मा को स्वाभाविक रूप से ऊर्ध्वगमन के कारण प्राप्त होता है[५२] उसे जैन शास्त्र में "सिद्धशिला" तथा गीता में "परमधाम, मोक्ष, मुक्तिस्थान" आदि नामों से संबोधित किया गया है। निर्वाण यह आत्मा की पूर्ण विकसित स्थिति है, इसमें कोई शंका नहीं है। इसलिए जीवन का अंतिम ध्येय और चरमप्राप्ति निर्वाण ही है।

जिसे अनंत ज्ञान प्राप्त होता है, उसे सूर्य, चंद्र आदि प्रकाशयुक्त पदार्थों की आवश्यकता नहीं रहती। जमीन, पानी, हवा आदि की भी ज्ञान के लिए आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि वहाँ केवल ज्योतिर्मय चैतन्य है, आत्मद्रव्य है, शरीर नहीं है।[५३]

**द्रव्यमोक्ष और भावमोक्ष** : मोक्ष के दो भेद बताए गए हैं : १) द्रव्यमोक्ष और २) भावमोक्ष।

जीव जब घाती कर्मों से मुक्त होता है, तब उसे भावमोक्ष की प्राप्ति होती है ज्ञान के लिए और जब अघाती कर्मों को नष्ट करता है, तब उसे द्रव्यमोक्ष की प्राप्ति होती है।

द्रव्य और भाव इन भेदों से मोक्ष दो प्रकार का है। क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन और यथाख्यात चारित्र नामक जिन परिणामों से घाती कर्म आत्मा से दूर

किए जाते हैं, उन परिणामों को भाव मोक्ष कहते हैं और सारे कर्मों का आत्मा से अलग होना इसे द्रव्य मोक्ष कहते हैं।

कर्म निर्मूल करने में समर्थ ऐसा शुद्धात्मा उपलब्धिरूप (निश्चयरत्नत्रयात्मक) जीव परिणाम 'भावमोक्ष' है और उस भावमोक्ष के निमित्त से जीव और कर्म के प्रदेश का पृथक् होना 'द्रव्यमोक्ष' है।

सामान्यतः मोक्ष एक ही प्रकार का है, परन्तु द्रव्य, भाव आदि की दृष्टि से अनेक प्रकार का है। भावमोक्ष, केवलज्ञान, जीवन्मुक्ति, अर्हतपद ये सारे पर्यायवाची शब्द हैं।

शुद्ध रत्नत्रय की साधना से घाती कर्मों की निवृत्ति होती है, उसे भावमोक्ष कहते हैं। वस्तुतः कषाय भावों की निवृत्ति ही भावमोक्ष है।

जो जीव संवर से युक्त है और समस्त कर्मों की निर्जरा करते समय वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुकर्म की भी निर्जरा करता है और वर्तमान पर्याय का परित्याग करता है, उसे 'द्रव्यमोक्ष' होता है।

कर्मों का सर्वथा क्षय 'द्रव्यमोक्ष' है और उन कर्मों के क्षय होने के कारणरूप जो आत्मा के परिणाम यानी संवरभाव (कर्मों को रोकना ), कर्मों की अबन्धकता, शैलेशीभाव अर्थात् आत्मा की निश्चल अवस्था एवं शुक्लध्यान ही 'भावमोक्ष' है। सिद्धत्व परिणति भी 'भावमोक्ष' हैं।[५४]

जीव के आस्रव का कारण मोह एवं तज्जन्य राग-द्वेष है। जब इन तीनों अशुद्ध भावों का विनाश होता है, तब ज्ञायक स्वरूप आत्मा के आस्रव भावों का अवश्य विनाश होता है। जब ज्ञानी के आस्रव भाव का अभाव होता है, तब कर्मों का नाश होता है। कर्मों का नाश होने पर निरावरण सर्वज्ञ-सर्वदर्शीपद प्रकट होता है और अखंडित अतीन्द्रिय अनंत सुख का अनुभव होता है। इसी का नाम 'जीवन्मुक्ति या भावमोक्ष' है।

जो आत्मा संवर से युक्त है और अपने सब पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट करता है, साथ ही जिस आत्मा के वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुकर्म समाप्त हो गये वह आत्मा इन अघाती कर्मों के समाप्त होने से संसार को छोड़ देता है, इसलिए वह 'द्रव्यमोक्ष' है।[५५]

**कर्मक्षय का क्रम :**

कर्मों को नष्ट किए बगैर कोई भी आत्मा सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए अनुक्रम से किन कर्मों को कैसे क्षय करना है इसका विवेचन जैन आगमों में इस प्रकार है -

जीव राग-द्वेष और मिथ्या दर्शन पर विजय प्राप्त करके सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करता है और आठ प्रकार के कर्म को क्षय

करने की प्रक्रिया प्रारंभ करता है।[४६] सबसे पहले क्रमशः मोहनीय कर्मों की अठाईस प्रकृतियों का क्षय होता है। बाद में पाँच प्रकार के ज्ञानावरणीय, नौ प्रकार के दर्शनावरणीय और पाँच प्रकार के अन्तराय कर्म इन तीनों कर्मों की प्रकृतियों का एक ही समय में क्षय होता है। उसी समय परिपूर्ण आवरणरहित, विशुद्ध और लोकालोक प्रकाशक ऐसा केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त होता है।[४७]

केवलज्ञान और केवलदर्शन इनकी प्राप्ति होते ही जीव के ज्ञानावरणीय आदि चार घाती कर्मों का नाश होता है और सिर्फ वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र ये चार अघाती कर्म शेष रहते है।[४८]

इसके बाद आयु का जब अंतरमुहूर्त (दो घटिका अर्थात अड़तालीस मिनट से कम) जितना समय शेष रहता है, तब मन, वचन एवं काया के स्थूल व्यापार का निरोध करके केवलज्ञानी शुक्ल ध्यान में स्थित होते हैं। बाद में वे मन, वचन एवं काया के सूक्ष्म व्यापार और श्वासोच्छ्वास का निरोध करते है। उसके बाद में पाँच ह्रस्व अक्षरों का उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतने समय तक शैलेशी अवस्था में स्थित हो चाते हैं। उसमें स्थित होते ही अवशेष, आयुष्य, नाम, गोत्र एवं वेदनीय कर्म एक ही समय में नष्ट हो जाते है।[४९] इस प्रकार वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाते हैं और सब दुःखों का अंत करते हैं।

## कर्मों की निर्जरा :

लोक के अग्रभाग में विराजित सिद्ध भगवंत ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों तथा भाव कर्मों से रहित, अनन्त सुखरूप अमृतत्व का पान कराने वाली शांति सहित और नवीन कर्मबंध के कारणभूत मिथ्यादर्शन आदि से रहित होते हैं। वे अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख एवं शक्ति ऐसे अनन्तचतुष्टय से तथा अव्याबाध, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व-इन आठ गुणों से युक्त और कृतकृत्य (जिसको कोई भी कार्य करना बाकी नहीं रहा) होते हैं।

कर्मबंधन के कारण जीव जन्म-मरण करता हुआ संसार में परिभ्रमण करता है। नवीन कर्मबंध के हेतुओं का अभाव होने से तथा निर्जरा से पूर्वबद्ध कर्मों का आत्यांतिक क्षय होने से मोक्ष प्राप्त होता है। संसारी जीवों को नवीन कर्मों का बंध और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा क्रम चलता ही रहता है और उसके कारण शुद्ध आत्म-स्वरूप की प्राप्ति नहीं हो पाती है। परन्तु पूर्वबद्ध कर्म की निर्जरा के साथ नवीन कर्मबंध के हेतुओं का अभाव होने से जीव आत्मोपलब्धि प्राप्त करता है और अनन्त ज्ञान-दर्शनादि रूप आत्म-स्वरूप को प्राप्त करता है।

घाती कर्मों की निर्जरा सम्यकत्व प्राप्ति से प्रारंभ होकर सर्वज्ञ अवस्था की प्राप्ति पर समाप्त होती है। इसमें भी पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर परिणामों में

क्रमशः आत्म विशुद्धि सविशेष रूप से बढ़ती जाती है। परिणामों में जितनी विशुद्धि अधिक रहेगी, उतनी ही कर्म-निर्जरा भी विशेष होगी अर्थात् पूर्व की अवस्था में जितनी कर्म निर्जरा होती है, उससे आगे की अवस्था में परिणामों की विशुद्धि अधिकाधिक होने से कर्म निर्जरा भी बड़े पैमाने में बढ़ती जाती है और इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते आखिर सर्वज्ञ अवस्था की प्राप्ति के समय निर्जरा का परिमाण सब से अधिक होता है।[६०]

## कर्म का अन्तः

जिस प्रकार बीज जल जाने के बाद पौधा उत्पन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार कर्मरूपी बीज जल जाने पर संसाररूपी पौधा उत्पन्न नहीं होता।[६१] जिसने प्राप्त हुए ईंधन को जला डाला है और जिसको नए ईंधन की प्राप्ति नहीं होती है ऐसी अग्नि अन्ततः निर्वाण को पहुँचती है अर्थात् बुझ जाती है, उसी प्रकार मुक्त आत्मा सब कर्मों का क्षय करके निर्वाण को प्राप्त करता है, मोक्ष हासिल करता है।[६२]

## मोक्ष के नाम[६३] :

मोक्ष के परमपद, निर्वाण, सिद्धपद, शिव आदि अनेक नाम हैं। मोक्ष के ये सब नाम गुण-निष्पन्न हैं यथा –

परमपद : मोक्ष से ऊँचा पद कोई भी नहीं है इसलिए उसे 'परमपद' कहा है।

निर्वाण : मोक्ष के कारण कर्मरूपी दावानल शान्त हो जाता है, इसलिए उसे 'निर्वाण' कहा है।

सिद्ध : संपूर्ण रूप से कृतकृत्य होने से उसे 'सिद्धपद' कहा जाता है।

शिव : किसी भी प्रकार का उपद्रव न होने से मोक्ष को 'शिव' कहा जाता है।

मोक्ष : 'मोक्ष' का अर्थ जहाँ मुक्त आत्माएँ रहती हैं वह स्थान ऐसा नहीं है, वरन् कर्मपाश का विमोचन ही 'मोक्ष' है।

## सिद्ध स्थान का स्वरूप :

जैन आगमों में और जैन ग्रंथों में जगह-जगह सिद्ध स्थान का स्वरूप वर्णित है।

जहाँ जन्म-जरा-मृत्यु नहीं, भय-शोक नहीं, पीड़ा-रोग नहीं, निद्रा नहीं, आहार-विहार नहीं, शत्रु-मित्र नहीं, राजा-नौकर नहीं, सेठ-सेनापति नहीं, खाना-पीना नहीं, ओढ़ना नहीं, बिछौना नहीं, लेना-देना नहीं, हँसना नहीं, खेलना नहीं, घूमना-फिरना नहीं, न्याय-अन्याय नहीं, दिन-रात नहीं, माया-ममता नहीं, राग-द्वेष नहीं, कलह नहीं, गड़बड़ी नहीं, वाद-विवाद नहीं, पढ़ना-पढ़ाना नहीं, अर्थ-अनर्थ नहीं, विचार-प्रचार नहीं, व्रत-बंधन नहीं, गुरु-शिष्य नहीं, आधि-व्याधि

नहीं, उपाधि नहीं, उसी प्रकार वहाँ सूर्य, चन्द्र और तारे भी नहीं हैं, बिजली नहीं और अग्नि भी नहीं है।[६४]

गौतम बुद्ध ने भी उदान में निर्वाण का ऐसा ही स्वरूप कहा है। उन्होंने कहा है कि वहाँ जल-स्थल नहीं, वायु-प्रकाश नहीं, देश-काल नहीं, शून्यता निर्वोध नहीं, सूर्य-चाँद नहीं, इहलोक-परलोक नहीं, उसे मैं आगमन भी नहीं कह सकता और निर्गमन भी नहीं कह सकता। वहाँ जन्म-मृत्यु नहीं, गति-स्थिति नहीं, आधार नहीं, अखंड प्रवाह नहीं, यही दुःख से निवृत्ति की स्थिति है। वह स्थानातीत है, कालातीत है, क्योंकि वह परिवर्तनहीन है। वहाँ कर्म और दुःख नहीं है।[६५]

## मोक्ष-मार्ग के संबंध में मान्यनाएँ :

उपयोग स्वरूप और श्रेयोमार्ग से प्राप्तव्य मोक्ष के स्वरूप को जानने की इच्छा वैसे ही होती है, जैसे आरोग्य लाभ के लिए रोगी चिकित्सा विधि की खोज करता है। वस्तुतः आत्मद्रव्य की सिद्धि होने पर ही मोक्षमार्ग की खोज होती है।[६६]

धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में से मोक्ष यही अंतिम और प्रमुख पुरुषार्थ है।[६७]

मोक्ष के संबंध में सारे विचारक एकमत है। सभी दुःखनिवृत्ति को ही मोक्ष मानते हैं, परन्तु मोक्ष के मार्ग के बारे में मतभेद हैं। जिस प्रकार अलग-अलग दिशाओं से पाटण शहर में जाने वाले यात्रियों का पाटण शहर के बारे में वैमत्य नहीं होता, परन्तु अपनी दिशा के अनुसार उसके मार्ग के बारे में मतभिन्नता होती है, उसी प्रकार विचारको का सर्वोच्च्य लक्ष्य मोक्ष के संबंध में वैमत्य नहीं होता, परंतु उसके मार्ग के बारे में मतभिन्नता होती है। कुछ विचारक ज्ञान को ही मोक्ष मार्ग मानते हैं और कुछ ज्ञान और विषयविरक्तिरूप वैराग्य को मोक्षमार्ग मानते हैं। कुछ क्रिया (कर्म) को ही मोक्ष मार्ग मानते हैं। ऐसे क्रियावादियों के अनुसार नित्यक्रम करने पर ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।[६८]

मोक्ष के स्वरूप के बारे में विचारकों की अनेक कल्पनाएँ हैं। बौद्ध रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कंधों के निरोध को ही मोक्ष मानते हैं। सांख्य-प्रकृति और पुरुष इनका भेद जानने पर शुद्ध चैतन्य स्वरूप में स्थिर होने को मोक्ष मानते हैं। नैयायिक बुद्धि, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, अधर्म और संस्कार इन आत्मा के विशेष गुणों के नाश को मोक्ष कहते हैं। फिर भी कर्मबंधन के विनाश के बाद होनेवाली स्वरूप प्राप्ति ही मोक्ष है इस संबंध में सारे विचारकों में एकमत है। मोक्ष अवस्था में कर्मबंध का समूल नाश होता है, यह बात सारे विचारक मानते हैं।[६९]

## मोक्षमार्ग

यात्री जब यात्रा के लिए निकलता है, तब अपने साथ मुख्यतः तीन वस्तुएँ लेता है - १) भोजन २) कपड़े और ३) बिछोना। इन तीन वस्तुओं में से एक भी वस्तु की कमी होगी, तो उसकी यात्रा सुखरूप नहीं होगी। उसी प्रकार मोक्ष की यात्रा के लिए साधक को तीन बातों की आवश्यकता है, वे हैं - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र। इनमें से एक भी बात नहीं होगी, तो साधना-पथ शान्तिपूर्ण नहीं हो सकेगा। साधना-पथ पर आरूढ़ मुमुक्षु को इन तीनों अलौकिक रत्नों की आवश्यकता है।

हृदय, बुद्धि और शरीर के समान साधना के क्षेत्र में भी रत्नत्रय की आवश्यकता है। अपने जीवन में जिस प्रकार हृदय, बुद्धि और शरीर इन तीनों की अपने स्थान पर आवश्यकता है, उसी प्रकार साधनामय जीवन में हृदय के द्वारा साध्य समयग्दर्शन, बुद्धि के द्वारा साध्य सम्यग्ज्ञान और शरीर के सब अंग-उपांगों द्वारा साध्य सम्यक्-चारित्र की नितान्त आवश्यकता है। एक का भी अभाव होगा, तो भी नहीं चलेगा। अगर शरीर अस्वस्थ होगा, तो बुद्धि और हृदय में गड़बड़ी होगी, वे अच्छी तरह से काम नहीं कर सकेगें। अगर बुद्धि में विकार आए तो व्यवहार में पागलपन और यदि शरीर तथा हृदय निष्ठापूर्वक काम नहीं करेगे तो भावनाएं विकृत होंगी, पुनः यदि व्यक्ति स्वार्थी और क्रूर बना, तो बुद्धि और शरीर भी अपना कार्य व्यवस्थित रूप से नहीं कर सकेंगे। इसी प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों का साधनामय जीवन में व्यवस्थित रूप से होना अत्यंत जरूरी है। एक के भी अभाव में साधना नहीं हो सकेगी।

साधनामय जीवन में अगर केवल चारित्र ही होगा और ज्ञान, दर्शन नहीं होंगं, तो मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकेगी। अंधा और लंगड़ा दोनो मनुष्य एक-दूसरे के सहकार से योग्य जगह पहुँच सकेंगे। इसी प्रकार ज्ञान, दर्शन ओर चारित्र इन तीनों के संयोग से ही मोक्ष मिल सकता है। अकेला ज्ञान लंगड़ा है, वह चलने में असमर्थ है। अकेला चारित्र अंधा है, उसे रास्ता नहीं दिखाई देता। अकेला दर्शन भी व्यर्थ है। तीनों के संयोग से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की आवश्यकता है।[७१]

सम्यक् दर्शन के बगैर ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान हो नहीं सकता। वह अज्ञान ही रहता है। ज्ञान के बगैर चारित्र जीवन में सम्यक् रूप से नहीं आ सकता। चारित्ररहित को कर्मबंधन से मुक्ति नहीं मिलती, और मुक्त हुए विना निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता। ज्ञान के द्वारा हेय, ज्ञेय और उपादेय का बोध होता है। दर्शन से श्रद्धा होती है और चारित्र से तत्त्व जीवन में आते हैं।

संसार के त्रिविध तापों से मुक्त होने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र- ये तीनों अत्यंत आवश्यक हैं। ये तीनों समन्वित रूप से मोक्ष मार्ग हैं।

**सम्यक्त्व :**

सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र इन तीनों मोक्षमार्गों को जानने से पहले 'सम्यक्त्व' का अर्थ जानना अत्यंत आवश्यक है। जिस प्रकार कमलों से झील, चंद्रमा से रात, कोयल से बसन्त ऋतु शोभायमान होती है, उसी प्रकार धर्म का आचरण सम्यक्त्व से सुशोभित होता है।

जिस प्रकार बुनियाद (नींव) के बगैर इमारत खड़ी नहीं रह सकती, बारिश के बगैर खेती नहीं हो सकती, सेनापति के बगैर सेना लड़ नहीं सकती, उसी प्रकार सम्यक्त्व के बगैर धर्म का आचरण यथार्थ रूप से नहीं होता। सम्यक्त्व रहित ज्ञान से और सम्यक्त्वरहित चारित्र से मोक्ष नहीं मिलता। जब आत्मा सम्यक्त्वयुक्त होता है, तभी उसका विकास होने लगता है।

सम्यक् पद को "त्व" प्रत्यय लगने से सम्यक्त्व शब्द बना है। सम्यक्त्व के सम्यक्ता, आत्मा की विशुद्धि, शुद्ध परिणाम आदि अर्थ होते हैं। जीव, अजीव आदि नौ तत्त्वों को जो यथार्थ रूप से जानकर उनपर श्रद्धा रखता है, उसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है।[७२] जीव आदि नव-पदार्थों पर स्वयं या दूसरे के उपदेश से भावपूर्वक श्रद्धा रखना सम्यक्त्व है।[७३] जिस प्रकार कमलपत्र पानी से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सत्पुरुष सम्यक्त्व के प्रभाव से कषाय और विषय से लिप्त नहीं होता।[७४] सम्यक्त्वहीन व्यक्ति ने हजारों-करोड़ वर्षों तक उग्र तप किया हो तो भी उसे बोधिलाभ प्राप्त नहीं होता।[७५]

सम्यक्त्व का शब्दशः अर्थ है सच्चाई। ज्ञान और चारित्र में जो सच्चाई है, वही सम्यक्त्व है। सच्चाई के बगैर ज्ञान और चारित्र का कोई मूल्य नहीं हैं। सचाई यह अतीव मूल्यवान है। सम्यक्त्व का दूसरा नाम है सम्यग्दर्शन। उसका अर्थ है सच्ची श्रद्धा। सच्ची श्रद्धा यानी विवेकपूर्वक श्रद्धा। कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य अथवा हेय-उपादेय पर विवेकपूर्वक श्रद्धा से साधना के सन्मार्ग में जो दृढ़विश्वास होता है, उसके प्रकट होते ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान बन जाता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इन दोनों की सहायता से सम्यक् चारित्र का विकास होता है, जिससे मोक्ष प्राप्त होता है।

देव के प्रति देवबुद्धि, गुरु के प्रति गुरुबुद्धि और धर्म के प्रति धर्म बुद्धि शुद्ध प्रकार से होने पर वह 'सम्यक्त्व' होता है।[७६] संसार में सम्यक्त्वरूपी रत्न से अधिक मूल्यवान दूसरा रत्न नहीं है। सम्यक्त्वरूपी मित्र से श्रेष्ठ दूसरा मित्र नहीं है। सम्यक्त्वरूपी बंधु से श्रेष्ठ दूसरा बंधु नहीं। सम्यक्त्व का लाभ ही सब से बड़ा

लाभ है। जो भव्य प्राणी अन्तर्मुहूर्त (अड़तालीस मिनट से कम) के लिए भी निर्मल सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, वह चिरकाल तक संसार में नहीं भटकता। उसे अन्ततः मोक्ष प्राप्त होता ही है।[७७]

जैन धर्म में सम्यक्त्व पर बहुत बल दिया गया है। सम्यक्त्व यह आत्मा का गुण है। सम्यक्त्व यह बीज है। जिस प्रकार बीज के बगैर अंकुर नहीं फूट सकता और बाद में वृक्ष भी खड़ा नहीं रहता, उसी प्रकार सम्यक्त्व के अलावा जितनी क्रिया है या जितना धर्मकार्य है, वह सब व्यर्थ है। सम्यक्त्व का सरल अर्थ है- विवेक दृष्टि। प्रत्येक कार्य में विवेक चाहिए। सम्यक्त्व का दूसरा अर्थ है - श्रद्धा। देव, गुरू और धर्म इनपर पूर्ण विश्वास ही 'सम्यक्त्व' है।

सम्यक्त्व के विपरीत मिथ्यात्व है। देव, गुरु और धर्म इनमें इच्छित गुण न होने पर भी उन्हें देव, गुरु और धर्म के रूप में स्वीकार करना यह मिथ्यात्व है। जिस मनुष्य में सम्यकत्व होता है, उसका अंतःकरण दयालु और परोपकार से युक्त होता है। संयत, नियमित और नियंत्रित जीवन यही श्रेष्ठ जीवन है। जो अपनी अनियंत्रित इच्छानुसार चलता है, इन्द्रियों की अमर्यादित वृत्तियों का स्वच्छन्द उपयोग करता है, उसका भविष्य उज्ज्वल नहीं है। वह दुःखों के भयंकर परिणामों से बच नहीं सकता। राग, द्वेष और मोह यही संसार-परिभ्रमण का मूल है, इसलिए उनसे दूर रहकर ही अपने शाश्वत लक्ष्य 'मुक्ति' तक पहुँचा जाता है।

सम्यक्त्व यह मुक्ति का एकमेव साधन है। जीवादि नवतत्वों के सम्बन्ध में भावपूर्ण श्रद्धा यही 'सम्यक्त्व' है।

सम्यक्त्व के निम्नलिखित दस भेद हैं -

| | | | |
|---|---|---|---|
| १) | निसर्गरुचि | २) | उपदेशरुचि |
| ३) | आज्ञारुचि | ४) | सूत्ररुचि |
| ५) | बीजरुचि | ६) | अभिगमरुचि |
| ७) | विस्ताररुचि | ८) | क्रियारुचि |
| ९) | संक्षेपरुचि | १०) | धर्मरुचि |

**१) निसर्गरुचि :** स्वविवेक से या स्वयं के यथार्थ ज्ञान से जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवरादि तत्त्वों के प्रति रुचि को (श्रद्धा को) 'निसर्गरुचि' कहते हैं।

**२) उपदेशरुचि:** अन्य छद्मस्थ या अर्हत् व्यक्ति के उपदेश से जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धा रखने को 'उपदेशरुचि' कहते हैं।

**३) आज्ञारुचि:** जिसके राग, द्वेष, मोह और अज्ञान नष्ट हो गये हैं, ऐसी व्यक्ति की आज्ञा पालन में निष्ठा रखना, इसे 'आज्ञारुचि' कहते हैं।

४) **सूत्ररुचि :** अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य सूत्रों का अवगाहन करके सम्यक्त्व की प्राप्ति करने को ''सूत्ररुचि'' कहते हैं।

५) **बीजरुचि:** पानी में तेल की बूँद की तरह अनेक पदों में व्यापने वाले सम्यक्त्व को 'बीजरुचि' कहते हैं।

६) **अभिगमरुचि:** ग्यारह अंग, प्रकीर्णक, दृष्टिवाद आदि श्रुतज्ञान के ग्रन्थों के अर्थ को समझकर सम्यक्त्व प्राप्त करने को 'अभिगमरुचि' कहा जाता है।

७) **विस्तारुचि:** समस्त प्रमाणों और नयों द्वारा द्रव्य की सभी अवस्थाओं को जानना यह 'विस्ताररुचि' हैं।

८) **क्रियारुचि:** दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, समिति, गुप्ति आदि क्रियाओं में होनेवाली भावयुक्त रुचि को 'क्रियारुचि' कहते हैं।

९) **संक्षेपरुचि:** थोड़े से ज्ञान से ही सम्यक्त्व प्राप्त होना इसे 'संक्षेपरुचि' कहते हैं। निर्ग्रंथ प्रवचन में अकुशल होना और मिथ्या प्रवचन से तनभिज्ञ होना, परंतु कुदृष्टि का आग्रह न होने से अल्पबोध की तत्त्वश्रद्धा 'संक्षेपरुचि' है।

१०) **धर्मरुचि :** जिनकथित अस्तिकाय धर्म, (धर्मास्तिकाय आदि अस्तिकायों के गुणस्वभावादि धर्म) श्रुतधर्म और चारित्रधर्म इनपर श्रद्धा रखना 'धर्मरुचि' है।

परमार्थ को जानना, परमार्थ के तत्त्वद्रष्टा की सेवा करना, व्यापन्नदर्शनी (सम्यक्त्व से भ्रष्ट) और कुदर्शनी (मिथ्यात्वी) इनसे दूर रहना, यही सम्यक्त्व में श्रद्धा रखना है। चारित्र सम्यक्त्व के बिना नहीं हो सकता, परंतु सम्यक्त्व चारित्र के बिना हो सकता है। सम्यक्त्व और चारित्र दोनों एकत्रित भी हो सकते हैं। चारित्र के पूर्व सम्यक्त्व की आवश्यकता होती है। ज्ञान सम्यक्त्व के बिना नहीं हो सकता। ज्ञान के बिना चारित्र और सद्गुणों के अभाव में मोक्ष (कर्मक्षय) प्राप्त नहीं हो सकता और मोक्ष के बिना निर्वाण की (अनंत चिदानंद स्वरूप की) प्राप्ति नहीं होती।[७८]

## सम्यक्त्व के दोष :

**सम्यक्त्व के गुण और दोष भी हैं। उन दोषों के पाँच भेद हैं। वे इस प्रकार हैं - १. शंका, २. कांक्षा, ३. विचिकित्सा, ४. मिथ्यादृष्टि प्रशंसा, और ५. मिथ्यादृष्टि संस्तव।**

१) शंका - वीतराग भगवान के उपदेशों में शंका होना।

२) कांक्षा - राग-द्वेष से युक्त अन्य मतों की आकांक्षा करना।

३) विचिकित्सा - मलिन-देह साधुओं को देखकर घृणा करना।
४) मिथ्यादृष्टि प्रंशसा - जिनकी दृष्टि दूषित है, उनकी प्रशंसा करना।
५) मिथ्यादृष्टि सगं - मिथ्यादृष्टि के साथ रहना, उनकी संगति करना।

इन पाँच दोषों का त्याग करना चाहिए। उसके बाद समयग्दर्शन की प्राप्ति होती है।[७६]

**सम्यक्त्व के आठ अंग** : सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए आठ बातों की अत्यंत आवश्यकता है। वे इस प्रकार हैं-

१) निः शंका २) निःकांक्षित ३) निर्विचिकित्सा ४) अमूढ़दृष्ट्रि ५) उपगूहन ६) स्थिरीकरण ७) वात्सल्य ८) प्रभावना

**(१) निःशंका** - सम्यग्यदृष्टि जीव निःशंक होते हैं। और उनमें निर्भयता होती है। जो आत्मा कर्मबंधन के कारणों को अर्थात् मिथ्यात्व आदि पापों को नष्ट कर देता है, वह भयरहित हो जाता है। वह तत्त्व पर पूर्ण श्रद्धा रखता है, इसलिए वह निःशंक हो जाता है।

**(२) निःकांक्षित** – सम्यग्दृष्टि जीव संसार-सुख की इच्छा नहीं करता। ऐसी इच्छा अज्ञानी व्यक्ति को ही होती है। ज्ञानी अपनी आत्मा को ही सुखस्वरूप समझता है। धर्म का फल आत्मसुख है, ऐसा वह समझता है। धर्म का सेवन करके उसके बदले में सांसारिक सुख की इच्छा न करना, इसे निःकांक्षितत्व कहते है। सम्यग्दृष्टि हमेशा निःकांक्षित भाव अर्थात् अनासक्त भाव से धर्म की आराधना करता है। इसलिए कहा गया है कि -

चक्रवर्ती की सम्पदा, इन्द्रसरीखे भोग।
काकवीठ सम गिनत है, सम्यग्यदृष्टि लोग।।

सम्यग्दृष्टि आत्मा देवगति के समान सुख की भी इच्छा नहीं करता। जो निरीच्छ होकर आत्मस्वभाव अर्थात् ज्ञाता दृष्टा भाव में ही रहता है, वह निःकांक्षित सम्यग्दृष्टि है।

**(३) निर्विचिकित्सा** – मुनि के शरीर आदि को मल मलिन देखकर घृणा न करना निर्विचिकित्सा है। साधु-साध्वीयों के प्रति श्रद्धा भाव रखना, उनके शरीर में रोग उत्पन्न होने पर उनकी सेवा करना, यही निर्विचिकित्सा है। जो सम्यग्दृष्टि जीव शरीर और आत्मा को भिन्न समझता है, शरीर में बीमारी देखकर भी घृणा नहीं करता, धर्म के संबंध में शंका नहीं रखता, अपितु उसका आदर करता है, वही निर्विचिकित्सक सम्यग्दृष्टि है।

**(४) अमूढ़दृष्टि** – जो आत्मा भोगों में आसक्त नहीं होता तथा मिथ्या देव, मिथ्या गुरू और मिथ्या शास्त्रों में श्रद्धा नहीं रखता है, साथ ही सच्चे देव, सच्चे

गुरू और सच्चे शास्त्रों में सच्ची श्रद्धा रखता है, उसे "अमूढ़ दृष्टि" या "सम्यग्यदृष्टि" ऐसा कहते हैं।

**(५) उपगूहन** – अपने गुणों को और दूसरों के अवगुणों को जो ढंक देता है और आत्मा को निर्मल बनाता है, वह 'उपगूहन' है। स्वयं के गुणों की प्रशंसा हो, साथ ही स्वयं की प्रसिद्धि हो, ऐसी भावना सम्यग्यदृष्टि जीव नहीं रखता। इसी प्रकार दूसरे को निम्न बताने के लिए उसके दोष भी प्रकट नहीं करता। परंतु धर्म की वृद्धि कैसी होगी, सिर्फ यही देखता है। जीव के हित के लिए वह सत्यमार्ग दिखाता है और असत्य मार्ग का निषेध करता है।

**(६) स्थिरीकरण** – जो सम्यग्दृष्टि आत्मा स्वयं को और दूसरो को योग्य मार्ग पर स्थापित करके उनके मन को स्थिर करता है, उसे 'स्थिरीकरण' अंग से युक्त सम्यग्दृष्टि आत्मा कहा जाता है। कोई भी संकट आने पर उसकी धार्मिक भावना शिथिल नहीं होती हो, जो किसी भी परिस्थिति मे धर्म पर दृढ़ रहता हो और यदि कोई दूसरा व्यक्ति धर्म-पालन में शिथिल होता हो, तो उसे भी दृढ़ करता हो, यह 'स्थिरीकरण' है। अनेक प्रकार के उपायों से आत्मा को धर्म में स्थिर करना, धर्मध्यान में दृढ़ रहना, आर्तध्यान न करना, प्रतिकूलता में न घबराना, अनुकूलता में अहंकार न होना, इसे 'स्थिरीकरण' कहा जाता है।

**(७) वात्सल्य** – जिस प्रकार गाय अपने बछड़े पर निस्वार्थ प्रेम करती है, उसी प्रकार स्वधर्मी बंधु पर निस्वार्थ प्रेम करना यह 'वात्सल्य' अंग है। जिस प्रकार गाय प्रतिफल की आशा नहीं रख कर बछड़े पर प्रेम करती है, उसी प्रकार सम्यग्यदृष्टि जीव तन-मन-धन से अपने स्वधर्मी बंधुओं से प्रेम करके उनकी मदद करता है। सम्यग्दृष्टि जीव किसी का भी दुःख नहीं देख सकता। किसी का भी दुःख देखने पर उस दुःख को दूर किए बिना उसे चैन नहीं आता। यही "वात्सल्य" अंग है।

**(८) प्रभावना** – दूसरों के अज्ञान-अंधकार को दूर करके विद्या बल और बुद्धिबल के द्वारा शास्त्रों में कही हुई बातों पर उनका विश्वास दृढ़ करना और अपने सामर्थ्य के अनुसार जैन धर्म का प्रभाव स्थापित करना, यही "प्रभावना" है। अपने धर्म का प्रभाव कैसे बढ़ेगा, सब की आत्माएँ धर्ममय कैसे बन सकेंगी, इसी का विचार सम्यग्दृष्टि करता रहता है। वह स्वयं के ज्ञान, विद्या, वैभव, धन, मन, तन से तथा दान, तप आदि के द्वारा धर्म की प्रभावना करता है।

सम्यक्त्व के इन आठ अंगों द्वारा सम्यग्दृष्टि आत्मा धर्म की प्रभावना करता है, महिमा बढ़ाता है और प्रसिद्धि करता है। जो जिज्ञासु इन आठ अंगों को जानता है, वही मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

इन आठ अंगों का सम्यक् प्रकार से पालन करने वाला जीव पूर्ण सम्यक्त्व का धारक बनता है। सम्यक्त्वी जीव नरक, तिर्यंच, नपुंसक आदि नीच योनि में जन्म नहीं लेता। अतः सम्यक्त्व को दृढ़ बनाना चाहिए।[८०]

जिस प्रकार एक-दो अक्षर अल्पाधिक वाला अशुद्ध मन्त्र विष की वेदना नष्ट नहीं करता उसी प्रकार आठ अंगों से रहित सम्यक्त्व भी संसार का परिभ्रमण नष्ट करने में समर्थ नहीं होता है।[८१] भूतकाल मे जो लोग सिद्ध हुए है और भविष्य में जो सिद्ध होंगे वे सब सम्यक्त्व के कारण से ही होतें है। इस पर से सम्यक्त्व का महत्त्व समझा जा सकता है।[८२]

**सम्यग्दर्शन का स्वरूप :**

'तत्त्व' यानी वस्तु का स्वभाव अथवा वस्तु-धर्म है। उससे युक्त जो पदार्थ है उसे तत्त्वार्थ कहते हैं। ऐसे तत्त्वार्थ नौ हैं। उनके बारे में श्रद्धा रखना यही सम्यग्दर्शन है।

"दर्शन" शब्द का अर्थ सामान्यतः "देखना" ऐसा है। परन्तु यहाँ दर्शन शब्द का अर्थ 'देखना' न होकर 'श्रद्धान्' ऐसा है। क्योंकि यहाँ मोक्ष मार्ग की चर्चा होने से केवल "देखना" यह अर्थ यहाँ योग्य नहीं है।

'तत्त्व' में 'तत्' और 'त्व' ये दो शब्द हैं। 'तत्' यह अन्य पुरुष वाचक(तृतीय पुरुष वाचक) सर्वनाम है और वह किसी वस्तु का दर्शक है। 'त्व' यानी धर्म या स्वभाव। जिस प्रकार अग्नि का स्वभाव उष्णता है, उसी प्रकार ज्ञान यह जीव का स्वभाव है इसलिए ज्ञान या चेतना यह जीव तत्त्व हैं। स्वभावसहित पदार्थों का श्रद्धान् यह सम्यक्-श्रद्धान है । आश्रयभूत वस्तु के विना केवल एकान्त से अद्वैत के समान काल्पनिक तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन नहीं है। इसी तरह स्वभाव की प्रतीति न होते हुए उस वस्तु के सिर्फ पर्यायादि का श्रद्धान् सम्यग्दर्शन नहीं है, वरन् स्वभाव सहित वस्तु का श्रद्धान् ही 'सम्यग्दर्शन' है।[८३]

"सम्यक्" यह एक अव्यय है। "सम्" उपसर्गपूर्वक "अंचु" धातु से सम्यक् शब्द बना है। संस्कृत में इसकी व्युत्पत्ति 'समच्चति इति सम्यक्" इस प्रकार से होती है।[८४] "सम्यक्" पद निर्णय का विशेषण है। क्योंकि निर्णय ही सम्यक् व असम्यक् हो सकता है। पदार्थ स्वयं सम्यक् या असम्यक् नहीं होता, इसलिए उसे 'सम्यक्' विशेषण लगाना अयोग्य है।[८५]

सम्यग्दर्शन आत्मा का एक ऐसा गुण है जिसे प्रत्येक जीव प्रत्यक्ष देख नहीं सकता। आत्मा में प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और अस्तिक्य ये गुण प्रकट होने पर सम्यग्दर्शन का अस्तित्व सिद्ध होता है।[८६]

सम्यग्यदर्शन यह किसी भी जाति या समाज के व्यक्ति को प्राप्त हो सकता है। जिसका हृदय सरल, पवित्र और समभाव से युक्त है, उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है।

सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं - १) सराग सम्यग्दर्शन और २) वीतराग सम्यग्दर्शन।

१) सराग सम्यग्दर्शन - प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिक्य के रूप से जो सम्यग्दर्शन होता है, वह 'सराग सम्यग्दशन' है।

२) वीतराग सम्यग्दर्शन - केवल आत्मविशुद्धिरूप रूप जो सम्यग्दर्शन होता है वह 'वीतराग सम्यग्दर्शन' है।[८७]

सात प्रकृतियों का आत्यन्तिक क्षय होने पर जो आत्मविशुद्धि प्रकट होती है, वह वीतराग सम्यक्त्व है। सराग सम्यग्दर्शन अनुमानगम्य है और वीतराग सम्यग्दर्शन स्वानुभवगम्य है।[८८]

सम्यग्दर्शन के दो भेदों में से सराग सम्यग्दर्शन के निम्नलिखित भेद हैं-

१) प्रशम : राग, द्वेष, क्रोध, आदि कषायों को उत्पन्न न होने देना या जागृत न होने देना और उन्हें जीतने का प्रयत्न करना 'प्रशम' है।

२) संवेग : जन्म, जरा, मृत्यु आदि अनेक दुःखों से व्याप्त संसार के कारण भूत कर्मों का बंध न होने देना संवेग है।

३) निर्वेद : संसार, शरीर और भोग इन तीन बातों से उपरत होना और उनके त्याग की भावना होना निर्वेद है।

४) अनुकंपा : संसार के सब प्राणियों पर दया करना और सब संसारी जीवों को अभयदान देने की भावना रखना अनुकम्पा है।

५) आस्तिक्य : अरिहन्त देव ने जीव आदि नव पदार्थों का जो स्वरूप बताया है उसे मान्य करना और उन पदार्थों को अपने-अपने स्वरूप के अनुसार जानना आस्तिक्य है।

प्रशस्त राग सहित जीव का सम्यक्त्व 'सराग सम्यग्दर्शन' है और प्रशस्त एवं अप्रशस्त दोनों प्रकार के रागरहित क्षीणमोह वीतराग का सम्यग्दशन 'वीतराग सम्यग्दर्शन' है।[८९]

**सम्यक्-दर्शन :**

मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन का प्रथम तथा अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि सम्यक् दर्शन के बिना आगमज्ञान, चारित्र, व्रत, तप आदि सब व्यर्थ हैं।

रत्नत्रय में भी सम्यक् दर्शन अतीव महत्त्वपूर्ण है। सम्यग्दर्शन ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का मूल है। जहाँ सम्यग्दर्शन नहीं है, वहाँ ज्ञान और चारित्र दोनों मिथ्या हैं। प्रत्येक आत्मा में ज्ञान तो होता ही है, परंतु जब

तक सम्यग्दर्शन नहीं होगा, तब तक वह ज्ञान सच्चा ज्ञान नहीं होता। इसलिए सम्यक् दर्शन को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है।

कोई व्यक्ति यदि अर्हत् आदि द्वारा उपदेशित प्रवचनों पर या आप्त एवं उनके द्वारा प्रणीत आगम और नव पदार्थ-इन तीनों पर श्रद्धा रखते हुए विशेष ज्ञान से रहित होने से केवल गुरु की आज्ञा या अर्हत् की आज्ञा से तत्व का श्रद्धान करता हो, तो वह भी सम्यक् दृष्टि है, क्योंकि उसने आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया।[६०]

जिस प्रकार नगर द्वार प्रमुख होता है, चेहरे पर आँखें प्रमुख होती हैं, वृक्ष में मूल प्रधान होता है, उसी प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चार आराधनाओं में सम्यक्त्व का प्रमुख स्थान है।

जिनका दर्शन शुद्ध है, वही शुद्ध है और उसे ही निर्वाण की प्राप्ति होती है। दर्शनविहीन आत्मा इष्ट लाभ अर्थात् मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।[६१]

जिस प्रकार तारों में चन्द्र और पशुओं में सिंह प्रमुख है, उसी प्रकार मुनि और श्रावक धर्मों में 'सम्यक्त्व' प्रमुख है।

यह सम्यग्दर्शन सब दुःखों का नाश करने वाला है। हे जीव जिन प्राणीत सम्यक् दर्शन को अंतरंग भाव से धारण कर, क्योंकि यह सब गुणों में और रत्नत्रय में सारभूत है और मोक्षमंदिर की पहली सीढ़ी है।[६२]

जिस प्रकार भाग्यशाली मनुष्य कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि-रत्न और रसायन को प्राप्त कर मनोवांछित उत्तम सुख की प्राप्ति कर लेता है, उसी प्रकार सम्यक् दर्शन से भव्य जीवों को सब प्रकार के उत्कृष्ट सुख और सब प्रकार के भोगोपभोग स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं। जब जीव को सम्यक् दर्शन प्राप्त होता है, तब वह अत्यंत सुखी होता है।[६३]

तीनों कालों में और तीनों लोकों में जीव को सम्यक्त्व के समान कल्याणकारी कुछ भी नहीं है तथा मिथ्यात्व के समान अकल्याणकारी कुछ भी नहीं है। शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव, प्रताप, विद्या, वीर्य, यश एवं विजय तथा धर्म, अर्थ, काम के साथ ही मोक्ष का साधक होने से मनुष्यों में शिरोमणि है।

भव्यजीवों को सम्यग्दर्शन रूपी अमृत का पान करना चाहिए क्योंकि वह अतुल सुखनिधान है। कल्याण का बीज है। संसार-सागर तर जाने के लिए जहाज है और भव्य जीव ही इसमें यात्रा करने के योग्य है।

सम्यग्दर्शन पापवृक्ष को समाप्त करने के लिए एक कुल्हाड़ी है। वह पुण्यतीर्थों में प्रधान है और उसका जो प्रतिपक्षी मिथ्यादर्शन है उसे जीतने वाला है।

सम्यग्दर्शन यह महान रत्न सब जीवों का आभूषण है, साथ ही मोक्ष प्राप्त होने तक आत्मकल्याण करने में सहायक है।[८४]

सम्यग्दर्शन सब रत्नों में महान रत्न है। सब योगों में उत्तम योग है, सब ऋद्धियों में महाऋद्धि है। सम्यक्त्व सारी सिद्धियों को पूर्ण करनेवाला है। सम्यक्त्व गुण से युक्त जीव इन्द्र और चक्रवर्ती के द्वारा भी वन्दनीय है। व्रतरहित होते हुए भी वह अनेक प्रकार के उत्तम स्वर्ग सुख को प्राप्त करता है।[८५]

श्रद्धा, रुचि, स्पर्श और प्रतीति ये सम्यग्दर्शन के पर्यायवाची शब्द हैं।[८६] सम्यग्दर्शन दो प्रकार से उत्पन्न होता है - १) निसर्ग से और २) अधिगम से।

निसर्ग से यानी स्वाभाविक रीति से, पूर्वजन्म के कर्म संस्कारों के क्षीण होने पर निःसर्गज सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।[८७] अधिगम यानी गुरु के उपदेश से, धर्मग्रंथों का पढ़ने से या बाह्य किसी भी निमित्त से अधिगमज सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। दोनों सम्यग्दर्शनों के लिए अन्तरंग हेतु समान हैं। निसर्ग-सम्यग्दर्शन को पहले कभी परोपदेश का निमित्त प्राप्त हुआ होता है।[८८]

सम्यग्दर्शन बीज है। इसके होने पर ही साधनारूपी वृक्ष पर ज्ञान का सुगंधित फूल और चारित्र का मीठा फल लग सकता है। सम्यग्दर्शन यह साधनारूपी भव्य महल की नींव है। अगर नींव मजबूत नहीं होगी, तो ज्ञान और चारित्ररूपी महल टिकेगा नहीं। यदि "एक" का अंक नहीं हो तो कितने ही शून्य लिखे, उन शून्यों की कुछ भी कीमत नहीं, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के अभाव में की हुई साधना की कुछ भी कीमत नहीं । सम्यग्दर्शन यह "एक" के अंक के समान और सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र उसके पश्चात् लगे हुई शून्य के समान हैं।

जब तक सम्यगदर्शन की प्राप्ति नहीं होती, तब तक सब आचरण, सारे क्रियाकाण्ड और अनुष्ठान व्यर्थ हैं। सम्यग्दर्शन के अभाव में सभी धार्मिक कर्मकाण्ड हस्तिस्नान के समान व्यर्थ हैं। सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर आत्मा की शुद्धि होती है। हिताहित, कर्तव्य-अकर्तव्य और हेय-उपादेय का विवेक प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन रूपी सूर्य का उदय होते ही अज्ञान-अंधकार नष्ट हो जाता है।

जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ है, वह किसी भी प्रकार का पाप नहीं करता। विषय और कषाय से वह निवृत्त होता है। उसकी आत्मा में समता का अद्‌भुत संचार होता है। सम्यग्दर्शन ही आत्मा का परम मित्र है। जिसे सम्यग्दृष्टि प्राप्त हुई है, वह प्रत्येक बात को सरलता से लेता है और उल्टी बात को भी सहज रूप से लेता है, जबकि मिथ्यादृष्टि सरल बात को भी विपरीत रूप में ग्रहण करता है। बुराई में से अच्छा लेना, शान्तिपूर्वक कष्ट सहन करना यह सम्यग्दृष्टि का गुण है। सम्यग्दृष्टि आत्मा संसारी जीवन में रहकर भी आसक्त नहीं होता,

उसमें फंसाता नहीं है। वह स्वयं को कैदी मानता है और संसार से मुक्त होने की इच्छा करता है। साथ ही वह दूसरे जीवों को अपनी आत्मा के समान समझता है। वह वस्तुतः द्रष्टा होता है, इसीलिए वल्लभ-प्रवचन में कहा गया है-

मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति ।।

सम्यग्दर्शन के अभाव में जो क्रियाएँ की जाती हैं, वे सब शरीर पर होने वाले फोड़े के समान दुःखकारक और आत्महित के लिए व्यर्थ हैं। मिथ्यादृष्टि का तप केवल देह दण्डन है। मिथ्यादृष्टि का स्वाध्याय भी निष्फल होता है क्योंकि उसका ज्ञान कदाग्रह बन जाता है। उसके दान और शील भी निन्दनीय होते हैं और तीर्थयात्राएँ भी व्यर्थ होती हैं।[९९]

मानवता का सार ज्ञान है। ज्ञान का सार सम्यग्दर्शन है।[१००] आत्मा को अज्ञान रूपी अंधःकार से दूर कर आत्मभाव के आलोक से आलोकित विवेकयुक्त दृष्टि ही सम्यग्दर्शन है। दूसरे शब्दों में तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। व्यावहारिक दृष्टि से तीर्थंकर (जिन) की वाणी में, जन के उपदेशों में जिसकी दृढ़निष्ठा है, वही सम्यग्दर्शी है।

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। अगर मूल में ही दोष होगा, तो सब क्रियाकाण्ड संसार की वृद्धि ही करेगा। सम्यग्दर्शी आत्मा पाप का अनुबंध नहीं करता।[१०१] जो सम्यग्दर्शन से युक्त है, वह नवीन कर्म का बंध नहीं करता है और जो सम्यग्दर्शन से रहित है, वह संसार में परिभ्रमण करता है।[१०२]

चारित्र से भ्रष्ट हुआ आत्मा कदाचित् कालांतर में निर्वाण प्राप्त कर भी ले, परन्तु सम्यग्दर्शन से रहित आत्मा निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकता।[१०३]

सम्यग्दर्शन के अभाव में की हुई दया सच्ची दया नहीं है और विनय यह सच्चा विनय नहीं है। सम्यग्दर्शन का अर्थ है विशुद्ध दृष्टि। पाश्चात्य विचारक आर० विलियम्स के मतानुसार तीर्थंकरों द्वारा बताए हुए मार्ग पर श्रद्धा रखना ही सम्यग्दर्शन है।

जिस प्रकार रात्रि के अंधकार को दूर किए बिना सहस्त्ररश्मि सूर्य उदित नहीं होता है, उसी प्रकार मिथ्यात्वरूपी अंधकार को नष्ट किए बिना सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता। जब आत्मा में सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव होता है, तभी आत्मा जीव और अजीव के भेद को जानता है। सम्यग्दर्शन के बाद ही आत्मा समझने लगता है कि- 'मैं जड़ नहीं हूँ, चेतन हूँ। मेरा स्वरूप शुद्ध चेतन है। मुझमें राग, द्वेष आदि जो विकृतियाँ हैं, वे सारी जड़ के संसर्ग से आई हैं। मैं वर्तमान में सब कर्मों से बद्ध हूँ, परन्तु उन कर्मों को नष्ट करके मैं एक दिन निश्चित मुक्त बनूँगा।' इस प्रकार की निष्ठा सम्यक्त्वी के अंतर्मन में जागृत होती है।

ऐसा कहा जाता है कि - श्रीकृष्ण के पास सुदर्शन चक्र था। इसीलिए वे सारे शत्रुओं को पराजित करके तीनों खण्डों के अधिपति बने। इसी प्रकार यदि आत्मरूपी कृष्ण के पास सम्यग्दर्शनरूपी सुदर्शन चक्र होगा तो वह भी कषायरूपी शत्रुओं को पराजित करके तीनों लोकों का स्वामी बन सकेगा।

धर्मरूपी मोती सम्यग्दर्शनरूपी सीप में ही उत्पन्न होता है। प्रायः सब दर्शनों ने सम्यग्दर्शन की महिमा बताई है।

न्यायदर्शन ने तत्त्वज्ञान को 'सम्यग्दर्शन' कहा है। सांख्यदर्शन ने भेदज्ञान को 'सम्यग्दर्शन' कहा है। योगदर्शन ने विवेकख्याति को, बौद्ध दर्शन ने क्षणभंगुरता को और चार आर्यसत्यों के ज्ञान को, वेदों ने ऋत को और गीता ने योग को 'सम्यग्दर्शन' कहा है। इस पर से यह स्पष्ट होता है कि जैन संस्कृति के इस मौलिक तत्त्व को सभी विचारको ने महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। सचमुच सम्यग्दर्शन आत्म उत्क्रांति का द्वार है, इसीलिए वह महत्त्वपूर्ण है।[१०४]

**सम्यक् ज्ञान :**

सम्यक् ज्ञान यह मोक्ष मार्ग रूपी सोपान की दूसरी सीढ़ी है। आत्मतत्व के स्वरूप का ज्ञान अथवा आत्मा के कल्याण के मार्ग को जान लेना "सम्यग्ज्ञान" हैं। आत्मा के स्वरूप का परिज्ञान करने के लिए आत्मा के साथ संबंध बनाने वाले जड़ (कर्म) द्रव्य का ज्ञान होना भी आवश्यक है। पुद्गल द्रव्य के बिना आत्मा के स्वस्वरूप का ज्ञान भी नहीं होगा। और आत्मकल्याण भी नहीं होगा। आत्मज्ञान के बिना सारी विद्वत्ता व्यर्थ है। संसार के सारे क्लेश अज्ञान पर आधारित हैं। उस अज्ञान को दूर करने के लिए आत्मज्ञान आवश्यक है और आत्मज्ञान प्राप्त करना यही वास्तविक मोक्ष है।[१०५]

तत्त्वों को जानना यही 'ज्ञान' है। इसे 'भावसाधन' कहते हैं। जो वस्तु स्वरूप के स्वरूप जानता है या जिसके द्वारा वस्तु स्वरूप जाना जाता है या जिसमें वस्तु स्वरूप जाना जाता है, उसे "ज्ञान" कहते हैं।[१०६] ज्ञान यह आत्मा का निजगुण है। ज्ञान से आत्मा भिन्न नहीं है, आत्मा और ज्ञान अभिन्न ही है।[१०७]

आत्मा में स्वभावतः अनन्त ज्ञानशक्ति विद्यमान है। परन्तु ज्ञानावरण के कारण वह पूर्ण प्रकाशित नहीं हो पाती है। जैसे-जैसे आवरण नष्ट होता है, वैसे-वैसे ज्ञानप्रकाश भी बढ़ता जाता है। आत्मा की कभी भी ऐसी अवस्था नहीं होती कि उसमें किंचित् भी ज्ञान नहीं हो।[१०८]

(साधक) सुनकर ही कल्याण का अर्थात् आत्महित का मार्ग जान जाता है। उसी प्रकार सुनकर ही पाप का या अहित का मार्ग जान सकता है। इस प्रकार हित और अहित इन दोनों को श्रुतज्ञान से ही जाना जाता है। परंतु इनमें से जो श्रेयस्कर हो, उसी का आचरण करना चाहिए।[१०९]

सम्यक्-ज्ञान पूर्वक सम्यग्चारित्र-मूलक तप, नियम, संयम में स्थित होकर आत्मा कर्म-मल से विशुद्ध बनता है और साधक जीवन पर्यंत स्थिरचित्त बनकर विचरण करता है।[११०]

जिस प्रकार धागेवाली सुई कहीं भी गिरने पर गुम नहीं होती, उसी प्रकार ससूत्र अर्थात् शास्त्र-ज्ञान युक्त जीव संसार में नष्ट नहीं होता है अर्थात् परिभ्रमण नहीं करता है।[१११]

जिससे तत्त्व का ज्ञान होता है, चित्त का निरोध होता है, साथ ही आत्मा विशुद्ध बनता है, उसे ही जिनशासन में 'ज्ञान' कहा है।[११२]

जिससे जीव राग-द्वेष से विमुख होता है, श्रेय में अनुरक्त होता है, जिससे मैत्री-भाव से भावित होता है, उसे ही जिनशासन में 'ज्ञान' कहा है।[११३]

(हे भव्य!) तू इस ज्ञान में हमेशा लीन रह, इसी में संतुष्ट रह, इसी में तृप्त रह। इसीसे तुम्हें उत्तम सुख प्राप्त होगा।

आत्मा क्या है ? कर्म क्या है ? बंधन क्या है ? कर्म आत्मा के साथ बन्द्ध क्यों होते हैं आदि विषयों का यथार्थ परिज्ञान ही 'सम्यग्ज्ञान' है और अयथार्थ ज्ञान 'मिथ्याज्ञान' है।

ज्ञान यह तीसरी आँख के समान है। उसके अभाव में भक्त भगवान नहीं बन सकता, जीव शिव नहीं बन सकता, आत्मा भवबंधन से मुक्त नहीं हो सकता, आत्मा परमात्मा नहीं बन सकता, नर नारायण नहीं बन सकता। सुप्रसिद्ध लेखक शेक्सपियर ने कहा है कि ज्ञान के पंखों द्वारा हम स्वर्ग तक उड़ सकेंगे। कन्फ्यूशियस ने ज्ञान को आनंद-प्रदाता कहा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सम्यग्ज्ञान ही सच्चे सुख का कारण है। जब तक सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं होता, तब तक विकारों का विनाश भी नहीं होता और विचारों का विकास भी नहीं हो सकता।

संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय इन तीन दोषों से रहित तथा नय और प्रमाण से होनेवाले जीवादि पदार्थ का यथार्थ ज्ञान ही 'सम्यग्ज्ञान' है। संक्षेप में अथवा विस्तार से तत्व के यथार्थ स्वरूप को जानना, इसे ही विद्वान लोग 'सम्यग्ज्ञान' कहते हैं।[११४]

आत्मा और अनात्मा के यथार्थ स्वरूप को संशय, विमोह एवं विभ्रमरहित होकर जानना यही 'सम्यग्ज्ञान' है। सम्यग्ज्ञान के सविकल्प और साकार होने के कारण अनेक भेद होते है।[११५]

शरीर, मन आदि सभी पौद्गलिक वस्तुएँ आत्मा से भिन्न हैं। देह और जीव का अथवा पिता और पुत्र आदि का यथार्थ में कुछ भी संबंध नहीं है, यह जो जानता है, वही जानता हैं।[११६] जो आत्मा को अवद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य और

अविशेष से देखता है, वही सम्पूर्ण जिन-शासन को देखता है।[११७] जो आत्मा को जानता है, वही सब को जानता है और जो सब को जानता है, वह आत्मा को जानता है।[११८]

तत्त्व जैसे हैं, उनके निज स्वरूप का संक्षेपतः या विस्तार से होने वाले यथार्थ अर्थबोध (ज्ञान) है, उसी को विद्वान 'सम्यग्ज्ञान' कहते है।[११९] जिस-जिस प्रकार से जीवादि पदार्थ अवस्थित हैं, उस-उस प्रकार से उन्हें जानना 'सम्यग्ज्ञान' है।[१२०] दूसरे शब्दों में नय और प्रमाण द्वारा जीवादि तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान 'सम्यग्ज्ञान' है[१२१] वस्तुतः जीवादि पदार्थों के ज्ञान का ज्ञानस्वभावरूप परिणमन 'सम्यग्ज्ञान'[१२२] है।

जो ज्ञान वस्तु के स्वाभाविक रूप को न्यूनता, अधिकता और विपरीतता से रहित जैसा है वैसा ही सन्देहरहित जानता है, उसे आगमज्ञाता 'सम्यग्ज्ञान' कहते है। यथार्थ में सत् और असत् पदार्थ का यथातथ्य ज्ञान कराने वाला ज्ञान 'सम्यग्ज्ञान' है।[१२३]

जिससे वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाना जाता है, जिससे मन का व्यापार रूक जाता है, जिससे आत्मा विशुद्ध होता है, उसे ही जिनशासन में 'ज्ञान' कहा है। जिससे राग से विरक्ति, श्रेयमार्ग में अनुरक्ति, प्राणिमात्र के साथ मित्रता हो, वही जिनदेव के मतानुसार 'ज्ञान' है।

जो आत्मा गुरूपदेश से अथवा शास्त्राभ्यास से अथवा स्वात्मानुभव से स्व-पर के भेद को जानता है, वही मोक्षसुख को जान सकता है।

वैदिक दार्शनिकों ने भी सम्यग्ज्ञान को महत्त्व दिया है और उसे "ब्रह्मविद्या" कहा है। आध्यात्मविद्या में ही सब विद्याओं की प्रतिष्ठा है। वही सब में प्रमुख है।[१२४]

वही सब विद्याओं को दीपक के समान प्रकाश देनेवाली है और परिपूर्णता प्राप्त करानेवाली है। वही सबसे उत्कृष्ट धर्म है और ज्ञानों में श्रेष्ठतम है। इस एक ही विद्या का परिज्ञान हो जाने पर कुछ भी ज्ञातव्य नहीं रहता। इस आत्मविद्या के द्वारा राग-द्वेष नष्ट होते हैं और यही सर्वोत्तम राजविद्या है।

न्यायदर्शन मिथ्याज्ञान और मोह आदि को संसार का मूल कारण मानता है। सांख्यदर्शन विपर्यय को संसार का मूल कारण मानता है। बौद्धदर्शन, राग-द्वेष जन्य अविद्या को संसार का मूल कारण मानता है। जैन तत्त्वज्ञान की दृष्टि से साधना के क्षेत्र में सम्यग्ज्ञान का महत्त्व सम्यग्दर्शन जितना ही है। इसलिए ज्ञान सर्वप्रकाशक है, ऐसा कहा जाता है। प्रथम ज्ञान और उसके बाद में चारित्र का क्रम है, ऐसा जैन शास्त्रों में माना गया है।

जैन शास्त्रों में दया का अतीव महत्त्व है। फिर भी ज्ञान को प्रथम स्थान दिया है। दशवैकालिक अध्याय ४ में कहा है - "पढमं णाणं तओ दया"। प्रथम ज्ञान और बाद में दया।[१२५]

## सम्यग्ज्ञान के भेद :

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान- यह पाँच प्रकार का ज्ञान है।

१) मतिज्ञान : जो इन्द्रियाँ की सहायता से पदार्थों को जानता है, उसे "मतिज्ञान" कहते हैं।

२) श्रुतज्ञान : मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थों के अवलंबन से उन्हीं पदार्थों को विशेष स्वरूप से जानना अथवा अन्य पदार्थों के स्वरूप को जानना - इसे 'श्रुतज्ञान' कहते हैं।

३) अवधिज्ञान : द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इनकी विशिष्ट मर्यादा में जो रूपी पदार्थों को आत्मिक शक्ति से इन्द्रियाँ और मन के अवलंबन के बिना स्पष्टतया जानता है, उसे 'अवधिज्ञान' कहते हैं।

४) मनःपर्ययज्ञान: द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इनकी विशिष्ट मर्यादा में दूसरों के मन के सरल अथवा वक्र विचारों को, साथ ही तत्संबंधी रूपी पदार्थों को जो आत्मिक शक्ति से इन्द्रियों और मन के अवलंबन के बिना स्पष्ट रूप से जानता है, उसे 'मनःपर्यय ज्ञान' कहते हैं।

५) केवल ज्ञान : जो संपूर्ण लोक के सारे द्रव्यों को, उनके त्रिकालवर्ती संपूर्ण पर्यायों के साथ एक ही समय में, आत्मिक शक्ति से अत्यंत स्पष्ट रूप से जानता है, उसे "केवलज्ञान" कहते है।[१२६]

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में विशेष अंतर यह है कि "यह गागर है" ऐसा जानना यह 'मतिज्ञान' है। इसके बाद 'गागर का उपयोग पानी भरने के लिए होता है', 'यह ताबें पीतल आदि से बनती है', 'अमुक कीमत में मिलती है' - आदि रूप ज्ञान 'श्रुतज्ञान' है।

ज्ञान प्राप्त करने के दो साधन हैं -

१) परोक्ष २) प्रत्यक्ष ।

१) परोक्ष : बुद्धि आदि तत्त्वों की सहायता से जो ज्ञान पदार्थ को अस्पष्ट रूप मे जानता **है, यह परोक्ष प्रमाण है।**

२) प्रत्यक्ष : **जो ज्ञान बुद्धि, तर्क आदि अन्य साधनों की सहायता के इबना आत्मिक शक्ति से ही वस्तु के स्वरूप को अत्यंत स्पष्टता से या निर्मल रूप से** जानता है, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है।

पहले दो ज्ञान, अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं, क्योंकि ये इन्द्रियाँ, मन, उपदेश आदि की सहायता से होते हैं। बाकी के तीन ज्ञान-अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये प्रत्यक्ष ज्ञान हैं, क्योंकि वे इन्द्रियाँ आदि की सहायता के बिना केवल आत्मिक शक्ति से होते है। इनमें से अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान ये दोनों द्रव्य-क्षेत्र-काल आदि की सीमा होने से विकलपारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान यह अनन्त होने से सकलपारमार्थिक प्रत्यक्ष है।[१२७]

**सम्यग्ज्ञान के दोषों का स्वरूप :** संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय ये ज्ञान के तीन दोष हैं।

१) संशय : "विरुद्धानेक कोटिस्पर्शी ज्ञानं संशयः अर्थात् परस्पर विरुद्ध दो कोटियों को स्पर्श करनेवाले ज्ञान को 'संशय' कहते हैं, जैसे 'यह पुरुष है या पेड़ का तना ?' ऐसा विकल्पात्मक ज्ञान। यहाँ पुरुष और पेड़ के तनों में कुछ समान धर्म दिखाई देने से ज्ञान में संशय रहता है। " आत्मा शरीर रूप है या ज्ञान रूप है ?" इस प्रकार के विकल्प को संशय कहते हैं।

२) विपर्यय : "विरुद्धैक कोटिस्पर्शी ज्ञानं विपर्ययः अर्थात् उपरोक्त दो पक्षों में से एक विरुद्ध पक्ष को स्पर्श करने वाले ज्ञान को 'विपर्यय' कहते हैं। जैसे "यह पुरुष (उसे पुरुष होते हुए भी) नहीं, पेड़ का तना है ", या

" आत्मा शरीर ही है।" यहाँ संशय के समान दोलायमान अनिर्णयात्मक स्थिति नहीं होती। निर्णय तो होता है, परंतु वह निर्णय विपरीत पक्ष की ओर होता है जैसे अंधेरे में रस्सी को सर्प समझ लेना।

३) अनध्यवसाय : किमितिमात्रमनध्यवसायः अर्थात् "यह कुछ तो भी है ऐसे अनिर्णयात्मक ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं। जैसे चलते समय पैरों के नीचे कुछ तो भी है ऐसा ज्ञान अथवा आत्मा शरीर, कर्म, राग, ज्ञान कुछ तो भी होगा। यह ज्ञान दो से अधिक अनेक विकल्पों को स्पर्श करता है, इसलिए संशय नहीं और विपरीत पक्ष का निर्णय न होने से विपर्यय भी नहीं।[१२८] ये ज्ञान के तीन दोष हैं।

डॉ. राधाकृष्णन् ने भारतीय दर्शन के वैशेषिक दर्शन की ज्ञानमीमांसा की चर्चा करते समय मिथ्याज्ञान के चार भेद बताए हैं। १) संशय २) विपर्यय, ३) अनध्यवसाय और ४) स्वप्न। जैन दर्शन ने उनमें से तीन भेद माने हैं, चौथा नहीं। स्वप्न का अंतर्भाव 'संशय' में किया है।[१२९]

**सम्यक् ज्ञान और मिथ्याज्ञान :** जो वस्तु के स्वभाव को योग्य रीति से नहीं जानता अथवा विपरीत रूप से जानता है, वह मिथ्याज्ञान है। इसके विपरीत का ज्ञान 'सम्यग्ज्ञान' है।

अवस्तु में वस्तु-बुद्धि, यह मिथ्याज्ञान है, अथवा निजात्मा के परिज्ञान की विमुखता मिथ्याज्ञान है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान हैं। इनमें से ति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान, मिथ्याज्ञान भी होते हैं और सम्यग्ज्ञान भी होते हैं।[१३१]

जिस प्रकार दृष्टि अच्छी होने पर भी गलत चश्मा लगाने पर वस्तुएँ यथायोग्य रूप में दिखाई नहीं देती, उसी प्रकार मिथ्यात्व के उदय से ज्ञानदृष्टि विपरीत होती है। जब तक मिथ्यात्व का उदय है, तब तक जीव अज्ञानी ही रहता है। मिथ्यात्व के उदय का अभाव होने पर जीव ज्ञानी होता है। अतः सम्यग्दर्शन होने पर ही जीव को ज्ञानी कहा जाता है।

सम्यग्दर्शन का संबंध सम्यग्ज्ञान से होता है और मिथ्यात्व का संबंध मिथ्याज्ञान से होता है। कुदेव को देव, कुगुरु को गुरु, अधर्म को धर्म, कुशास्त्र को सत्‌शास्त्र मानना या देव को कुदेव, सुगुरु को गरु, धर्म को अधर्म, सत्‌शास्त्र को कुशास्त्र मानना ये सारे मिथ्यात्व के लक्षण हैं। ऐसी स्थिति मे मति, श्रुत और अवधि इन तीनों ज्ञान को "अज्ञान" कहा जाता है। अज्ञान का फल संसार है। मिथ्याज्ञान की प्रवृत्ति कुमार्ग की ओर रहती है। वह संसार और कर्मबंध का मूल कारण है और उसका परिपाक अनंत दुःख है। इसके विपरीत सम्यग्ज्ञान की प्रवृत्ति सन्मार्ग की ओर होती है। उसका परिपाक मोक्ष या अनंत सुख है। जिस ज्ञान से आत्मोत्थान और आत्मविकास होता है और सब विकारों का शमन होता है, वही सम्यग्ज्ञान है। संसार वृद्धि कराने वाला दुर्गति में डालने वाला ज्ञान मिथ्याज्ञान है। क्षयोपशम की न्यूनता से या बाह्य सामग्री की कमी से सम्यक्त्वी जीव को किसी विषय में संशय होगा, स्पष्टतः भान नहीं रहेगा या भ्रम भी होगा, फिर भी वह सत्यान्वेषी ही रहेगा। "जो सत्य है, वह मेरा है" (यत्सत्यं तन्मम) यही उसकी अन्तरात्मा की आवाज होगी। वह जीवित रहने के लिए खाता है, खाने के लिए जीवित नहीं रहता। वह अपने ज्ञान का उपयोग आध्यात्मिक विकास के लिए करता है। मिथ्यादृष्टि मानव अपने ज्ञान का उपयोग दोषों का पोषण करने के लिए करता है। सम्यग्दृष्टि व्यक्ति का ध्येय उचित होता है और मिथ्यादृष्टि व्यक्ति का ध्येय मूलतः ही अनुचित होता है।

वेदान्त और सांख्य दर्शन भी मोक्ष के लिए सम्यग्ज्ञान को ही आवश्यक मानते हैं। उनके मतानुसार बंधन का एकमात्र कारण मिथ्याज्ञान है। जैन आचार्य विद्यानन्दी के मतानुसार सम्यग्ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है। सम्यग्दर्शन से रहित ज्ञान अज्ञान या मिथ्याज्ञान होता है और सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है।[१३२]

## सम्यक् चारित्र :

सम्यक्-चारित्र यह मोक्ष-मार्ग की तीसरी सीढ़ी है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के समान ही सम्यक्-चारित्र भी महत्त्वपूर्ण है। आत्मस्वरूप में रमण करना और जिनेश्वर देव के वचनों पर पूर्ण श्रद्धा रखना और उसी प्रकार आचरण करना, यही सम्यक्-चारित्र है।

जिस प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान मोक्ष के साधन हैं, उसी प्रकार सम्यक् चारित्र भी मोक्ष का साधन है। चारित्र यानी स्व-स्वरूप में स्थित होना। शुभाशुभ भावों से निवृत्त होकर स्वयं के शुद्ध चैतन्य स्वरूप में स्थिर रहना, यही सम्यक् चारित्र है। ऐसा चारित्र ज्ञानी को ही होता है, अज्ञानी को नहीं होता। दुःख से मुक्ति की इच्छा हो, तो सम्यक्-चारित्र को स्वीकार करना चाहिए।

मोक्ष का अन्तिम कारण सम्यक्-चारित्र ही है, इसलिए चारित्र धारण करने का प्रयत्न करना चाहिए। यहाँ चारित्र का अर्थ साम्यभाव है। ऐसे चारित्र से ही कर्म का क्षय होकर शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। चारित्र गुण का पूर्ण विकास मुनि-पद में होता है। इसलिए मुनिपद धारण करने का प्रयत्न करना चाहिए।[१३३] ज्ञान यह नेत्र है और चारित्र यह चरण है। रास्ता देख तो लिया, परंतु पैर अगर उस रास्ते पर नहीं चले, तो इच्छित ध्येयों की प्राप्ति असंभव है।

"चारित्र के बिना ज्ञान काँच की आँख के समान केवल दिखाने के लिए है। सचमुच वह आँख पूर्णतया निरुपयोगी होती है। ज्ञान का फल विरक्ति है- "ज्ञानस्य फलं विरतिः।" ज्ञान प्राप्त होने पर भी अगर विषयों में आसक्ति होगी, तो वह वास्तविक ज्ञान नहीं है।

सम्यक्-चारित्र यह जैन साधना का प्राण है। विभाव में गए हुए आत्मा को पुनः शुद्ध स्वरूप में अधिष्ठित करने के लिए सत्य के परिज्ञान के साथ जागरूक भाव से सक्रिय रहना ही सम्यक् आचार की आराधना है, और यही सम्यक्-चारित्र है।

चारित्र एक ऐसा हीरा है कि जो किसी भी पत्थर को तराश सकता है। जीवन का लक्ष्य सुख नहीं, चारित्र है। उत्तम व्यक्ति मितभाषी होते हैं और आचरण में दृढ़ होते हैं। बौद्ध साहित्य में सम्यक्-चारित्र को ही सम्यक् व्यायाम कहा है।[१३४]

तत्त्व के स्वरूप को जान कर पाप-कर्म से दूर होना, अपनी आत्मा को निर्मल बनाना, यही सम्यक्-चारित्र का असली अर्थ है।[१३५]

जिस प्रकार अंधे मनुष्य के सामने लाखों-करोड़ों दीपक जलाए रखना व्यर्थ है, उसी प्रकार चारित्र शून्य व्यक्ति का शास्त्राध्ययन व्यर्थ है। समता,

माध्यस्थभाव, शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र, धर्म और स्वभाव-आराधना - ये सारे एकार्थवाची शब्द हैं।[१३६]

सम्यक् चारित्र की आराधना करने से दर्शन, ज्ञान और तप इन तीनों की भी आराधना होती है, परंतु दर्शन आदि की आराधना से चारित्र की आराधना होती ही है, ऐसा नहीं।

चारित्ररहित ज्ञान और सम्यक्त्वरहित लिंग (वेश), संयमहीन तप निरर्थक है।[१३७]

जो मनुष्य चारित्रहीन है वह जीवित होकर भी मृतवत् है। सचमुच चारित्र ही जीवन है। जो चारित्र को नष्ट करता है, उसका सभी कुछ नष्ट हो जाता हैं। एक अंग्रेजी कहावत है-

If wealth is lost, nothing is lost,
If health is lost, something is lost,
If character is lost, everything is lost.

मानव का धन नष्ट हुआ, तो उसका कुछ भी नष्ट नहीं हुआ, क्योंकि धन पुनः प्राप्त किया जा सकता है। अगर उसका आरोग्य नष्ट हुआ तो थोड़ा बहुत नष्ट हुआ है, परंतु अगर मानव ने चारित्र ही गँवा दिया, तो उसने सर्वस्व गँवा दिया है। विश्व में असली जीवन चारित्रशील व्यक्ति ही जीते हैं। भोगी, स्वार्थी और विषयलंपट व्यक्ति का जीवन निरर्थक है। सम्यक्-चारित्र को प्राप्त करने के लिए शरीरबल, बुद्धिबल और मनोबल की आवश्कता है।[१३८]

आत्मा के जो भाव है उन्हें ही ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप कहा गया है। चारित्ररूप धर्म के कारण आत्मा अनंत सुख प्राप्त करता है। यही अनंत सुख जीव का लक्ष्य है।

जो जाना जाता है, वह "ज्ञान" है। जो देखा जाता है या माना जाता है, उसे "दर्शन" कहा है और जो किया जाता है वह चारित्र है। ज्ञान और दर्शन के संयोग से चारित्र तैयार होता है।[१३९] जीव के ये ज्ञानादि तीनों भाव अक्षय और शाश्वत होते हैं।[१४०] सम्यक् चारित्र का आचरण करने वाला जीव चारित्र के कारण शुद्ध आत्म तत्त्व को प्राप्त करता है। वह धीर, वीर पुरुष अक्षय सुख और मोक्ष प्राप्त करता है।

संसार के कारणरूप कर्म नष्ट करने हेतु श्रद्धावान और ज्ञानवान आत्मा पाप में ले जानेवाले कर्म से निवृत्त होता है, यही सम्यक्-चारित्र है। पाप का सर्वथा त्याग अथवा अशुद्ध आचरण का त्याग ही चारित्र है।

सम्यक्-चारित्र के अहिंसा आदि पाँच व्रत हैं। वे इस प्रकार हैं -
१) अहिंसा २) सत्य ३) अस्तेय ४) ब्रह्मचर्य और ५) अपरिग्रह।

१) अहिंसा : प्रमाद से स्थावर या त्रस जीवों का जीवन नष्ट न करना यह 'अहिंसा' व्रत है।

२) सत्य : प्रिय, हितकर और सत्य बोलना यह सत्य वचन है। यदि वचन सत्य होने पर भी अप्रिय और अहितकर हो, तो वैसा वचन नहीं बोलना चाहिए।

३) अस्तेय : किसी के द्वारा बिना दी गई वस्तु को न लेना, यह अस्तेय व्रत है। यदि कोई किसी की छोटी सी तीली भी बगैर पूछे ग्रहण करता है, तो वह चोरी है।

४) ब्रह्मचर्य : ऐहिक और पारलौकिक, कायिक, वाचिक और मानसिक काम-वासना का त्याग करना, इसे ब्रह्मचर्य कहते हैं।

५) अपरिग्रह : सब पदार्थों का त्याग ही अपरिग्रह है।[१४१]

## चारित्र के दो भेद :

सम्यक्-चारित्र के दो भेद हैं - १) निश्चय चारित्र और २) व्यवहार चारित्र। इनके ही दूसरे नाम क्रमशः १) वीतराग चारित्र और २) सराग चारित्र भी हैं।[१४२]

**(१) निश्चय चारित्र** : निश्चयनय के अभिप्राय के अनुसार आत्मा का, आत्मा में, आत्मा के लिए तन्मय होना यही निश्चय चारित्र है, वीतराग चारित्र है। ऐसे चारित्रशील योगियों को ही निर्वाण की प्राप्ति होती हैं।[१४३]

निश्चय दृष्टि से चारित्र का वास्तविक अर्थ समभाव या समत्व की उपलब्धि यह है। इस चारित्र में आत्मरमणता मुख्य होती है। ऐसे चारित्र का प्रादुर्भाव सिर्फ अप्रमत्त अवस्था में ही होता है और अप्रमत्त चेतना की अवस्था में होनेवाला सब कार्य शुद्ध माना गया है।

चेतना में से जब राग-द्वेष, कषाय और वासनारूपी अग्नि पूर्ण शान्त होती है, तब असली नैतिक और धार्मिक जीवन का निर्माण होता है, और इस प्रकार का सदाचार ही मोक्ष का कारण है। जब साधक प्रत्येक क्रिया में जागृत रहता है, तब उसका आचरण बाह्य आवेग और वासनाओं से चलित नहीं होता। तभी वह निश्चय चारित्र का पालनकर्ता माना जाता है। यह निश्चय चारित्र ही मुक्ति का कारण है।

आत्मा की विशुद्धि के कारण इस चारित्र की प्राप्ति होती है। जिसका ज्ञान प्राप्त करके जो योगी पाप तथा पुण्य दोनों से उपर उठ जाता है, उसे ही निर्विकल्प चारित्र प्राप्त होता है। शुद्ध उपयोग के द्वारा सिद्ध होने वाली आत्मा को अतींद्रिय, अनुपम, अनंत और अविनाशी सुख प्राप्त होता है।[१४४]

**(२) व्यवहार चारित्र :** अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति यही व्यवहार चारित्र या सराग चारित्र है। व्यवहार चारित्र की शुरुआत आत्मा के मन, वचन और कर्म की शुद्धि से होती है और उस शुद्धि का कारण आचार के नियमों का परिपालन है। सामान्यतः व्यवहार चारित्र में पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति आदि का समावेश होता है।[१५५]

जीव को सम्यक् दर्शन एवं ज्ञान से युक्त चारित्र से देवेंद्र, धरणेंद्र और चक्रवती आदि के वैभव के साथ निर्वाण की भी प्राप्ति होती है। सामान्यतया सराग चारित्र से देवेंद्र आदि का वैभव प्राप्त होता है और वीतराग चारित्र से निर्वाण की प्राप्ति होती है।[१५६]

जो आत्मा सांसारिक संबंध के त्याग के लिए उत्सुक है, परंतु जिसके मन से तासक्ति के संस्कार नष्ट नहीं हुए हैं, उसके चारित्र को व्यवहार चारित्र या सराग चारित्र कहते हैं।[१५७]

निश्चय चारित्र यह साध्यरूप है और व्यवहार उसका साधन है। साधन एवं साध्य रूप इन दोनों चारित्रों को क्रमपूर्वक धारण करने पर जीव मोक्ष को प्राप्त होता है।

बाह्य शुद्धि होने पर अभ्यन्तर शुद्धि होती है और अभ्यंतर दोषों के कारण ही बाह्य दोष होते हैं।[१५८]

शुद्धात्मा के अतिरिक्त अन्य बाह्य तथा अभ्यंतर परिग्रहरूप पदार्थों का त्याग करना उत्सर्ग मार्ग है। उसे ही निश्चय चारित्र या शुद्धोपयोग भी कहते हैं। इन सब शब्दों का अर्थ एक ही है।[१५९]

**सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान इनका पूर्वापर संबंध :** ज्ञान प्रथम या दर्शन प्रथम इस संबंध में जैन दार्शनिकों में प्रायः मतैक्य है। उत्तराध्ययनसूत्र में एक जगह कहा है कि दर्शन के बिना ज्ञान नहीं हो सकता। उमास्वाति ने भी तत्त्वार्थसूत्र में प्रथम दर्शन, बाद में ज्ञान चारित्र ऐसा कहा है। आचार्य कुंदकुंद ने दर्शनपाहुड़ में दर्शन को ही प्रथम तथा प्रधान स्थान दिया है। फिर भी कुछ स्थानों पर ज्ञान की प्राथमिकता और प्रधानता दिखाई देती है। उत्तराध्ययनसूत्र के उसी अध्ययन में मोक्षमार्ग के विवेचन में ज्ञान को भी प्रथम स्थान दिया है।

प्रथमतः ज्ञान या दर्शन में से किसे प्रथम माना जाये इसे समझने से पहले 'दर्शन' शब्द का अर्थ देखना चाहिए। दर्शन शब्द के दो अर्थ हैं - १) यथार्थ दृष्टिकोण और २) श्रद्धा। यदि दर्शन का अर्थ यथार्थ दृष्टिकोण यह लिया जाय तो दर्शन को प्रथम स्थान देना आवश्यक है। क्योंकि अगर दृष्टिकोण ही अयथार्थ होगा, मिथ्या होगा, तो ज्ञान और चारित्र यथार्थ कैसे होंगे ? जिसकी

दृष्टि दूषित है, उसके ज्ञान और चारित्र दोनों दूषित बनते हैं। इसलिए दृष्टि अर्थ में दर्शन को प्रथम स्थान देना चाहिए।

दर्शन का दूसरा अर्थ - "श्रद्धा" ऐसा होता है। अगर दर्शन का दूसरा अर्थ 'श्रद्धा' लिया जाये, तो ज्ञान के बाद ही दर्शन का क्रम आता है। क्योंकि अविचल श्रद्धा तो ज्ञान के बाद ही हो सकती है। उत्तराध्ययन सूत्र में जहाँ दर्शन का 'श्रद्धा' अर्थ लिया गया है, वहाँ उसे ज्ञान के बाद स्थान दिया गया है। (उत्तरध्ययनसूत्र २३/३५)

उसमें कहा गया है कि ज्ञान से पदार्थ (तत्त्व) को जाने और दर्शन के द्वारा उस पर श्रद्धा करे। इस प्रकार यथार्थ-दृष्टि यह अर्थ लेने पर सम्यक् दर्शन को प्रथम स्थान देना चाहिए और 'श्रद्धा' यह अर्थ लेने पर ज्ञान को प्रथम स्थान देना चाहिए। जैन दर्शन के समान गीता और बौद्ध-दर्शन में भी ज्ञान तथा श्रद्धा यह विषय विस्तृत रूप से चर्चित किया है।

'जैनेन्द्र सिद्धांत कोश' में कहा गया है कि सम्यग्दर्शन के बाद ही सम्यग्ज्ञान की आराधना करनी चाहिए। क्योंकि ज्ञान यह दर्शन का फल है। जिस प्रकार प्रदीप और प्रकाश एक साथ होते हैं, फिर भी प्रकाश यह प्रदीप का कार्य है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ होने पर भी सम्यग्ज्ञान कार्य है और दर्शन उसका कारण हैं। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र नियम से नहीं होते हैं।[१५०]

## सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र इनका पूर्वापर संबंध :

दर्शन और चारित्र इनके संबंध की पूर्वापरता के विषय में जैन दार्शनिकों में कुछ भी विवाद नहीं है। उन्होंने सम्यग्दर्शन को ही प्रथम स्थान दिया है। उसके बाद ज्ञान को और ज्ञान के बाद चारित्र को स्थान दिया है। जैन आगमों में कहा है कि सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यक्-चारित्र हो हो नहीं सकता। दर्शनपाहुड में सम्यग्दर्शन ही प्रथम है, यह कहा है। सम्यग्दर्शन के द्वारा ही तप, ज्ञान और सदाचरण सफल होता है ऐसा 'आचारांग निर्युक्ति' में भी स्पष्ट रूप से कहा गया है।

जैन आगमों में चारित्र के पूर्व ज्ञान को ही स्थान दिया गया है, क्योंकि चारित्र ज्ञानपूर्वक ही होता है।[१५१] सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन को अच्छी तरह अंगीकार करना चाहिए, क्योंकि उसकेकारण से ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् होता है। "सम्यक्त्वचारित्रे" इस सूत्र में सम्यक्त्व पद को आरंभ में रखा है क्योंकि चारित्र सम्यक्त्वपूर्वक होता है।[१५२]

**सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इनका पूर्वापर संबंध** : जैन विचारकों ने ज्ञान के बाद ही चारित्र को स्थान दिया है। उत्तराध्ययनसूत्र में (२८/३०) कहा है - 'सम्यग्ज्ञान के अभाव में सदाचरण अशक्य हैं।

सूत्रकृतांगसूत्र (२/१/७) में भगवान महावीर ने कहा है कि मनुष्य ब्राह्मण हो, भिक्षु हो अथवा अनेक शास्त्रों का जानकार हो, अगर उसका आचरण अच्छा नहीं होगा, तो वह अपने आचरण से दुःखी होगा। इस प्रकार पहले ज्ञान और बाद में चारित्र ऐसी परंपरा है।

चारित्र से भी श्रुत प्रधान है इसलिए उसकी अग्र संज्ञा है क्योंकि श्रुतज्ञान के सिवाय चारित्र की उत्पत्ति नहीं होती इसलिए चारित्र श्रुत प्रधान है।[१५३] ज्ञान और दर्शन के संयोग से चारित्र होता है।[१५४]

**मोक्षमार्ग का समन्वय** : तत्त्वज्ञानी अपने आत्म-स्वरूप की उपलब्धि के लिए कुछ प्रयत्न जरूर करता है। किसी को भी दुःखमय जीवन प्रिय नहीं होता। इसलिए उसे आत्म-कल्याणकारी मार्ग की अत्यंत आवश्यकता होती है। इसके लिए वह ज्ञान-दर्शन-चारित्र का आश्रय लेता है। धर्मकथा के द्वारा कर्मों की निर्जरा करते हुए और प्रवचन द्वारा जिनशासन और सिद्धांत की प्रभावना करते हुए वह शुभफल देनेवाले कर्मों का बंध करता है, और पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्र रूप रत्नत्रय को स्वीकार करता है। अन्त में वह शुद्ध-बुद्ध और मुक्त होकर परिनिर्वाण प्राप्त करके सब दुःखों का नाश कर देता है। वैसे तो इन तीनो को ही मोक्ष के साधन कहा है, परंतु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने से अथवा सम्यक्-चारित्र और सम्यग्ज्ञान होने से अथवा सम्यग्दर्शन व सम्यक्-चारित्र होने से, मोक्ष प्राप्ति नहीं हो सकती। ये तीनों के समन्वित होने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है।[१५५]

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र, इन रत्नत्रयों में से कोई भी एक ही मोक्ष-मार्ग नहीं है, परन्तु ये तीनों समन्वित होकर ही मोक्षमार्ग है। क्योंकि किसी भी मार्ग के जान लेने पर ही उस पर श्रद्धा या रुचि होती है और बाद में उसके अनुसार आचरण किया जाता है। आचरण के बिना ज्ञान, और श्रद्धा सार्थक नहीं होते है। व्यवहार दृष्टि से भी इन तीनों को मिलकर ही मोक्ष मार्ग कहा गया है। वस्तुतः ये अखण्ड चैतन्य के विशेष पक्ष हैं, फिर भी इन तीनों का अपना-अपना अलग अस्तित्व है।[१५६]

ये रत्नत्रय युगपद् रूप से ही मोक्ष-मार्ग है। यह समझने के लिए रसायन का उदाहरण दिया जाता है -

औषधि से पूर्ण लाभ प्राप्त करने के लिए जिस प्रकार उस पर श्रद्धा, उसके संबंध में ज्ञान और उसकी सेवनरूप क्रिया आवश्यक है उसी प्रकार

सम्यग्दर्शनादि तीनों के समन्वित आचरण से मोक्षरूपी फल की प्राप्ति होती है। दर्शन और चारित्र के अभाव में केवल ज्ञान से मोक्ष नहीं मिलता। ज्ञानपूर्वक क्रियारूप अनुष्ठान के अभाव में केवल श्रद्धा से भी मोक्ष नहीं मिलता। उसी तरह श्रद्धा के अभाव में केवल क्रिया से भी मोक्ष नहीं मिलता। क्योंकि श्रद्धारहित ज्ञान तथा क्रियाएँ निष्फल हैं इसलिए मोक्षमार्ग के लिए तीनों की आवश्यकता है। क्रियारहित ज्ञान व्यर्थ है। अज्ञानी की क्रिया निष्फल है। एक पहिए से (चक्र से) रथ चल नहीं सकता। इसलिए ज्ञान और क्रिया इनका संयोग आवश्यक है।[१५७]

जिस प्रकार दावानल (जंगल में लगी आग) से व्याप्त वन में अंधा व्यक्ति दौड़ते-दौड़ते जल जाता है तथा पंगु मनुष्य यहाँ-वहाँ देखत-देखते जल जाता है, उसी प्रकार मात्र ज्ञान और मात्र चारित्र का पालन करने वाले जीवों की अवस्था होती है। अगर अंधा और पंगु इन दोनों ने एक दूसरे की मदद की और अंधे के कंधों पर पंगु बैठ गया, तो दोनों बच सकते हैं। लंगड़ा रास्ता दिखाता हुआ ज्ञान का कार्य करता है और अंधा पैदल चलकर चारित्र की क्रिया करता है। इस प्रकार दोनों ही दावानल से बचकर इच्छित स्थान पहुँच सकते है।[१५८]

जहाज चलानेवाला नाविक ज्ञान है, पवन (वायु) ध्यान है और चारित्र जहाज है। ज्ञान, ध्यान और चारित्र इन तीनों के एक साथ होने से भव्य जीव संसार-समुद्र पार करता है। ज्ञान प्रकाशक है, तप विनाशक है और चारित्र रक्षक है। इन तीनों की एकत्रित साधना से ही मोक्ष मिलता है।[१५९]

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र- ये जैन साधना के तीन अंग हैं। अन्य दर्शनकार सिर्फ साधना के एक-एक अंग को प्रधानता देते हैं, परंतु जैन दर्शन ने तीनों का समन्वय किया है।

केवल शील का पालन करना, यह कल्याणकारी एकांगी आराधना है। सिर्फ ज्ञान भी उसी प्रकार की आराधना है। शील और ज्ञान इन दोनों के अभाव में कल्याण मार्ग की आराधनी नहीं हो सकती। शील और ज्ञान ये दोनों भी होने पर ही कल्याण मार्ग की सर्वांगीण आराधना हो सकेंगी। जब साधना के तीनों अंग पूर्ण होती हैं, तव साध्य की सिद्धि होती है और अनिर्वचनीय, अविनाशी ऐसे मोक्ष पद की प्राप्ति होतृ है। पूर्ण ज्ञान और पूर्ण चारित्र का समन्वय ही मोक्ष है।[१६०]

जो मुक्तिपद धारण करने हेतु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र- इन तीनों का आश्रय नहीं लेता और आर्तध्यान करता है, वही अनंत चन्मों तक संसार-परिभ्रमण करता है।[१६१] तिपाई पर रखा हुआ घड़ा सुरक्षित रहता है। किन्तु तिपाई का एक भी पैर अगर टूट जाय, तो घड़ा गिर जाता है और फूट जाता है। उसी प्रकार मोक्षरूपी कलश सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और

सम्यक्-चारित्र इन तीन पैरों की तिपाई पर आधारित है। इनमें से कोई एक भी पैर नहीं होगा, तो कलश (मोक्षरूपी कलश) असुरक्षित रहेगा।

अग्नि में तीन गुण हैं। प्रकाश देना, जलाना और पाचन करना। अग्नि के समान ही रत्नत्रय में भी तीन आत्मगुण हैं। ज्ञान स्वप्रकाशरूप है। दर्शन मिथ्या-धारणा को और अंधविश्वास को नष्ट करता है। चारित्र ज्ञान को परिपक्व बनाता है। साधक-जीवन में इन तीनों की आवश्यकता है। ज्ञान शक्ति है दर्शन भक्ति है और चारित्र सेवा है। एक है अंजन, दूसरा है मंजन और तीसरा है रंजन। गुरु ज्ञानरूपी अंजन से शिष्य के अज्ञान को दूर करते हैं इसलिए ज्ञान को अंजन कहा है। मंजन दाँतों के मल को दूर करता है। दर्शन रूपी मंजन शंका के मल को दूर करके आत्मा को चमकाता है इसलिए वह मंजन है। रंजन यानी अमोद-प्रमोद। चारित्र यह रंजन है। आत्मा जब सत्त्व गुण में रमण करता है, तब उसे आनंद आता है, इसलिए रंजन है। ज्ञानरूपी अंजन आत्मा को प्रकाश देता है, दर्शनरूपी मंजन आत्मा की चमक बढ़ाता है और चारित्ररूपी रंजन आत्मा को आनंद देता है।[१६२]

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः - इस सूत्र में "मार्गः" एकवचन में है। तीनों से समन्वित मोक्षमार्ग एक ही है यह बताने के लिए यहाँ एकवचन दिया है। इसीलिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान ओर सम्यक्- चारित्र इन तीनों को मिलकर ही मोक्ष मार्ग बनता है।[१६३]

संपूर्ण कर्मों के क्षय रूपी मोक्ष की प्राप्ति के अनेक मार्ग नहीं हैं, एक ही मार्ग है और वह है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र रूपी रत्नत्रय का मार्ग। सूत्र के 'मार्गः' के एकवचन में प्रयोग से यही बात सिद्ध होती है।[१६४]

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र में पूर्व पूर्व की प्राप्ति के बाद उत्तरोत्तर की प्राप्ति होती है, परंतु यह प्राप्ति विकल्प से होती है। परंतु उत्तर की प्राप्ति के बाद पूर्व का लाभ निश्चित है। उदा. जिसे सम्यक्-चारित्र प्राप्त हुआ, उसे सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-ज्ञान होगा ही, परंतु जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ उसे सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र प्राप्त होगा ही ऐसा नहीं, हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है।[१६५]

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इनके ही दूसरे रूप ज्ञान, इच्छा और क्रिया है। सिर्फ ज्ञान, सिर्फ कर्म और सिर्फ भक्ति आत्मा को मोक्ष नहीं दे सकते। निर्वाण की प्राप्ति के लिए, जो मानव जीवन का परम लक्ष्य है, ज्ञान-मार्ग, कर्म-मार्ग और भक्ति-मार्ग - इन तीनों का समन्वय होना चाहिए।

शंकराचार्य ने सिर्फ ज्ञान को ही मोक्ष माना है। मीमांसकों ने एकमात्र कर्म को ही स्वर्गप्राप्ति का और निःश्रेयस की सिद्धि का साधन माना है। वैष्णव आचार्यों ने भक्ति को ही मुक्ति का साधन माना है।[१६६]

भारतीय कर्म-साहित्य में जिस प्रकार कर्मबंध और उसके कारणों का विस्तारपूर्वक निरूपण है, उसी प्रकार उन कर्मों से मुक्त होने के साधन भी प्रतिपादित किए गए हैं। आत्मा हमेशा नवीन कर्मों का बंध करता है और पूर्व बद्ध कर्मों को भोगकर नष्ट करता है। ऐसा कोई भी समय नहीं जिस समय वह कर्मबंध नहीं करता। फिर प्रश्न उपस्थित होता है इक वह कर्म-मुक्त कैसे होगा ? इसका उत्तर ऐसा है कि वह तप और साधना से मुक्त होगा। जैसे खान में होने पर सोना और मिट्टी एकरूप होते हैं, परंतु उष्णता आदि द्वारा जैसे उन्हें अलग-अलग किया जाता है, वैसे ही आत्मा और कर्मों को भी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र द्वारा पृथक् किया जाता है। जैन दर्शन ने न तो एकान्त रूप से न्याय-वैशेषिक, सांख्य, वेदांत, महायान (बौद्ध) आदि दर्शनों के समान ज्ञान को प्रमुखता दी है और न एकान्त रूप से मीमांसक दर्शन के समान क्रिया-काण्ड पर ही जोर दिया है। ज्ञान और क्रिया इन दोनों के समन्वय से ही मोक्ष माना है। चारित्रयुक्त अल्पज्ञान भी मोक्ष का हेतु है किंतु चारित्ररहित विशाल ज्ञान भी मोक्ष का कारण नहीं होता है। आचार्य भद्रबाहु के शब्दों में चारित्रहीन श्रुतवेत्ता चन्दन का बोझा ढोने वाले गधे के समान है, जो बोझ ही ढोता है, चन्दन की सुवास नहीं लेता है।

सारांश मे सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र और तप इन्हें मोक्ष-मार्ग रूप में स्वीकार किया गया है। परंतु यह शाब्दिक अंतर है, वास्तविक नहीं। कहीं दर्शन को ज्ञान के अंतर्गत लेकर ज्ञान और क्रिया को ोक्ष का कारण कहा है, तो कहीं तप को चारित्र के अंतर्गत लेकर, ज्ञान, दर्शन और चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है।[१६७]

## अन्य दर्शनों में त्रिविध साधना मार्ग :

जैन दर्शन के समान ही बौद्ध दर्शन में भी त्रिविध साधना मार्ग का विधान किया गया है। बौद्ध दर्शन का अष्टांग मार्ग भी त्रिविध साधनामार्ग के ही अंतर्गत हैं। बौद्ध दर्शन के इस त्रिविध साधनामार्ग के तीन अंग हैं - १) शील, २) समाधि और ३) प्रज्ञा।

वस्तुतः बौद्ध दर्शन का ये त्रिविध साधनामार्ग भी जैन दर्शन के त्रिविध साधनामार्ग के समानार्थक हैं। तुलनात्मक दृष्टि से शील को सम्यक् चारित्र, समाधि को सम्यग्दर्शन और प्रज्ञा को सम्यग्ज्ञान के रूप में माना जा सकता है। सम्यग्दर्शन यह समाधि से इसलिए तुलनीय है कि दोनों में चित्तविकल्प नहीं है।

गीता में भी ज्ञान, कर्म और भक्ति के रूप में त्रिविध साधना-मार्गों का उल्लेख है। हिन्दू धर्म के ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग ये त्रिविध साधनामार्ग के साथ एकरूप हैं। हिन्दू परम्परा में परम सत्ता के तीन पक्ष सत्यं-शिवं-सुंदरम् माने गए हैं। इन तीन पक्षों की उपलब्धि के लिए उन्होंने त्रिविध साधनामार्ग का विधान किया है। सत्य की उपलब्धि के लिए ज्ञान, सुंदर की उपलब्धि के लिए भाव या श्रद्धा, और शिव की उपलब्धि के लिए सेवा या कर्म माना गया है। गीता में एक प्रसंग में त्रिविध साधनामार्ग के रूप में प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा का भी उल्लेख है। इनमें प्रणिपात श्रद्धा का, परिप्रश्न ज्ञान का और सेवा कर्म का प्रतिनिधित्व करती है।

उपनिषद् में भी श्रवण, मनन और निदिध्यासन के रूप में भी त्रिविध साधनामार्ग का प्रस्तुतीकरण किया है। गहराई से देखने पर इनमें भी श्रवण श्रद्धा में, मनन ज्ञान में और निदिध्यासन कर्म में अंतर्भूत हो सकते हैं।

पाश्चात्य परम्परा में भी तीन नैतिक आदेश उपलब्ध हैं-

१) स्वयं का स्वीकार करो। ( Accept thyself )
२) स्वयं को पहचानो। ( Know thyself )
३) स्वयं बनो। ( Be thyself )

पाश्चात्य चिन्तन के ये तीन नैतिक आदेश दर्शन, ज्ञान और चारित्र के समानार्थी हैं। आत्मस्वीकृति में श्रद्धा का तत्त्व, आत्मज्ञान में ज्ञान का तत्त्व और आत्मनिर्माण में चारित्र का तत्त्व अंतर्भूत है।

| जैन दर्शन | बौद्ध दर्शन | गीता | उपनिषद | पाश्चात्य दर्शन |
|---|---|---|---|---|
| सम्यग्दर्शन | समाधि | श्रद्धा | श्रवण | Accept thyself |
| सम्यग्ज्ञान | प्रज्ञा, | मनन | | Know thyself |
| सम्यक्-चारित्र | शील | कर्म, | निदिध्यासन | Be thyself |

## त्रिविध साधना मार्ग और मुक्ति :

कुछ भारतीय विचारकों ने इस त्रिविध साधना मार्ग में से एक पक्ष को ही मोक्ष की प्राप्ति का साधन माना है। आचार्य शंकर ने ज्ञान को और रामानुज ने भक्ति को मोक्ष का साधन माना है। परन्तु जैन दार्शनिक ऐसी कोई भी एकांतवादिता स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार ज्ञान, कर्म और भक्ति की एकत्रित साधना मोक्षप्राप्ति का मार्ग है। इनमें से किसी एक का अभाव होने पर मोक्षप्राप्ति संभव नहीं। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार दर्शन के बिना ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञान के अभाव में आचरण सम्यक् नहीं होता। सम्यक् आचरण के अभाव में मुक्ति नही मिल सकती। इस प्रकार मुक्ति की प्राप्ति के लिए तीनों अंग होना आवश्यक है।[१६६]

## सिद्ध किसे कहें ?

जिन्होंने आठ कर्मों को उनके अवान्तर भेदों सहित नष्ट कर दिया है, जो तीनों लोकों के मस्तक के शिखर स्वरूप सिद्धशिला पर स्थित हैं, जो दुःखरहित हैं, सुखरूपी सागर में निमग्न हैं, निरंजन हैं, नित्य हैं, आठ गुण सहित हैं, अनवद्य अर्थात् निर्दोष हैं, कृतकृत्य हैं जिन्होंने समस्त पदार्थों को जान लिया है, जो वज्रशिला निर्मित अभग्न प्रतिमा के समान हैं, अभेद्य आकार से युक्त हैं, उन्हें सिद्ध कहते हैं।[१७०]

जो कर्म-मल से मुक्त हैं, ऊर्ध्व लोक के अंत को प्राप्त कर जो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बनकर अनंत अतींद्रिय सुख का अनुभव कर रहे हैं, वे सिद्ध हैं।[१७१] जिनके अष्ट कर्म नष्ट हुए हैं, जो शरीर-रहित हैं, जो अनंत सुख तथा अनंत ज्ञान में लीन हैं और जो परम प्रभुत्व को प्राप्त हैं, ऐसे आत्मा सिद्ध हैं, मुक्त हैं।[१७२] जिन्होंने आठ कर्मों के बंधन को नष्ट कर दिया है, जो आठ महागुणों से युक्त हैं, जो लोकाग्र भाग पर स्थित हैं और नित्य हैं, वे सिद्ध हैं।[१७३] शुद्ध चेतना अर्थात् केवल ज्ञान और केवल दर्शन से युक्त जीव सिद्ध मुक्त हैं।[१७४] सभी सिद्ध जीव आत्मशक्ति की दृष्टि से समान हैं, उनमें कोई भी अंतर नहीं है।

**सिद्धों के भेद :** अष्ट कर्मों का क्षय करके जो जीव सिद्ध हुए हैं, उनके पंद्रह भेद इस प्रकार हैं -

१) तीर्थसिद्ध, २) अतीर्थ सिद्ध, ३) तीर्थंकर सिद्ध, ४) अतीर्थंकर सिद्ध, ५) स्वयंबुद्ध सिद्ध, ६) प्रत्येकबुद्ध सिद्ध, ७) बुद्धबोधित सिद्ध, ८) स्वलिंगसिद्ध, ९) अन्यलिंग सिद्ध, १०) गृहस्थलिंग सिद्ध, ११) स्त्रीलिंग सिद्ध, १२) पुरुषलिंग सिद्ध, १३) नपुंसक लिंग सिद्ध, १४) एक सिद्ध और १५) अनेक सिद्ध।

ऊपर लिखित पंद्रह भेदों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है-[१७५]

| | | |
|---|---|---|
| १) तीर्थ सिद्ध | : | तीर्थ यानी साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका ऐसे चतुर्विध संघ की स्थापना होने के पश्चात् हुए सिद्ध। |
| २) अतीर्थ सिद्ध | : | तीर्थ की स्थापना से पहले हुए सिद्ध। |
| ३) तीर्थंकर सिद्ध | : | तीर्थंकर पद प्राप्त करने के पश्चात् हुए सिद्ध। |
| ४) अतीर्थंकर सिद्ध | : | तीर्थंकरों के अतिरिक्त हुए सिद्ध। |
| ५) स्वयंबुद्ध सिद्ध | : | बाह्य निमित्त के बगैर स्वयं ही बोधि को प्राप्त हुए सिद्ध। |
| ६) प्रत्येक बुद्ध सिद्ध | : | किसी बाह्य निमित्त से बोध प्राप्त कर हुए सिद्ध। |

७) बुद्धबोधित सिद्ध : आचार्य आदि का उपदेश सुनकर हुए सिद्ध।
८) स्वलिंग सिद्ध : जैन साधु के वेष में हुए सिद्ध।
९) अन्यलिंग सिद्ध : जैनेतर साधु के वेष में हुए सिद्ध।
१०) गृहस्थलिंग सिद्ध : गृहस्थ के वेष में हुए सिद्ध।
११) स्त्रीलिंग सिद्ध : स्त्री शरीर से हुए सिद्ध।
१२) पुरुषलिंग सिद्ध : पुरुष शरीर से हुए सिद्ध।
१३) नपुंसकलिंग सिद्ध : नपुंसक शरीर से हुए सिद्ध।
१४) एक सिद्ध : एक समय में हुए एक सिद्ध।
१५) अनेक सिद्ध : एक समय में हुए अनेक सिद्ध।

इन पंद्रह[१७५] प्रकार के सिद्धों का निर्वाणसुख, मोक्षसुख पूर्णतः एक जैसा ही होता है। उसमें किसी तरह का अंतर नहीं होता। इन सिद्धों के भेदों में सब धर्मों के सिद्ध आत्माओं का समावेश होता है और इसीलिए जैन धर्म सर्वधर्म संग्राहक है, ऐसा कहा जाता है।

ये सारे सिद्ध सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र के कारण सिद्ध होते हैं या मोक्ष प्राप्त करते हैं। त्रिविध मोक्षमार्ग के बिना किसी को भी सिद्धगति प्राप्त नहीं होती।

## सिद्ध आत्माओं के नाम :

सब कर्मों से मुक्त हुए सिद्ध आत्माओं के अनेक नाम हैं। उनमें से कुछ नाम ये हैं -

१) सिद्ध : जो कृतार्थ हुए हैं, वे सिद्ध हैं अथवा जो लोकाग्र में स्थित हुए हैं और जिनका पुनरागमन नहीं होता, वे सिद्ध हैं अथवा जिनका कर्म-मल ध्वस्त हुआ है, जो कर्मप्रपंच से मुक्त हुए है, वे सिद्ध हैं।[१७७]
२) बुद्ध : जिन्हें संपूर्ण ज्ञान और संपूर्ण दर्शन है और जो सब कर्मों के क्षय से मुक्त हुए हैं, वे बुद्ध हैं।
३) मुक्त : जिनका कोई भी बंधन शेष नहीं, वे मुक्त हैं।
४) परिनिवृत्त : कर्मकृत विकारों से सर्वथा रहित होकर जो स्व स्वरूप में निमग्न है। वे परिनिवृत्त हैं।
५) सर्वदुःखप्रहीण : जो सब दुःखों का अंत करते हैं, वे सर्वदुःख प्रहीण हैं।
६) अन्तकृत : जिन्होंने पुनर्भव का अंत किया, वे अन्तकृत हैं।

७) पारंगत : जिन्होंने अनादि, अनंत चार गति रूप दीर्घ संसार-अरण्य को पार किया है, वे पारंगत हैं।

८) परिनिवृत्त : सब प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक क्लेशों से जो रहित हैं, वे परिनिवृत्त हैं।[१७८]

**सिद्धात्मा का स्वरूप :**

सुधर्मा स्वामी ने अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहा, "हे जम्बू! मुक्तात्मा (सिद्धात्मा) का स्वरूप दिखाने के लिए कोई भी शब्द नहीं हैं, तर्क की भी वहाँ गति नहीं है, बुद्धि वहाँ तक नहीं पहुँचती है, उनकी कोई उपमा भी नहीं है, हे शिष्य! सिद्धात्मा सकल कर्मरहित संपूर्ण ज्ञानमय दशा में विराजमान हैं।

निर्वाण या मुक्ति आत्मा की शून्यावस्था नहीं, परंतु उस परम आनंद में आत्मा का प्रवेश है, जिसका अंत नहीं। इसमें शरीर का वियोग तो है, परंतु चेतना का अभाव नहीं है। सिद्धात्मा सब मनोवेगों से रहित होने से आचरणशून्य होता है। सिद्धात्मा आकार में दीर्घ या ह्रस्व आदि नहीं है, वह काला, सफेद, लाल, पीला, या नीला नहीं हैं। वह कडुआ नहीं, तीखा नहीं, खट्टा नहीं, मीठा नहीं, ठंडा नहीं, गर्म नहीं। वह गोल नहीं, त्रिकोण नहीं, चौरस नहीं, वृत्ताकार नहीं। वह सुंगधित नहीं, दुर्गंधित नहीं, भारी नहीं, हल्का नहीं, स्निग्ध नहीं, रूक्ष नहीं। वह पुनर्जन्म लेनेवाला नहीं, आसक्त नहीं, स्त्री नहीं, पुरुष नहीं, नपुंसक नहीं। वह ज्ञाता है, परिज्ञाता है। उसके लिए कोई भी उपमा नहीं, वह अरूपी है, इसलिए उसका वर्णन करना अशक्य है। उसके वर्णन के लिए कोई भी शब्द समर्थ नहीं हैं। वह शब्दरूप, वर्ण रूप, गंधरूप, रसरूप और स्पर्शरूप नहीं है।[१७९]

मुक्त-अवस्था कर्म और कामना से मुक्त अवस्था है। यह ऐसी अवस्था है कि उसमें कोई भी परिवर्तन नहीं होता। यह एक रागरहित और वर्णातीत शांति की अवस्था है, वीतराग दशा है।

इस अवस्था में भूतकाल के कर्म नष्ट हो जाते है। वर्तमानकाल में कर्म का बंध नहीं होता और भविष्यत् काल में किसी भी प्रकार का कर्म नहीं होता है। इस दशा में मात्र शुद्ध आत्मा ही विद्यमान रहता है। शरीर आदि नहीं होते हैं। मुक्त आत्मा शरीर और शरीरजन्य क्रिया जन्म, जरा, मृत्यु आदि से रहित होता है। वह सत्-चित्-आनंदमय होता है।

**सिद्धों का सुख :** सुख दो प्रकार का है - १) लौकिक सुख और २) अलौकिक सुख। लौकिक सुख विषययुक्त होने से वह दुःख में परिवर्तित हो जाता है, परंतु अलौकिक सुख विषयरहित और इन्द्रियातीत होने से उसमें सिर्फ सुख ही सुख है।

सिद्धों का सुख आलौकिक सुख है। कर्मजन्य क्लेशों से रहित होने के कारण मोक्ष अवस्था में जो सुख है वह अनुपम है।[१८०] यदि कोई यह प्रश्न पूछे कि शरीर रहित मुक्त जीव का सुख कैसा होगा? तो उसके उत्तर में कहा जा सकता है कि इस लोक में विषय, वेदना का अभाव, विपाक और मोक्ष इन चार शब्दों में 'सुख' शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे अग्नि सुखरूप है, वायु सुखरूप है। यहाँ विषय जन्य सुख है। दुःख का अभाव होने पर मनुष्य कहता है- 'मैं सुखी हूँ।' यहाँ वेदना के अभाव में सुख शब्द प्रयुक्त हुआ है। पुण्यकर्म के उदय से इन्द्रियों के इष्ट पदार्थों को उपलब्धि से सुख होता है। यह कर्म विपाक जन्य सुख है, किन्तु कर्मजन्य क्लेशों से छुटकारा प्राप्त होने पर जो परम सुख मिलता वह मोक्ष का सुख है। मोक्ष में मुक्त जीव का शरीर नहीं है और किसी न किसी कर्म का उदय है, फिर भी कर्मजन्य क्लेशों से छुटकारा मिलने पर उन्हें सर्वश्रेष्ठ सुख प्राप्त होता है। सुख आत्मा का स्वाभाविक गुण है। परंतु मोह आदि कर्मों के उदय काल में उसका स्वाभाविक परिणमन नहीं होता, दुःखरूप वैभाविक परिणमन होता है। मुक्त जीव के इन मोहादि कर्मों का सर्वथा अभाव होता है। इसलिए उनका सुख स्वाभाविक सुख है। उनके जैसा सुख संसार में किसी भी अन्य प्राणी को नहीं मिलता।[१८१]

संपूर्ण संसार में मुक्त जीव के सुख जैसा अन्य सुख नहीं है, इसलिए उनके सुख को निरूपम माना गया है। लिंग अर्थात् हेतु से उसका अनुमान भी सम्भव नहीं है। उसकी कोई भी उपमा नहीं है, वस्तुतः मुक्त जीवों का सुख अलिंग है हेतुरहित है, इसलिए वह अनुमेय नहीं है, उपमा रहित होने से है।[१८२] मुक्त जीव का सुख अरिहन्त भगवान को प्रत्यक्ष दिखाई देता है और उनके द्वारा ही उसे बताया जाता है। अज्ञानी लोग उसे नहीं समझ सकते।[१८३]

मोक्षसुख का माहात्म्य बताते समय ऋषि अरिष्टनेमि राजा सगर से कहते हैं - ''नृपश्रेष्ठ! मोक्ष का सुख ही वास्तविक सुख है। मूढ़ मनुष्य में उस श्रेष्ठ सुख की कल्पना करने की भी शक्ति नहीं है। मैं सर्वज्ञ हूँ ऐसा अहंकार होने से, वह सुज्ञों द्वारा किए गए उपदेश की अवहेलना कर, धनधान्य के उपार्जन को ही सर्वस्व मानता है। पुत्र और पशु इनमें ही आसक्त रहता है। सुखोपभोग संपादन करने के लिए अधर्म मार्ग का भी अवलंबन करता है। आखिर दुर्लभ मानव जन्म व्यर्थ गंवाता है।

जिसकी बुद्धि सुखोपभोग में आसक्त होती है, जिनका मन संसार की प्रवंचनाओं से अशान्त रहता है, ऐसे पुरुष की चिकित्सा करना बड़ा कठिन होता है, क्योंकि मूढ़ मनुष्य स्नेह के बंधनों से स्वयं को बांध लेता है, उसे उनसे स्वतंत्र होने की इच्छा भी नहीं होती। मोक्ष प्राप्त करने की उसकी पात्रता भी नहीं होती।

संसार चक्र से बाहर निकलने की उसकी इच्छा नहीं होती। सुसंगति के संस्कार उसमें नहीं होते हैं। संसार के दुःखों से त्रस्त होने पर भी कोल्हू के बैल की तरह जन्म-मृत्यु के फेरे में उसे घूमना पड़ता है।[१८४] वस्तुतः भवतृष्णा समाप्त होने पर ही मुक्ति प्राप्त होती है।[१८५]

जो सब विकल्पों से रहित होकर परम समाधि को प्राप्त करते हैं, वे आनंद का अनुभव करते हैं। वही मोक्ष सुख है। तीनों कालों में मनुष्य, तिर्यंच और देवों को जो सुख मिलता है, वह समस्त सुख इकट्ठा करने पर भी सिद्ध के एक क्षण के सुख की बराबरी नहीं कर सकता। लोक में विषयों द्वारा प्राप्त जो सुख है, और स्वर्ग का जो महान् सुख है, वह सुख वीतराग के सुख के अनंत हिस्से से बराबरी नहीं कर सकता।[१८६] अमूर्त ऐसे मुक्त जीवों को जन्म-मरण आदि द्वंद्व की बाधाएँ नहीं होती इसलिए सिद्ध अवस्था में वे परम सुखी हैं।[१८७]

सिद्ध जीवों को इन्द्रिय जन्य सुख नहीं होता, क्योंकि उनका अनंत ज्ञान और अनंत सुख अतीन्द्रिय है।[१८८] सिद्धों का सुख संसार के विषयों से अतीत, स्वाधीन और अव्यय है। उस अविनाशी सुख को अव्याबाध भी कहते हैं।[१८९] जिस अवस्था में इन्द्रियों से भिन्न, केवल बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य आत्यन्तिक सुख विद्यमान है, वह मोक्ष है।[१९०]

निरतिशय, अक्षय और अनंत सुख मोक्ष में ही उपलब्ध होता है।[१९१]

**कर्मक्षय के पश्चात् के कार्य :** कर्मों का संपूर्ण क्षय होने पर मुक्त जीव लोक के अंत तक उर्ध्व गति करते हैं।[१९२] और बाद में एक ही समय में तीन कार्य होते हैं -

१) शरीर का वियोग, २) सिद्धमान गति और ३) लोकान्त की प्राप्ति।

**१) शरीर का वियोग :** कर्म पूर्णतया नष्ट होने पर शरीर की वर्तमान अवस्था के लिए कुछ भी कारण शेष नहीं रहता और नवीन शरीर के लिए भी कुछ भी कारण बाकी नहीं रहता। इसलिए वर्तमान शरीर का वियोग होता है और नवीन शरीर उत्पन्न नहीं होता। मोक्ष प्राप्त होने पर जन्म-मरण रहित अवस्था प्राप्त होती है। इस प्रकार कर्मों का क्षय होने पर मोक्ष की सिद्धि होती है।

**२) सिद्धमान गति :** कर्मों का अभाव है इसलिए मुक्त आत्मा की गति सिद्धमान गति होती हे। सिद्धमान गति यानी ऊर्ध्व दिशा की ओर की गति है। क्योंकि जीव स्वभाव से ऊर्ध्वगामी है, परंतु कर्मों के कारण जीव कभी अधोगति और तिर्यक गति करता है, परंतु कर्मों के छूट जाने के कारण जीव अपने स्वभाव के अनुसार ऊर्ध्व-गति करता है।

छह द्रव्यों में जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य ही गतिमान हैं। इनके अलावा कोई भी द्रव्य गतिमान नहीं है। पुद्गल द्रव्य अधोगतिशील है और जीव द्रव्य ऊर्ध्वगतिशील है । यही उनका स्वभाव है। स्वभाव के विरुद्ध गति कर्म आदि के कारण से होती है।[१९३]

जिस प्रकार मिट्टी के लेप से वजनदार तुंबड़ी पानी में डूब जाती है, परंतु जब मिट्टी का लेप निकल जाता है, तब वह ऊपर आती है, उसी प्रकार हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार, आदि के कर्म-भार से परवश आत्मा संसार में यहाँ-वहाँ भटकता है, परन्तु कर्मबंधन से मुक्त होते ही ऊर्ध्वगमन करता है और लोक के अग्रभाग पर जाकर स्थित हो जाता है।

जिस प्रकार ऊपर का छिलका निकलते ही एरंड का बीज ऊपर की ओर जाता है, उसी प्रकार भव प्राप्त कराने वाली गति और नामकर्म का बंधन दूर होते ही मुक्त मनुष्य की स्वाभाविक ऊर्ध्वगति होती है।[१९४]

जिस प्रकार तिरछी बहनेवाली, वायु के अभाव से दीपशिखा स्वाभाविकतया ऊपर की ओर होकर जलती है, उसी प्रकार मुक्तात्मा भी अनेक कर्म-विकारों के अभाव के कारण अपने ऊर्ध्वगति के स्वभाव से ऊपर ही जाता है।[१९५]

बंध और बंध के कारणों का अभाव होने पर आत्मिक विकारों का पूर्ण होना यही मोक्ष है। ज्ञानदर्शन और वीतराग-भाव की पराकाष्ठा ही मोक्ष है। ऐसे अनंत सुखमय मोक्ष स्थान पर सिद्ध भगवान वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार अघाती कर्मों का क्षय होने पर औदारिक, तेजस् और कार्मण इन तीन शरीरों का सर्वथा क्षय करके सीधी अनुगति श्रेणी से एक समय में ज्ञानोपयोग युक्त होकर सिद्ध गति में विराजमान होते हैं और सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर सब दुःखों का अंत करते हैं।[१९६]

**३) लोकान्त प्राप्ति** : सिद्ध कहाँ जाकर रुकते हैं, कहाँ रहते हैं, कहाँ शरीर का त्याग करते है और कहाँ जाकर सिद्ध होते हैं आदि प्रश्न उत्तराध्ययन सूत्र में पूछे गए हैं। उनके उत्तर इस प्रकार दिए गए हैं - सिद्ध लोक की सीमा पर रुकते हैं, अलोक में गति नहीं करते क्योंकि वहाँ गति-सहायक धर्म-द्रव्य का अभाव है। इसलिए अलोकाकाश में सिद्ध आत्मा की गति नहीं होती। इसलिए लोकाकाश पार करके वे अलोकाश में जा नहीं सकते। लोकाग्र भाग पर प्रतिष्ठित होते हैं, स्थित होते हैं। मनुष्य लोक में शरीर का त्याग करते हैं और लोकाग्र भाग पर जाकर सिद्ध होते हैं।[१९७]

सिद्ध भव प्रपंच से मुक्त होकर श्रेष्ठ गति प्राप्त करते हैं और अनुपम सुख से युक्त होते हैं।[१९८]

जिसे अनंत चतुष्क प्राप्त हुआ है, जो लोकान्त को प्राप्त हुए हैं वे सिद्धात्मा लोकाग्र पर स्थित होते है। उन सिद्धों के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीयादि आठ कर्म नष्ट हुए हैं उनका पुनर्जन्म नहीं होता अर्थात् इस चतुर्गति रूप संसार में उन्हें फिर से जन्म नहीं लेना पड़ता जिनेश्वर द्वारा कथित मुक्ति का यही स्वरूप है।[१९९]

इस प्रकार सिद्धात्मा निरतिशय, आलौकिक, अक्षय, अनंत, अव्याबाध दशा में आत्मलीन रहते हैं।

**मोक्ष की सिद्धता** : मोक्ष प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है परंतु उसके संबंध में हम अनुमान कर सकते हैं। जिस प्रकार रहटका (Wheel) (कूऐं पर से पानी खींचने का चाक) घूमना उसके लकड़े के घूमने पर अवलंबिल है। लकड़े का घूमना बंद होता है और चाक का घूमना भी बंद होता है। उसी प्रकार कर्मोदय रूपी बैल के चलने पर ही चार गतिरूपी चक्र घूमते रहते हैं और यह चतुर्गति अनेक प्रकार के शारीरिक, मानसिक आदि वेदनारूपी रहट को को फिराती है। कर्मोदय की निवृत्ति होने पर चतुर्गति का चक्र बंद पड़ता है और वह बंद होने पर संसार रूपी रहट को की गति रुक जाती है। इसी को ही मोक्ष कहते हैं।

इस प्रकार इस सामान्य तर्क या शुद्ध युक्तिवाद से मोक्ष का अस्तित्व सिद्ध होता है। सभी विद्वानों ने मोक्ष को अप्रत्यक्ष होने पर भी उसका सद्भाव मान्य किया है और मोक्ष मार्ग की शोध करने लगे हैं, जिस प्रकार भावी सूर्य ग्रहण, चन्द्रग्रहण आदि प्रत्यक्ष सिद्ध न होते हुए भी आगम द्वारा उसका ज्ञान होता है और वैसे ही मोक्ष का अस्तित्व भी आगम द्वारा सिद्ध होता है। प्रत्यक्ष अस्तित्व न होने पर यदि मोक्ष की कल्पना अमान्य करने में आवें तो सभी विद्वानों के सिद्धान्तों को क्षति पहुँचती हैं। कारण सभी विद्वान किसी न किसी प्रकार से अप्रत्यक्ष पदार्थ का अस्तित्व भी मान्य करते हैं।[२००]

जैन दर्शन की यह विशेषता है कि यहाँ गुण को महत्ता है। व्यक्ति, जाति, लिंग, कुल, सम्प्रदाय आदि को महत्त्व नहीं है। जैन दर्शन में जीवादि नवतत्त्वों में से जीव और अजीव ये दो तत्त्व ही मूल तत्त्व माने गये हैं। आश्रव, पुण्य, पाप और बंध ये चार तत्त्व संसार और उसके कारणभूत राग और द्वेषादि का विवेचन करते हैं। संवर और निर्जरा ये दो तत्त्व संसार से मुक्ति की साधना का विवेचन करते हैं। अंतिम मोक्ष तत्त्व साधना का फल या परिणाम है। जीव साधना के द्वारा स्वयं अपने स्वभाव को प्रकट करके तथा उसमें ही रममाण होकर आत्मा से परमात्मा बन सकता है। नर से नारायण बन सकता है। जीव से शिव बन सकता है। उस परमात्म पद की साधना और उसका स्वरूप समझने के लिये

नवतत्त्वों का स्वरूप जानना चाहिये। नवतत्त्वों के स्वरूप को समझकर उसमें प्रवृत्त होना यही तत्त्वज्ञान की सार्थकता है। कहा है :-

बुद्धेः फलं तत्त्वविचारणं च
देहस्य सारं व्रतधारणं च ।

तात्त्विक विचार करना यह बुद्धि का सार है और व्रत (संयम) का पालन करना यह देह का सार है।

# सन्दर्भ सूची


संकेत- उ. नि. = उपरिनिर्दिष्ट

१. क) अभयदेवसूरि टीका - स्थानांगसूत्र - स्था. १, पृ. १५
जीवकर्मवियोगश्च मोक्ष उच्यते ।
ख) उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ. १०, सू. ३,
कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः ।३।

२. माधवाचार्य - सर्वदर्शनसंग्रह (भाष्यकार - उमाशंकर शर्मा "ऋषि") (आर्हतदर्शनम्) पृ. १६७.
मिथ्यादर्शनादीनां बन्धहेतूनां निरोधेऽभिनवकर्माभावान्निर्जरा हेतुसंन्निधानेनार्जितस्य कर्मणो निरसनादात्यन्तिककर्ममोक्षणं मोक्षः ।
कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षणं मोक्षः ।

३. संयोजक-उदयविजयगणि-नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह
(हेमचंद्रसूरिसप्ततत्त्वप्रकरणम्), पृ. १७.
अभावे बन्धहेतुनां, घातिकर्मक्षयोद्भवे ।
केवले सति मोक्षः स्याच्छेषणां कर्मणां जये ।।१३८।।

४. संयोजक - उदयविजयगणि - नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह
(उमास्वातिनवतत्त्वप्रकरणम्), पृ. ७.

५. उ. नि. (चारित्रचक्रवर्ती श्री जयशेखरसूरि) - (नवतत्त्वप्रकरणरणम्), पृ. २९ मोक्खो कम्माऽभावो।

६. पं. विजयमुनि शास्त्री - समयसार प्रवचन पृ. ८९.

७. संयोजक - उदयविजयगणि - नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह - (हेमचंद्रसूरि सप्ततत्त्वप्रकरणम्) - पृ. १७.
सुरासुरनरेन्द्राणां यत् सुखं भुवनत्रये। स स्यादनन्तभोगोऽपि, न मोक्षसुखसम्पदः ।।

८. देवेन्द्रमुनि शास्त्री - जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण - पृ. २२४.

९. क) श्री मधुकर मुनि - जैन तत्त्वदर्शन - पृ. ३०-३१
ख) उत्तराध्ययनसूत्र - अ. २८, गा. २,
नाणं च दसणं चेव चरित्तं च तवो तहा ।
एस मग्गो त्ति पन्नतो जिणेहिं वरदंसिहिं ।।

१०. क्षु. जिनेंद्रवर्णी - जैनेंद्रसिद्धांतकोश - भाग -३, पृ. ३३३
क) निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलंकस्याशरीरस्थात्मनोऽचिन्त्य स्वाभाविकज्ञानादिगुणभव्याबाधसुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष इति।
ख) "मोक्ष असने" इत्येतस्य बंधाभावेसाधनो मोक्षणं मोक्षः आसनं क्षेपणमित्यर्थः स आत्यन्तिकः सर्वकर्मनिक्षेपो मोक्ष इत्युच्यते ।
ग) मोक्ष्यते अस्योते येन असनमात्रं वा मोक्षः ।
घ) मोक्ष इव मोक्षः । क उपमार्थः । यथा निगडादिद्रव्यमोक्षात् सति स्वातन्त्र्ये अभिप्रेतप्रदेशगमनादेः पुमान् सुखी भवति, तथा कृत्स्नकर्मवियोगे सति स्वाधीनात्यन्तिकज्ञानदर्शनानुपमसुख आत्मा भवति।

११. - उ. नि.
क) जं अप्पसहावा दो मूलोत्तरपयडिसंचियं मुच्चइ । तं मुक्खं अविरुद्धं।
ख) आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणं मोक्षः ।

१२. अमृतचंद्रसूरि - तत्त्वार्थसार (संपादक पं. पन्नालाल साहित्याचार्य)
अष्टम् अधिकार, श्लो. २ पृ. १९२
अभावाद् बन्धहेतूनां बद्धनिर्जरया तथा।
कृत्स्नकर्मप्रमोक्षो हि मोक्ष इत्याभिधीयते ।।२।।

१३. हरिभद्रसूरि - षड्दर्शनसमुच्चय (सं. डॉ. महेन्द्रकुमार जैन)
का. ५२, पृ. २८४
सुरासुरनरेन्द्रणां यत्सुखं भुवनत्रयेः
तत्स्यादनन्तभागेऽपि न मोक्षसुखसंपदाः ।।१।।
स्वस्वभावजमत्यक्षं यस्मिन्वै शाश्वतं सुखम् ।
चतुर्वर्गाग्रणीत्वेन तेन मोक्षः प्रकीर्तितः ।।२।।

१४. क) आचार्य श्री आनंदऋषिजी - जैनधर्म के नवतत्त्व - पृ. २७
ख) मधुकर मुनि - जैन तत्त्वदर्शन - पृ. २९-३१.

१५. क) भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक-भा. १, अ. सू. १, पृ. २७१
ख) पं. मुनिश्री नेमिचंद्रजी - श्री अमरभारती - खण्ड २, पृ. ९९.

१६. उ. नि. पृ. १००-१०१

१७. क) सं. पं. मुनि श्री नेमिचंद्रजी - अमर भारती (भगवान महावीर निर्वाण विशेषांक), द्वितीय खंड, पृ १००. (१९७४)

(प्रो. श्रीरंजनसूरिदेव-विभिन्न दर्शनों में निर्वाण: सिद्धान्त और व्याख्या)

ख) भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक (सं. प्रो. महेन्द्रकुमार जैन), भाग १, अ. १, सू. १, पृ. २७१

ग) गणेशमुनि शास्त्री - आधुनिक विज्ञान और अहिंसा, पृ. १६ यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः।

१८. क) सं. पं. मुनिश्री नेमिचंदजी - अमरभारती (भगवान महावीर निर्वाण विशेषांक - १६७४) द्वितीय खंड, पृ. १०१. पृ. ८७. उ. नि.

ख) दीपो यथा निवृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित स्नेहक्षयात् केवलमेति शांतिम्।।
जीवस्तथा निवृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचित् क्लेशक्षयात्केवलमेति शांतिम्।।

ग) राहूल सांकृत्यायन - दर्शनदिग्दर्शन - अ. १५. पृ ५३३

१६. सं. पं. मुनिश्री नेमिचंद्रजी - अमरभारती (भगवान महावीर निर्वाण विशेषांक - १६७४), द्वितीय खंड, पृ. १०१

२०. गीता प्रेस, गोरखपुर-श्वेताश्वतरोपनिषद्, अ. २ श्लो.१५, पृ. १६०.
यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं, दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं, ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशैः।।१५।।

२१. अनु. मुकुंद गणेश मिरजकर-मनुस्मृति-अ ६, श्लो. ७४, पृ. १८३
सम्यग्दर्शनसंपन्नं, कर्मभिर्न निबद्ध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ।।७४।।

२२. विजयमुनि शास्त्री - भावना योग की साधना - पृ. ६२
मोक्षस्य नहि वासोऽस्ति, न ग्रामान्तरमेव वा ।
अज्ञान - हृदय - ग्रन्थि - नाशो, मोक्ष इति स्मृतः ।।

२३. उ. नि. पृ. ६३
द्वे पदे बन्ध-मोक्षाय, निर्ममेति ममेति च ।
ममेति बध्यते जन्तुनिर्ममेति विमुच्यते ।।

२४. सं., पं. मुनिश्री नेमिचंद्रजी-अमरभारती-द्वितीय खंड-(१६७४) पृ. १०२-१०३

२५. उत्तराध्ययन सूत्र - अ. २३, गा. ८१, ८३
अत्थि एगं धुवं ठाणं लोगग्गम्मि दुरारूहं ।
जत्थ नत्थि जरा न मच्चू वाहिणो वेयणा तहा ।।८१।।
निव्वाणं ति अबाहं ति सिद्धि लोगग्गमेव य ।
खेमं सिवं अणाबाहं जं चरन्ति महेसिणो ।।८३।।

२६. उ. नि. गा. ८४.
तं ठाणं सासयं वासं लोगग्गम्मि दुरारुहं ।
जं सपंत्ता न सोयन्ति भवोहन्तकरा मुणी ।।८४।।
२७. उ. नि. अ. २८, गा. ३६.
खवेत्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य ।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा पक्कमन्ति महेसिणो ।।३६।।
पं. मुनिश्री नेमिचंद्रजी-अमर भारती (भ. महावीर विशेषांक-१९७४)
(मुनि नेमिचंद्र-निर्वाण की व्याख्या) - पृ. ८७-८८.
२८. निर्गतो वातः यस्मात् तन्निर्वाणम् अथवा निवृतिमितं प्राप्तं निर्वाणम्।
२९. जह दीवो निव्वाणो परिणमंतरमिओ तहा जीवो ।
भण्इ परिणिव्वाणो पत्तोऽणावाहपरिणामं ।
पं. मुनिश्री नेमिचंद्रजी - अमरभारती - पृ. ८८
३०. परमात्मनि जीवात्मलयः सेति त्रिदण्डिनः ।
लयो लिंगव्ययो, जीवनाशश्च नेष्यते ।।
३१. निर्वाणं आत्मस्वास्थ्ये - आचारांग चूर्णि ४ अ.
३२. निर्वाणं कर्मकृतविकारराहित्ये - आचारांग चूर्णि अ. ४
३३. सकलसंतापरहितत्वे ।
३४. सर्वद्वन्द्वोपइतिभावे, सूत्रकृतांग. १ श्रु. १ अ. १३.
३५. कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः तत्त्वार्थसूत्र, १०/१
३६. पुंसः स्वरूपावस्थानं सेति सांख्याः प्रवक्षते।
३७. निर्वाणं शान्तिं परमाम् - गीता
३८. राग-द्वेष-मद-मोह-जन्म-जरा-रोगदिदुःखक्षयरूपा ।
सतो विद्धमानस्य जीवस्य विशष्टाः, काचिदवस्था निर्वाणम् ।।
पं. मुनिश्री नेमिचंद्रजी - अमरभारती - पृ. ८९.
३९. णवि दुःखं, णवि सुक्खं, णवि पीडा णेव विज्जदे वाहा ।
णवि मरणं, णवि जणणं, तत्थेव य होई णिव्वाणं ।।
णवि इंदिय - उवसग्गा, णवि मोहो, विम्हिओ य णिद्दा य ।
णेव तिण्हा णेव छुहा, तत्थेव हवदि णिव्वाणं ।।-नियमसार १७८-७९
४०. निर्जितमदमदनानां वाक्कायमनोविकाररहितानाम् ।
विनिवृत्तपराशानाभिधेयं मोक्षः सुविहितानाम् ।।
४१. यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम । - गीता
४२. अमतं संति निब्बाणं पदमच्युतं । - सुत्तनिपात पारायणवग्ग

४३. सिवमयलमरूअमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्तिसिद्धिगईनामधेयं ठाणं संपत्ताणं - नमोत्थुणं (शुक्रस्तव)
पं. मुनिश्री नेमिचंद्रजी - अमर भारती - पृ. ८९-९०
४४. जया जोगे निरूंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ ।
तया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ ।। - उत्तराध्ययन
४५. निष्केवलं ज्ञानम् - निर्वाणोपनिषद्
४६. विज्जदि केवलणाणं केवलसोक्खं, च केवलवीरियं ।
केवलबोहि अमुत्तं अत्थित्तं सप्पदेसत्तं ।।- नियमसार १८१
पं. मुनिश्री नेमिचंद्रजी - अमर भारती - पृ ९०-९१
४७. निव्वाणं परमं सुखं - धम्मपद
४८. अव्वाबाहं अवट्ठाणं अव्याबाधं व्याबाधावर्जितमावस्थानं जीवस्यासौ मोक्षः ।- अभि. रा. खंड ६, १-४३१
पं. मुनिश्री नेमिचंद्रजी - अमर भारती - पृ. ९०-९१
४९. सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का तत्थ न विज्जइ, मइ तत्थ न गाहिया. .... उवमा न विज्जए, अरूवी सत्ता, अपयस्य पयं णत्थि। आचा. १/५/६/१७१.
५०. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह - तैत्तरीय २/६
५१. न चक्षुषा गृह्यते, नाऽपि वाचा । - मुंडकोपनिषद्
५२. तया लोगमत्थयत्थो सिद्धो हवइ सासओ - दशवै. अ. गा. ४०.
५३. न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।
यदगत्वा न निवर्तन्ते, तद्धाम परमं मम ।। - गीता १५ ।६.
यत्थ आपो न पठवी, तेजो वायो न गाधति ।
न तत्थ सुक्का जीवांति आदिच्चो न प्पकासति।
न तत्थ चंदिमा भाति, तमो तत्थ न विज्जति । - उदान. १/१०.
५४. क) क्षु. जिनेन्द्र वर्णी - जैनेन्द्र सिद्धांत कोश - भा ३, पृ. ३३२ तं मुक्खं अविरुद्धं दुविहं खलु दव्वभावगदं।
ख) उ. नि. पृ. ३३३-३३४
निरवशेषाणि कर्माणि येन परिणामेन क्षायिकज्ञानदर्शनयथाख्यात चारित्रसंज्ञितेन अस्यन्ते स मोक्षः। विश्लेषो वा समस्तानां कर्मणां ।
ग) कुंदकुंदाचार्य - पंचास्तिकाय (अमृतचंद्र व जयसेनाचार्य टीका ) पृ. १७३.
कर्मनिर्मूलनसमर्थः शुद्धात्मोपलब्धिरूपजीवपरिणामो भावमोक्षः भावमोक्षनिमित्तेन जीव कर्मप्रदेशानां निरवशेषः पृथग्भावो द्रव्यमोक्ष इति।

घ) भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक - टीका - पृ. ४०, भा. १
सामान्यादेको मोक्षः, द्रव्यभावमोक्तव्यभेदातनेकोऽपि ।

च) कुंदकुंदाचार्य - पंचास्तिकाय - टीका - पृ. २१६
तत्र भावमोक्षः केवलज्ञानोत्पत्तिः जीवन्मुक्तोर्हत्पदमित्येकार्यः

छ) उ. नि. गा. १५२, पृ. २१८.

ज) प्रकाशक वेणीचंद सुरचंद - नवतत्त्व प्रकरण सार्थ - पृ. ८.

५५. क) कुंदकुंदाचार्य - पंचास्तिकाय - गा. १५०, १५१, पृ. २१६
हेदुमभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोधो ।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोधो ।।१५०।।
कम्मस्साभावेण य सव्वण्हू सव्वलोगदरसी य ।
पावदि इंदियरहिदं अव्वाबाहं सुहमणंतं ।।१५१।।

ख) उ. नि. गा. १५३, पृ. २२०
जो, संवरेण जुत्तो णिज्जरमाणोध सव्वकम्माणि ।
ववगदवेदा उस्सो मुयदि भवं तेण सो मोक्खो ।।१५३।।

५६. जैनाचार्य घासीलालजी म. - टीका - उत्तराध्ययनसूत्र, चतुर्थ भाग, अ. २९, पृ. ३५४-३५५.
प्रेमद्वेषमिथ्यादर्शनविजयेन.... सू. ७१-७२ व्याख्या.

५७. उमास्वाति-तत्त्वार्थसूत्र(अनु.पं. सुखलालजी) अ. १०, सू. १, पृ. ३८१
मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ।१।

५८. विद्यानंदस्वामि-आप्तपरीक्षा-कारिका ११४, ११५. पृ. २४६.
घातिकर्म - ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायाः, । ........
अघाति "नामगोत्रसद्वेद्यायु"

५९. भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक - भाग १, पृ. १४६

क) उदारं स्थूलमिति यावत्, ततो भवे प्रयोजने औदारिक मिति भवति।

ख) विक्रियाप्रयोजनं वैक्रियिकम् । ६ । अष्टगुणैश्वर्योगादेकानेकाणु महच्छरीरविविधकरणं विक्रिया, सा प्रयोजनमस्येति वैक्रियिकम् ।

ग) आह्रियते तदित्याहारकम् ।७।
सूक्ष्मपदार्थनिर्ज्ञानार्थमसंयमपरिजिहीर्षया व प्रमत्तसंयतेनाहियते निर्वर्त्यये तदित्याहारकम् ।

घ) तेजोनिमित्तत्वात्तैजसम् ।७। यत्तेजोनिमितं तत्तैजसमिदम्, तेजसि भवं वा तैजसमित्याख्यायते ।

६०. व्याख्या -मरूधर केसरी प्रवर्तक मुनिश्री मिश्रीमलजी कर्मग्रंथ-भाग२, पृ ४८.

६१. अमृतचंद्रसूरि - तत्त्वार्थसार - अष्टम अधिकार, श्लो. ७, पृ. १९३

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भावांकुरः ।।७।।

६२. अमृतचंद्रसूरि - तत्त्वार्थसार - श्लो. २६, पृ. १९८
कृत्स्नकर्मक्षयादूर्ध्वं निर्वाणमधिगच्छति ।
यथा दग्धेन्धनो वह्निर्निरूपादानसन्ततिः ।।२६।।

६३. आचार्य भिक्षु - नवपदार्थ - (मोक्षपदार्थ), पृ. ३३

६४. कुँवरविजयजी महाराज-अध्यात्मसार (नवतत्त्व विवेचन गुजराती),पृ.८६-९१.

६५. डॉ. सर्वपल्लि राधाकृष्णन् - गौतमबुद्ध जीवन और दर्शन पृ. ७२

६६. भट्टाकालंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक-भा. १, अ. १, सू.१ (टीका) पृ. १
श्रेयोमार्गप्रीतिपित्तिसात्मद्रव्यप्रसिद्धेः ।१।
चिकित्साविशेषप्रतिपत्तिवत् ।२।

६७. उ. नि. सर्वश्रेयोभ्यः पुंसो मोक्ष एव परं श्रेयः आत्यन्तिकानुपमत्रेयरत्वादिति।
उ. नि. कारणं तु प्रति विप्रतिपत्तिः पाटलिपुत्रमार्गविप्रतिपत्तिवत् ।६।

६८. भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक भाग १, अ. १, सू.१(टीका) पृ. २.
सर्वेषां हि प्रवादिनां यां तामवस्थां प्राप्त कृत्स्नकर्मविप्रमोक्ष एव मोक्षोऽभिप्रेत इति।

६९. आचार्यश्री विजयवल्लभसूरिजी म.-वल्लभ प्रवचन-भाग २, पृ. १५८-१६०.

७०. उत्तराध्ययन सूत्र - अ. २८, गा. ३०.
नादंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ।।३०।।

७१. क) उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ. १, सू. १.
सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।१।
ख) सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन (राजघाट, वाराणसी)-समणसुत्तं-
(संस्कृत-छाया-परिशोधन-पं. बेचरदासजी दोशी) श्लो. १६३, पृ. ६४.
दंसणणाणचरित्ताणि, मोक्खमग्गो त्ति सेविदव्वाणि ।
दर्शनज्ञानचारित्राणि, मोक्षमार्ग इति सेवितव्यानि ।

७२. विजय लक्ष्मणसूरीश्वरजी म. आत्मतत्त्वविचार-पृ. ६३७-६३८.
जीवाइ नवपयत्थे, जो जाणइ तस्स होइ सम्मतं।
भावेण सद्दहंतो, अयाणमाणे वि सम्मतं ।।

७३. अनु. जैनदिवाकर पं. मुनि श्री चौथमलजी म. -
श्लो, ४, पृ. २३७ निर्ग्रन्थ प्रवचन
तथ्यानाम् तु भावानां सद्भाव उपदेशनम् ।
भावेन श्रद्धतः, सम्यक्त्वं तत् व्याख्यातम् ।।

७४. संस्कृत-छाया ....पं. बेचरदासजी दोशी - समणसुत्तं -
श्लो. २२७, पृ. ७४
यथा सलिलेन न लिप्यते, कमालिनीपत्रं स्वभावप्रकृत्या ।
तथा भावेन न लिप्यते, कषायविषयैः सत्पुरुषः ।।६।।
७५. उ. नि. श्लो. २२२, पृ. ७२
सम्यकत्वविरहिताणं, सुष्ठु आवि उग्रं तपः चरन्तणं ।
न लभन्ते बोधिलाभं, अपि वर्षसहस्त्रकोटिभिः ।।४।।
७६. मुनिश्री न्यायविजयजी - जैनदर्शन (गुजराती) पृ. ६७-६८.
या देवे देवताबुद्धिर्गुरौ च गुरूतामतिः
धर्मे च धर्मधीः शुद्धा सम्यक्त्वमिदमुच्यते ।।
७७. संग्रहकर्ता श्री भैरोंदान सेठिया - शिक्षासारसंग्रह - पृ. १
७८. क) जैनाचार्य घासीलालजी म. (व्याख्या) - उत्तराध्ययन सूत्र
गा. १६ - ३०, अ. २८, पृ. १५७ - १७३.
निसर्गोपदेशरुचिः, आज्ञारुचिः सूत्रवीजरुचिरेव ।
अभिगमविस्ताररुचिः क्रियासंक्षेपधर्मरुचिः ।।१६।।
नादर्शनिनो ज्ञानं, ज्ञानेन विना न भवन्ति चरणगुणाः ।
ख) संग्राहक और अनुवादक - जैनदिवाकर पं. मुनि श्री
चौथमलजी म. - निर्ग्रन्थ-प्रवचन - श्लो. ५, ७ - पृ. २३८, २४४.
७९. अनु. जैनदिवाकर पं. मुनि श्री चौथमलजी म.-निर्ग्रन्थप्रवचन-पृ. २४०
शंकाकांक्षाविचिकित्सा, मिथ्यादृष्टिप्रशंसनम् ।
तत्संस्तवश्च पंचापि, सम्यक्त्वं दूषयन्त्यलम् ।।
८०. क) कुंदकुंदाचार्य-कुंदकुंदभारती (समयसार) गा. २२८-२३६, पृ. ७९-८१.
ख) अनु. चंदनाकुमारीजी - उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २८. गा. ३१.
निस्संकिय निकंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।
उपवूह थिरकरणेवच्छल्लपभावणे अट्ठ ।।३१।।
ग) पं. दौलतरामजी - छहढाला - (अनु. मगनलाल जैन)
३ री ढाल, पृ. ७३ ते ७६.
घ) भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक - भा. २, अ. ६,
सू. २४. (टीका), पृ. ५२९.
८१. क्षु. जिनेंद्र वर्णी - जैनेंद्रसिद्धान्तकोश, भा. ४, पृ. ३५१.
नांगहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसंततिम् । न हि मन्त्रो क्षरन्यूनो
निहन्ति विषवेदनां ।
८२. संस्कृत-छाया - पं. बेचरदासजी दोशी - समणसुत्तं -

श्लो. २२६, पृ. ७४
किं बहुना भणितेन, ये सिद्धाः नरवराः गते काले।
सेत्स्यन्ति येऽपि भव्याः, तद् जानीत सम्यक्त्वमहात्म्यम् ।।
८३. श्री गृद्धपिच्छाचार्य - तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) मराठी अनु.
जीवराज गौतमचंद दोशी अ. १, सू. २, पृ. ४
तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।।२।।
८४. क्षु. जिनेंद्र वर्णी - जैनेंद्र सिद्धान्तकोश भाग ४, पृ. ३४५
८५. अनु. पं. शोभाचंद्र भारिल्ल - प्रमाण मीमांसा (स्वोपज्ञवृत्ति) - पृ. ७.
८६. आचार्यश्री विजयवल्लभसूरिजी म. - वल्लभप्रवचन-भा. २, पृ. १६२
८७. पूज्यपादाचार्य - सर्वार्थसिद्धि - अ. १, सू २ (टीका), पृ. ४
तद् द्विविधं सरागवीतरागविकल्पात् ।२९।
प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तलक्षणं प्रथमम् ।३०।
८८. भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक - भा. १, अ. १,
सू. २, (टीका) पृ. २२ सप्तानां कर्मप्रकृतीनाम् आत्यन्तिकेऽपगमे
सत्वामाविशुद्धिमात्र मितरद् वीतरागसम्यक्तवमित्युच्यते।
८९. क्षु. जिनेंद्र वर्णी - जैनेंद्र सिद्धांत कोश्व - भाग ४, पृ. ३६१
तत्र प्रशस्तरागसहितानां श्रद्धानं सरागसम्यगदर्शनम्।
रहितानां क्षीणमोहावरणानां वीतरागसम्यग्दर्शनम्।
९०. क्षु. जिनेंद्र वर्णी - जैनेंद्रसिद्धांतकोश - भाग ४, पृ. ३५०
यः अर्हदाद्युपदिष्टं प्रवचन आत्मगमपदार्थत्रयं श्रद्धाति रोचते
तेषु असद्भाव अतत्त्वमपि स्वस्य विशेष ज्ञानशून्यत्वेन
केवलगुरू नियोगात् अर्हदाज्ञातः श्रद्धाति सोऽपि
सम्यग्दृष्टिरेव भवति तदाज्ञाया अनतिक्रमात् ।
९१. क्षु. जिनेंद्र वर्णी - जैनेंद्रसिद्धांतकोश - भाग ४, पृ. ३५५
दंसणसुद्धा सुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं।
दंसणविहिणपुरिसो न लहइ तं इच्छियं लाहं।
९२. क) उ. नि. जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं।
अहिओ तह सम्मतो रिसिसावय दुविहधम्माणं ।
ख) उ. नि. पृ. ३५६
मा कासि तं पमादं सम्मत्ते सव्वदुःखणासयरे।
ग) उ. नि. पृ. ३५६. एवं जिणपण्णत्तं दंसणरयणं धारेह भावेण ।
सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढममोक्खस्स ।
९३. उ. नि. पृ. ३५६

कामदुहिं कप्पतरूं चिंतारयणं रसायणं य समं। लद्धो भजइ सोक्खं जहच्छियं जाणं तह सम्मं।
सम्मदंसणसुद्धं जाव लभते हि ताव सुही । सम्मदंसणसुद्ध जाव ण लभते हि ताव दुहृ ।

९४. क्षु. जिनेंद्र वर्णी - जैनेंद्रसिद्धांतकोश - भाग ४, पृ. ३५६
क) न सम्यक्त्वसमं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि । श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्। ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशो वृद्धिविजयविभसवसनाथाः । महाकुलामहार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः।
ख) अतुलसुखनिधानं सर्वकल्याणबीजं, जननजलाधिपोतं भव्यसत्त्वैकपात्रम् । दुरिततरूकुठारं पुण्यतीर्थप्रधानं, पिवत जितविपक्षं दर्शनाख्यं सुधाम्बम्।
ग) सद्दर्शनमहारत्नं विश्वलोकेकभूषणम्। मुक्तिपर्यन्तकल्याण दानदक्षं प्रकीर्तितम् ।

९५. क्षु. जिनेंद्र वर्णी - जैनेंद्रसिद्धांतकोश-भाग ४, पृ. ३५६
रयणाण महारयणं सव्वं जोयाण उत्तमं जोयं। रिद्धीण महारिद्धो सम्मत्तं सव्वसिद्धिपरं। सम्मत्तगुणपहाणो देविंदणरिंद-वंदिओ-होदि। चत्त वओ वि य पावदि सग्गसुहं उत्तमं विविहं।

९६. उ. नि. पृ. ३५१
श्रद्धारुचिस्पर्शप्रत्ययाश्चेति पर्ययाः।

९७. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ. १, सू. ३
तन्निसर्गादधिगमाद्वा ।३।

९८. भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक-भाग१, अ.१, सू.३ (टीका), पृ. २३
उभयत्र तुल्ये अन्तरंगहेतो बाह्योपदेशापेक्षाऽनपेक्षपभवेत् भेदः ।

९९. आचार्य श्री विजयवल्लभसूरिजी म.-वल्लभप्रवचन-भाग २, पृ. १७७-१९१.
ध्यानं दुःखनिधानमेव तपसः सन्तापमात्रं फलम् ।
स्वाध्यायोऽपि हि बन्ध एव कुधियां तेऽभिग्रहाः कुग्रहाः ।।
अश्लाध्या खलु दानशीलतुलना, तीर्थादियात्रा वृथा।
सम्यक्त्वेन विहीनमन्यदपि यतत्सर्वमन्तगर्ड्डुः ।।

१००. कुंदकुंदाचार्य - कुन्दकुन्दभारती - (दर्शनपाहुड) गा. ३१. पृ. २३५. णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं ।

१०१. (अ) कुंदकुंदाचार्य - कुन्दकुन्दभारती (दर्शनपाहुड) गा. २, पृ. १२, सम्मतदंसी ण करेति पावं ।

(ब) सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (आयारे) अ. ४, उ. १, भा. १, पृ. १२
सम्मतदंसी ण करेति पावं ।

१०२. अनु. मुकुंद गणेश मिरजकर - मनुस्मृति - अ. ६, श्लो. ७४, पृ. १८३.
सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्ननिबद्धयते। दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ।।७४।।

१०३. कुंदकुंदाचार्य - कुंदकुंदभारती (दर्शनपाहुड), गा. ३, पृ. २३१.
दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णात्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति ।।३।।

१०४. (क) देवेन्द्रमुनिशास्त्री - धर्म और दर्शन - पृ. १३२
अनिर्द्धय तमो नेशंः यथा नोदयतेंऽशुभान् ।
तथानुदभिद्य मिथ्यात्वतमा नोदेति दर्शनम् ।।
(ख) मुनि नथमल - जैनदर्शन मनन और मीमांसा - पृ. ४२३

१०५. जैनाचार्य श्री आत्मारामजी म. - श्रीनन्दीसूत्रम् - (टीका), पृ. ६१
ज्ञातिज्ञानं, कृत्यलुटोबाहुबलम् (पा. ३ । ३ ।११३) इतिवचनात्

१०६. भावसाधनः, ज्ञायते-परिच्छिद्यते वस्त्वनेनास्मादस्मिन्वेति वा ज्ञानं,
जानाति- स्वविषयं परिच्छिनत्तीति वा ज्ञानं, ज्ञानावरण
कर्मक्षयोपशमक्षयजन्यो जीवस्वतत्त्वभूती बोध इत्यर्थः ।

१०७. सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (भगवई) - भाग १, स. १२, उ. १० पृ. ६७२
णाणे पुण नियमं आया ।।

१०८. सं. पुप्फभिक्खू - सुत्तागमे (नंदीसुत्तम्) भा. २, पृ. १०७४ सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्धाडिओ।

१०९. संस्कृत छाया-परिशोधनः पं. बेचरदासजी दोशी-समणसुत्तं - पृ. ८०
क) श्रुत्वा जानति कल्याणं, श्रुत्वा जानति पापकम्। उभयमपि जानाति श्रुत्वा, यत् छेकं तत् समाचरेत् ।। १ ।। २४५

११०. ज्ञानाऽऽज्ञप्त्या पुनः दर्शनतपोनियमसंयमे स्थित्वा। विहरति विशुद्ध्यमानः, यावज्जीवमपि निष्कम्प्यः ।। २ ।। २४६.

१११. सूची यथा ससूत्रा, न नश्यति कचवरे पतिताऽपि। जीवोऽपि तथा ससूत्रो, न नश्यति गतोऽपि संसारे ।। ४ ।। २४८

११२. संस्कृत-छाया-परिशोधनः पं. बेचरदासजी दोशी-समणसुत्तं-पृ. ८२, ८४
क) येन तत्त्वं विबुध्यते, येन चित्तं निरूध्यते । येन आत्मा विशुध्यते, तज्ज्ञानं जिनशासने ।। २५२ ।।

११३. येन रागाद्विरज्यते, येन श्रेयस्सु रज्यते। येन मैत्री प्रभाव्येत, तज्ज्ञानं जिनशासने ।। २५३ ।।

क) एतस्मिन् रतो नित्यं, सन्तुष्टो भव नित्यमेतस्मिन्। एतेन भव तृप्तो, भविष्यति तवोत्तमं सौख्यम्।। २५६ ।।

११४. माधवाचार्य - सर्वदर्शनसंग्रह - पृ. १३७
यथावस्थिततत्त्वानां संक्षेपाद्विस्तरेण वा । योऽवबोधस्तमत्राहु स्तमत्राहुः सम्यग्ज्ञानं मनीषिणः।।

११५. सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी - जैनधर्मसार पृ. ३७
संसयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स। गहणं सम्मंणाणं, सायारमणेयमेयं तु ।। ७६ ।।

११६. उ. नि. भिन्नाः प्रत्येकमात्मानो, विभिन्नः पुद्गलाः अपि। शून्यः संसर्ग इत्येवं, यः पश्यति स पश्यति ।।८०।।

११७. सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, जैन धर्म-सार-पृ. ३७
जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं। अपदेससुत्तमज्झं, पस्सदि जिणसासणं सव्वं ।।८१।।

११८. उ. नि. पृ. ३८
जो एगं जाणइ, सो सव्वं जाणइ। जो सव्वं जाणइ, सो एगं जाणइ।।

११९. पं. द. वा. जोग - भारतीयदर्शनसंग्रह - पृ. १४४
यथावस्थिततत्त्वानां संक्षेपाद्विस्तरेण वा। योऽवबोधस्तमत्राहुः सम्यग्ज्ञानं मनीषिणः ।।

१२०. पूज्यपादाचार्य - सर्वार्थसिद्धिः अ. १, स १.१ पृ. २
येन येन प्रकारेण जीवादयः पदार्था व्यवस्थितास्तेन तेनावगमः सम्यग्ज्ञानम् (टीका)

१२१. भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक - अ. १, सू. १, (वेका) पृ. ४

१२२. क्षु. जिनेंद्रवर्णी - जेनेंद्रसिद्धांतकोश - भाग २, पृ. २६२,
जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानम्।

१२३. क) उ. नि.
अन्यूनमतिरिक्तं यथातथ्यं विना च विपरीतात्। निःसंदेहं वेद यदाहुतंजिनमागमिनः।

ख) उ. नि.
सदसद्व्यवहारनिबन्धनं सम्यग्ज्ञानम्।

ग) उ. नि. पृ. २६५
जेण तच्चं विबुज्झेज्ज जेण चित्तं णिरूज्झदि। जेण्व अत्ता विसुज्झेज्ज तं णाणं जिणसासणे।

जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेयसु रज्जदि। जेण मेत्ती पभावेज्ज तं णाणं जिणसासणे।

घ) उ. नि. पृ. २६७
गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरान्तरम्। जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरन्तरम्।

१२४. क) गीता प्रेस, गोरखपुर - मुण्डकोपनिषद् (सानुवाद शांकर भाष्यसहित) मुण्डक ३, खण्ड १, पृ. ६४. सत्येन लभ्यस्तपसा एष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

ख) उ. नि. पृ. १३ ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठम्।

ग) अनु. मुकुंद गणेश मिरजकर - मनस्मृति - अ. १२, श्लो. ८५, पृ. ४३० सर्वेषामपि चेतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्। तद्ध्यग्रंथ सर्वविद्यानां प्राप्यते अमृत ततः ।। ८५ ।।

१२५. देवेंद्रमुनि शास्त्री - धर्म और दर्शन - पृ. १४१ - १४२.

१२६. क) उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ. १, सू. ९
मति श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलानि ज्ञानम् ।। ९ ।।

ख) गृद्धपिच्छाचार्य - तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) (मराठी अनु. जीवराज गौतमचंद दोशी) अ. १, सू. ९ पृ. १४-१५.

१२७. गृद्धपिच्छाचार्य - तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) (मराठी अनुवाद - श्री ब्र. जीवराज गौतमचंद दोशी) अ. १, सू. १०, ११, १२ पृ. १५-१६

क) तत्प्रमाणे ।। १० ।।

ख) आद्ये परोक्षम् ।। ११ ।।

ग) प्रत्यक्षमन्यत् ।। १२ ।।

घ) भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक - भा. १, अ. १, सू. १२ - टीका इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षम् ।१। अक्षं प्रतिनियतमिति परोक्षानिवृत्तः ।२।

१२८. गृद्धपिच्छाचार्य - तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) (मराठी अनुवाद जीवराज गौतमचंद दोशी), पृ. २-३

१२९. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन - भाग २, पृ. १८२.

१३०. क) क्षु. जिनेंद्रवर्णी - जैनेंद्रसिद्धान्तकोश - भाग २, पृ. २६३, ण मुणइ वत्थुसहावं अहविवरीयं णिरवक्खदो मुणइ। तं इह मिच्छणाणं विवरीयं सम्मरूवं खु।

ख) उ. नि. तत्रैवावस्तुइन वस्तुबुद्धिर्मिथ्याज्ञानं। ......... अथवा स्वात्मपरिज्ञानविमुखत्वमेव मिथ्याज्ञान......।

ग) उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ. १, सू. ९, ३२
मतिश्रुतावधिमनः पर्यायकेवलानि ज्ञानम्।।९।।
मतिश्रुताऽवधयो विपर्ययश्च ।।३२।।
१३१. जैनाचार्य श्रीआत्मारामजी म.-श्रीनन्दीसूत्र (नन्दीसूत्र दिग्दर्शन) पृ. १४-१५
१३२. कुंदकुंदाचार्य-कुन्दकुन्द-भारती (प्रस्तावना), पृ. ४१ पडिवज्जदि समण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं।।
१३३. देवेन्द्रमुनि शास्त्री - धर्म और दर्शन - पृ. १४३
१३४. मुनिश्री न्यायविजयजी - जैनदर्शन - पृ. ५०
१३५. संस्कृत-छाया-परिशोधन-पं वेचरदासजी दोशी - समणसुत्तं श्लो. २६६, २७५ - पृ. ८६, ९०
क) सुबह्नपि श्रुतमधीतं, किं करिष्यति चरणविप्रहीणस्य।
अन्धस्य यथा प्रदीप्ता, दीपशतसहस्त्रकोटिरपि ।।२६६।।
ख) समता तथा माध्यस्थ्यं, शुद्धो भावश्च वीतरागत्वम्।
तथा चारित्रं धर्मः स्वाभावाराधना भणिता ।।२७५।।
१३६. क्षु. जिनेंद्रवर्णी - जैनेंद्रसिद्धांतकोश - भाग २, पृ. २८६
क) अहवा चारित्ताराहणाए आराहियं सव्वं। आराहणाए सेसस्स चारित्ताराहणा भज्जा।
ख) णाणं चरित्तहीणं लिंगगहणं च दंसणविहूणं। संजमहीणो य तवो तइ चरइ णिरत्थयं सव्वं।
१३७. महासती श्री उज्ज्वल कुमारीजी - उज्ज्वल वाणी - भा. १, पृ. २९८
१३८. १- कुंदकुंदाचार्य - कुन्दकुन्द-भारती (अष्टपाहुड), गा. ३, पृ. २४१
जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं।
णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं।।
१३९. उ. नि. गा. ४, पृ. २४१
एए तिण्णिवि भावा हवंति जीवस्स अक्खयामेया।
तिण्हं पि सोहणत्थे जिणभणियं दुविह चारित्तं।।
१४०. माधवाचार्य-सर्वदर्शनसंग्रह (भाष्यकार-प्रो. उमाशंकर शर्मा "ऋषि") पृ.१४०
संसारणकर्मोच्छित्तादुद्यतस्य श्रद्धानस्य ज्ञानवत........
अहिंसासूनृतास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः।।
१४१. अमृतचंद्रसूरि - तत्त्वार्थसार - श्लो. २, पृ. २०८
निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राधः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम्।।२।।
१४२. संस्कृत-छाया-परिशोधन-पं. बेचरदासजी दोशी-समणसुत्तं-श्लो.२६८, पृ.८८

निश्चयनयस्य एवं, आत्मा आत्मनि आत्मने सुरतः।
सः भवति खलु सुचरित्रः योगी सः लभते निर्वाणम्।।२६८।।

१४३. संस्कृत-छाया-परिशोधन-पं. बेचरदासजी दोशी-समणसुत्तं-श्लो. २६६, २७८, पृ. ८८, ६०
   क) यद् ज्ञात्वा योगी, परिहारं करोति पुण्यपापानाम्।
      तत् चारित्रं भणितम्, अविकल्पं कर्मरहितैः ।।२६६।।
   ख) अतिशयमात्मसमुत्थं, विषयातीतमनुपममनन्तम्।
      अव्युच्छिन्नं च सुखं, शुद्धोपयोगप्रसिद्धानाम्।।२७८।।

१४४. उ. नि. श्लो. २६३, पृ. ८६
   अशुभाद्विनिवृत्तिः, शुभे प्रवृत्तिश्च जानीहि चरित्रम्। व्रतसमितिगुप्तिरूपं, व्यवहारनयात् तु जिनभणितम्।।२६३।।

१४५. कुंदकुंदाचार्य - कुन्दकुन्द-भारती (ज्ञानाधिकार), गा. ६
   संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं। जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो ।।६।।

१४६. जैनेंद्रसिद्धांतकोश - भाग २ - पृ. २८४
   संसारकारणनिवृत्तिम्प्रत्यागूणो अक्षीणाशयः सराग इत्युच्यते। प्राणीन्द्रियेष्वशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयमः। सरागस्य संयमः सरागो वा संयमः सरागसंयमः।

१४७. संस्कृत-छाया-परिशोधन-पं. बेचरदासजी दोशी-समणसुत्तं श्लो. २८०, पृ. ६०, ६२
   क) निश्चयः साध्यस्वरूपः सरागं तस्यैव साधनं चरणम्। तस्मात् द्वे अपि च क्रमशः प्रतीष्यमाणं प्रबुध्यध्वम् ।।२०८।।
   ख) अभ्यन्तरशुद्ध्या, बाह्यशुद्धिरपि भवति नियमेन।
      अभ्यन्तरदोषेण हि, करोति ुरः बाह्यन् दोषान् ।।२८१।।

१४८. क्षु. जिनेंद्रवर्णी - जैनेंद्रसिद्धांतकोश - भाग २, पृ. २८५
   शुद्धात्मनः सकाशादन्यबाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरूपम् सर्व त्याज्यमित्युत्सर्गो "निश्चय नयः" सर्वपरित्यागः परमोपेक्षासंयमो वीतरागचारितं शुद्धोपयोग इति यावदेकार्थः।

१४९. क्षु. जिनेंद्रवर्णी - जैनेंद्र सिद्धांत कोश - भाग २, पृ. २६४
   क) आराध्यं दर्शनं ज्ञानमाराध्यं तत्फलत्वतः। सहभावेऽपि ते हेतुफले दीपप्रकाशवत्।
   ख) सम्मं विणा सण्णाणं सच्चरितंण होइ णियमेण। पृ. २६३

१५०. उ. नि. पृ. २८६

चारित्रात्पूर्वे ज्ञानं प्रयुक्तं, तत्पूर्वकत्वाच्चारित्रस्य।

१५१. क्षु. जिनेंद्र वर्णी - जैनेंद्र सिद्धांत कोश - भाग २ - पृ. २८७
क) तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपादणीयमखिलयत्नेन । तस्मिन्सत्येव यतो भवति ज्ञानं चारित्रं चं।
ख) सम्यक्त्वस्यादौ वचनं, तत्पूर्वकतवाच्चारित्रस्य।

१५२. उ. नि. पृ. २८६. श्रुतज्ञानमन्तरेण चारित्रानुपपतेः।

१५३. उ. नि. पृ. २८७ णाणस्स णिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं।

१५४. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ. १, सू. १,
सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।।१।।

१५५. क्षु. जिनेंद्रवर्णी - जैनेंद्र सिद्धांत कोश - भाग ३, पृ. ३४३

१५६. भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक-भाग १, अ. १, सू. १, पृ. १४ (टीका)
अतो रसायनज्ञानश्रद्धानक्रियासेवनोपेतस्य तत्फलेनाभिसंबन्ध इति निःप्रतिद्वन्दमेतत्। तथा न मोक्षमार्गज्ञानादेव मोक्षेणाभिसंबन्धो दर्शनचारित्राभावात्। न च श्रद्धानादेवः मोक्षमार्गज्ञानपूर्वक्रियानुष्ठानाभावात्। न च क्रियामात्रादेवः ज्ञानश्रद्धानाभावात्। यतः क्रिया ज्ञानश्रद्धानरहिता निःफलेति। यदि च ज्ञानमात्रादेव क्वचिक्ष्यंसिद्धिर्दृष्टा साभिधीतयाम्? न चासावस्ति। अतो मोक्षमार्गत्रितयकल्पना ज्यायसीति।

१५७. भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक - अ. १, सू. १ (टीका), पृ. १४
हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया। धावन् किलान्धको दग्धः पश्यनपि च पंगुलः।। १ ।।
संयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञान ह्येकचक्रेण रथः प्रयाति। अन्धश्च पंगुश्च वने प्रविष्टा तो संप्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टौ।।२।।

१५८. क) क्षु. जिनेंद्रवर्णी - जैनेंद्रसिद्धांतकोश - भाग ३ - पृ. ३४४ णिज्जावगो य णाणं वादो झाणं चरित्त णावा हि। भवसागरं तु भविया तरंति तिहिसण्णिपासेण। णाणं पयासओ तवो सोधओ संजमो य मुत्तियरो। तिण्हंपि य संजोगे होदि हु जिणसासणे मोक्खो।
ख) उ. नि. पृ. ३४६
णिच्छयणयेण भणिदो तिही समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किं चि वि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गो त्ति।

१५९. देवेन्द्र मुनि शास्त्री - धर्म और दर्शन - पृ. १४३-१४४
सद्दृष्टिज्ञानचारित्रत्रयं यः सेवते कृती। रसायनमिवाततेक्ये सोऽमृतं पदमश्नुते।। महापुराण, पर्व ११, श्लो ५९

१६०. कुंदकुंदाचार्य - कुन्दकुन्द-भारती (अष्टपाहुड), गा. ८, पृ. २९८

दंसणणाणचरित्ते उवहाणे जइ ण लिंगरूवेण। अट्ट झायदि झाणं अणंतसंसारिओ होदि ।। ८ ।।

१६१. आचार्य श्री विजयवल्लभसूरिजी म.-वल्लभ-प्रवचन-भाग २ पृ.१६७-१७०

१६२. पूज्यपादाचार्य - सर्वार्थसिद्धि - अ. १, १ (टीका), पृ. ३, भार्ग इति चैकवचननिर्देशः समस्तस्य मार्गभावज्ञापनार्थः। तेन व्यस्तस्य मार्गत्वनिर्वृत्तिः कृता भवति। अतः सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमित्येतत्रितयं समुदितं मोक्षस्य साक्षान्मार्गो वेदितव्यः।।

१६३. क्षु. जिनेंद्र वर्णी - जैनेंद्रसिद्धांतकोश - भाग ३, पृ. ३४५
सम्यग्दर्शनादीनि मोक्षस्य सकलकर्मक्षयस्य मार्गः उपायः न तु मार्गाः।
...... इत्येकवचनप्रयोगतात्पर्यसिद्धः।

१६४. भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक-भाग १-अ. १, सू. १, (टीका)- पृ. १७
एषां पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम् ।६९।
उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः ।७०।

१६५. सं. पं. मुनिश्री नेमिचंद्रजी - अमर भारती (भगवान महावीर निर्वाण विशेषांक १९७४), पृ. १०९

१६६. देवेन्द्रमुनि शास्त्री - धर्म और दर्शन - पृ. ९९-१००

१६७. सं. मुनि चुनीलालजी "चित्तमुनि" - पं. नानचंद्रजी म. जन्मशताब्दी स्मृति ग्रंथ (डॉ.सागरमल जैन-जैनदर्शन का त्रिविध साधनामार्ग), पृ. ३६५-३६६.
क) सुत्तनिपात - २८/८
ख) गीता - ४ । ३४, ४ । ३९
ग) Psychology & Morals – Page 180.

१६८. सं. मुनि चुनीलालजी "चित्तमुनि" - पं. नानचंद्रजी म. जन्मशताब्दी स्मृति ग्रंथ (डॉ. सागरमल जैन - जैनदर्शन का त्रिविध साधनामार्ग), पृ. ३६६.

१६९. क्षु. जिनेंद्रवर्णी - जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश - भाग ३, पृ. ३३४
णिहयविविहट्ठकम्मा तिहुवणसिरसेहरा विहुवदुक्खा ।
सुहसायर मज्झगया णिरंजणा णिच्च अट्ठगुणा । अणवज्जा
कयकज्जासव्वा वयवेहि विट्ठसव्वट्ठा । वज्जसिलत्थब्भग्गय
पडिमं वाभेज्ज संठाणा ।

१७०. कुंदकुंदाचार्य - पंचास्तिकाय - गा. २८, पृ. ६२.
कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अंतमधिगंता ।
सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं ।।२८।।

१७१. क्षु. जिनेंद्र वर्णी - जैनेंद्र सिद्धांत कोश - भाग ३ - पृ. ३३४

णट्ठट्ठकम्मसुद्धा असरीराणंतसोक्खणाणट्ठा । परमपहुत्तं पत्ता जे ते सिद्धा हु खलु मुक्का ।

१७२. कुंदकुंदाचार्य - कुंदकुंद-भारती (नियमसार), पृ. २११.
णट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा ।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते पुरिसा होंति ।।७२।।

१७३. कुंदकुंदाचार्य - पंचास्तिकाय (टीका), पृ. १३४
शुद्धचेतनात्मका मुक्ताः ............ केवलज्ञानदर्शनोपयोग लक्षणा मुक्ताः ।

१७४. क) संयोजक - उदयविजयगणि - नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह (देवेंद्रसूरि नवतत्त्वप्रकरणम्) श्लो, ६३-१०६, पृ. ५२-५४.
ख) उ. नि. (साधुरत्नसूरि - नवतत्त्वचूर्णि), पृ. ७३.
ग) उ. नि. (विवेकविजय-नवतत्त्वस्तवनं), ढाल ११, पृ. २३
घ) अभयदेवसूरि टीका-स्थानांगसूत्र-अ. १ ठा. १, पृ.३० "एगा तित्थे ।"

१७५. जैनाचार्य श्री आत्मारामजी म. - श्रीनन्दीसूत्रम - पृ. १४२-१४६.
तित्थसिद्धा, अतित्थसिद्धा, तित्थयरसिद्धा, अतित्थयरसिद्धा,
सयंबुद्धसिद्धा, पत्तेयबुद्धसिद्धा, बुद्धबोहियसिद्धा, इत्थिलिंगसिद्धा,
पुरिसलिंगसिद्धा, नपुंसगलिंगसिद्धा, सलिंगसिद्धा, अन्नलिंगसिद्धा,
गिहिलिंगसिद्धा, एगसिद्धा, अणेगसिद्धा, से त्तं अणंतरसिद्धा केवलनाणं।।

१७६. क) अभयदेवसूरि - स्थानांगसूत्र - ठा. १, पृ. २२
कृतकृत्योऽभवत् सेधति स्म वा - अगच्छत् अपुनरावृत्त्या
लोकाग्रमिति सिद्धः - कर्मप्रपंचनिर्मुक्तः ।
ख) जैनाचार्य घासीलालजी म. - उत्तराध्ययनसूत्र (टीका), अ. २६, सू. ७३, पृ. ३६३

१७७. अभयदेवसूरि - स्थानांगसूत्र - पृ. २२
एगे सिद्धे, बुद्धे मुत्ते एगे परिनिव्वाणे एगे परिनिव्वुए ।

१७८. अनु. पं. मुनि श्री सौभाग्यमलजी म. - आचारांगसूत्र - पृ. ४३०
सव्वे सरा नियट्टंति, तक्क जत्थ न विज्जइ, मई तत्था न
गाहिया, ओए, अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने, से न दीहे न हस्से न वट्टे
न तंसे न चउरंसे, न परिमंडले न किण्हे न नीले न
लोहिए ............. न गंधे, न रसे, न फासे इच्चेव त्ति बेमि ।

१७९. अमृतचंद्रसूरि - तत्त्वार्थसार (सं. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य) (अष्टमाधिकार), श्लो. ४६, पृ. २०६.
कर्मक्लेशविमोक्षाच्च मोक्षे सुखमनुत्तमम् ।।

१८०. अमृतचंद्रसूरि - तत्त्वार्थसार (सं. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य) (अष्टमाधिकार), श्लो. ४६, पृ. २०५-२०६.
स्यादेतदशरीरस्य जन्तोनष्टाष्टकर्मणः । कथं भवति मुक्तस्य सुखमित्युत्तरं शृणु ।।४६।। लोके चतुर्ष्विहार्येषु सुखशब्दः प्रयुज्यते । विषये वेदनाभावे विपाके मोक्ष एव च ।।४७।। सुखो वह्निः सुखो वायुर्विषयेष्विह कथ्यते दुःखाभावे च पुरुषः सुखितोऽस्मीति भाषते ।।४८।। पुण्यकर्मविपाकाच्च सुखमिष्टेन्द्रियार्थजम् । कर्मक्लेशविमोक्षाच्च मोक्षे सुखमनुत्तमम् ।।४९।।

१८१. अमृतचंद्रसूरि-तत्त्वार्थसार-(अष्टमाधिकार), श्लो. ५२-५३, पृ. २०७.
लोके तत्सदृशो ह्यर्थः कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते । उपमीयेत तद्येन तस्मान्निरूपमं स्मृतम् ।।५२।। लिङ्गप्रसिद्धेः प्रामाण्यमनुमानोपमानयोः । अलिंगं चाप्रसिद्धं यत्तेनानुपमं स्मृतम् ।।५३।।

१८२. उ. नि. श्लो. ५४. पृ. २०७.
प्रत्यक्षं तद्भगवतामर्हतां तैः प्रभाषितम् । गृह्यतेऽस्तीत्यतः प्राज्ञैर्न च छद्मस्थपरीक्षया ।।५४।।

१८३. प्राचार्य द. गो. दसनूरकर - आपले महाभारत - पृ. ७४३.

१८४. डॉ. भरतसिंह उपाध्याय - पालि साहित्य का इतिहास, पृ. २५४

१८५. क्षु. जिनेंद्र वर्णी - जैनेंद्रसिद्धांतकोश - भाग ४, पृ. ४३२-४३३
क) वज्जिय सयल वियप्पइं परम समाहिं लहंति । जं विंदहिं साणंदु कवि सो सिव-सुक्ख भणंति ।
ख) तिसु वि कालेसु सुहाणि जाणि माणुसतिरिक्खदेवाणं। सव्वाणि ताणि ण समाणि तस्स खणमित्तसोक्खेण।
ग) जं च कामसुहं लोए जं च दिव्वमहासुहं। वीतराग सुहस्सेदेऽणंतभागं पि णग्घई।

१८६. भट्टाकलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक-भाग२, अ.१०, सू. ४ (टीका), पृ. ६४३
न चामूर्तानां मुक्तानां जन्ममरणद्वन्द्वोपनिपातव्याबाधाऽस्ति, अतो निर्व्याबाधत्वात् परमसुखिनस्ते।

१८७. क्षु. जिनेंद्र वर्णी - जैनेंद्र सिद्धान्त कोश - भा. ४, पृ. ४३३ णेव य इंदियसोक्खा अणिंदियाणंतणाण-सुहा।

१८८. अमृतचंद्रसूरि - तत्त्वार्थसार (अष्टमाधिकार)
श्लो. ४५, पृ. २०५
संसारविषयातीतं सिद्धानामव्ययं। अव्याबाधमिति सुखँ परमं परमर्षिभिः।।

१८९. हेमचंद्रचार्य - स्याद्वादमंजरी (स. डॉ. जगदीशचंद्र जैन), पृ. ६२

सुखमात्यन्तिकं यत्र बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
तं वै मोक्षं विजानीयाद् दुष्प्रापमकृतात्मभिः।

१६०. उ. नि. मोक्षे निरतिशयक्षयमनपेक्षमनन्तं च सुखं तद्वाढं विद्यते।

१६१. उमास्वाति - तत्त्वार्थसूत्र - अ. १०, सू. ५, तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्या लोकान्तात् ।५।

१६२. क) सं. पं. शोभाचंद्रजी भारिल्ल-नायाधम्मकहाओ - अ. ६, पृ. २१८
ख) भट्टाकलंदेव - तत्वार्थराजवार्तिक - भा. २, अ. १०, सू. ७, (टीका), पृ. ६४५
असंगत्वान्मुक्तलेपालावूद्रव्यवत् ।३। यथा मृत्तिकालेपजनित गौरवमलावूद्रव्यं....तत्संङ्गविप्रमुक्तो तूपर्येव याति।

१६३. उ. नि.
बन्धच्छेदादेरण्डबीजवत् । ५ । यथा बीजबन्धकोशादि च्छेदादेरण्डबीजस्य गतिर्दृष्टा तथा मनुष्यादिभवप्राक्गतिजातिनामादिसकलकर्मबन्दच्छेदात् मुक्तस्य गतिरवसीयते।

१६४. भट्टा कलंकदेव-तत्त्वार्थराजवार्तिक-अ. १०, सू. ७, भा. २, पृ. ६४५
तथागतिपरिणामच्च अग्निशिखावत्। यथा तिर्यक्पवनस्वभाव समीररणसंबन्धनिरूत्सुका प्रदीपशिखा स्वाभावादुत्पतति तथा मुक्तात्माऽपि नानागतिविकारकारणकर्मनिवारणे सति उर्ध्वगतिस्वभावत्वादूर्ध्वमेवारोहति।

१६५. जैनाचार्य घासीलालजी म.- उत्तराध्ययनसूत्र- अ.२९, सू. ७३ (व्याख्या) पृ. ३६३-३६५.
ततः औदारिक तैजस कार्मणानि सर्वाभिर्विप्रहाणिभिर्विप्रहाय ऋजुश्रेणिप्राप्तः, अस्पृशद्गतिः ऊर्ध्वम् एकसमयेन अविग्रहेण तत्र गत्वा साकारोपयुक्तः सिध्यति, बुध्यते यावत् अनंत करोति।।

१६६. जैनाचार्य घासीलालजी म. उत्तराध्ययनसूत्र - अ. ३६, गाथा ५५, (छाया) पृ. ७९९
क) प्रतिहताः सिद्धाः, क्व सिद्धाः प्रतिष्ठिताः क्व त्यक्त्वा खलु, कुत्र गत्वा सिध्यन्ति ।। ५६ ।।
ख) उ. नि. श्लो. ५७, पृ. ७९९
अलोके प्रतिहताः सिद्धाः, लोकाग्रे च प्रतिष्ठिताः। इह बोन्दिं त्यक्त्वा खलु, तत्र गत्वा सिध्यन्ति ।। ५७ ।।

१६७. उ. नि. श्लो. ६४, पृ. ८०६
तत्र सिद्धा महाभागा, लोकाग्रे प्रतिष्ठिताः।
भवप्रपंचतो मुक्ताः, सिद्धिं वरगतिं गताः ।।६४।।

१९८. पं. द. वा. जोग, - भारतीयदर्शनसंग्रह - गा. ८, पृ. १५३
लब्धानन्तचतुष्कस्य लोकागूढस्य चात्मनः । क्षीणाष्टकर्मणो मुक्तिर्निर्व्यावृत्तिजिनोदिता ।। ८ ।।

१९९. भट्टाकलंकदेव - तत्त्वार्थराजवार्तिक - भाग १, पृ. २
कार्यविशेषोपलम्भात् कारणान्वेषणप्रवृत्तिरिति चेत्: नः अनुमानतस्तत्सिद्धेर्घटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्तिवत् । ६ । प्रत्यक्षतोऽनुपलभ्यमानस्यापि मोक्षकार्यस्यानुमानत उपलब्धौ..... मोक्षकारणान्वेषणं न्याय्यमिति।

# अध्याय दसवाँ
# उपसंहार

## (१) जीव तत्त्व :

भारतीय दर्शन आध्यात्मिक दर्शन हैं। चार्वाक के अतिरिक्त सभी भारतीय दर्शनों ने जीव का अस्तित्व मान लिया है। इसका अर्थ यह हुआ कि भारतीय दर्शन प्रायः आत्मवादी है। प्राचीन काल से ही भारतीय ऋषि-मुनियों ने आत्मा के संबंध में चिन्तन, मनन किया है। आत्मा के स्वरूप की पहचान कर लेना यही उन्होंने अपने जीवन का ध्येय माना है।

जैन तत्त्वज्ञान में प्रायः जीव और आत्मा पर्यायवाची माने गये हैं। अलग-अलग दर्शनों ने आत्मा के स्वरूप की अलग-अलग व्याख्याएँ की हैं। उपनिषदों में ब्रह्म सम्बन्धी विचार मिलते है। जीव के संबंध में सबसे प्राचीन विचार 'भूत-चैतन्यवाद' के रूप में मिलता है। पृथिव्यादि चार भूतों के संयोग से मानवी शरीर उत्पन्न होता है और यह शरीर ही आत्मा या जीव है। उपनिषदों, जैनागमों और बौद्धपिटक साहित्य में इस मत का पूर्वपक्ष के रूप में उल्लेख किया गया है। बृहदारण्यक में कथन है कि विज्ञानधन चैतन्य आत्मा पंचभूतों से उत्पन्न होता है और उन्हीं में विलीन हो जाता है। इस मत को पूर्वपक्ष के रूप में रखकर बाद में उसका खंडन किया है। बौद्धपिटक में अजित केशकंबली के मत को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि यह पुरुष चार भूतों से उत्पन्न होता है।

भूतचैतन्यवाद के समान ही प्राचीन काल में 'तज्जीवतच्छरीरवाद' नामक एक और वाद अस्तित्व में था। सूत्रकृतांग के पुंडरिक अध्ययन में इस मत का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि जिस प्रकार म्यान से तलवार अलग निकालकर दिखाई जा सकती है, दधि को बिलोकर उसमें से मक्खन अलग निकालकर दिखाया जा सकता है, या तिल से तेल अलग निकाल कर दिखाया जा सकता है, उसी प्रकार शरीर से जीव अलग निकाल कर नहीं दिखाया जा सकता है। इसलिए जो शरीर है, वही जीव है, ऐसा कहना पड़ता है। तज्जीव-तच्छरीरवाद का प्रारंभ किसने और कब किया यह अज्ञात है। इस मत के समर्थक अनेक लोग थे।

जो कर्म करता है वही फल भोगता है, इस विचार से पुनर्जन्म और परलोक ये कल्पनाएँ अस्तित्व में आ गई। देहपात के बाद जीव का दूसरा जन्म लेता है या परलोक में जाता है, उसका स्वरूप क्या होता है, एक देह छोड़कर दूसरा देह धारण करने के लिए आत्मा किस प्रकार जाता है, इन प्रश्नों का और इसी प्रकार के अन्य प्रश्नों का विचार उस युग में अनेक दार्शनिक करते थे। इसी के साथ वर्तमान जीवन की अपेक्षा अधिक सुखकारक ऐसा पारलौकिक जीवन किस मार्ग से और किन साधनों से प्राप्त हो सकेगा, इसका भी विचार किया जाता

था। इससे एक तरफ लोगों की जीवन की ओर देखने की दृष्टि ही बदल गई और दूसरी तरफ से जन्मांतर गमन के संबंध में अनेक मत-मतांतर अस्तित्व में आ गए।

उसके पश्चात् कालांतर में निर्मित दार्शनिक साहित्य में इन मत मतांतरों की चर्चा होने लगी। प्रत्येक आस्तिक दर्शन ने स्वतंत्र, चेतन और अविनाशी ऐसा एक तत्त्व मान लिया और उसे ही आत्मा यह नाम दिया है। आत्मा कृतकर्म के फल भोगता है और अपना उद्धार भी कर सकता है, ऐसा माना गया।[1]

## न्याय-वैशेषिक दर्शन जीवतत्व :

न्याय वैशेषिक दर्शन में आत्मा को एक द्रव्य माना गया है। आत्मा नित्य है, उसका निवास प्रत्येक शरीर में है। प्राणापान, निमेषोन्मेष, चेतना जीवन आदि प्रमाणों से उन्होंने आत्मा की सिद्धि की है। आत्मा एक नहीं है, अपितु अनेक है और प्रति शरीर में भिन्न-भिन्न आत्मा है। आत्मा नित्य है और बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा आदि गुण उसमें रहते हैं, ऐसा न्याय-वैशेषिक दर्शन ने माना है।[2]

न्याय-वैशेषिक दर्शन स्वतंत्र आत्मवादी है। परंतु उनकी आत्मा की अवधारणा एक स्वतंत्र द्रव्य के रूप में है। वे शरीर से भिन्न ऐसे अनंत तथा अनादि आत्मा मानते हैं। वे आत्म द्रव्य को अनेक गुणों का या धर्मों का आश्रय मानते हैं। वे आत्म तत्त्व में ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, धर्म, अधर्म आदि गुण मानते हैं। वे आत्मा को सहज चेतनारूप नहीं मानते, किन्तु शरीर दशा में ज्ञान आदि गुणयुक्त मानते हैं। उनके अभिमतानुसार मुक्त आत्मा आकाश-कल्प बनता है। इसमें अंतर इतना ही है कि आकाश अमूर्त होकर भी भौतिक मान लिया गया है। जबकि आत्म द्रव्य अमूर्त और अभौतिक है। आकाश एक द्रव्य है, किंतु आत्माएँ अनंत है। उनका कथन यह है कि जब तक शरीर है तब तक ज्ञान, इच्छा प्रभृति गुणों का उत्पाद-विनाश होता रहता है और उसी के साथ कर्तृत्व-भोक्तृत्व गुण भी रहता है। परंतु मुक्त दशा में किसी भी प्रकार का कर्तृत्व-भोक्तृत्व बाकी नहीं रहता। उनके मन्तव्य के अनुसार आत्मतत्त्व में कर्तत्व-भोक्तृत्व भी भिन्न प्रकार का हैं। वे आत्मा को कूटस्थनित्य मानते हैं। किन्तु जब शरीर दशा में ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि गुण होते हैं, तब आत्मा कर्ता और भोक्ता होता है। परंतु इन गुणों का सर्वथा अभाव होने पर मुक्तदशा में किसी भी प्रकार का कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं रहता, ऐसा वे कहते हैं।

शुभ-अशुभ या शुद्ध-अशुद्ध वृत्तियों से जीव में संस्कार आते हैं। उन संस्कारों को ग्रहण करने वाला एक परमाणुरूप मन हैं। आत्मा व्यापक होने से गमनागमन नहीं कर सकता, परंतु प्रत्येक जीव के साथ एक-एक परमाणुरूप मन

है। वह एक शरीर नष्ट होने के बाद दूसरा शरीर धारण करता है। इस प्रकार मन का एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना यही आत्मा का पुर्नजन्म है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन ज्ञान, श्रद्धा और पुरुषार्थ की शुद्धि-अशुद्धि के परिणाम के अनुसार आत्मा की उत्क्रांति और अपक्रांति मानता हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शन में आत्मा का स्वरूप उपरोक्त प्रकार से मिलता है।[३]

## वेदान्त दर्शन का जीवतत्व :

वेदान्त दर्शन ने अंतःकरणावच्छिन्न चैतन्य को जीव कहा है। शंकराचार्य ने शरीर और इन्द्रियों का अध्यक्ष और कर्म-फलों का भोक्ता जो आत्मा है उसे जीव ऐसी संज्ञा दी है। आत्मा यह परब्रह्म का व्यपदेश होने से परब्रह्म के समान ही विभु है। जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ और अन्नमय, मनोमय, प्राणमय आदि पाँच कोश इनमें आत्मचैतन्य उपलब्ध होता है। लेकिन आत्मा का शुद्ध चैतन्य तो इसके भी पर है। जीव की वृत्ति उभयमुखी होती है। जब बहिर्मुख होती है तब विषयों को प्रकाशित करती है और जब अंतर्मुख होती है तब आत्मा को अभिव्यक्त करती है, ऐसा वेदान्त में कहा है।

जीव या आत्मा यह चैतन्यात्मक होने से वह परमेश्वर की उत्कृष्ट विभूति है, ऐसा गीता में माना है। गीता उसे क्षेत्रज्ञ कहती है। कृत कर्म का फल भोगनेवाला यह शरीर क्षेत्र है और इस क्षेत्र का जो ज्ञाता है वह क्षेत्रज्ञ आत्मा है। गीता के दूसरे अध्याय में आत्मा के अजन्मा, नित्य, शाश्वत और षड्विकार रहित होने का वर्णन मिलता है। उसी प्रकार वह सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और सनातन है, ऐसा भी उसमें उल्लेख मिलता है।

उपनिषदों के मूलभूत सिद्धांत 'ब्रह्मन्' और 'आत्मन्' इन दो अवधारणाओं पर केन्द्रित हैं, ऐसा कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इनमें से 'ब्रह्मन्' इस शब्द से विश्व के मूल में निहित सत्य को दर्शाया गया है और 'आत्मन्' इस शब्द से मानव में निहित सत्य अभिप्रेत है। उपनिषदों के विचारक इस बाह्य विश्व के समान ही उससे सुसंवादी ऐसी मानव को अंतर्यामी की सृष्टि मानते हैं। उनके प्रयत्न हमेशा इन दोनों विश्वों में निहित सत्य को ढूंढकर उनका परस्पर क्या संबंध है, इसे देखने का होता हैं। उनके इस अभ्यास की दो दिशाएँ हैं। उनका निष्कर्ष ऐसा है कि यह विश्व ब्रह्म से निर्मित हुआ है, इसलिए स्थिर है और अंत में उसी में विलीन होनेवाला है इसलिए यह विश्व ब्रह्म ही है। 'सर्व खलु इदं ब्रह्म' जैसे महाकाव्यों का यही अर्थ है। मानव जगत में अंतिम सत्य आत्मन् है और देह का विनाश हुआ तो भी 'आत्मन्' अमर और अविनाशी है, विकार के परे है। यह आत्मा आनंद स्वरूप है। 'तत्सत्यं स आत्मा', 'एषः स आत्मा' इस प्रकार के वचनों से यही बताया गया है।

आत्मा और ब्रह्म ये दोनों एक ही हैं, यह उपनिषदों का सबसे महत्वपूर्ण और मौलिक सिद्धांत है। यह निष्कर्ष 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' जैसे महावाक्यों में ग्रथित हुआ है। मानव और विश्व इन दोनो में एक ही चैतन्ययुक्त, आनंदस्वरूप, अविनाशी तत्व निहित है। बाकी सब भौतिक है, विनाशी है और वह महत्त्वपूर्ण भी नहीं है। उस आनंदस्वरूप या सच्चिदानंद स्वरूप ब्रह्म से तद्रूप होना, उसके साथ नैसर्गिक तदात्म्य प्रस्थापित करना यही मानवी जीवन का ध्येय है, यही मोक्ष है। आरूणी, श्वेताकेतु, याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी आदि के संवादों में इस सत्य का बड़े ही विस्तार से स्पष्टीकरण हुआ है। उपनिषदों का यह रोचक सिद्धांत है। इसका विवेचन हमें बार-बार मिलता है। उपनिषदों की दृष्टि अंतर्मुख है और यह बात उनकी 'ब्रह्मन्' और 'आत्मन्' संबंधी अवधारणाओं से समझी जा सकती है। विश्व का 'सत्य' ढूंढते समय पंच-महाभूत तथा इन्द्र, सूर्य-चंद्र आदि देवताओं का शासन/नियमन करनेवाले तत्त्व के नाते ब्रह्म पर उनका विचार स्थिर हुआ। इसी प्रकार मानव में सत्य क्या है यह ढूंढते समय देह इन्द्रियाँ इन सब का विचार करके, वे 'प्राण' या 'आत्मा' इस कल्पना पर स्थिर हुए।[४]

## सांख्य-योगदर्शन का जीवतत्व :

सांख्य दर्शन ने प्रकृति और पुरुष ऐसे दो मूलतत्त्व माने हैं। सांख्यों का पुरुष ही आत्मा है। यह आत्मा या पुरुष स्वयंसिद्ध है। वह चैतन्यरूप है और स्वयं ज्ञाता है। वह कभी ज्ञान का विषय नहीं होता। साथ ही वह कूटस्थनित्य और व्यापक है। वह प्रत्येक शरीर में भिन्न है ऐसा सांख्यों का भी मत है।

योग-दर्शन ने भी जीव का अस्तित्व माना है। जीव अनेक है। जीव को अनेक प्रकार के क्लेश भोगने पड़ते हैं। वह विविध कर्म करता है और उन कर्मों के फल भी भोगता है। पूर्वजन्म के संस्कारों का प्रभाव भी जीव पर पड़ता है, ऐसा योग-दर्शन ने माना है।

सांख्यदर्शन ने चैतन्य में कर्तृत्व, भोक्तृत्व माना है। गुणगुणी भाव या धर्मधर्मी भाव को स्वीकार न करने से, वह पुरुष में किसी भी प्रकार के गुण या धर्म के सद्भाव अथवा परिणाम सांख्यदर्शन नहीं मानता है। सांख्यदर्शन शक्ति को चेतना में न मानकर सूक्ष्म शरीररूप जो बुद्धितत्त्व है, उसमें मानता है।[५]

## मीमांसादर्शन का जीवतत्व :

मीमांसा दर्शन ने आत्मा को कर्ता और भोक्ता ऐसा उभयविध माना है। वह आत्मा को व्यापक और प्रति शरीर भिन्न मानता है। ज्ञान, सुख, दुःख आदि गुण उसमें समवाय संबंध से रहते हैं। मीमांसा दर्शन के मत से आत्मा यह ज्ञान-सुखादि रूप नहीं है। भाट्ट मीमांसक आत्मा में क्रिया का अस्तित्व मानते हैं। स्कंध और परिणाम ऐसे क्रिया के दो भेद हैं। भाट्ट मतानुसार आत्मा

परिणामशील होकर भी नित्य है। आत्मा में चित् और अचित् ऐसे दोनों अंश भाट्ट मीमांसकों ने माने हैं। उसमें से चित् अंश से आत्मा ज्ञान का अनुभव लेता है, और अचित् अंश से वह परिणामस्वरूप होता है। भाट्ट मीमांसक आत्मा को ज्ञान का कर्ता और ज्ञान का विषय ऐसा उभयविध मानते हैं। परंतु प्रभाकर मीमांसक उसे अहंप्रत्ययवेद्य ही मानते हैं।[६]

## चार्वाकदर्शन का जीवतत्त्व :

चार्वाक देह ही आत्मा है और देह का विनाश यही मोक्ष ऐसा मानते हैं। देह को आत्मा मानने पर मैं स्थूल हूँ, मैं अशक्त हूँ, मैं काला हूँ, आदि विधान सिद्ध हो सकते हैं। देहात्मवाद को स्वीकार कर लेने पर कोई भी प्रश्न बाकी नहीं रहते है।

आत्मा पर शरीर के गुणों का आरोप किया गया है इसलिए 'मैं स्थूल हूँ' इस वाक्य की सिद्धि के लिए आत्मा (अहं) और देह को (स्थूलः) एक सरीखा समझना पड़ेगा। अगर आत्मा-देह एक न होते तो 'अहं स्थूलः' यह वाक्य कैसे बनता?

अगर शरीर आत्मा है तो 'अहं शरीरं' ऐसा कहना चाहिए। 'मम शरीरं' कैसे कहा जाएगा? 'मम शरीरं' तभी कहा जाएगा जब आत्मा (अहं) और शरीर में भेद होगा।[७]

इस प्रकार भारतीय दर्शनों में चार्वाक दर्शन एकांत रूप से भौतिकवादी है। इस दर्शन का लक्ष्य भौतिक सुख है। चार्वाक दर्शन भूत और भविष्य की उपेक्षा कर केवल वर्तमानकाल को ही महत्त्व देता है। क्योंकि यह दर्शन केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानता है। प्रत्यक्ष प्रमाण के अलावा बाकी सब का वह निषेध करता है।

वे कहते हैं कि जब तक जीवित रहना है, तब तक सुखपूर्वक जीओ। ऋण करके घी खाओ। यह शरीर भस्म होने पर जिसके लिए पुनः जन्म धारण करना पड़ेगा ऐसी कोई भी वस्तु बाकी नहीं रहेगी। वे 'आत्मा' नामक तत्त्व को मानते ही नहीं है। चार महाभूतों के अलावा कोई भी स्वतंत्र तत्त्व नहीं है। चार महाभूतों का संयोग ही जीवन है और चार महाभूतों के संयोग का नष्ट होना ही मृत्यु है। जीवन में खूब खुशी लूटना यह इस दर्शन के अनुसार जीवन का लक्ष्य है।[८]

इहलोक के अलावा परलोक नामक कोई वस्तु ही नहीं है। शरीर यही आत्मा है। मृत्यु यही मुक्ति है। इसलिए शरीर में जब तक प्राण हैं, तब तक सुख प्राप्त करते रहना चाहिए। धर्म यह पुरुषार्थ नहीं है, काम यही मानवी जीवन का पुरुषार्थ है, जीवन के विषय में चार्वाक दर्शन के इस प्रकार के मत हैं।

चैतन्यविशिष्ट देह ही आत्मा (पुरुष) है। परलोक में जानेवाला जीव प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता, उसका अभाव होने से परलोक का भी अभाव है।[९]

## बौद्ध दर्शन का जीवतत्त्व :

अनात्मवाद यह बौद्ध दर्शन का मत है। बुद्ध अनात्मवादी थे। इस अनात्मवाद पर ही बौद्ध धर्म स्थित है। शाश्वत आत्मवाद का बुद्ध ने खंडन किया है।

ऐसी कोई नित्य वस्तु नहीं है जिसे हम 'आत्मा' कह सकेंगे। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान-इन पाँचों को मिलाकर हमारा व्यक्तित्व बना हुआ है।

बुद्ध के मतानुसार रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान को आत्मा समझना यह सबसे बड़ी भ्रान्ति है। क्योंकि ये दुःखरूप हैं। दूसरी बात यह है कि ये सब क्षणभंगुर हैं। इन्हें आत्मा नहीं कहा जा सकता है। जब ये आत्मा नहीं हैं, तो इन्हें अपना मानना उचित नहीं है।

मिलिन्द-प्रश्न में राजा मिलिन्द और नागसेन की चर्चा से भी बुद्ध का अनात्मवाद स्पष्ट सिद्ध होता है। जब राजा मिलिन्द ने नागसेन से पूछा 'भन्ते! विज्ञान, प्रज्ञा और आत्मा ये एकार्थवाची शब्द है या अलग-अलग अर्थ के वाचक है? तब नागसेन ने कहा -'महाराज! जानना यह विज्ञान है, समझना यह प्रज्ञा है और आत्मा यह कोई वस्तु ही नहीं है। इस पर से बुद्ध अनात्मवादी थे यह स्पष्ट सिद्ध होता है।[१०]

इस क्षणभंगुर संसार में निर्वाण को छोड़कर सब वस्तुएँ विनाशशील और परिवर्तनशील हैं, यह बुद्ध को मान्य है। हमारा यह शरीर ही जब क्षणभंगुर है, तब आत्मा के समान स्थिर वस्तु उसमें कैसे रह सकेगी? उनके मतानुसार आत्मा शरीर से भिन्न नहीं है और अभिन्न भी नहीं है। संसार में सुख-दुःख, कर्म जन्म-मरण, बंध-मोक्ष आदि सब है, परंतु इन सब का स्थिर आधार आत्मा नहीं है। ये अवस्थाएँ नई अवस्था को उत्पन्न करके नष्ट होती है।

जन्म-मृत्यु का रहस्य क्या है? ऐसा प्रश्न पूछने पर बुद्ध ने कहा कि शरीर ही आत्मा है, ऐसा मानना यह एक अंत है और आत्मा शरीर से भिन्न है, ऐसा मानना यह दूसरा अंत है। बुद्ध ऐसे एकांत को स्वीकार नहीं करते है।[११]

## जैन दर्शन का जीव तत्त्व और अन्य दर्शनों से जैन दर्शन का वैशिष्ट्यः

नवतत्त्वों में जीवतत्व यह प्रथम तत्त्व है। क्योंकि यही तत्त्व सब तत्त्वों में मुख्य तत्त्व है। आगम साहित्य और आगमेतर साहित्य में अन्य तत्त्वों के अलावा जीवतत्त्व का ही ज्यादा विवेचन मिलता है। जीवतत्त्व को सूर्य के समान मान लिया

जाये तो बाकी बचे आठ तत्त्व सूर्य के चारों ओर भ्रमण करने वाले ग्रहों के समान हैं, इस पर से इस तत्त्व की श्रेष्ठता ध्यान में आएगी।

प्रायः भारतीय दर्शनों का विकास एक आत्म-तत्त्व को केन्द्रबिंदु मानकर हुआ है। भगवान महावीर ने कहा है-

'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ'।[१२]

जो एक आत्मतत्त्व को जानता है, वह सब कुछ जानता है। इसपर से जीवतत्त्व का महत्त्व स्पष्ट होता है। बृहदारण्यक उपनिषद में भी यही बात बताई है-

'आत्मनि विज्ञाते सर्वामिदं विज्ञातं भवति।'[१३]

एक आत्मतत्त्व को जान लेने पर सब कुछ जान लेने जैसा है। भारतीय दर्शन यह एक आध्यात्मिक दर्शन है। भारतीय दर्शन में आत्मा के महत्त्व को सदैव स्वीकार किया गया है। यधपि आज विज्ञान का युग है और प्रचुर भौतिक सुख-सुविधाएँ उपलब्ध है, फिर भी आध्यात्मिक प्रगति के बिना मानव को सुख नहीं मिलेगा, यह निश्चित है, आत्मिक शांति नहीं मिलेगी।

हमने जीवतत्त्व नामक अध्याय में जीव का विस्तृत वर्णन किया है। भारतीय दर्शनों की दृष्टि से जीवतत्त्व और जैन दर्शन की दृष्टि से जीवतत्त्व को स्पष्ट करने का पूर्ण प्रयत्न किया है। फिर भी नौ तत्त्वों पर लिखा गया यह शोध प्रबंध अर्धविराम ही है, पूर्णविराम नहीं है, ऐसा ही कहना पड़ेगा। इसका कारण यह है कि भारतीय दर्शन 'नेति नेति' - यानि जितना हम कहते हैं, वही सब कुछ नहीं है ऐसा मानता है। उसके समक्ष भी अनंत सत्य है, कर्तव्य का अनंत क्षेत्र है। अगर हमने इस शोध-प्रबंध को 'इति इति' समझ लिया तो बड़ी गलती होगी, इसलिए इसे 'इति' न समझकर 'नेति' समझना चाहिए।

नवतत्त्वों में 'जीव तत्त्व' यह एक तत्व ऐसा है जो मानव को परमतत्त्व की प्राप्ति करा सकता है। जीवतत्त्व यह अनंत शक्ति का प्रतीक है। उसका महत्त्व जाननेवाले व्यक्ति को ऐसा निश्चित लगता है कि इस पूरे संसार में जीव के अलावा जो साधन हैं, वे सारे नाटकीय हैं।

नट बास के सहारे बंधी रस्सी पर अपनी करतब दिखाता है। परंतु थोड़ी ही देर बाद उसके सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मैंने जो करतब दिखाये, क्या वे सचमुच मेरे थे? इसका उत्तर 'नहीं', ऐसा ही मिलता है।

चैतन्य या ज्ञान यह जीव का लक्षण है। जीव यह ज्ञान, दर्शन, चारित्र-इन गुणों से एक दृष्टि से अभिन्न और दूसरी दृष्टि से भिन्न है। अभिन्न कहने का कारण एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, पंचेंद्रिय आदि कुल चौदह प्रकार के जीवों मे उनकी योग्यतानुसार ज्ञान, दर्शन और चारित्र होता ही है, इसलिए अभिन्न है।

भिन्न कहने का कारण यह कि एक की तुलना में दूसरा जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्र के बारे में कम होता है। तात्पर्य प्रत्येक जीव में ज्ञानादि आदि होते भी हैं और नहीं भी होते है।

जीव परिणामी अर्थात् परिवर्तनशील है। उसमें परिवर्तन की संभावना होतृ है। वह जो देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि विविध जन्म ग्रहण करता है। उसे ही 'परिणमन' या 'परिवर्तन' कहते है।

सांख्य दर्शन में पुरुष अकर्ता है। जैन दर्शन में शुभ और अशुभ कर्म जीव ही करता है और अपने कर्म का फल भी भोगता है।[१४]

किसी भी जीव को दूसरे जीव के कर्म का फल भोगना नहीं पड़ता। जिसे जीव के सामर्थ्य की प्रतीति हो चाती है, वह निश्चित रूप से अपनी ध्येयप्राप्ति में सफल हो जाता है। जीव और आत्मा भिन्न नहीं हैं, एक ही हैं। जीव ज्ञानदर्शनमय है। जब वह पूर्ण क्षयोपशम प्राप्त करता है, तब उसे विश्व के सारे पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। आत्मा ज्ञानमय है। आत्मा के पास ज्ञान के अलावा दूसरी कोई भी सामर्थ्य नहीं है। ज्ञान शक्ति सभी प्राणियों में होती है। परन्तु मनुष्य में विवेक बुद्धि भी होती है। जो मनुष्य अपनी विवेक बुद्धि का योग्य उपयोग करता है, उसे अपने में ही छिपे हुए अलौकिक दिव्य प्रकाश की प्रतीति हो जाती है।

दूसरी बात यह कि आत्मा जब तक अज्ञान के आवरण में रहता है, तव तक उसे ज्ञानप्राप्ति होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। परंतु तव भी आत्मा में ज्ञान, दर्शनरूपी सामर्थ्य तो होती है। उसे किसी भी बाह्य प्रकाश से प्रकट करना नहीं पड़ता। अज्ञान यह जीव का असली भाव न होकर विकारी भाव है इसकी जानकारी जब होगी, तव अज्ञानरूपी अंधकार समाप्त होगा।

जीव की सत्ता अनादि और अनन्त है। उसका आदि नहीं और अंत भी नहीं। जीव अविनाशी है अक्षय है। द्रव्य दृष्टि के कारण उसका स्वरूप तीनों कालों में एक जैसा ही होता है, इसलिए वह नित्य है तौर पर्याय दृष्टि के कारण वह भिन्न-भिन्न रूपों में परिणत होता रहता है, इसलिए जीव अनित्य भी है।

जीव और शरीर एक प्रतीत होता है, परंतु पिंजड़े से पंछी, म्यान से तलवार जिस प्रकार भिन्न हैं, उसी प्रकार जीव शरीर से भिन्न है। शरीर के अनुसार जीव का संकोच और विस्तार होता रहता है। जो जीव हाथी के विराटकाय शरीर में होता है, वही जीव चींटी के लघु शरीर में भी उत्पन्न हो सकता है। संकोच और विस्तार इन दोनों अवस्थाओं में उसकी प्रदेशसंख्या कम ज्यादा नहीं होती, समान ही होती है।

जिस प्रकार आकाश अमूर्त है फिर भी वह अवगाहन गुण के कारण जाना जाता है, उसी प्रकार जीव अमूर्त है, फिर भी वह ज्ञानादि गुणों के द्वारा जाना जाता है। जिस प्रकार काल अनादि है, अविनाशी है, उसी प्रकार जीव अनादि और अविनाशी हैं। जिस प्रकार पृथ्वी सब वस्तुओं का आधार है, उसी प्रकार जीव ज्ञान, दर्शन आदि का आधार है।

सुवर्ण से हार, मुकुट, कुण्डल, अंगूठी आदि अलंकार बनते हैं, फिर भी वह सुवर्ण ही रहता है। सिर्फ नाम रूप में फर्क पड़ता है। उसी प्रकार चारों गतियों और चौरासी (८४) लाख जीव योनियों में परिभ्रमण करते समय जीव के पर्याय परिवर्तित होते है, जीव का रूप और नाम बदलता है, लेकिन जीवद्रव्य हमेशा एक ही रहता है। केशर, कस्तूरी, कमल, केतकी आदि की सुगन्ध का रूप आँखों को दिखाई नहीं देता, परन्तु घ्राणेन्द्रिय द्वारा उसका ग्रहण होता रहता है। उसी प्रकार जीव दिखाई नहीं देता फिर भी ज्ञानादि गुणों के द्वारा उसका ग्रहण होता है। वाद्य यन्त्रों के द्वारा शब्द सुनाए जाते है, परन्तु उनका रूप दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार जीव दिखाई न देने पर भी उसका ज्ञानादि गुणों के द्वारा ग्रहण होता है। जीव अनेकानेक शक्तियों का पुंज है उसमें मुख्य शक्तियाँ है - ज्ञानशक्ति, वीर्यशक्ति, संकल्पशक्ति। विश्व में, लोक में ऐसा एक भी स्थान नहीं है, जहाँ सूक्ष्म या स्थूल शरीरी जीव का अस्तित्व नहीं है।

जिस प्रकार सुवर्ण और मिट्टी इनका संयोग अनादि है, उसी प्रकार जीव और कर्म इनका संयोग भी अनादि है। अग्नि से तपाकर सोना मिट्टी से विभक्त किया जा सकता है, उसी प्रकार जीव भी संवर, तपस्या आदि द्वारा कर्मों से विभक्त किया जाता है।

जिस प्रकार आकाश तीनों कालों में अक्षय, अनन्त और अतुल है, उसी प्रकार जीव भी तीनों कालों में अक्षय, अनन्त और अतुल है। जिस प्रकार सहस्त्र रश्मि सूर्य, पृथ्वी पर प्रकाशित होता है तब वह दिखाई देता है, लेकिन रात्रि में वह अन्य जगह जाता है, तब उसका प्रकाश दिखाई नहीं देता। उसी प्रकार वर्तमान में शरीर में रहा जीव दिखाई देता है और शरीर को वह छोड़कर जाता है तब दिखाई नहीं देता।

जैन दृष्टि से प्रत्येक शरीर में जीव भिन्न-भिन्न और अनन्त है। जैन दृष्टि से जीव अमूर्त है परन्तु कार्मण आदि शरीर के योग से वह मूर्त सदृश्य बनता है।[१५]

सुख, दुःख, इच्छा आदि का भाव जब तक शेष रहता है तब तक व्यक्ति आत्म तत्त्व की प्राप्ति कर नहीं सकता।

जीव इस संसार में मदारी के समान करतब दिखाता रहता है, कभी वह मनुष्य बनता है, कभी पशु। जीव, अजीव की यह विचित्र दशा संसार परिभ्रमण का कारण होती है। कर्म के आगमन को "आस्रव" कहते है और कर्म के आत्मा के साथ बद्ध होने को बंध कहा है। ये दोनों संसार के कारण माने गये है। संवर और निर्जरा ये जीव का विशेष स्वरूप प्रकट करने के साधन है। अंतिम मोक्ष यह जीव रूप ही होता है क्यों कि जीव ही परमात्म स्वरूप प्राप्त करता है, उसी को ही हम मोक्ष, निर्वाण, मुक्ति, अपवर्ग, कैवल्य आदि नाम देते है। परन्तु ऐसा बार-बार विचार करने पर भी 'मुक्त कौन' ? यह प्रश्न शेष रहता ही है, सचमुच जिसने आत्म स्वरूप को अर्थात् सम्यग्ज्ञान-दर्शनादि गुणों को पूर्णतः प्रकट कर लिया है। वही मुक्त जीव है।

ज्ञान, दर्शन यह जीव का स्वभाव है, जड़ता यह अजीव का स्वभाव है, जीव जब अपने स्वरूप को अच्छी तरह समझ लेता है तब उसे सच्चे आत्म स्वरूप का ज्ञान होता है आखिर मैं कौन हूँ? मैं चैतन्य स्वभावी ज्ञानी आत्मा हूँ मेरे इन ज्ञान, दर्शन आदि आत्म गुणों के विकास होने पर मोक्ष प्राप्त होगा।

इस सम्बन्ध में ऐसा कहा जा सकता है कि जब व्यक्ति अपूर्णता से पूर्णता की ओर बढ़ता है, तब उसे अलौकिक आनन्द की अनुभूति होने लगती है, परन्तु इस दुःख निवृत्ति के लिये ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये इस जीव को आत्मा से परमात्म पद पर अधिष्ठित करने वाले साधन है। 'अप्पा सो परमप्पा' अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है। सच्चे आत्म स्वरूप को पहचानने के लिये जीव के विकारी अंग-उपांगों को जानना आवश्यक है। इस संबंध में नवतत्त्वों का आधार लेना आवश्यक है। इन नवतत्त्वों में संसारी जीव को संसार परिभ्रमण से मुक्त होने के उपाय दिखाये गये हैं। सबका ध्येय एक होने पर भी किस मार्ग से जाने पर वह इच्छित फल मिलेगा और किस मार्ग से जाने पर वह नहीं मिलेगा यह सत्य बहुत ही थोड़े लोगों की समझ में आता है। किन्तु जो इन नवतत्त्वों को ठीक से जान लेता है, समझ लेता है वह सर्वोच्च अवस्था तक पहुँच सकता है।

जीव स्वतंत्र है और वे अनेक है। देह भेद से भिन्न-भिन्न और अनन्त है। ज्ञानशक्ति, पुरुषार्थ और संकल्प शक्ति ये जीव की मुख्य शक्तियाँ है। जीव जैसे विचार करता है वैसे उस पर संस्कार होते है और इन संस्कारों की छाप वाले एक सूक्ष्म पौद्गलिक शरीर का निर्माण होता है और दूसरा देह धारण करते समय यह संस्कार शरीर या कर्म शरीर जीव के साथ रहता है। ऐसा जैनियों का मत है। स्थूल शरीर के विच्छिन्न होने पर यह सूक्ष्म शरीर ही नवीन स्थूल शरीर की रचना करता है।[१६]

जीव द्रव्य को आत्मा भी कहते हैं। जैन दर्शन में यह एक स्वतंत्र द्रव्य माना गया है। जीव अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य इस अनंत-चतुष्टय के युक्त है और इसका सामान्य लक्षण उपयोग है। आत्मा सारे जड़ द्रव्यों से अपना भिन्न अस्तित्व रखता है। आत्मा रूप, रस, गंध और स्पर्शरहित है। वह स्वभाव से अमूर्त है। असंख्यात प्रदेशयुक्त है। प्रदेश में संकोच और विस्तार होने से वह छोटे-बड़े शरीर के आकार को धारण करता है। जीव द्रव्य दो प्रकारों में विभाजित किया जाता है -१) संसारी जीव और २) मुक्त जीव। परंतु सभी जीव समान गुण और समान शक्ति के होते है। जिस जीव का संसारचक्र एक बार रूक जाता है, उसे पुनः संसार में आने का कुछ भी कारण नहीं रहता। अनंत जीवों ने अपनी संसार-यात्रा समाप्त करके सिद्धगति प्राप्त की है।

जैन धर्म द्वारा मान्य दो मुख्य तत्त्व हैं जीव और अजीव। इन्द्रियाँ की शक्ति बल (मन,वचन,काया) आयु, श्वासोच्छवास ये संसारी जीव के लक्षण हैं। शुद्ध जीव के लक्षण हैं - अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य ओर अनंत सुख। ये गुण शुद्ध यानी मुक्त जीव में ही मिलते हैं। प्रत्येक जीव अनादि काल से अशुद्ध अवस्था में ही है और यह अवस्था उसे अजीव कर्मपुद्गल के संबंध के कारण प्राप्त हुई है। इस अशुद्ध अवस्था को संसार कहते हैं और शुद्ध अवस्था को मोक्ष कहते हैं। एक बार जीव मुक्त होने पर पुनः वह कभी अशुद्ध अवस्था में नहीं आएगा।

जैन मतानुसार जीव छह प्रकार के हैं। उन्हें 'षट्काय' कहते हैं। वे हैं- पृथ्वीकाय, अपकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय।[१७]

इनमें से वनस्पतिकाय और त्रसकाय जीवधारी है, ऐसा सामान्यतः सब दार्शनिक मानते हैं। परंतु पृथ्वी, अप्, अग्नि और वायु ये स्वयं प्राणयुक्त हैं ऐसा केवल जैनदर्शन ही मानता है। यह जैन धर्म का वैशिष्टय है।

इन छह काय-जीवों की हिंसा अलग-अलग कारणों से होती हैं। पृथ्वीकाय की हिंसा कुंए-तालाब खोदने पर, महल बानाने पर, ईमारतें बनाने पर, घर बनाने पर होती हे। अप्काय की हिंसा स्नान करने से, पानी पीने से, कपड़ा धोने आदि से होती हे। अग्निकाय की हिंसा भोजन पकाना, लकड़ी जलाना आदि से होती है। वायुकाय की हिंसा पंखे से हवा लेने से, सूप से अनाज साफ करने आदि से होती है। वनस्पतिकाय की हिंसा विविध प्रकार के भवन बनाने से, नौकाएँ बनाने से, सब्जियाँ खाने आदि से होती है। इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम के कारण अनेक त्रस प्राणियों की हिंसा भी होती है। जीव एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक होते है। सभी की हिंसा सम्भव होती है। हिंसा से आठ कर्मों का

बंध होता है। मानव को नरक में ले जानेवाली हिंसा ही है। अहिंसा से जनकल्याण और आत्मकल्याण दोनों ही होते हैं।

जैन दर्शन का मुख्य सिद्धांत स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद है। उसका अहिंसा से घनिष्ट संबंध है। जिस प्रकार आचार में अहिंसा आवश्यक है, उसी प्रकार विचार में अनेकान्तवाद की भी अत्यंत आवश्यकता है। भ. महावीर के काल में आत्म-नित्यवाद, उच्छेदवाद आदि कई दार्शनिक विचारधाराएँ प्रचलित थीं। उससे सामाजिक और दार्शनिक क्षेत्रों में मतभेदों का निर्माण हुआ। इसलिए भ. महावीर ने सब का विचार करके समन्वयात्मक दृष्टिकोण रखा। कोई भी बात एकांगी न हो, तुम्हारा भी सच और हमारा भी सच। कोई भी झूठा नहीं। इसलिए भ. महावीर ने 'स्यात्' इस शब्द का उपयोग विचारपूर्वक किया। व्यक्ति को अपना कथन एक विशिष्ट सीमा तक योग्य प्रकार से समझा देना और अन्य के कथन पर किसी भी प्रकार के आक्षेप न करना, इसे ही 'स्याद्वाद' कहते हैं। भ. महावीर की दृष्टि से वस्तु में सत् एवं असत् दोनों पक्ष होते हैं। वस्तु अपने मैलिक रूप से नित्य होने पर भी परिवर्तनीय पर्यायों की अपेक्षा से अनित्य भी होती है। इस प्रकार जैन धर्म में अहिंसा के सिद्धांत का अनेकांत के सिद्धांत के साथ बहुत ही नजदीक का रिश्ता है।

अहिंसा का सिद्धांत अपने मौलिक रूप में तो निरपेक्ष ही होता है। अहिंसा के पूर्णतः पालन करने के लिए तो व्यक्ति को किसी भी जीव को किसी भी प्रकार से सृष्ट नहीं देना चाहिए। उसे कितने भी कष्ट आये उसे सहन करना चाहिये। प्राणियों को कष्ट देना यह हिंसा है और कष्ट न देना यह अहिंसा है। जीवो के अस्तित्व की रक्षा पर इतने सूक्ष्म विचार किसी ने भी नहीं रखे हैं। जीवों की हिंसा नही करते हुए उनका रक्षण करना चाहिए, यही असली अहिंसा है, फिर वह जीव कोई भी हो। इस प्रकार का विचार जैन दर्शन के अलावा कहीं भी नहीं दिखाई देता। यह जैन धर्म का बहुत बड़ा वैशिष्ट्य है, इसलिए जैन दर्शन में नवतत्त्वों में जीवतत्त्व का असाधारण महत्त्व है। सूक्ष्म हिंसा मानव के द्वारा कैसी होती रहती है? अहिंसा के पालन के लिए क्या करना चाहिए? इसके लिए 'गांधी उज्ज्वल वार्तालाप' नामक पुस्तक में विस्तृत वर्णन है।[१८]

आज के वैज्ञानिक युग में अनेक नई-नई व्यवहारोपयोगी वस्तुओं का अविष्कार हुआ है, उसी के साथ अणुबम जैसे महान संहारक और घातक शस्त्रों का भी निर्माण हुआ है। यह सब किसलिए? अपनी सत्ता और अपना महत्त्व दूसरे को दिखाने के लिए ही है। एक तरफ शस्त्र-स्पर्धा में एक देश दूसरे देश के आगे जाना चाहता है और दूसरी तरफ जनता को शांति की इच्छा है। परंतु शांति शस्त्रों की स्पर्धा से नहीं मिल सकती। शांति का निवास तो आध्यात्मिकता में है,

भौतिकता में नही है। इसलिए नवतत्त्वों का ज्ञान और उसमें भी जीव तत्त्व का ज्ञान विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।

यहाँ जीवतत्त्व के विवेचन का हेतु यही है कि जीव के भेद और स्वरूप को समझकर सबको जीवों का रक्षण करना चाहिए। हमें जैसे सुख प्रिय है, वैसे ही वह सब जीवों को भी सुख प्रिय होता है। इसलिए अपनें समान सब जीवों का रक्षण करें। किसी को भी मरना पसंद नहीं होता, सब को जीवित रहना ही अच्छा लगता है।

'सव्वे जीवावि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं'।[९८]

इसलिए भगवान महावीर को कहना पड़ा कि चींटी से लेकर हाथी तक सबको जीवन प्रिय है। इसलिए किसी भी जीव की हिंसा नहीं करना चाहिए।

प्राणिमात्र को सुख की इच्छा होती है, दुःख कोई भी नहीं चाहता। थोड़ा-सा संकट आते ही मनुष्य परमात्मा की याद करने लगता है। इसका अर्थ यह है कि हमें दुःख नहीं चाहिए। परंतु जो सुख हम चाहते हैं वह सुख क्षणिक नहीं होना चाहिए। दूसरों के दुःख से मिलनेवाला सुख नहीं होना चाहिए, क्योंकि ऐसा सुख असली सुख नहीं होता। यदि एक दूसरे को दुःख देकर सुख प्राप्त करना चाहोगे तो परिणामतः कोई भी सुखी नहीं होगा। इससे तो सब अपना दुःख ही बढ़ाएँगे। यदि हम ने एक को भी दुःखी कर सुख की इच्छा की तो दूसरा हमें दुःखी करके सुख प्राप्त करना चाहेगा, इस प्रकार दुःख ही बढ़ता है। सुख नहीं बढ़ता। इसलिए इस शाश्वत सुख का सही मार्ग भगवान महावीर ने साढ़े बारह वर्ष जंगल में रहकर और अनार्य देश में भ्रमण करके ढूंढ निकाला। उन्हें जो मार्ग मिला उसके संबंध में उपदेश देते समय उन्होंने कहा है - 'सच्चा सुख अगर कहीं होगा तो वह अहिंसा में है, सभी से प्रेम करने में है। इसका मूल सूत्र बताते समय उन्होंने कहा "जीओ और जीने दो " Live and Let live.

एक तरफ भगवान ने यह बात दुनिया के सामने रखी तो दूसरी तरफ कुछ लोगों ने "जीवो जीवस्य भोजनम्" अर्थात् जीव ही जीव का भोजन है, यह बात भी कही।, अर्थात् एक जीव दूसरे जीव के आधार के बिना जीवित ही नहीं रह सकता। अगर अहिंसा का मार्ग ही सही मार्ग है, तो एक का जीवन दूसरे के जीवन का आधार कैसे बनेगा ? इसमें अहिंसा कैसे रहेगी ? ऐसा प्रश्न लोगों के मन में आना स्वाभाविक ही है। इस प्रश्न का उत्तर एक अंग्रेज लेखक ने अपनी भाषा में 'Living is Killing' 'जीना मारना है' ऐसा दिया है। इस प्रश्न के उत्तर में हमारे तत्त्वचिन्तकों ने कहा है कि 'जीना मारना' यह बात सही है, परंतु यह मानव का धर्म नहीं है। मनुष्य का धर्म तो ऐसा है कि वह कम से कम हिंसा कर ज्यादा से ज्यादा अहिंसा का पालन करे। इस संबंध में अंग्रेजी में Killing the

least is living the best ऐसा सुंदर विचार है। कम से कम हिंसा करके ज्यादा से ज्यादा अहिंसा का पालन करना, यह जीवन का सर्वोत्तम सिद्धांत है। यह बात भगवान ने भी अपने साढ़े बारह वर्ष के दीर्घ मौन की समाप्ति के समय कही थी। 'मा हणो, मा हणो' - जिसे वेदों में भी 'मा हिंस्यात् सर्व भूतानि' ऐसा कहा है।[२०]

"अहिंसा" यह एक तीन अक्षरोंवाला छोटा-सा शब्द है। परंतु यह विष्णु के तीन चरणों से भी अधिक विशाल और व्यापक है। अखिल मानव जाति ही नहीं, वरन् संपूर्ण चर-अचर प्राणी जगत् इन तीन चरणों में समाया हुआ है। जहाँ अहिंसा है, वहाँ जीवन है। जहाँ अहिंसा का अभाव है, वहाँ जीवन का अभाव है। जिस दिन इस संसार में जीव ने जन्म लिया, उस दिन से अहिंसा का भी अस्तित्व है। जैन दर्शन के अनुसार सृष्टि पर प्राणी का अवतरण अनादि है इसलिए जैन दर्शन अहिंसा को भी अनादि मानता है। जीवन और अहिंसा का संबंध अनादि है। जहाँ अहिंसा है, वहाँ जीवन है और जहाँ जीवन है, वहाँ अहिंसा है, यह व्याप्ति नित्य-सत्य है।[२१]

अगर अहिंसा होगी तो सत्य टिकेगा, अचौर्य टिकेगा, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की भावना भी टिकेगी। जीवन के जितने आदर्श हैं, उन सब की प्राप्ति का साधन अहिंसा ही है। जिस प्रकार जमीन के आधार पर ही विशाल महल, ग्राम, नगर यानी संपूर्ण विश्व स्थित है, उसी प्रकार अहिंसा भी आध्यात्मिक साधन की आधारभूमि है।

जीवन अल्पकालीन है, क्षणभंगुर है, इसलिए किसी भी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए। हिंसा नहीं की तो पाप नहीं होगा और पाप न होने पर हम सुखी होंगे और आखिर परमतत्व मोक्ष को जा सकेंगे। अगर हमारे हाथों से हिंसा हो गई, तो पाप बढ़ेगा। क्योंकि हिंसा का फल कड़ुआ होता है। साथ ही संसार-भ्रमण बढ़ेगा, हम मुक्ति से दूर रहेंगे, यह सब समझकर अहिंसा का आचरण करें। जीवन के कठिन संघर्षों में कैसे सफल हो? सांसारिक और आध्यात्मिक समस्याएँ कैसे सुलझाये? आत्मा की मुक्ति के लिए साधना-मार्ग पर कैसे आरूढ़ हो? और जीव एवं जगत् का रहस्य समझकर संवर धर्म की आराधना कैसे करे? इन सारे प्रश्नों के उत्तर अहिंसा की साधना में हैं।

जीवों के मुख्य चार प्रकार हैं। आवान्तर प्रकार तो अनेक हैं, परंतु सब में श्रेष्ठ मानव ही है। मानव विश्व का श्रृंगार है। संसार में मानव से श्रेष्ठ कोई भी प्राणी नहीं है। असीम सुख में निमग्न देवता भी मानव से स्पर्धा नहीं कर सकते।

मानव शक्ति और तेज का पुंज है। वह विश्व का भाग्यविधाता है। वह सार्वभौम सम्राट है। वह अपने तेज से विश्व को प्रकाशित करता है। उसने

संस्कृति, सभ्यता और विज्ञान का नवनिर्माण किया है। उसकी परमार्थ भावना अत्यंत भव्य है।

जैन संस्कृत वाड्मय में वर्णित नवतत्वों में 'जीव' तत्त्व को प्रमुख माना गया है। 'जीव' तत्त्व साधना का आधारस्तंभ है और अंतिम साध्य मोक्ष की प्राप्ति में समर्थ है।

'जीव' के स्वरूप के बारे में दार्शनिकों में मतभिन्नता होते हुए भी उन्होंने एक मत से उसमें चेतना सामर्थ्य को मान लिया है। चैतन्य सामर्थ्य के अभाव में 'जीव' को 'अजीव' कहा जाता है। अजीव को ही दूसरे शब्दों में स्पर्श, रूप, रस और वर्णयुक्त पुद्गल कहते हैं। जड़ की क्रिया जड़रूप होती है और जीव की क्रिया चैतन्यरूप होती है। जीव या आत्मा अनादि और अनंत है। इस विषय में साम्य और वैषम्य की चर्चा न्याय-वैशेषिक, मीमांसक और बौद्ध दर्शनों के प्रसंग में की गई है। जीव और शरीर, जीव और आत्मा, चेतना और शरीर - इनके परस्पर संबंध को स्पष्ट करने का नम्र प्रयत्न किया हे, और अंत में 'जीव' का अस्तित्व सिद्ध किया है।

आत्मा का स्वभाव तो हमेशा ज्ञान-दर्शन रूप चेतनामय होता है इसलिए ऐसा कहा जाता है कि भारतीय दर्शन में जीव का महत्त्व अधिक है क्योंकि जीव ही कर्ममुक्त होकर मोक्षप्राप्ति करता है। जीव के आधार से ही आगम ग्रंथ निर्मित हुए है। इस संबंध में दार्शनिकों ने अनेक विकल्पों के आधार पर दार्शनिक ग्रंथों की निर्मिति की। आधुनिक विचारकों ने भी जीव के संबंध मे पर्याप्त उहापोह किया है। आज भी शास्त्रीय पद्धति से यह कार्य चल रहा है।

भारत के समस्त दर्शनों ने आत्मा के अस्तित्व को मान लिया है। न्याय-वैशेषिक दर्शन आत्मा को नित्य पदार्थ मानते हैं। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान उसके विशेष गुण है। आत्मा यह ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। ज्ञान, अनुभूति और संकल्प ये आत्मा के धर्म हैं। चैतन्य यह आत्मा का स्वरूप है। मीमांसा दर्शन का भी यही मत है। मीमांसा दर्शन आत्मा को नित्य और विभु मानता है और चैतन्य को वे उसका आगन्तुक गुण मानते हैं। स्वप्नरहित, निद्रा के समान मोक्ष्व की अवस्था में आत्मा चैतन्य गुण से रहित होता है।

सांख्य दर्शन में पुरुष को नित्य, विभु और चैतन्य स्वरूप माना है। इस दर्शन के अनुसार चैतन्य यह आत्मा का आगन्तुक धर्म नहीं अपितु स्वाभाविक गुण है। पुरुष अकर्ता हैं। वह सुख-दुःख की अनुभूतियों से परे है। बुद्धि ही कर्ता है और सुख-दुःख के गुणों से युक्त है। बुद्धि प्रकृति का परिणाम है और प्रकृति निरन्तर क्रियाशील है। उसके विरूद्ध पुरुष चैतन्यस्वरूप और अकर्ता है।

अद्वैत वेदान्त आत्मा को सत्, चित् और आनंदस्वरूप मानता है। सांख्य अनेक पुरुषों को मानता है, परन्तु ईश्वर को नहीं मानते हैं। अद्वैत केवल एक ही आत्मा को मानता है। चार्वाक दर्शन आत्मा की सत्ता नहीं मानता। वह चैतन्ययुक्त शरीर को ही आत्मा मानता है।

बौद्ध दर्शन आत्मा को ज्ञान, अनुभूति और संकल्प की प्रतिक्षण परिवर्तन होने वाली चेतनधारा मानता है। इसके विपरीत जैन दर्शन में आत्मा को अजर और अमर माना गया है। ज्ञान यह आत्मा का विशिष्ट गुण है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा यह स्वभावतः अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तशक्ति से युक्त है।[२२]

सब दर्शनों के जीवात्मा विषयक सिद्धान्तों का स्वरूप देखने पर पता चलता है कि उनमें कहीं सुसंवाद है और कहीं विसंवाद है। इसलिए उन सब में अनेकता में एकता और एकता में अनेकता दिखाई देती है। फिर भी जैन धर्म में जीवतत्त्व के विषय में अत्यंत विस्तृत और सूक्ष्म विवेचन किया गया है। सभी जीव एक समान है, इसलिए गलती से भी किसी प्राणी का घात करना या उसे किसी भी प्रकार से उसे कष्ट पहुँचाना अनुचित है, यह हिंसा है।

'जीव' तत्त्व की चर्चा के प्रसंग में निम्नलिखित विषयों का वर्णन है – जीव तत्त्व ही प्रथम क्यों? आत्मवाद की उत्क्रान्ति का इतिहास, अन्य दर्शनों की मान्यताएँ, जीव का लक्षण, उपयोग के भेद, जीव के अन्य लक्षण, जीव के प्रकार, चेतना के प्रकार, ज्ञान के प्रकार, जीव के भाव, जीव की शाश्वतता, संसारी जीवों के प्रकार, त्रस के प्रकार, चार-गति, स्थावर जीव के प्रकार, शरीर के प्रकार, देह परिमाण जीव, आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि, विभिन्न वैज्ञानिकों के आत्मा के विषय में विचार, आधुनिक विज्ञान और जीवतत्त्व आदि के विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि प्रायः सभी भारतीय दर्शनों ने आत्मा का अस्तित्व माना है और अपनी-अपनी दृष्टि से उसका विवेचन किया है। फिर भी जैन दर्शन का जीव तत्त्व का विवेचन अत्यन्त गहन और सूक्ष्म है।

## (२) अजीवतत्त्व :

जीव के विरुद्ध लक्षण वाला अजीवतत्त्व है। जीव चेतन है, तो अजीव अचेतन है। अजीव तत्त्व को भी जैन धर्म में विस्तार से स्पष्ट किया गया है। अन्य दर्शनों ने इस तत्त्व की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है ऐसा प्रतीत होता है। जैन धर्म की दृष्टि वैज्ञानिक होने से उसमें किसी भी विषय को सूक्ष्मता से स्पष्ट किया जाता है। यही जैन दर्शन का वैशिष्ट्य है। अजीव तत्त्व के (१) धर्म, (२) अधर्म, (३) आकाश, (४) काल और (५) पुद्गल - ये पाँच भेद हैं।

जैन दर्शन के अलावा अन्य किसी भी दर्शन में धर्म एवं अधर्म को तत्त्व को नहीं माना गया है। जीव और पुद्‌गल की गति का सहकारी कारण धर्म द्रव्य है। धर्म यह जीव की गति का प्रेरक या माध्यम है। अधर्म द्रव्य धर्म द्रव्य से विरुद्ध लक्षण वाला है। जीव और पुद्‌गल इनकी स्थिति का सहकारी कारण अधर्म द्रव्य है। 'आकाश' के दो भेद हैं - (१) लोकाकाश और (२) अलोकाकाश । जिस आकाश में धर्म, अधर्म आदि द्रव्य हैं, वह 'लोकाकाश' है और जिसमें वे नहीं हैं, वह अलोकाकाश है। व्यावहारिक 'काल' द्रव्य के भूत, भविष्य, वर्तमान अथवा घटिका, पल, प्रहर, रात, दिन आदि भेद हैं और वे सादि और सान्त हैं। पारमार्थिक काल अविच्छिन्न रहनेवाला होने से वह नित्य है। वह अन्य द्रव्यों के परिवर्तन का सहकारी कारण है। 'पुद्‌गल' स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण आदि गुणों से युक्त अजीव द्रव्य को कहते हैं। उसके अणु और स्कंध ऐसे दो प्रकार हैं। छहों द्रव्यों का विस्तृत वर्णन 'विश्वप्रहेलिका' नामक पुस्तक में मिलता है।[२३]

जैन दर्शन में जीव और अजीव इन तत्त्वों को ही मुख्य तत्त्व माना गया है। पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष इन सात अवान्तर तत्त्वों का जीव और अजीव इनमें ही अंतर्भाव होता है। फिर भी विशेष तत्त्वज्ञान के लिए और संसार के दोष दिखाकर निःश्रेयस के मार्ग की ओर लोगों का चित्त आकर्षित करने के लिए पुण्य पाप, आस्रव, संवर और निर्जरा तथा बंध और मोक्ष इन तत्त्वों का भी स्वतंत्र विचार जैन दर्शन में किया गया है।[२४]

'अजीव' का विस्तृत वर्णन 'अजीव तत्त्व' नामक अध्याय में किया गया है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्‌गल इन पाँच द्रव्यों का वर्णन भी उसी में किया गया है। उसके साथ ही विश्वव्यवस्था, द्रव्य का स्वरूप प्रत्येक द्रव्य का स्वतंत्र अस्तित्व, रूपी और द्रव्य, द्रव्य का क्षेत्रमापन, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, धर्म का और अधर्म का विशिष्ट अर्थ, शास्त्रीय दृष्टिकोण से अजीव का वर्णन पुद्‌गल का महत्व और वैशिष्ट्य, वैज्ञानिक दृष्टि से पुद्‌गल आदि का विवेचन भी अजीव तत्त्व में सूक्ष्मता से किया गया है।

### (३-४) पुण्य-पाप तत्त्व :

उत्तम अर्थात् शुभ फल प्राप्त करानेवाला कर्म ही 'पुण्य' है। पुण्यकर्म के विरुद्ध अर्थात् अशुभ फल प्राप्त करानेवाला कर्म ही 'पापकर्म' है।

जैन दर्शन में पुण्य नौ प्रकार से बांधा जाता है और उसका फल बयालीस प्रकार से मिलता है। पाप अठारह प्रकार से बांधा जाता है और उसका फल बयासी प्रकार से मिलता है। इनका विस्तृत रीति से विवेचन पुण्य-पाप संबंधी अध्याय में किया गया है।

जैन दर्शन ने पुण्य और पाप को विशेष महत्त्व नहीं दिया है। परंतु पाप का त्याग किए बिना पुण्य में प्रवृत्ति नहीं होती है। किसी को भी पुण्य का त्याग नहीं करना चाहिए, ऐसा स्पष्ट रूप से कहा गया है।

मीमांसा दर्शन ने पुण्य को स्वर्गप्राप्ति का हेतु और पाप को नरक गति का हेतु माना गया है। अन्य दर्शनों ने भी करीब-करीब यही भूमिका स्वीकार की है। जैन दर्शन ने पुण्य और पाप को स्वतंत्र तत्त्व माना है। फिर भी पुण्य-पाप का मोक्ष से कुछ भी संबंध नहीं है, ऐसा स्पष्ट रूप से कहकर मुमुक्षु को पाप और पुण्य इन दोनों से परे जाकर आत्मोन्नति करते हुए मोक्ष प्राप्त करना चाहिए ऐसा भी स्पष्ट रूप से निर्देश दिया है।

यह कल्पना बाद में 'गीता' में भी आई है। आदर्श भक्त के स्वरूप का वर्णन करते हुए उसे शुभ और अशुभ कर्म का त्याग करने वाला माना है। जैन तत्त्व ज्ञान के अनुसार भी पाप और पुण्य इनका त्याग करने वाला ही सच्चा साधक माना गया है।[२५] गीता में वर्णित आदर्श साधक और जैन धर्म में वर्णित आदर्श साधक बहुत ही साम्य है, भगवान महावीर के बताए हुए आदर्श साधक के लक्षण ही, गीता में आदर्श भक्त या स्थितप्रज्ञ के लिए स्वीकार किये गये है।

जैन दर्शन में कुन्दकुन्द ने पुण्य को सुवर्ण की बेड़ियां और पाप को लोहे की बेड़ियां कहा है। बेड़ियां लोहे की हों या सुवर्ण की, वे बंधनकारक ही होती हैं। इस प्रकार पुण्य-पाप दोनों बंधनकारक होकर किस रूप में त्याज्य हैं यह बताया है। साथ ही पुण्य-पाप की व्याख्या, पूर्वकृत पाप-पुण्य, द्रव्यपुण्य-भावपुण्य, पुण्य के नौ भेद, पुण्य का फल, पुण्य की महिमा, शुभयोग और अशुभयोग, पुण्य-पाप की चर्चा, पुण्य-पाप में अंतर, पाप कब होता है?, पाप के अठारह भेद, पाप का फल, पुण्य-पाप का अस्तित्व, पुण्य-पाप की कसौटी आदि विषयों का इन अध्यायों में विस्तृत वर्णन किया गया है।

**(५-६) आस्रव तत्त्व और संवर तत्त्व :**

जिस के योग से कर्म जीव की ओर आते हैं, उसे 'आस्रव' कहते हैं। मन-वचन एवं शरीर की गतिविधियों के कारण कर्म-परमाणुओं का आगमन आत्मा की ओर होता है। यही आस्रव है आस्रव के कारण ही संसार है। आस्रव का प्रमुख कारण मिथ्यात्व है। शरीर को आत्मा समझना, अधर्म को धर्म समझना, यह मिथ्यात्व है। जो 'स्व' (अपना) समझना यह मिथ्यात्व है। यही संसार-परिभ्रमण कराना है।

आस्रव का निरोध करने वाले तत्त्व को 'संवर' कहते हैं। आस्रव और बंध ये संसार-चक्र के दो गतिमान पहिये हैं। इस संसार चक्र का विध्वंस संवर

तत्त्व से होता है। संवर अर्थात् निरोध। संवर मोक्ष मार्ग की ओर प्रस्थान करने का प्रथम चरण है।

संवर का मार्ग यही जैन धर्म का प्रशस्त मार्ग है। जीवन-मृत्यु से यथार्थ स्वरूप का जिसे बोध हो गया है, वही साधक संवर मार्ग का अनुसरण करता है।

संवर की साधना अप्रमत्त आत्मा के द्वारा ही संभव होती है। जो कषायों की प्रतिक्रिया को रोकता है, वही संवर है। क्रोध आदि चार कषाय, प्रमाद और मन, वचन, काया की दुष्प्रवृत्तियों को जो रोकता है, वह 'संवर' है।[२६]

आस्रव और संवर तत्त्व की कल्पना सिर्फ जैन धर्म में मिलती है। इन तत्त्वों का अभ्यास करने पर ऐसा लगता है कि यह जैन धर्म का वैशिष्ट्य है। बौद्ध धर्म में भी 'आस्रव' आता है फिर भी वह जैन धर्म में प्रयुक्त 'आस्रव' से भिन्न है। पाप और पुण्य, पानी के स्रोत के समान जीव में प्रवाहित होते रहते हैं। इस वैज्ञानिक अवधारणा पर आधारित यह कल्पना दूसरे किसी भी दर्शन में नहीं मिलती।

कुछ अच्छी बातें भी दूसरी बुरी बातों से बिगड़ सकती हैं, इसलिए उनका निरोध आवश्यक है। उदाहरणार्थ अच्छे फल सड़ न जाएँ इसलिए हवाबंद (एअर टाइट) करके भेजे जाते हैं। यही बात आस्रव और संवर तत्त्व के संबंध में भी लागू हो जाती है। आस्रवरूपी हवा संवररूपी फल को लगने न देने पर ही संवर रूपी फल सड़ेंगें नहीं।

दूसरा उदाहरण ऐसा कहा जा सकता है -किसी जहाज में छेद हो गया है। उस छेद को कॉर्क लगाया तो पानी अंदर नही आ सकेगा। परंतु अगर कॉर्क (बूच) ही नहीं लगाया, तो पानी अंदर आकर पूरा जहाज डूब जाएगा। यह उदाहरण भी आस्रव और संवर तत्त्व को लागू पड़ता है। आस्रवरूपी फूटे हुए जहाज को संवर रूपी कॉर्क लगाने पर ही कर्मरूपी पानी अंदर नहीं आ सकेगा। इस प्रकार आत्मा में आस्रव द्वारा कर्म-प्रवेश न हो इसलिए संवर का कॉर्क लगाना चाहिए।

आस्रव तत्त्व के अन्तर्गत आस्रव और कर्म भिन्नता, आस्रव शब्द का अर्थ, आस्रव की विभिन्न व्याख्याएँ, आस्रव और संवर का स्वरूप, आस्रव और संवर के भेद निराश्रवी कैसे बनें? आस्रवद्वार और बंधहेतु, आस्रव के भेद, एवं पच्चीस क्रियाएँ और संवर तत्त्व के अन्तर्गत संवर का स्वरूप, संवर के भेद, समिति, गुप्ति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परिषह जय, द्रव्यसंवर और भावसंवर आदि का विस्तृत विवेचन किया है।

(७) निर्जरा तत्त्व :

जीव के साथ पूर्वबद्ध कर्मों को क्षय करना अथवा अंशतः क्षय करना 'निर्जरा' है। निर्जरा की अवधारणा अन्य दर्शनों में नहीं मिलती। यह जैन दर्शन की एक विशेषता अवधारणा है।

प्रत्येक कर्म अपनी काल-मर्यादा में उचित फल देकर आत्म-प्रदेशों से अलग होता है। परंतु 'सविपाक निर्जरा' से जीव का कल्याण नहीं होता। क्योंकि अपना स्वाभाविक फल देकर नष्ट होने वाले कर्म जीव में इस प्रकार के विकार उत्पन्न करते हैं कि जिससे नवीन कर्मबंध होते है और जीव दुःखों से मुक्त नहीं होता। परंतु धार्मिक अनुष्ठान द्वारा आस्रव का निरोध कर कर्मों का क्षय करने पर 'अविपाक निर्जरा' होती है। उससे जीव को कर्म से छुटकारा मिलता है और आत्मा के स्वाभाविक गुण प्रकट होते है। जब निर्जरा द्वारा पूर्वसंचित सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं, तभी जीव के अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य नामक गुणों का प्रकटन होता है। यही मोक्ष है। यही जीव के द्वारा परमात्म अवस्था की प्राप्ति है।

निर्जरा तत्त्व पुरुषार्थ का सूचक है। कर्मों का विनाश अपने आप होगा ऐसा माननेवालों को मुक्ति नहीं मिलेगी। आत्मा के साथ अनादि काल से बद्ध कर्मों का नाश सहजता से होना अशक्य है, इसलिए पहले संवर का मार्ग और बाद में निर्जरा का मार्ग बताया गया है।

गीता में 'ज्ञानाग्नि सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरूते।' ऐसा कहा गया है। कुछ लोगों को लगता है कि ज्ञानमार्ग अलग है और निर्जरामार्ग अलग है। परंतु दोनों मार्ग एक ही हैं। तप से चित्त का शोधन और शारीरिक क्रियाओं का निरोध होने पर ज्ञानज्योति प्रकट होती है। एक क्रिया है, तो दूसरी उपलब्धि है। तप क्रिया है तो ज्ञान उपलब्धि है, इसलिए ज्ञानमय मार्ग यही निर्जरा का मार्ग है।

जिस प्रकार छिद्र द्वारा नौका में प्रविष्ट पानी कुछ योजा करके बाहर फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार आस्रव द्वारा आत्मा में प्रविष्ट कर्म निर्जरा द्वारा बाहर फेंक दिए जाते हैं। उनका क्षय किया जाता है।

निर्जरा की व्याख्या, निर्जरा का स्वरूप, निर्जरा और मोक्ष में अंतर, मोक्ष-प्राप्ति के दो कारण और निर्जरा के बारह भेद आदि का विस्तृत विवेचन निर्जरा तत्त्व के विवेचन में किया गया है।

(८) **बंध तत्त्व** : जीव कषाययुक्त होकर कर्म रूप में परिणत होने के योग्य पुद्गल द्रव्य का ग्रहण करता है, यही 'बंध' है। मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये ही बंध के कारण हैं। कर्मयोग्य पुद्गलों का और जीव का अग्नि और लोहपिण्ड के समान परस्पर अनुस्यूत होना ही 'बंध' है।

आस्रव से आत्मा की ओर आए हुए कर्म-परमाणु आत्म-प्रदेश के साथ नीर-क्षीरवत् मिल जाते हैं और उससे कर्म बंध होता है। जिस प्रकार का कर्म होगा, उसी प्रकार का बंध होता है। पुराने बंध के कारण नया आस्रव और नए आस्रव से पुनः बंध यह परम्परा चलती रहती है। बंधे हुए कर्म विशिष्ट काल-मर्यादा के होते हैं और वे अपना फल देकर नष्ट होते हैं। उस दृष्टि से कर्मचेतना और कर्म फल चेतना का वर्णन विशेष रूप से किया गया है।

उपनिषदों में 'बंध' तत्त्व की अस्पष्ट कल्पना ही मिलती है, परंतु तात्त्विक दृष्टि से उस पर विचार जैन दर्शन में ही किया गया है। 'गीता' जैसे तात्त्विक ग्रंथ में यह अवधारणा बार-बार दिखाई देती है। इसमें जैन तत्त्वज्ञान करणभूत रहा होगा।

'गीता' के अठारहवें अध्याय में 'बंध' यह जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द भी मिलता है। उसमें कहा गया है कि प्रवृत्ति यानि किसी क्रिया को करना और निवृत्ति यानि किसी क्रिया को न करना। 'कार्य' यानि कौन-सा कृत्य करने योग्य है और अकार्य अर्थात् कौन-सा कृत्य करना योग्य नहीं है, किस बात से डरना और किससे नहीं डरना तथा बंध और मोक्ष किसमें है, यह जो बुद्धि जानती है, वही बुद्धि सात्विक है।[२७]

इस प्रकार 'गीता' में भी कर्मों के कारण बंधन होता है, यह अवधारणा जैन दर्शन के समान स्पष्ट दिखाई देती है। आत्मा के साथ कर्म का मिल जाना यह दूध और पानी के मिश्रण के समान है। इसे ही 'बंध' कहते हैं।

जैन तत्त्वज्ञान में कर्म-सिद्धांत का यह वैशिष्ट्य है। 'जैसी करनी, वैसी भरनी' यह कहावत जैन कर्म-सिद्धांत पर पूर्णतया लागू है। जैन तत्त्वज्ञान में अपना कर्म ही सारी बातों के लिए जिम्मेदार है, ऐसा माना जाता है। यहाँ कर्ता के रूप में ईश्वर को स्थान नहीं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी मन-वचन-काया रूपी कृति से अलग-अलग कर्म बांध लेता है। सदाचरण से उस कर्म की शक्ति और स्थिति में कम-ज्यादा का अंतर पड़ता है। धार्मिक आचरण, सदाचार और तपश्चरण से कर्म नष्ट हो सकते हैं। इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति के लिए उत्तम प्रवृत्ति करना आवश्यक है। इस कर्म सिद्धांत में व्यक्ति अपना भाग्य बनाने में स्वतंत्र है, और स्वयं किए हुए कर्म का फल भोगे बिना उसे कोई चारा नहीं है।

कर्म के उदय काल में ज्ञान-भावना से आत्म-स्वरूप में स्थिर रहा गया, तो नया बंध नहीं होता। संसार में रहकर भी निर्लेप रहने का मार्ग अर्थात कर्म-फल के उदय काल में अप्रमादी रहकर ज्ञान-भावना से उस फ़ल की ओर देखना यह है। कर्म के फल जब प्राप्त होते है, तब व्यक्ति हर्ष-विषाद में रममाण होता है। क्या जन्म या क्या मृत्यु, क्या ऐश्वर्य या क्या दरिद्रता, कर्म के ही फल

हैं, यह जानकर जो उनसे निर्लिप्त रहता है, वह नया कर्मबंध नहीं करता। इसलिए 'बंध' तत्त्व जाने बिना सत्य स्थिति ध्यान में नहीं आती। इसीलिए 'बंध' तत्त्व का ज्ञान आवश्यक होता है।[२८]

बंध का स्वरूप, बंध की परम्परा, भिन्न-भिन्न कर्मों के बंध हेतु आठ कर्म, बंध और जीव की पराधीनता, कर्मबंध प्रक्रिया, कर्म-संक्रमण, द्रव्यबंध-भावबंध, बंध के चार भेद, शुभ और अशुभ कर्म, कर्म का स्वरूप, कर्म का बंधन और मोक्ष आदि का विस्तृत वर्णन बंध तत्त्व की चर्चा में किया गया है।

**(९) मोक्ष तत्त्व :** पाश्चात्य दर्शनों से भारतीय दर्शन की विशेषता यह है कि जहाँ भारतीय दर्शनों का उद्देश्य मोक्ष का चिन्तन है, वहीं पाश्चात्य दर्शनों का उद्देश्य विश्व की व्याख्या करना है। प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो के मत से दर्शन की उत्पत्ति आश्चर्य के कारण होती है। मनुष्य को प्रकृति की विविध घटनाएँ और परिवर्तन देखकर आश्चर्य लगता है। मनुष्य उसका कारण ढूंढने लगता है। यहीं से दर्शन का प्रारंभ होता है। 'दर्शन' का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द Philosophy है। Philosophy अर्थात् ज्ञान के प्रति प्रेम - 'Love for Knowledge' इसके विपरीत भारतीय दर्शन की उत्पत्ति जो जीवन का कठोर सत्य दुःख है, उसी से होती है। जीवन के दुःखों को दूर करना यही भारतीय दर्शन का एकमात्र लक्ष्य है।[२९]

भारत में मोक्ष-चिन्तन जितना प्राचीन है, उतना ही मनोरंजक भी है। वस्तुतः मोक्ष-चिन्तन भारतीय जीवन दर्शन का अविभाज्य अंग है। उसे जीवन के अन्य अंगों से अलग नहीं किया जा सकता। 'मोक्ष' यह जीवन का अंत नहीं है, वरन् उसका आत्यन्तिक विकास है। 'मोक्ष' यह जीवन की शून्यावस्था न होकर जीवन की पूर्णता है। जिसमें विजातीय तत्त्व निकल जाने पर पूर्णत्व ही शेष रहता है। इसीलिए ऋषि-मुनियों ने कहा है -

वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म पुरुषोत्तम सब प्रकार से सदासर्वदा परिपूर्ण है। यह विश्व भी उसी परब्रह्म से पूर्ण है। क्योंकि यह पूर्णता उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुई है। इस प्रकार परब्रह्म की पूर्णता से जगत् भी पूर्ण है। इसलिए यह भी पूर्ण है और वह भी पूर्ण है। उस पूर्ण ब्रह्म से पूर्ण के निकल जाने पर भी वह पूर्ण ही रहता है।[२९]

'मोक्ष' यह भारतीय दर्शन का एकमेव केन्द्रबिन्दु है। 'मोक्ष' यह शब्द 'मुच्' धातु से बना हुआ है। उसका अर्थ 'स्वतंत्र होना', 'छुटकारा प्राप्त करना' ऐसा होता है। चार्वाक दर्शन के अपवाद को छोड़कर सब दर्शनों ने मोक्ष का अर्थ जन्म और मृत्यु के चक्र से अर्थात् सब सांसारिक दुःखों से छुटकारा प्राप्त करना है। उपनिषदों में ऋषियों ने कहा है पुनः पुनः जन्म प्राप्त करना यही सब दुःखों

का कारण है। जन्म और मृत्यु की परम्परा का आत्यंतिक अभाव होना यही सारी साधनाओं का लक्ष्य है। यही मोक्ष है।

उपनिषदों में मैत्रेयी भौतिक संपत्ति से असंतोष प्रकट करके सीधा प्रश्न पूछती है - ''जिसके योग से मुझे अमरत्व प्राप्त नहीं होगा ऐसी संपत्ति लेकर मैं क्या करूँ?'' यह विधान उपनिषदों के ऋषियों की अध्यात्म भावना को व्यक्त करता है। उपनिषदों के ऋषि मोक्ष के अलावा किसी भी वस्तु से संतुष्ट होना नहीं चाहते।

आस्तिक दर्शन के समक्ष ऐसा प्रश्न उपस्थित हुआ है कि क्या 'यह आत्मा को कभी इस प्रकार की अवस्था प्राप्त होगी कि जिससे पुनर्जन्म या जन्मांतर नष्ट होगा? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा गया है कि, मोक्ष, मुक्ति या निर्वाण यह ऐसी स्थिति है कि जहाँ पहुँचने पर आत्मा का पुनर्जन्म नष्ट हो जाता है। उसका परिणाम यह हुआ कि आत्मा के चरम अमरत्व में आस्था रखनेवाले या विश्वास रखने वाले आत्मिक दर्शनों ने मोक्ष की स्थिति एक मत से मान ली है।

## न्याय-वैशेषिक दर्शन का मोक्ष तत्त्व :

न्याय और वैशेषिक दर्शन मानते हैं कि जीवात्मा के बुद्धि, सुख-दुःख आदि गुण अनित्य हैं और उनके कारण जीवात्मा भी विकारी है। जीवात्मा कूटस्थ नहीं है। शुद्ध आत्मा का स्वरूप जड़ के समान है। उनके मतानुसार मोक्ष यह आत्मा की अचेतन अवस्था है। क्योंकि चैतन्य आत्मा एक आगंतुक धर्म है, स्वरूप लक्षण नहीं। जब आत्मा का शरीर और मन के साथ संयोग होता है, तब चैतन्य गुण का उद्‌गम होता है मोक्ष की अवस्था में आत्मा का शरीर एवं मन से वियोग होने पर चैतन्य गुण का भी अभाव होता है। मोक्ष की प्राप्ति तत्त्वज्ञान के कारण होती है। यह दुःख के आत्यंतिक उच्छेद की अवस्था है।

## वेदान्त दर्शन का 'मोक्ष' तत्त्व :

वेदान्त दर्शन मोक्ष को जीवत्मा और ब्रह्म के एकात्मभाव की उपलब्धि मानता है। क्योंकि परमार्थतः आत्मा ब्रह्म ही है। वह विशुद्धतः सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है। बंधन मिथ्या है। अविद्या अर्थात् माया यही बंधन या संसार है, ऐसा वे मानते हैं। आत्मा अज्ञान के कारण शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार इनमें फँसा है। यही मिथ्या तादात्म्य बंधन है। अज्ञानी व्यक्ति बंधन को प्राप्त होता है और ज्ञान से इस बंधन से मुक्त हो जाता है। 'मोक्ष' यह आत्मा की स्वाभाविक अवस्था है। वेदान्त के मतानुसार यह चैतन्य रहित अवस्था नहीं है, परंतु सत्-चित्-आनंद की अवस्था है। यह जीवात्मा के द्वारा ब्रह्म भाव की प्राप्ति हैं।

## सांख्य और योग दर्शन में 'मोक्ष' तत्त्व :

'सांख्य' दर्शन मोक्ष को प्रकृति और पुरुष का विवेक मानता है। प्रकृति और पुरुष इन में भेद ज्ञान होने पर शुद्ध चैतन्य स्वरूप में स्थिर होना यही इस दर्शन की दृष्टि से 'मोक्ष' है। पुरुष नित्य-मुक्त है। अपने अज्ञान के कारण वह प्रकृति और उसके विकारों को अपना मानता है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अंहकार ये सारे प्रकृति के विकार हैं, परंतु अविवेक से पुरुष इन्हें अपना समझता है। 'मोक्ष' यह पुरुष की स्वाभाविक अवस्था की प्राप्ति हैं।

योग दर्शन आत्मा की कैवल्य दशा को मोक्ष मानता है। 'कैवल्य' यह आत्मा की, प्रकृति के जाल से छूटने की, एक विशेष अवस्था है। जब तप और संयम के कारण मन से सब कर्मसंस्कार निकल जाते हैं, तब आत्मा को इस अवस्था की प्राप्ति होती है।

## मीमांसा दर्शन में 'मोक्ष' तत्त्व :

मीमांसा दर्शन में भी मोक्ष को आत्मा की स्वाभाविक अवस्था की प्राप्ति कहा है। सुख और दुःख का पूर्णतः विनाश ही मोक्ष है, ऐसा वे मानते हैं। अपनी स्वाभाविक अवस्था में आत्मा अचेतन होता है। 'मोक्ष' यह दुःख के आत्यंतिक अभाव की अवस्था है। उसमें अनंत की अनुभूति भी नहीं रहती, ऐसा वे मानते हैं। आत्मा स्वभावतः सुख और दुःख से अलग है। मोक्ष अवस्था में ज्ञानशक्ति तो रहती है, परंतु ज्ञान नहीं रहता, ऐसा उनका कथन है।

## चार्वाक दर्शन में 'मोक्ष' तत्त्व :

चार्वाक दर्शन की दृष्टि से मृत्यु, अपवर्ग अथवा मोक्ष इनका अस्तित्व ही नहीं है। मोक्ष का सिद्धांत सब भारतीय दर्शनों को स्वीकार्य है परंतु चार्वाक भौतिकवादी होने से इसे नहीं मानते है। क्योंकि वे आत्मा को शरीर से अलग ही नहीं मानते है। अतः उनकी दृष्टि से आत्मा के बंधन की कोई समस्याएँ ही नहीं है। चार्वाक की दृष्टि से इस मनुष्य जन्म में पृथ्वी तल पर सुख भोगना यही असली मोक्ष है। 'देह यही आत्मा है। देह का विनाश ही मोक्ष है'। देहच्छेदो मोक्षः। यही चार्वाक की मोक्ष की कल्पना है। ज्ञान आदि से मुक्ति प्राप्त नहीं होती है। उनकी दृष्टि से वर्तमान जीवन यही सब कुछ है। परलोक और जन्मान्तर कुछ भी नहीं हैं। खाना, पीना और मौज करना, यही जीवन का सार है, चार्वाक दर्शन का मूल मंतव्य है-

"यावज्जीवेत सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।"

भारत में यह विचार चार्वाक (चारु-वाक्) दर्शन के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। पाश्चात्य दुनिया की विचारधारा भी इसी प्रकार की है वह भी "Eat, drink

and be merry " इस सिद्धान्त में विश्वास करती है। अन्य दार्शनिकों ने जन्मान्तर माना है इसलिए उन्होंने धर्म और मोक्ष को भी पुरुषार्थ माना है।

अर्थ और काम जन्य सुख भौतिक सुख हैं और वे क्षणभंगुर हैं। इसके विपरीत धर्म द्वारा प्राप्त मोक्ष का सुख अक्षय और अनन्त है।

ईश्वर के समान ही जीव के संबंध में भी दार्शनिकों में वाद-विवाद है। सर्वप्रथम चार्वाक दर्शन का कथन यह है कि 'शरीर ही आत्मा है वही कर्ता और भोक्ता है। चार महाभूतों के एकत्रित होने से चैतन्य का निर्माण होता है। चेतना से बन उत्पन्न होता है, देह तो जड़ रूप में ही है। कुछ चार्वाक विचारक इन्द्रिय को, कुछ प्राण को, तो कुछ मन को ही आत्मा मानते हैं। स्वतंत्र रूप से उनके विचार कहीं भी नहीं मिलते।

चार्वाक दर्शन शरीर के अंत को ही मोक्ष मानता है। उस दर्शन में मोक्ष अपना सब महत्त्व गँवा बैठता है, ऐसे मोक्ष को मोक्ष नहीं कहा जा सकता।[३१]

## बौद्ध दर्शन में 'मोक्ष' तत्त्व :

बौद्ध दर्शन के अनुसार भव परंपरा का विच्छेद होना मोक्ष है। संसार को दुःखमय, क्षणिक और शून्य समझना मोक्ष का साधन है। बौद्ध दर्शन के अनुसार जीवात्मा विज्ञानस्वरूप है, विज्ञान प्रति क्षण बदलता रहता है, इसलिए आत्मा अनित्य है। बौद्ध दर्शन में मोक्ष को 'निर्वाण' कहा है। निर्वाण अर्थात् दीपक के समान बुझ जाना। राग-द्वेष एवं क्लेश का विनाश ही निर्वाण है, ऐसा वे मानते हैं।

कुछ बौद्ध लोग रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कंधों के इनरोध को निर्वाण कहते है। वे दुःख के आत्यन्तिक विनाश को निर्वाण मानते हैं, फिर भी वे आत्मा का आत्यंतिक विनाश नहीं मानते। वे 'निर्वाण' को विशुद्ध आनंद ही मानते हैं।[३२]

इस प्रकार मोक्ष की प्राप्ति और मोक्ष के स्वरूप के विषय में सब विचारक भिन्न भिन्न मत रखते हैं फिर भी सभी भारतीय दर्शनों ने मोक्ष को स्वीकार किया है। मोक्ष की प्राप्ति सभी भारतीय दर्शनों का लक्ष्य है।

## जैन दर्शन में 'मोक्ष' तत्त्व तथा अन्य दर्शनों से जैन दर्शन का वैशिष्ट्य :

कर्म-बंधन से सर्वथा छुटकारा प्राप्त करना, जन्म-मरणरूपी चक्र की गति को रोक देना और परमानंद की अवस्था प्राप्त करना यही 'मोक्ष' है। "कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः।" सब कर्म-मलों से रहित आत्मा ही मुक्त आत्मा है, ऐसा उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र के दसवें अध्याय में कहा है।

मुक्ति का मार्ग संवर और निर्जरा इन दो साधनों से प्रशस्त होता है। मुक्त होने पर जीव लोकाग्र भाग पर स्थित होता है। उसे "सिद्ध-शिला" कहते हैं। जीव को मुक्ति प्राप्त करने के लिए ही नवतत्त्वों का स्वरूप जानना आवश्यक है।

जैन दर्शन में मोक्ष का विशिष्ट स्थान है। जैन दर्शन में आध्यात्मिक विकास को अधिक महत्व दिया गया है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा 'मोक्ष' या मुक्ति को मात्र ज्ञान से प्राप्त नहीं कर सकता, परंतु क्रमशः स्वयं का आध्यात्मिक विकास कर पूर्णत्व प्राप्त करता है। व्यक्ति का चारित्रिक विकास अथवा आध्यात्मिक विकास क्रमशः होता है।

उपनिषदों में भी क्रमिक आध्यात्मिक विकास का उल्लेख मिलता है। बौद्ध दर्शन में भी ऐसा उल्लेख है। परंतु जैन दर्शन में आध्यात्मिक विकास का वर्णन अत्यंत सूक्ष्मता से किया गया है। ऐसी ही कल्पना बाद में भगवद्गीता में भी आई है।[३३]

आत्म-विकास की क्रमिक अवस्थाओं में मिथ्यात्व एवं कषाय ही सचमुच अवरोध है और उसी से आत्मा कर्म से बंधा हुआ है। जैसे जैसे कर्मों का आवरण कम होता जाता हैं, वैसे वैसे आत्मा अपने आत्मिक गुणों से युक्त होता जाता है और उसे सत्य और असत्य की पहचान हो जाती है। आठ कर्मों में से चार कर्मों को (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ) नष्ट करके आत्मा सर्वज्ञ बनता है। इस अवस्था को अरिहन्त अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में जीव अथवा आत्मा अन्य जिज्ञासु जीवों का आध्यात्मिक मार्गदर्शन करता है। वह संपूर्ण विश्व के वर्तमान, भूत और भविष्य को एक ही समय में जानता है। इस अवस्था को पातंजल योग-दर्शन में सर्वज्ञत्व की अवस्था कहा गया है।

सर्वज्ञ अवस्था अथवा अरिहन्त अवस्था होने पर ही आत्मा को सिद्धावस्था की प्राप्ति होती है। इस अवस्था में वह शेष चार कर्म (वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र) नष्ट करता है। ऐसी अवस्था में आत्मा की श्वासोच्छ्वास आदि सूक्ष्म क्रियाएँ भी रुक जाती हैं और आत्मा देह त्याग कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। मोक्ष में आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व होता है। प्रत्येक मुक्त आत्मा की अपनी अलग-अलग सत्ता रहती है। मुक्त आत्मा जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है।

वैदिक दर्शन आत्मा से भिन्न ईश्वर की सत्ता पर विश्वास रखता है, परंतु जैन दर्शन वैसा नहीं मानता है। क्योंकि जैन दर्शन में आत्मा ही परमात्मा बनता है। अज्ञान या मिथ्यात्व के कारण ही जीव अपनी आत्मा के परमात्म स्वरूप को पहचान नहीं पाता है और अपनी ईश्वरतुल्य शक्ति से अनभिज्ञ रहता

है। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के बाद ही जीव को आत्मा के शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार होता है और वह मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार साधक क्रमशः आत्मिक शक्ति का विकास करता है।

योग साधना की विभिन्न परंपराओं में मुक्ति के लिए विभिन्न मार्गों का अवलंबन लिया जाता है। कोई ज्ञानयोग को प्रमुख स्थान देते हैं, तो कोई क्रियायोग को या भक्तियोग को प्रमुख स्थान देते हैं। गीता में अलग-अलग प्रकार के योग मार्गों का उल्लेख किया गया है। वेदान्त दर्शन ज्ञान-योग को ज्यादा महत्त्व देता है। बौद्ध परंपरा में ज्ञान के साथ ही क्रिया का समन्वय किया गया है। परंतु जैन दर्शन की विशेषता यह है कि उसमें क्रियायोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग इन् तीनों योगों का समन्वय हुआ है।

भारतीय तत्त्वज्ञान मूल्यात्मक है। चाहे जिस प्रकार का सत्यान्वेषण वह नहीं करता, वरन् जिससे मानव को परिपूर्णता प्राप्त हो, उसका कल्याण हो, ऐसा सत्यान्वेषण वह करता है। नीर-क्षीर-विवेक कर सकने वाले हंस के समान भारतीय तत्त्वज्ञान है। कठोपनिषद के अनुसार वह 'प्रेय' की अपेक्षा 'श्रेय' को अधिक पसंद करता है। वह अपरा विद्या की अपेक्षा परा विद्या को ध्येय मानता है। भारतीय तत्त्वज्ञान नित्यानित्य विवेक का प्रयत्न करता है।

इस प्रकार उसकी यात्रा असत् से सत्, सान्त से अनन्त, अल्प से पूर्ण तथा देह से आत्मन् की ओर है। उसकी विचारसरणी में केवल सत्ताशास्त्र की अपेक्षा जीवन विषयक प्रज्ञा को आत्मसात करने का प्रयत्न किया गया है।

भारतीय दर्शन एक आध्यात्मिक दर्शन है। इसने हमेशा ही आत्मा का महत्व माना है। प्रत्येक मानव का लक्ष्य अपने आत्म स्वरूप को पहचानना है, क्योंकि प्रत्येक दर्शन का ध्येय भी स्वस्वरूप की पहचान कराना ही है।

सांख्य- योग, न्याय-वैशेषिक और वेदान्त दर्शन आत्मा को अनादि, अनंत, अविकारी, नित्य और निष्क्रिय या कूटस्थनित्य मानते हैं, उसे परिवर्तनीय नहीं मानते हैं।[34] किन्तु जैन धर्म शुरू से मोक्षवादी है वह परिणामी आत्मवाद का समर्थक है। आत्मा जब राग-द्वेष को दूर करता है, तभी विशुद्ध बनकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। जीव और कर्म का अलग-अलग लक्षण समझकर प्रज्ञारूपी छैनी से उन्हें अलग-अलग करना चाहिये, तभी बंधन से छुट्टारा होता है। बंधन को नष्ट कर आत्म-स्वरूप में स्थिर होना चाहिए। "मैं चैतन्यस्वरूप हूँ", "मैं दृष्टा हूँ", "मैं ज्ञाता हूँ"; मैं जो कुछ हूँ वह अपने ही कारण हूँ। मुझमें ही नरक है और स्वर्ग है। विशुद्ध आत्मस्वरूप को प्रकट कर मैं मोक्षप्राप्ति कर सकता हूँ। इस प्रकार का विशिष्ट विवेचन जैन' दर्शन में है।

मुक्त अवस्था यह कर्म और कामना से पूर्णतः मुक्त और परम निश्चिंतता की दशा है। यह पूर्णता की अवस्था है। यह एक ऐसा विश्राम है कि जिसमें कोई भी विकार नहीं और जिसका कहीं भी अन्त नहीं। रागहीन, पूर्ण शान्ति की दशा, वीतरागता की दशा ही मोक्ष है। यहाँ भूतकालीन कर्म की शक्ति नष्ट हो जाती है। भविष्य में कोई भी कर्म नहीं जुड़ता है। वर्तमान काल में ही कर्मरहित अवस्था होती है। इस अवस्था में आत्मा देह में विद्यमान रहता है, फिर भी पुनः शरीर धारण नहीं करना पड़ता। उसमें असीम चेतना, परम-स्वातंत्र्य और अनंत ज्ञान आदि गुण विद्यमान होते हैं।

मोक्ष में आत्मा अनंत सुख में रहता है। उस सुख को कोई भी उपमा दी नहीं जा सकती। संक्षेप में कहा जाए तो इन्द्रिय विजय, आत्मसंयम और मनोनिग्रह से मोक्ष की प्राप्ति होती है, यही जैन दर्शन की विशेषता है।

जिस प्रकार नदियाँ यदि अलग-अलग स्थानों से निकल कर बहती हैं, फिर भी उनका लक्ष्य समुद्र से मिलना यही होता है, उसी प्रकार सब दर्शनों में मोक्ष का स्वरूप एवं मोक्षमार्ग यद्यपि अलग-अलग है फिर भी उनका लक्ष्य एक ही है और वह है मोक्ष की प्राप्ति करना।[३५]

मोक्ष तत्त्व में पंद्रह प्रकार के सिद्ध, मोक्ष का कर्ता, कर्मक्षय का क्रम, मुक्त आत्माओं के विभिन्न नाम, घाती कर्म और अघाती कर्म, मुक्त जीव का कार्य, सिद्ध का स्थान और स्वरूप, मोक्ष मार्ग, सम्यक्त्व का स्वरूप और उसके आठ अंग, सम्यग्ज्ञान के भेद आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है।

जैन दर्शन में निर्दिष्ट उपरोक्त नवतत्त्वों पर जिनकी अविचल श्रद्धा होती है, उन्हें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होने पर सम्यक् चारित्र भी प्राप्त होता है और जिस भव्य जीव को यह रत्नत्रय प्राप्त होता है वह भव्य जीव सम्यक् चारित्र की पूर्णता से मोक्ष प्राप्त करता है।[३६]

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष को जानना और मानना इसे ही सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्दर्शन ऐसा कहा है। परंतु यह यथार्थ रूप से इन्हें कैसे जाना जाये यह बात ध्यान में रखकर क्रमशः नौ अध्यायों में इनका विवेचन किया गया है।

संसार यह एक रंगभूमि है और ज्ञान वहाँ दर्शक के स्वरूप में उपस्थित खड़ा है। सबसे पहले जीव और अजीव मिलकर इस रंगभूमि पर प्रवेश करते हैं और इस प्रकार नाट्य करते हैं मानो वे दोनों एक ही हैं। ज्ञान उनके लक्षणों को जानकर उन्हें पहचानता है, और निश्चित रूप से यह समझता है कि ये एक ही न होकर अलग-अलग हैं। तब ये दोनों ही अलग-अलग होकर रंगभूमि पर से निकल जाते हैं।

अब जीव के साथ कर्म कभी पुण्य का तो कभी पाप का वेश धारण कर द्विपात्री भूमिका लेकर रंगभूमि पर आकर नाचने लगता है। ज्ञान इसे भी पहचानता है कि ये दोनों रूप भी एक ही चाण्डाल के हैं। एक स्वयं चाण्डाल के वेश में और दूसरा ब्राह्मण के वेश में आया है। ज्ञान ने हमें पहचान लिया है यह जानकर कर्म भी द्विरूपता को छोड़कर अपना वास्तविक रूप धारण कर रंगभूमि पर से निकल जाता है।

कर्म के जाते ही रंगभूमि पर आस्रव का प्रवेश होता है। ज्ञान की नजर से आस्रव का नकली स्वरूप भी बच नहीं पाता है। ज्ञान निश्चित रूप से यह समझता है कि आस्रव का संबंध अज्ञान से है, मुझसे तो है ही नहीं। हम यहाँ रह नहीं सकेगें यह जानकर आस्रव भी निकल जाता है।

आस्रव निकल गया है यह देखकर संवर प्रवेश करता है। आस्रव का विरोधी संवर है। वह जीव के साथ ही अपना एकत्व प्रस्थापित करना चाहता है।

तब ज्ञान संवर के गुणों को जानकर भी विचार करता है कि अगर आत्मा कर्मों का कर्ता ही नहीं है, तो उसके निरोध का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। अगर आत्मा निरोधक ही नहीं, तो संवर के साथ आत्मा का एकत्व कैसे हो सकेगा? इसलिए आत्मा का अगर कोई संवर भाव होगा, तो वह आस्रव के कारण ही होगा। जब तक यथार्थ ज्ञान नहीं होगा, तब तक भेदविज्ञान की उपासना करनी चाहिए। इस प्रकार ज्ञान के द्वारा विश्लेषण करने पर संवर भी रंगभूमि से निकल जाता है।

संवर के बाद निर्जरा का आगमन होता है। तब ज्ञान यह जानता है कि आत्मा में वैराग्य होना यही एकमात्र निर्जरा है। वैराग्य के कारण (विरक्ति) चेतन-अचेतन का उपभोग करके भी ज्ञानी को नवीन कर्मबंध नहीं होता और पूर्वबद्ध कर्म की निर्जरा होती है। इस वैराग्य भाव के अलावा दूसरी कोई भी निर्जरा नहीं है। इस प्रकार निर्जरा का स्वरूप जान लेने पर निर्जरा भी रंगभूमि पर से निकल जाती है।

अब रंगभूमि पर बंध का आगमन होकर उसका नृत्य शुरू होता है और वह आत्मा के साथ अभेद स्थापन करना चाहता है। तब ज्ञान समझता है कि कर्म परद्रव्य है इसलिए आत्मा के साथ उसका बंध होना उचित नहीं है। अगर कोई बंध हो सकता हो तो वह आत्मा की राग बुद्धि के कारण ही है। विशुद्ध आत्मा का और कर्म का संबंध कभी होता नहीं, अर्थात् उसका बंध हो ही नहीं सकता। इस प्रकार ज्ञान द्वारा जाना जाने पर बंध वहाँ से निकल जाता है।

आखिर मोक्ष रंगभूमि पर प्रवेश करता है। बंध का विरोधी मोक्ष हैं। सारे बंधन नष्ट होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। आत्मा जिस अज्ञानमय भाव से बंध

गया था, वह प्रज्ञा द्वारा उन सारे अज्ञानों को दूर कर शुद्ध आत्मा को ग्रहण करता है, यही मोक्ष है। कर्म परद्रव्य है। शुद्धात्मा कर्म से बद्ध ही नहीं है, तो छूटने का प्रश्न ही शेष नहीं रहता। इसलिए मोक्ष भी वहाँ से निवृत्त हो जाता है।

इस प्रकार नवतत्त्व अपनी-अपनी भूमिका निभा कर निकल जाते हैं। आखिर जो कोई शेष रहता है, वह शुद्ध आत्मा है। जीव की विशुद्धता को प्रकट करने के लिए रंगभूमि पर विशुद्ध ज्ञान ही सिर्फ रहता है। कर्ता, कर्म आदि उपाधियों से परे तथा बंध-मोक्ष के संबंध से भी परे यह आत्मा सर्वविशुद्ध ज्ञानपुंज कहा गया है।[३७]

यद्यपि नवतत्त्वों के इस विवेचन में पाठकों को कहीं कहीं पुनरावृत्ति दिखाई देगी, फिर भी अधिक स्पष्टीकरण के लिए यह अनिवार्य और आवश्यक ही है। नवतत्वों के इस विवेचन से जिज्ञासु को अपूर्वता, साधक को मार्गदर्शन, मुमुक्षु को सम्यग्ज्ञान, विरागी को दृढ़ता मिलेगी, यही अपेक्षा है।

नव तत्त्वों के इस विवेचन से ऐसा दिखाई देगा कि जैन दर्शन में इन नवतत्वों द्वारा मानवी जीवन की सारी प्रमुख बातों की ओर सूक्ष्मता से ध्यान दिया गया है। नवतत्वों में से पुण्य-पाप, आस्रव और बंध ये तत्त्व मनुष्य को संसार-परिभ्रमण करानेवाले हैं। संवर, निर्जरा ये तत्त्व मोक्ष तक ले जाने वाले हैं, यह भी इस अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है।

नवतत्त्वों के इस विवेचन की एक विशेषता यह भी है कि सुखासक्त सांसारिक जीवन और वैराग्यपूर्ण पारमार्थिक जीवन- ये दोनों परस्पर विरोधी बातें हैं। इनमें से एक को साधने की कोशिश की तो दूसरे की हानि होती है और सामान्य मनुष्य को ये दोनों भी साधने की इच्छा होती है, परंतु ऐसा संभव नहीं होता। इन दोनों को साध्य बनाने के लिए एक मध्य-बिंदु निकालने की कोशिश भी इस विवेचन में की गई है।

'गीता' में भगवान श्रीकृष्ण ने निष्काम कर्मयोग के माध्यम से यह प्रयत्न किया है। परंतु भगवान महावीर अत्यंत व्यवहारवादी थे, उन्होंने इस बारे में सूक्ष्म विचार किया। मानव को संसार और वैराग्य-इनका स्वर्णिम मध्य साधने के लिए प्रथमतः अपनी सांसारिक जिम्मेदारी को पूर्ण कर और सुयोग्य मनुष्य को उनका भार सौंपकर संन्यास मार्ग की ओर मुड़ना चाहिए, क्योंकि संन्यास ग्रहण किए बिना मोक्ष की संभावना नहीं है। संन्यास धारण किए बिना मोक्ष की प्राप्ति क्वचित् ही होती है, यथा 'कुम्मापुत्र'। नहीं होती ऐसा तो नहीं हैं, परंतु ऐसी बातें अपवाद रूप ही हैं। ऐसा करने से सांसारिक सुख और आध्यात्मिक कल्याण ये दोनों बातें अच्छी तरह से प्राप्त होती है। यह बात भी इन नवतत्त्वों के आधार से सूक्ष्म रीति से स्पष्ट की गई है।

इसके साथ ही आयुर्वेद और जैन तत्त्व ज्ञान इनका भी योग्य रीति से समन्वय हुआ है। जिस प्रकार आयुर्वेदिक औषधि व्याधिग्रस्त जीव को सुखी करती है, उसी प्रकार यह नवतत्त्व रूप यह औषधि सांसारिक दुःख से ग्रस्त हुए जीव को मोक्षरूपी आरोग्य प्राप्त करा देती है, ऐसा भी वर्णन मिलता है।

जैन तत्त्वों का मुख्य सिद्धांत स्यादवाद या अनेकान्तवाद है। स्याद्वाद या अनेकान्तवाद अर्थात् किसी भी निर्णय को एकांत सत्य नहीं मानना, क्योंकि मानवी बुद्धि परिमित ही है इसलिए एक ही मत सब जगह, सर्वकाल में सत्य नहीं होता, यह बात अब करीब-करीब सर्वमान्य हुई है। पूर्व के वैज्ञानिकों के निष्कर्ष अभी के वैज्ञानिक मानते ही हों, ऐसा नहीं है। इसलिए अनेकान्तवाद सही साबित होता है।

अनेकान्तवाद से मतभेद कम होने में सहायता मिलती है। भारत के अनेक धर्म सामंजस्य से रह सकते हैं। अनेकान्तवाद दोनों का ही कहना आंशिक रूप से सही है ऐसा समन्वय साधकर झगड़ने के बजाय आत्मिक उन्नति की ओर अधिक ध्यान केंद्रित कीजिए, ऐसा सिखाता है और यही भगवान महावीर का संदेश है। मानव-मानव के बीच मतभेद अधिक न होकर, कम होने चाहिए। संपूर्ण मानवजाति का कल्याण हो और सभी मोक्षप्राप्त करके जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पायें, यही भगवान महावीर का ध्येय था। इसीलिए अनेक दुःख और परिषह सहन कर भगवान महावीर ने मानवमात्र को सुखी करने के लिए प्रयत्न किया। इसीलिए आज २५०० वर्षों के बाद भी जैन विद्वान, साधु और साध्वी अपने प्रत्यक्ष आचरण से मानवमात्र को सुखी करने के प्रयत्न कर रहे हैं।

विचारों में अनेकान्तवाद, वाणी में स्याद्वाद और आचार में अहिंसा जैन-दर्शन की यही विशेषता है। वह प्रत्येक व्यक्ति को शुद्ध विचार, सम्यक् आचार और उदात्त संस्कार के शाश्वत जीवनमूल्यों का रहस्य इन नव तत्त्वों के माध्यम से दिखाता है।

भारतीय संस्कृति में सहिष्णुता और क्षमा ये दो श्रेष्ठ गुण हैं और इन दो गुणों के कारण ही भारतीय संस्कृति विश्व में श्रेष्ठ समझी जाती है। इसका श्रेय जैन दर्शन को देने में कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी।

ज्ञानयुक्त श्रद्धा, परधर्मसहिष्णुता, प्राणी मात्र के प्रति क्षमा और सर्वत्र समभाव- यह चतुःसूत्री वर्तमान युग में मानव का कल्याण कर सकती है। इन सब बातों से जैन धर्म विश्वधर्म है यह स्पष्ट हो जाता है।

# सन्दर्भ

संकेत- उ.नि. = उपरिनिर्दिष्ट


१. क) सं. पं. महादेवशास्त्री जोशी-भारतीय संस्कृति कोश-खंड ३, पृ. ६१६-६२०

ख) देवेन्द्रमुनि शास्त्री - जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण - पृ. ७८

२. सं. पं. महादेवशास्त्री जोशी-भारतीय संस्कृति कोश-खंड ३, पृ. ६२०.

३. देवेन्द्रमुनि शास्त्री - जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण - पृ. ६१-६५.

४. क) सं. पं. महादेवशास्त्री जोशी - भारतीय संस्कृति कोश - खंड ३, (गाहडवाल ते तंत्रशास्त्र, ६२० पृ.)

ख) सं. देवीदास दत्तात्रेय वाडेकर - मराठी तत्त्वज्ञान-महाकोश - प्रथम खंड, पृ. ३६६.

५. क) सं. पं. महादेवशास्त्री जोशी - भारतीय संस्कृति कोश - खंड ३, (गाहडवाल तंत्रशास्त्र, पृ. ६२०).

ख) देवेन्द्रमुनि शास्त्री - जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण - पृ. ६०-६१.

६. सं. पं. महादेवशास्त्री जोशी - भारतीय संस्कृति कोश - खंड ३, (गाहडवाल, तंत्रशास्त्र)-पृ. ६२०.

७. माधवाचार्य-सर्वदर्शनसंग्रह-(भाष्यकार-प्रो. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि')-पृ. ६. देहच्छेदो मोक्षः । देहात्मवादे च स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, कृष्णोऽहम्' इत्यादी सामानाधिकरण्योपपतिः ।

८. देवेन्द्रमुनि शास्त्री - जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण - पृ. ५०६-५०७.

९. सं. पं. महादेवशास्त्री जोशी - भारतीय संस्कृति कोश - खंड ३, (गाहडवाल, तंत्रशास्त्र)-पृ. ३८३-८५.

क) चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः ।

ख) परलोकायाची जीवः प्रत्यक्षेण नानुभूयते ।
परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः ।।

१०. क) अनु. भिक्षु जगदीशकाश्यप - मिलिन्दप्रश्न - पृ. ११०

ख) आर. डी. वाडेकर - मिलिन्दप...हो -पृ. ८६-६०
(विमतिच्छेदनप....हो - ३-०४)

राजा आह - भन्ते नागसेन, वि...ञणंति वा ................ तेन हि महाराज भूतस्मिं जीवोनूपलब्भतींति ।।

११. संगमलाल पाण्डेय - भारतीय दर्शन की कहानी - पृ. १४०.

१२. अनु. पं. मुनिश्री सोभाग्यमलजी म. - आचारांगसूत्र (प्रथम श्रुतस्कंध), अ. ३, उ. ४, पृ. २६७

१३. गीता प्रेस, गोरखपुर - बृहदारण्यकोपनिषद् - २।४।६
१४. श्री बा. वर्णेकर - भारतीय धर्म व तत्त्वज्ञान - पृ. १७८.
१५. देवेन्द्रमुनि शास्त्री - जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण - पृ. ८७-९१.
१६. सं. पं. महादेवशास्त्री जोशी - भारतीय संस्कृति कोश - खंड ३, (गाहडवाल, तंत्रशास्त्र)-पृ. ६२०.
१७. देवेन्द्रमुनि शास्त्री - जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण - पृ. ९०-१०८.
१८. महासती उज्जवलकुमारीजी - गांधीउज्जवलवार्तालाप (सं. रत्नकुमार जैन रत्नेश), पृ. १-२६.
१९. दशवैकालिकसूत्र - अ. ६, गा. ११.
२०. महासतीजी उज्ज्वलकुमारीजी - उज्ज्वल प्रवचन - पृ. ४-५
२१. क) गणेशमुनि शास्त्री - अहिंसा की बोलती मीनारें - पृ. १५
ख) उपाध्याय अमरमुनि - अहिंसा तत्त्वदर्शन - पृ. ३
२२. सं. श्रीचन्द सुराना 'सरस' - आचार्य प्रवर श्री आनन्दऋषि अभिनन्दनग्रंथ - पृ. २३३
२३. मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'द्वितीय' - विश्व प्रहेलिका (संपूर्ण)
२४. श्री. भा. वर्णेकर - भारतीय धर्म व तत्त्वज्ञान - पृ. १७९-१८०
२५. श्रीमद्भगवद्गीता - अ. ९, श्लो. २८.
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ।।२८।।
२६. भगवान महावीर स्मृति ग्रंन्थ - सन्मति ज्ञानप्रसारक मंडल, सोलापुर - पृ. १०६, ११४.
२७. क) श्रीमद्भगवद्गीता - अ. १८, श्लो ३०.
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ।।३०।।
ख) उ. नि. गीता अ. २, श्लो ३९.
एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेत्विमां शृणु।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ।।३९।।
२८. क) सं. प्रो. देवीदास दत्तात्रेय वाडेकर - मराठी तत्त्वज्ञान - महाकोश (प्रथम खंड) - पृ. ४३०
ख) भगवान महावीर स्मृतिग्रंथ - सन्मति ज्ञान प्रसारक मंडल, सोलापुर - पृ. ११२
२९. डॉ. अशोक कुमार लाड - भारतीय दर्शनों में मोक्ष चिंतन : एक तुलनात्मक अध्ययन - पृ. १

३०. व्याख्याकार - हरिकृष्णदास गोयन्दका - ईशादि नो उपनिषद
(ईशावास्योपनिषद्) पृ. २५.
पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते
३१. क) माधवाचार्य - सर्वदर्शनसंग्रह - (भाष्यकार - प्रो. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि') पृ. १०
देहस्य नाशो मुक्तिस्तु न ज्ञानान्मु/तरिष्यते ।।
ख) उ. नि. पृ. २२-२३
न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः ।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः ।।१२।।
अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ।
बुद्धिपौरूषहीनानां जीविका धातुनिर्मिता ।।१३०।।
पशुश्चेफिनहतः स्वर्गं ज्योतिष्टमे गमिष्यति ।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते ? ।।१४।।
मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं च तृप्तिकारणम् ।
निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः संवर्धयेच्छिखाम् ।।१५।।
३२. सं. श्रीचंद सुराना 'सरस' - आचार्यप्रवर श्री आनंदऋषि अभिनंदन ग्रंथ (श्रीविजयमुनि शास्त्री - भारतीय दर्शन के सामान्य सिद्धान्त) - पृ. २३६-२३८.
३३. श्रीमद्भगवद्गीता - अ. २, श्लो. ४०
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पयस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।।४०।।
३४. ....देवेन्द्रमुनि शास्त्री - जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण - पृ. ६२
३५. श्रीमद्भगवद्गीता - अ. ११, श्लो. २८
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
३६. हरिभद्रसूरि - षड्दर्शनसमुच्चय - श्लो. ५३-५४, पृ. ३०९
ऐतानि नव तत्त्वानि यः श्रद्धत्ते स्थिराशयः ।
सम्यक्त्वज्ञानयोगेन तस्य चारित्रयोग्यता ।।५३।।
तथाभव्यत्वपाकेन यस्यैतत्त्रितयं भवेत् ।
सम्यग्ज्ञाक्रियायोगाज्जायते मोक्षभाजनम् ।।५४।।
३७. डॉ. लालबहादुर शास्त्री - आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार, पृ. २७७-२७८.

❋

जीव की
चार गतियां
मोक्ष
मनुष्य
देव
तिर्यंच
नरक

अजीव के प्रकार
धर्म (गति)
अधर्म (स्थिति)
काल
आकाश
निश्चय
व्यवहार
पुद्गल
लोकाकाश
अलोकाकाश

बंध-मुक्ति प्रक्रिया
आश्रव बन्ध
संवर
निर्जरा
मोक्ष

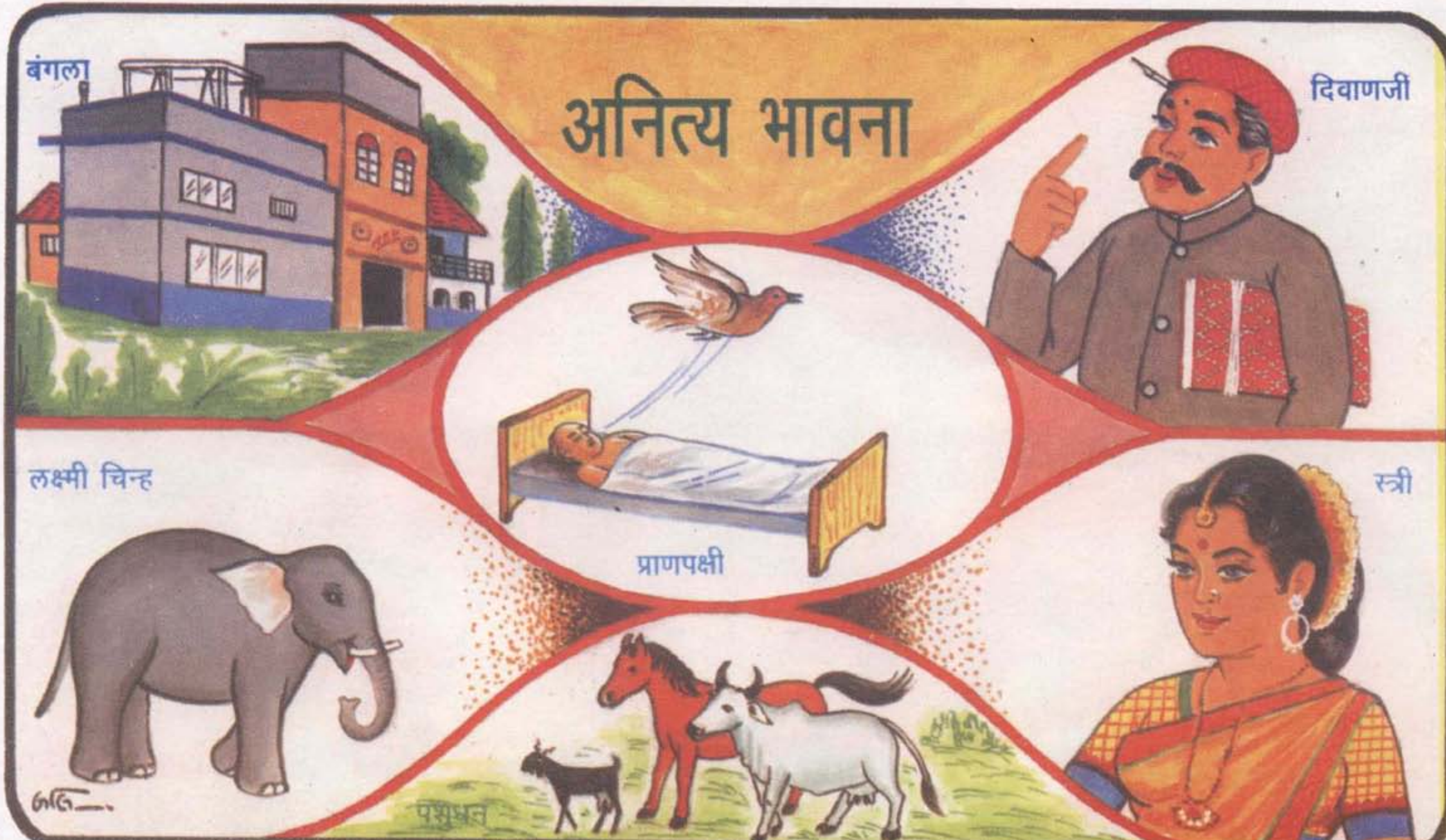
अनित्य भावना
बंगला
दिवाणजी
लक्ष्मी चिन्ह
स्त्री
प्राणपक्षी
पशुधन

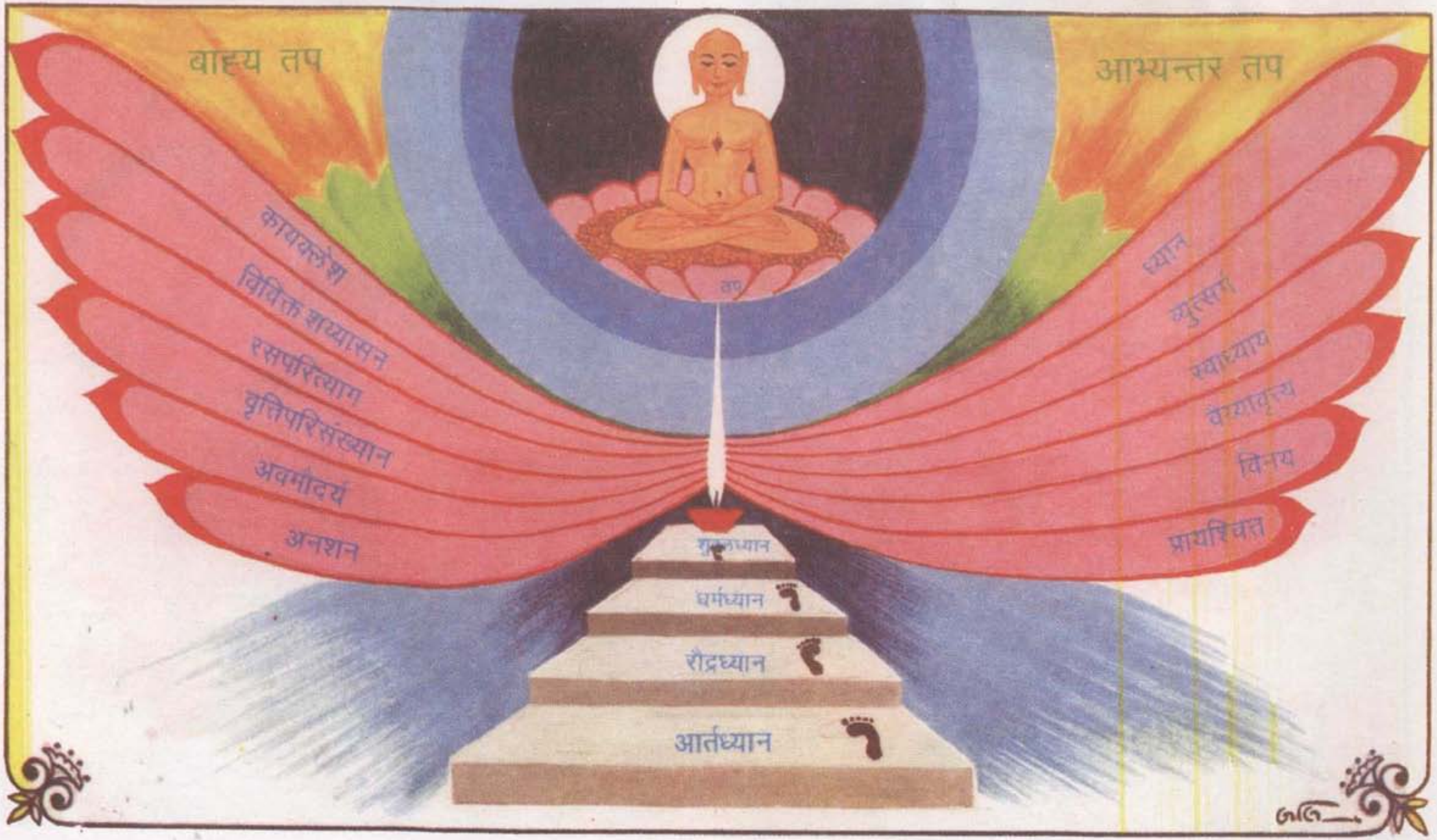
बाह्य तप
आभ्यन्तर तप
तप
कायक्लेश
विविक्त शय्यासन
रसपरित्याग
वृत्तिपरिसंख्यान
अवमौदर्य
अनशन
ध्यान
व्युत्सर्ग
स्वाध्याय
वैयावृत्य
विनय
प्रायश्चित्त
शुक्लध्यान
धर्मध्यान
रौद्रध्यान
आर्तध्यान

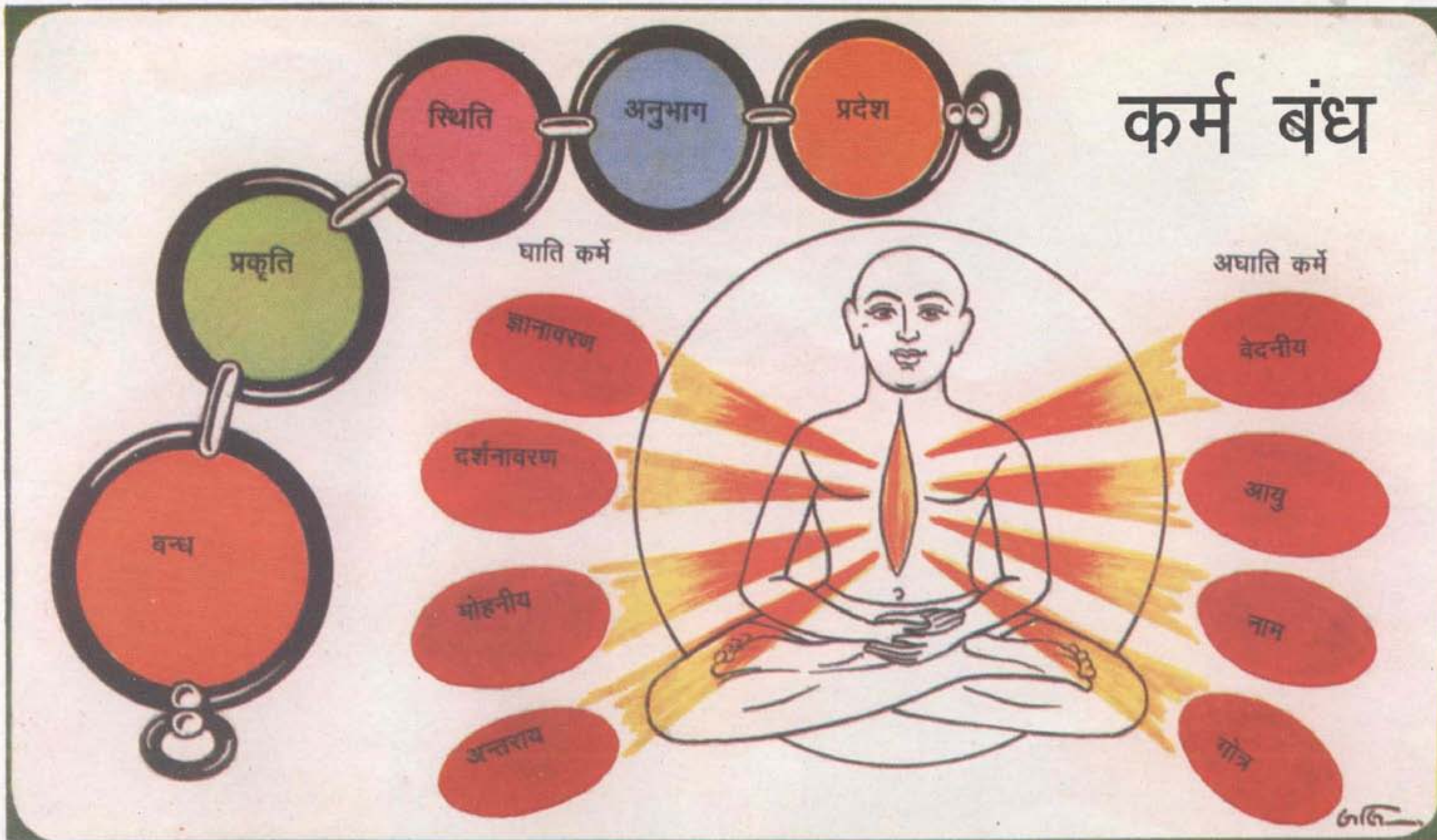
कर्म बंध
बन्ध
प्रकृति
स्थिति
अनुभाग
प्रदेश
घाति कर्म
ज्ञानावरण
दर्शनावरण
मोहनीय
अन्तराय
अघाति कर्म
वेदनीय
आयु
नाम
गोत्र

सम्यक्त्व
अमूढ दृष्टी
उपगूहन
स्थितिकरण
निर्विचिकित्सा
निःकांक्षित
वात्सल्य
आगम
निःशंका
प्रभावना

सम्यग्ज्ञान
केवल ज्ञान
अवधी
मन:पर्याय
प्रत्यक्ष
देश
प्रत्यक्ष
सकल
प्रत्यक्ष
परोक्ष
मति
श्रुति
परोक्ष

सम्यग्ज्ञानं के प्रकार
मतिज्ञान
श्रुतज्ञान
अवधिज्ञान
मन:पर्ययज्ञान
केवलज्ञान

मोक्ष
मोक्ष
मार्ग
सम्यक्चारित्र
सम्यग्दर्शन
सम्यग्ज्ञान

# चित्रों की जानकारी

**चित्रों का उद्देश्य**

तत्त्वों के संबंध में की गई कल्पना को अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ चित्र दिए गये हैं । इन चित्रों में रंग, प्राणी आदि सब काल्पनिक हैं ।

कलाकार को कुछ कल्पनाएँ देकर ये चित्र तैयार करवा लिए हैं । सौन्दर्यशास्त्र का इससे कुछ भी संबंध नहीं है ।

रेखाचित्रों का उपयोग किसी भावना को व्यक्त करने के लिए होता है, इस हेतु अपनी ही कल्पना को विस्तृत कर इन चित्रों में उतारने का प्रयत्न सुस्पष्ट होगा, यही इन चित्रों का मुख्य उद्देश्य है ।

| चित्र क्रमांक | विषय | तत्त्व |
|---|---|---|
| 1. | जीव की चार गतियाँ | जीव |
| 2. | अजीव तत्त्व प्रकार | अजीव |
| 3. | बंध-मुक्ति-प्रक्रिया | आस्त्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष |
| 4. | अनित्य भावना | संवर |
| 5. | बाह्य तप अभ्यन्तर तप | निर्जरा |
| 6. | बंध और कर्म | बंध |
| 7. | सम्यक्त्व | मोक्ष |
| 8. | सम्यग्ज्ञान | मोक्ष |
| 9. | सम्यग्ज्ञान के भेद | मोक्ष |
| 10. | मोक्ष मार्ग | मोक्ष |

**चित्रों का स्पष्टीकरण**

**1. जीवतत्त्व--चित्र क्र. 1–जीव की चार गतियाँ**

जीव की चार गतियों की कल्पना अधिक स्पष्ट करने के लिए देव, नारक, तिर्यंच और मनुष्य इन चार गतियों का चित्र दिया है और उसमें यह स्पष्ट किया है कि इन चार गतियों में से केवल मनुष्य ही मोक्ष को जा सकता है । अन्य तीन गतियों में होने वाले मोक्ष को नहीं जा सकते ।

**2. अजीव तत्त्व : चित्र क्र0 2 अजीव के भेद :**

इसमें अजीव के पाँच भेद बताए गए हैं—1. धर्म, 2. अधर्म, 3. आकाश, 4. काल और 5. पुद्‌गल । इसके स्पष्टीकरण के लिए चित्र में धर्म अर्थात् गति सहायक तत्त्व (उदा0 गतिमान मछलियाँ) 2. अधर्म अर्थात् स्थिति सहायक तत्त्व (उदा0 बैठा हुआ मनुष्य), 3. आकाश अर्थात् स्थान देनेवाला द्रव्य । इसके दो भेद : लोकाकाश और

अलोकाकाश । 4. काल अर्थात् समय दिखाने वाला द्रव्य इसके दो भेद : निश्चय और व्यवहार । 5. पुद्‌गल अर्थात् रूपी द्रव्य (जो वस्तुएँ आखों को दिखाई देती हैं, उन्हें रूपी कहते हैं उदा0 सन्दूक ।) इस चित्र से अजीव की पाँच प्रकारों की कल्पनाएँ स्पष्ट होती हैं ।

**3. आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्व : चित्र क्र0 3 : बंधमुक्ति प्रक्रिया**

इस चित्र में आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये पाँच तत्त्व नौका की कल्पना द्वारा स्पष्ट किए गये हैं । पहली नौका द्वारा आस्रव और बंध तत्त्व स्पष्ट किए गये हैं । आस्रव की कल्पना छिद्र द्वारा नौका में आनेवाले पानी से की गई है । (आत्मा में कर्मप्रवेश होना) । बंध की कल्पना नौका में छिद्र द्वारा संचित हुए पानी द्वारा बताई गई है । आत्मा में आस्रव द्वारा आए हुए संचित कर्म ।

दूसरी नौका द्वारा संवर की कल्पना को स्पष्ट किया गया है । नौका में पड़े हुए छिद्र को काक-बूच लगाकर बंद किया है । (आत्मा में आस्रव द्वारा आने वाले कर्मों को संवर रूपी बूच लगाकर बंद करने चाहिए ।)

तीसरी नौका द्वारा निर्जरा की कल्पना को स्पष्ट किया गया है । इस चित्र में नौका को पूर्णतया पानी से रहित बताया गया है और नौका किनारे लगी है । (आत्मा के सारे कर्म नष्ट हो गए हैं, उसने संसाररूपी सागर को पार किया है और मोक्ष-महल को प्राप्त कर लोकाग्र भाग पर स्थित हुआ है ।) ।

**4. संवर तत्त्व-चित्र क्र0 4–अनित्य भावना :**

संवर तत्त्व में बारह भावनाएँ हैं । उनमें से अनित्य भावना एक है जिसे स्पष्ट करने के लिए यह चित्र दिया गया है । बाह्य अर्थात् भौतिक संपत्ति, सुंदर घर, हाथी अर्थात् संपत्ति, पशुधन, सुंदर पत्नी, दीवानजी, नौकर-चाकर, इतना सब उपलब्ध होते हुए भी ये सारी बातें अनित्य हैं । क्योंकि जब मनुष्य का प्राणरूपी पक्षी उड़ जाता है, तब कोई भी साथ नहीं आता । सारी भौतिक संपत्ति इहलोक में रहती है । इससे अनित्य भावना की कल्पना स्पष्ट होगी ।

**5. निर्जरा तत्त्व-चित्र क्र05-बाह्य तप और आभ्यन्तर तप :**

निर्जरा तत्त्व में तप के बारह भेद बताए गए हैं । इस चित्र में छह बाह्य और छह आभ्यन्तर तप दिखाए गए हैं । इसके अलावा आभ्यंतर तप एक एक भेद ध्यान के— 1 आर्त ध्यान, 2 रौद्र ध्यान, 3 धर्म ध्यान, और 4 शुक्ल ध्यान ऐसे चार भेद बताए हैं । इन चार ध्यानों में से धर्म और शुक्ल ध्यान श्रेष्ठ हैं और उसीसे मोक्ष प्राप्ति होती हैं ।

**6. बंध तत्त्व : चित्र क्र0 6-बंध और कर्म :**

इस चित्र में बंध के और कर्म के भेद बताए गये हैं । बंध के चार भेद हैं—

1 प्रकृति, 2 स्थिति, 3 अनुभाग और 4 प्रदेश । कर्म के आठ भेद हैं । उनमें से चार घाती कर्म हैं—1 ज्ञानावरण, 2 दर्शनावरण, 3 मोहनीय और 4 अंतराय तथा चार अघाती कर्म हैं—1 वेदनीय, 2 आयु, 3 नाम और गोत्र । ये आठ कर्म प्रकृतिबंध के भेद हैं । इन आठ कर्मों के कारण जीव को संसार-परिभ्रमण करना पड़ता है ।

**7. मोक्ष मार्ग चित्र क्र0 7 : सम्यक्त्व**

यह चित्र सम्यक्त्व के आठ भेद समझने के लिए है । ये भेद इस प्रकार हैं—

1 निःशंका : इसमें यह कल्पना की गयी है कि जिस प्रकार पेड़ से टूटा हुआ फल नीचे गिरता है, इसमें कोई भी शंका नहीं होती, उसी प्रकार जिनदेव के कहे हुए तत्त्वों पर किसी भी प्रकार से शंका न होना ही निःशंका है । 2 निःकांक्षितः संसार से विमुख होना । संसार की ओर पीठ किए हुए व्यक्ति की कल्पना को चित्र में दिखाया गया है । सम्यक्दृष्टि जीवों को संसार की आकांक्षा नहीं होती । वे ही निःकांक्षित हैं । 3-निर्विचिकित्सा : निर्विचिकित्सा यानी घृणा न होना । इस चित्र में मुनि का शरीर भला होने पर भी राजा उसे आदरपूर्वक वंदन कर रहा है, यही निर्विचिकित्सा है । 4 अमूढ़दृष्टि : शास्त्र के लिए सच्ची श्रद्धा होना चाहिए इसलिए चित्र के व्यक्ति को आगम हाथ में लिया हुआ दिखाया गया है । यही अमूढ़-दृष्टि है । 5 उपगूहन : इसचित्र में महावीर स्वामी और चंडकौशिक सर्प का चित्र दिखाया गया है । क्योंकि चंडकौशिक सर्प ने भ0 महावीर को दंश किया था । फिर भी उसका दोष न देखते हुए उन्होंने उसपर प्रेम की ही वर्षा की । इस प्रकार स्वयं के गुणों को और दूसरों के दोषों को जो चलाता है और दूसरों को धर्म में स्थिर करता है, वही उपगूहन है । 7 वात्सल्य : इस चित्र में वात्सल्य की कल्पना स्पष्ट करने के लिए गाय और बछड़े का चित्र दिया गया है । जिस प्रकार गाय अपने बछड़े को प्यार करती है, उसी प्रकार साधर्मी बंधु पर निःस्वार्थ प्रेम करके उनके दुःख कम करना, यह वात्सल्य है । 8 प्रभावना : इसमें भी आगम का ही चित्र दिखाया है । धर्म का प्रमाण बढ़ाने के लिए और धर्म में चित्त स्थिर करने के लिए आगम का आश्रय लेना चाहिए ।

**8. मोक्षमार्ग : चित्र क्र0 8-सम्यग्ज्ञान :**

इस चित्र में सम्यग्ज्ञान के प्रकार के प्रकार को कल्पना द्वारा स्पष्ट किया गया है । सम्यग्ज्ञान के दो भेद : 1 प्रत्यक्ष, 2 परोक्ष ।

जिसमें इन्द्रियाँ और मन की सहायता नहीं होती और जो सहजता से जाना जाता है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद हैं—1 देशप्रत्यक्ष और 2 सकल प्रत्यक्ष । अवधिज्ञान और मनःपर्याय ज्ञान ये देश प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है ।

इन्द्रियाँ और मन की सहायता से वस्तु को अस्पष्ट जानना 'परोक्ष ज्ञान' है । मतिज्ञान, श्रुतज्ञान ये परोक्ष ज्ञान हैं ।

**9. मोक्षमार्ग चित्रक्रमांक 9 सम्यग्ज्ञान के भेद**

मोक्षतत्त्व में ज्ञान के पाँच भेद बताए गए हैं । उन्हें स्पष्ट करने के लिए फूल की कल्पना को चित्र में दिखाया गया है । जिस प्रकार फूल क्रम से विकसित होता जाता है, उसी प्रकार ज्ञान भी धीरे-धीरे विकसित होता जाता है । जिस प्रकार अंतिम अवस्था में फूल पूर्णतया विकसित हो जाता है, उसी प्रकार पूर्ण ज्ञान 'केवल' ज्ञान है । सारे ज्ञानों में केवलज्ञान श्रेष्ठ ज्ञान है ।

**10. मोक्षतत्त्व : चित्र क्र0 10-मोक्षमार्ग-पृ0**

मोक्षतत्त्व में मोक्षमार्ग का उल्लेख आ चुका है । मोक्ष की ओर प्रयाण करने के लिए मोक्षमार्ग अत्यंत महत्त्वपूर्ण है । वह मोक्षमार्ग है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का मार्ग । चित्र में मोक्ष-शिखर पर पहुँचने के लिए दर्शन, ज्ञान और चारित्र की तीन सीढ़ियाँ दिखाई गई हैं । इन्हें 'रत्नत्रय' भी कहते हैं । इस मार्ग का अवलंबन करने पर ही आत्मा को मोक्ष प्राप्त होता है ।

❋

## लेखिका

डॉ० धर्मशीला जी० म० सा०

महाराष्ट्र की पुण्यभूमि में अहमदनगर जिले के अन्तर्गत कान्हूर पठार नामक ग्राम में परम धर्मानुरागी पिता श्री रामचंदजी शिंगवी के यहाँ श्रीमती कस्तूरी बाई शिंगवी की रत्नगर्भा कुक्षि से विमल बहन का जन्म हुआ, जो आगे चलकर जैन जगत् की दिव्य ज्योति महासतीजी श्री डॉ० धर्मशीलाजी म० सा० के रूप में राष्ट्र विश्रुत बनीं ।

आचार्य सम्राट् पू० श्री आनंदऋषिजी म० सा० के मुखारविंद से भागवती दीक्षा स्वीकार कर विद्या, साधना और तितिक्षा की त्रिवेणी-स्वरूपा विश्वसंत-विरुद-विभूषिता गुरुणीवर्या महासतीजी पूज्य उज्ज्वल कुमारीजी म० सा० की सेवा में सर्वतो भावेन समर्पित हो गईं । उनके सान्निध्य में श्रुताराधना और चारित्राराधना के पावन पथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर होती रहीं । उनके जीवन- पर्यंत प्राणपण से उनकी सेवा में अहर्निश संलग्न रहीं ।

आपने पूना विश्वविद्यालय में प्राकृत और पालि की एम० ए० परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्णकर प्रथम स्थान प्राप्त किया । आपने हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की साहित्य रत्न परीक्षा में भी प्रथम श्रेणी में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया । आपका हिन्दी, मराठी, गुजराती, राजस्थानी, संस्कृत, प्राकृत, पालि तथा अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं पर असाधारण अधिकार है । जैन दर्शन के साथ-साथ आप का अन्य भारतीय दर्शनों का भी गहन अध्ययन है । सन् 1977 में ''जैन दर्शन में नवतत्त्व'' विषय पर भारत वर्ष के समस्त साधु-साध्वी वृंद में सर्वप्रथम आपने ही पी-एच०डी० की उपाधि प्राप्त की ।

भगवान् महावीर द्वारा निरूपित अंहिसा एवं विश्वशांति के महान् आदर्शों के संप्रसार हेतु आप निरंतर प्रयत्नशील हैं ।

ज्ञानाराधना के साथ आपका जीवन निरन्तर संपृक्त रहा है । पी-एच० डी० के अनंतर आज तक वह क्रम सतत गतिशील है । आपने अपने विद्याराधना के इस महान कार्य को मूर्त रूप देने हेतु अपने चेन्नई प्रवास के अन्तर्गत ''णमो सिद्धाणं—पद समीक्षात्मक परिशीलन'' विषय पर डी० लिट० के लिये विशाल शोध ग्रंथ तैयार किया है । यह शोध ग्रंथ महासतीजी की बाईस बर्ष की श्रुताराधना का सुपरिणाम है ।

---

**प्रकाशक**

**रिसर्च फाउण्डेशन फार जैनोलाजी, चेन्नई-79**

**श्री गुजराती श्वे० स्था० जैन-एसोसिएशन चेन्नई-7**